भक्ति साहित्य के आधार स्तम्भ

यज्ञदत्त शर्मा

साहित्य प्रकाशन

भूमिका

भारतवर्ष मे मुसलमानो का शासन हिन्दू जनता के लिए ह्रास, निराशा व अपमान का वो समय था जबकि उनके सामने ही मदिर गिराए जाते थे तथा देवताओ की मूर्तियो को तोडा जाता था। अपने पूज्य देवी-देवताओ के अपमान को वे चुपचाप सहन करते थे। अपने पौरुष से पूर्णतया हताश व निराश जन-मानस के लिए भक्ति व करुणा के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नही था। उसी समय मे वज्रयानी सिद्ध, कापालिक, और नाथपंथी जोगी देश के सामान्य जन-समुदाय मे रमते जा रहे थ। शास्त्रज्ञ विद्वान व भक्त कवि जनता के हृदय को भक्ति मे लीन रखने तथा ज्ञानार्जन करने का भरसक यत्न कर रहे थे।

गुजरात मे स्वामी मध्वाचार्य के द्वैतवादी वैष्णव सम्प्रदाय, पूर्व मे जयदेव थे कृष्ण-प्रेम सगीत की गूँज, उत्तर मे स्वामी रामानन्द की रामोपासना तथा वल्लभाचार्य जी की कृष्ण भक्ति ने भक्ति की वह परम्परा चलाई जो युगो तक अनवरत बनी रही। भक्ति साहित्य मे कबीरदास ने 'निर्गुण पथ' का वह मार्ग चलाया जो हिन्दू-मुसलमान दोनो सम्प्रदायो को समान रूप मे मान्य हुआ। निराकार ईश्वर की भक्ति के लिए भारतीय वेदात और सूफियो के प्रेम तत्व का सहारा लेकर भक्ति के ऊँचे स ऊँचे सोपान निर्मित किए। कबीर की इस परम्परा मे नानक, मलूकदास, दादू इत्यादि सत हुए।

कबीर के साहित्य मे 'भक्ति' और 'ज्ञान' का योग तो अवश्य रहा किन्तु 'कर्म' गौण हो गया। कबीर ने सूफियो से जो प्रेम तत्व लिया उसे बहुत ही श्लील रूप मे अपने साहित्य मे रखा। यद्यपि सूफियो के यहाँ प्रेम बहुत विकृत दशा मे चित्रित था किन्तु कबीर ने अपनी रचनाओ मे विलासिता की भावना तनिक भी नही आने दी। कबीर के ईश्वर ज्ञान-रूप व प्रेम-रूप ही रहे। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के शब्दो मे, 'कबीरदास ऐसे ही मिलन-बिन्दु पर खडे थे, जहाँ से एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसलमानत्व, जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है, दूसरी ओर अशिक्षा, जहाँ एक ओर योग-मार्ग निकल जाता है, दूसरी ओर भक्ति मार्ग, जहाँ एक ओर निर्गुण भावना निकल जाती है, दूसरी ओर सगुण साधना, उसी प्रशस्त चौराहे पर वे खड़े थे।'

सूफी आख्यान-काव्यो की परम्परा मे सर्वश्रेष्ठ रचनाकार मलिक मुहम्मद जायसी थे। इनकी रचनाओ से मनुष्य-मनुष्य के बीच रागात्मक सबध स्थापित हुआ। जन-मानस को प्रेम-कथाओ के माध्यम से प्रेम का सही मार्ग दर्शन कराया। हिन्दू व मुसलमानो मे चल रहे वैमनस्य व कटुता के भाव को समाप्त करके परस्पर प्रेम की राह दिखाई। स्वय मुसलमान होकर भी हिन्दुओ की कहानियाँ पूरी सहृदयता से लिखी और अपने हृदय की उदार भावना को व्यक्त किया।

भक्ति 'तुलसी' के साहित्य मे सर्वांग रही जिसमे कर्म व ज्ञान का पूरा समन्वय रहा। नाभादास ने तुलसी को 'कलिकाल का बाल्मीकि' कहा तथा ग्रियर्सन ने 'इन्हे बुद्धदेव के बाद सबसे बडे लोकनायक' की सज्ञा दी। भक्ति साहित्य मे तुलसीदास जैसे महान कवि के अवतरण से सपूर्ण साहित्य का क्षेत्र धन्य-धन्य हो गया। तुलसी का अपने आराध्य म अटूट विश्वास और एकनिष्ठा भक्ति थी जिससे उनका सपूर्ण साहित्य भरा पड़ा है। लोक और शास्त्र के व्यापक ज्ञान के साथ-साथ तुलसी मे अपूर्व समन्वय शक्ति है। रामचरितमानस के गौरव को अन्य कोई भक्ति साहित्य का ग्रथ पहुँच ही नही पाता है।

वल्लभाचार्य के शिष्य महाकवि 'सूरदास' भक्ति साहित्य के उन आधार स्तम्भो मे से एक है जिनका साहित्य हिन्दी जगत को गौरवान्वित किये हुए है। सूर ने गीतिकाव्यात्मक रागो पर आधारित वृहद महाकाव्य 'सूरसागर' की रचना की। प्रेम की सभी मनोदशाओ का जो परिमार्जित रूप सूर के साहित्य मे मिलता है वह अन्यत्र कही भी उपलब्ध नही होता।

कबीर, जायसी, तुलसी व सूर ने भक्ति भावना से ओत-प्रोत जिस साहित्य की रचना की वह भक्तिकाल का श्रेष्ठतम साहित्य प्रमाणित हुआ जिसने तत्कालीन समाज को शुभकर्मों व भगवद्भक्ति मे लगने की प्रेरणा व मनोबल प्रदान किया।

—लेखक

विषय-क्रम

कबीरदास

मलिक मुहम्मद जायसी

तुलसीदास

सूरदास

कबीरदास

१ | कबीर की जीवनी

महाकवि कबीर के जीवन-वृत्त पर प्रकाश डालने के लिए हम उनके साहित्य मे उपलब्ध अन्त साक्ष और अन्य ग्रन्थो मे मिलने वाले बाह्यसाक्ष-प्रमाणो का आश्रय लेकर चलेंगे। जहाँ तक अन्त साक्ष का सम्बन्ध है वहाँ तक हमे बहुत कम सामग्री उपलब्ध होती है। इसका प्रधान कारण यही है कि आत्म-विज्ञापन करना इस महाकवि की प्रकृति के सर्वथा ही विरुद्ध था। कबीर ने कभी भी इसकी आवश्यकता का अनुभव नही किया और इसलिए इनके साहित्य से यत्र-तत्र केवल उनकी जाति और नाम के अतिरिक्त और किसी भी तथ्य पर प्रकाश नही पडता। नाम और जाति के अतिरिक्त अप्रत्यक्ष रूप से कही-कही उनके साहित्य मे कुछ सकेत अवश्य मिलते हैं, इसलिए कबीर के सम्बन्ध मे कुछ लिखने के लिए केवल उन्ही पर अपने ज्ञान को आधारित कर लेना होता है।

इस प्रकार कबीर का जीवन इतिहास स्वरूप न आकर कुछ घटनाओं, किवदन्तियो और यत्र-तत्र उल्लेखो के रूप मे आशिक ही हमारे सम्मुख आता है; जिसे हम किसी भी रूप मे तर्क सम्मत जीवन चरित्र की रूपरेखा नही बना सकते। कबीर-पन्थ की सन्त-परम्परा मे कबीरदास के विषय मे अनेको कथाएँ प्रचलित हैं, परन्तु इन कथाओ में से खोजकर तथ्य को निकाल लेना साधारण कार्य नही। वे कथाएँ उन भक्तो द्वारा प्रचलित की गई है, जिन्होने यदि भक्त और विशेष रूप से अपने गुरु को भगवान से ऊँचा नही माना है तो कम-से-कम उससे नीचा स्थान भी वह उन्हें नही दे सके हैं। इन कथाओ मे भावना के वह रंगीन स्वप्न देखने को मिलते है कि जिनके रग छाँटकर उनमे से रेखाओ को खोजना बहुत कठिन कार्य है। इसलिए जब हम ऐतिहासिक दृष्टिकोण से कबीरदास जी के जीवन-वृत्त की खोज करते है तो ये कथाएँ कुछ विशेष सहायक सिद्ध नही होती।

'कबीर-चरित्र-बोध' और 'कबीर-कसौटी' कबीर पन्थ की दो प्रधान पुस्तकें हैं, जो कबीर के जीवन-चरित्र पर प्रकाश डालती है। इनके अतिरिक्त

'भक्तमाल' (नाभादास कृत), 'भक्तमाल की टीका' (प्रियदास कृत), 'कबीर' (अनन्तदास कृत) और 'भक्तमाल' (रघुराजसिह कृत) द्वारा भी कबीरदास जी के जीवन पर कुछ प्रकाश पडता है । रैदास और पीपा की 'परचइयाँ' मे भी कुछ अश ऐसे है जहाँ से कुछ उपयोगी सामग्री उपलब्ध हो जाती है । इन पुस्तको के अतिरिक्त इस काल के अन्य कवियो की वाणियो मे भी यत्र-तत्र कबीरदास जी के नाम का उल्लेख मिलता है । इस दिशा मे दादू, तुकाराम, पीपा, रैदास, गरीबदास, नानक इत्यादि के नाम उल्लेखनीय है, परन्तु इन उल्लेखो से कबीर के नाम-मात्र की ओर दृष्टि भर जाती है, उनके जीवन-सम्बन्धी किसी तथ्य का उद्घाटन नही होता ।

अन्त साक्ष, सन्त-साहित्य, किवदन्तियाँ तथा इस काल की अन्य सन्त-पुस्तको तथा जीवनियो के अतिरिक्त कुछ अन्य ऐसे साधन भी है जो कबीरदास जी के जीवन पर प्रकाश डालते है । इन साधनो मे 'आईने अकबरी' (अबुलफजल कृत) उल्लेखनीय है । 'दबिस्ताँ' (मोहसिन फानी कृत) तथा 'खजीनतुल आसफिया' (मोहसिन फानी कृत) द्वारा भी कबीर के जीवन-तथ्यो का उद्घाटन होता है । इस प्रकार हम कबीरदास जी की जीवन-सम्बन्धी निम्नलिखित घटनाओ पर उक्त साधनो के अन्तर्गत प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे ।

नीचे हम कबीरदास जी की जीवन-विषयक निम्नलिखित प्रधान बातो का उक्त साधनो के आधार पर स्पष्टीकरण करते है .

१. कबीर की जन्म और मृत्यु की तिथियाँ ।
२. कबीर का नाम ।
३. कबीर की जाति और जन्म तथा मृत्यु के स्थान ।
४. कबीर का परिवार ।
५. कबीर का गुरु ।
६. कबीर का पर्यटन ।
७. कबीर की शिष्य-परम्परा ।
८. कबीर के जीवन की अन्य प्रसिद्ध घटनाएँ ।

कबीर की जन्म और मृत्यु की तिथियाँ—कबीर के जीवन-काल के विषय मे विद्वानो बहुत बडा मतभेद पाया जाता है । इस विषय में श्री पुरुषोत्तमलालजी ने अपनी पुस्तक 'कबीर साहित्य का अध्ययन' में एक चार्ट[1] दिया है । इस विषय

---

१. लेखक	वि० स०	ई० सन्	आयु
वेस्टकाट,	?—१५७५	?—१५१८	×
डा० एफ० ई० के	१४९७—१५७५	१४४०—१५१८	७८ वर्ष
हरिऔध और मिश्रबन्धु	१४५५—१५५२	१३९८—१४९५	९७ वर्ष
श्यामसुन्दरदास, राम ।			

की जानकारी के लिए यह चार्ट बहुत लाभदायक है।

कबीर की जन्म-तिथि अधिकतर विद्वान स० १४५५ ही मानते है। इस जन्म-तिथि की पुष्टि मे एक पद्य[1] प्रचलित है। इस पद्य मे वर्ष, मास, और तिथि का जो उल्लेख किया गया है वह गणना के अनुसार ठीक निकलता है। इस सवत् का न तो इतिहास से ही विरोध है और न अन्त साक्ष से ही यह अशुद्ध ठहरता है। परन्तु कबीर की बानी मे कही इसके विषय मे कोई स्पष्ट उल्लेख नही मिलता। 'कबीर-कसौटी' तथा 'कबीर-चरित्र-बोध' के अनुसार कबीर का जन्म स० १४५५ को ज्येष्ठ की पूर्णिमा, सोमवार के दिन हुआ था।

कबीर का जन्म सवत् १४५५ मानने मे मिस्टर वेस्टकाट[2] को सकोच है। उनका मत है कि कबीर के काल को रामानन्द के काल तक खीचकर केवल इसलिए ले जाया गया है कि उनका रामानन्द जी का शिष्य होने का उल्लेख मिलता है।

कबीरदास जी की मृत्यु सवत् १५७५ मानने मे उन्हे कोई आपत्ति नही। डा० एफ० ई० के का विचार भी कुछ-कुछ मिस्टर वेस्टकाट के विचार से मिलता-जुलता ही है। परन्तु कबीर को केवल रामानन्द जी का शिष्य स्वीकार न करने के लिए ही उनका जन्म सवत् १४५५ न मानना भी इन महानुभाव की हट ही प्रतीत होती है। डा० श्यामसुन्दरदास जी 'चौदह सौ पचपन साल गए' का अर्थ लगाते है 'स०१४५५ व्यतीत होने पर' अर्थात् स० १४५६। उक्त विद्वानो के अतिरिक्त कबीर की जन्म-तिथि बील स० १५४७[3] फर्कुहार सं०

चन्द्र शुक्ल	१४५६—१५७५	१३९९—१५१८	११९ वर्ष
मेकालिफ, भडारकर	१४५५—१५७५	१३९८—१५१८	११९ वर्ष, ५ मास, २७ दिन
सेन	१४५५—१५०५	१३९८—१४४८	५० वर्ष
बढथ्वाल	१४२७—१५०५	१३७०—१४४८	७८ वर्ष
डॉ० रामकुमार वर्मा	१४५५—१५५१	१३९८—१४९४	९७ वर्ष

—(कबीर साहित्य का अध्ययन, पृ० ३१९)

१. चौदह सै पचपन गए चन्द्रवार एक ठाट नए।
जेठ सुदी बरसायत को पूरनमासी तिथि प्रगट भए॥
घन गरजे दामिनि दमके बूंदे बरसे भर लाग गए।
लहर तालाब मे कमल खिले तहँ कबीर भानु परकास भए।

२. Kabir and Kabir Panth by Westcott.

3. An Orient Biographical Dictionary by Thomas William Beal, London (1844), p. 204.

१४६७[1] डा० हन्टर[2] स० १३५७, तथा अन्डर हिल और स्मिथ[3] सं० १४६७ मानते है ।

हम कबीरदास जी की परम्परागत जन्म-तिथि स० १४५५ को ही पुनर्गणना से ठीक मानते है।

कबीरदास जी की मृत्यु-सम्बन्धी दो तिथियाँ उपलब्ध है, एक स० १५०५ और दूसरी स० १५७५ । इन दोनो तिथियो मे कौन प्रामाणिक है इसका निर्णय करने के लिए हमारे पास कोई ऐतिहासिक प्रमाण नही, कुछ घटनाओ के आधार पर ही इसके विषय में हम निर्णय कर सकते है। कबीर का जीवन-चरित्र लिखने वाले सभी भक्त जनो ने सिकन्दर लोदी द्वारा काशी मे कबीरदास को दण्डित करने का वृतान्त लिखा है। कबीरदास के कुछ पदो मे भी इस विषय मे सकेत मिलता है। परन्तु कही पर भी कबीरदास जी ने सिकन्दर लोदी के नाम का उल्लेख नही किया। सिकन्दर लोदी का शासन-काल सवत् १५४५ से स० १५७५ तक माना जाता है। सम्भवत सवत् १५५३ मे वह काशी गए थे। इसलिए कबीरदास जी का सवत् १५५३ तक जीवित रहना सिद्ध होता है और उनकी मृत्यु-तिथि स० १५०५ मान्य नही हो सकती ।

कबीरदास की मृत्यु-तिथि स० १५०५ मानने वाले मत का समर्थन डा० फ्यूरर के लेख से होता है जिसका आधार उन्होने नवाब बिजली खाँ द्वारा स० १५०५ मे आमी नदी के किनारे बस्ती जिले मे बनाये गये कबीरदास के रोजे को माना है। परन्तु डा० श्यामसुन्दरदास जी इस उल्लेख को प्रामाणिक नही मानते। बहुत से अन्य विद्वानो का मत भी श्यामसुन्दरदास जी से ही मिलता-जुलता है ।

दूसरी तिथि स० १५७५ की पुष्टि मे हमारे पास बहुत सी बाते है। कबीरदास जी की आयु अनन्तदास ने १२० वर्ष मानी है। इस विचार से कबीरदास जी की जन्म-तिथि स० १४५५ मान लेने पर मृत्यु-तिथि ठीक १५७५ निश्चित हो जाती है। कबीरदास जैसे योगी की आयु १२० वर्ष मान लेने मे भ्रम करना कुछ युक्ति-सगत प्रतीत नही होता, जब कि आज के युग मे भी ११० वर्ष के वृद्ध व्यक्ति भारत मे मौजूद है ।

हम कबीरदासजी की मृत्यु-तिथि स० १५७५ ही प्रामाणिक मानते है।

---

1. An Outline of Religious Life of India, by T N. Farquhar.
2. Indian Empire by Dr. Hunter, Chapter VIII
3. The Oxford History of India by Smith, p. 261.

कबीर पथियों मे इस विषय मे एक दोहा भी प्रचलित है ।[1]

कबीर का नाम—महाकवि कबीर के नाम के विषय मे भ्रम का कोई कारण हमे प्रतीत नही होता । कबीर नाम सर्वमान्य है । क्या अन्त साक्ष और क्या बहिरसाक्ष, सभी जगह हमे कबीर नाम का ही प्रयोग मिलता है । भक्तो की रचनाओ मे, ऐतिहासिक उल्लेखो मे, स्वय कबीर की रचनाओ मे तथा किंवदतियो मे—सभी स्थानो पर 'कबीर' नाम को ही अपनाया गया है । परन्तु 'कबीर' शब्द के साथ 'साहब' और 'दास' का प्रयोग कही-कही पर किया गया है । इनके विषय मे पाठको को यहाँ इतना ही जान लेना आवश्यक है कि 'साहब' शब्द का प्रयोग प्रक्षिप्त है और इसका प्रयोग भक्त लोगो ने अपने गुरु को आदर देने के लिए किया होगा । कबीरदासजी ने स्वय अपने लिए 'साहब' शब्द का प्रयोग किया होगा यह युक्ति-सगत नही ठहरता । उन्होने तो अपने लिए 'दास' शब्द का ही प्रयोग किया होगा । यो साधारणतया कबीर ने केवल 'कबीर' शब्द का ही अपनी रचनाओ मे प्रयोग किया है, परन्तु यत्र-तत्र 'दास' का प्रयोग भी मिलता है ।[2] कबीरदास जी ने अपने लिए अधिकाश स्थानो पर 'कबिरा' नाम का भी प्रयोग किया है । इस प्रकार जहाँ तक नाम का सम्बन्ध है हमे अधिक भ्रामक सामग्री इस विषय मे नही मिलती और कवि का नाम 'कबीर' ही सर्व-मान्य तथा स्पष्ट है ।

कबीर की जाति, जन्म तथा मृत्यु के स्थान—जिस प्रकार कबीरदासजी के नाम के विषय मे कोई सदिग्ध या भ्रामक विचार नही है उसी प्रकार उनकी जाति के विषय मे भी हमे दो मत नही मिलते । कबीरदास जी जाति के जुलाहे थे । इसका उल्लेख उनकी रचनाओ मे अनेको स्थानो पर पाया जाता है ।[3] एक दो पदो मे कबीरदास ने अपने को 'कोरी'[4] और 'बनजारा' भी कहा है । 'कोरी' और जुलाहे मे कोई अन्तर नही है । जुलाहा मुसलमान और कोरी हिन्दू होता है । कबीर ने इस प्रकार दोनो शब्दो का अपने लिए प्रयोग करके जाति-भेद का

---

१. (१) सम्वत् पन्द्रह सै पछत्तर, कियो मगहर गौन ।
माघसुदी एकादशी, रह्यौ पवन मे पौन ॥

२. (१) दास जुलाहा नाम कबीरा, बनि-बनि फिरौ उदासी ।
—(बानी, पृ० २७०)

(२) दास कबीर चढ़े गज ऊपरि राज दियौ अविनासी । —(वही)

(३) सुखिया सब ससार है, खावै अरु सोवै ।
दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै ॥ —(साखी)

३. (१) जाति जुलाहा मति कौ धीर । हरषि-हरषि गुन रमै कबीर ।
—(वा० पृष्ठ १२४)

४. (१) हरि को नाम अभै पद दाता कहै केबीरा कोरी—(वही पद ३४६)

खडन किया है। बनजारा शब्द का प्रयोग कबीर ने उस जुलाहे के लिए किया है जो आस-पास के बाजार मे अपना बुना कपडा बेचने भी जाता है। इस प्रकार के रूपको मे आपने व्यापारी के रूप का चित्रण किया है।

कबीरदास जी ने यह स्पष्ट करने मे सकोच नही किया कि उनकी जाति जुलाहा उस समय एक बहुत ही नीची जाति मानी जाती थी और इसीलिए आपने अपने लिए 'कमीना'[1] शब्द का प्रयोग किया है। कबीरदास जी ने अपने को कमीन कहकर अपने अन्दर हीनता का अनुभव नही किया, बल्कि व्यग्य ही कसा है अपने को ऊँचा कहने वाले तिलकधारी पडितो पर। कबीर मानवतावादी महापुरुष थे जिनके निकट जाति-भेद का कोई महत्व नही था।

कबीर के विचारों मे हिंदू और सूफी मुसलमानो के विचारो का समन्वय मिलता है। इसीलिए कुछ विचारक उन्हे जन्म का हिन्दू भी मानते है। कहा जाता है कि वह ब्राह्मण-कुल मे उत्पन्न होकर एक जुलाहे के परिवार मे पाले गये। मिस्टर वेस्टकाट ने उन्हे जन्म से ही मुसलमान माना है। डा० बडथ्वाल ने उन पर योग मार्ग का प्रभाव मान कर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि यह पहिले कोरी (हिन्दू जुलाहे) थे और फिर जुलाहे (मुसलमान जुलाहे) बने। आपने इन पर गुरु गोरखनाथ का स्पष्ट प्रभाव माना है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी आपको नवधर्मावतरित जुलाहा जाति से मानते है। नाथ पथियो का आप पर प्रभाव था।

डा० हजारी प्रसाद जी का मत इस दिशा मे हमे अधिक पुष्ट प्रतीत होता है कि कबीरदास जी का जन्म जोगी जाति मे ही हुआ होगा परन्तु उन पर भक्ति-मार्ग का प्रभाव भी प्रारम्भिक काल से ही मिलता है।

कबीर के माता-पिता का ज्ञान प्राप्त करने मे यदि हम रैदास और अनन्त दास तथा अन्य सतो पर अपने ज्ञान को आधारित करते है तो हमे उन्हे मुसलमान[2] ही मानना होता है। परन्तु स्वय कबीर की रचनाओ मे अनेको स्थानो पर उनका मुसलमान कुल मे केवल पालित होने का ही आभास मिलता है।

कबीरदासजी के जन्म-स्थान[3] के विषय मे हमे अन्त साक्ष से काफी प्रमाण

---

१. तहाँ जाहु जहाँ पाट-पटम्बर अगर चन्दन घसि लीना।
आई हमारै कहाँ करौगी हम तो जाति कमीना॥
—(क० ग्र० पद २७० इत्यादि)

२. जाकै ईद बकरीद कुल गऊ रे बधु करहि मानियहि सेख सहीद पीरा।
जाके बाप वैसी करी पूत ऐसी सरी तिहु रे लोक परसिध कबीरा॥
जाके कुटुम्ब के ढेढ सब ढोर ढोवत फिरहिं अजहु बनारसी आसपासा।
अचार सहित विप्र करहि डन्डउति तिनि ननै रविदास दासानुदासा॥
—(रैदास)

३. काशी मे हम प्रकट भये हैं, रामानन्द चिताये।

मिलते है और उसके पश्चात् भी वह कहाँ-कहाँ रहे[1] इसका भी सकेत मिलता है। कबीरदास जी की मृत्यु मगहर[2] मे हुई यह भी अतःसाक्ष से स्पष्ट है।

कबीर का परिवार—कबीर के परिवार मे उनकी जीवनियो के आधार पर उनके अतिरिक्त पाँच अन्त प्राणी माने जाते है। उनके पिता का नाम मूरी था, माता का नाम नीमा, पत्नी या शिष्या का नाम लोई, सतान या शिष्य-शिष्या के नाम कमाल और कमाली थे। माता-पिता का उल्लेख साम्प्रदायिक कथाओ मे बहुत कम है। पिता का उल्लेख केवल उस समय आता है जब वह तालाब से कबीर को उठाकर अपने घर लाते है और माता के विषय मे यह उल्लेख मिलता है कि वह कबीर से सर्वदा रुष्ट रहती थी। कबीर की बानियो मे दोनो के विषय मे कोई उल्लेख नही मिलता। जिन पदो मे कुछ उल्लेख सा जान भी पडता है वह भ्रामक ही है, क्योकि जब पद को आध्यात्मिक अर्थ की कसौटी पर कसने का प्रश्न उठता है तो वहाँ माता पिता का भ्रम एकदम लुप्त हो जाता है। भाई शब्द का उन्होने जहाँ भी प्रयोग किया है वह माया के लिए उपयुक्त ठहरता है, परतु यह असभव नही कि कही-कही पर उनकी कविता मे गौण रूप से लौकिक पक्ष भी उभर आया हो। कबीर ने आध्यात्मिक प्रचार का कार्य ग्रहण करके निश्चित रूप से ताना बुनना छोड दिया होगा और इससे उनके परिवार की आशाओ पर भी तुषारापात हुआ होगा। उसी का चित्रण कवि अपने पद[3] मे करता है। यहाँ भी माई का अर्थ माया के रूप मे सरलतापूर्वक ग्रहण किया जा सकता है, परन्तु इससे माता भी आभास मिलता है। इस प्रकार आपकी कविता मे यत्र-तत्र माता के विषय मे सकेत मिलता है।

कबीर की स्त्री और बच्चो का जहाँ तक सबध है वहाँ तक कबीरपथी लोग उन्हे अविवाहित ही मानते है। इसलिए साम्प्रदायिक विचार से इसका प्रश्न उठता ही नही, परन्तु ग्रन्थ साहब मे एक दोहा[4] मिलता है जिसके

---

१ (१) मानिकपुरहि कबीर बसेरा, मद्दत्ति सुनी शेख तकि केरा।
(२) तू बामन मैं कासी का जुलाहा, चीन्ह न मोर गियाना।
—(बा० प० २५० तथा स० क०, आ० २६)

२. का वासी का मगहर ऊसर हृदय राम बस मोरा।
जो कासी तन तजई कबीरा रामहि कौन निहोरा॥
—(बी० श० १०३)

३. तनना बुनना तज्य कबीर, राम नाम लिखि लिया सरीर
जब लग भरौ नली का बेह, तब लग टूटै राम सनेह॥
ठाड़ी रोवै कबीर की माई, ए लरिका क्यूँ जीवै खुदाई।
कहहि कबीर सुनहु री माई, पूरनहारा त्रिभुवन राई॥
—(बा० प० २१)

४. बूड़ा बस कबीर का, उपजिओ पूत कमालु।— (स० क०, स० ११५)

आधार पर यह अनुमान करना कठिन है कि कबीरदास जी अविवाहित थे और उनके कोई सन्तान नही थी। इस दोहे से यह स्पष्ट हो जाता है कि जब उनके पुत्र था तो निश्चित रूप से उनकी स्त्री कमाली भी रही होगी। कमाली नाम का उल्लेख हमे उनकी बानी मे नही मिलता परन्तु नाम न मिलना यह सकेत नही करता कि उनकी स्त्री नही थी। कबीर के पदो मे लोई शब्द का प्रयोग मिलता है और सम्भवत यही नाम धारिणी कबीर की स्त्री थी। परन्तु कुछ विद्वानो ने खोज कर लोई का अर्थ 'लोग' या 'कम्बल' किया है और जहाँ-जहाँ भी कबीर ने लोई शब्द का प्रयोग किया है वही-वही पर इन अर्थो का समावेश करके देखने पर यह अर्थ ठीक बैठता है। इसलिए लोई शब्द से कबीर की स्त्री के नाम का आभास ग्रहण करना सदिग्ध ही है। परन्तु इसके अतिरिक्त आदि ग्रन्थ मे एक पद[1] के अन्दर कबीर की स्त्री नाम धनिआ मिलता है। डा० रामकुमार वर्मा के मत के अनुसार तो लोई तथा धनिआ दोनो ही सम्भवत. कबीर की स्त्रियाँ थी, परन्तु हमारे विचार से लोई का स्त्री होना सदिग्ध है। यह हो सकता है कि वह कोई उनकी चेली रही हो। कबीरदास जी ने रामानन्द जी से प्रभावित होने के पश्चात् अपनी स्त्री धनिआ का नाम रामजनियाँ पुकारना आरम्भ कर दिया था। डा० रामकुमार के दो स्त्री वाले कथन के समर्थन मे निम्नलिखित पद प्रकाश डालता है—

भरी सरी मुई मेरी पहिली बरी।
जुग जुग जीवउ मेरी अब की धरी॥

यो यदि हम कबीर की बानी मे ससार के नाते-रिश्तो को खोजना ही आरम्भ कर दे तो सम्भवत हमे सभी मिल जाएंगे। उनकी रचनाओ मे सास, जेठ, ससुर, देवर, ननद, इत्यादि सभी मिलते है परन्तु इन सबका प्रयोग कवि ने केवल रूपक के रूप मे ही किया है अपना जीवन चरित्र लिखने या उस पर प्रकाश डालने के लिए नही। इसलिए इन शब्दो को व्यर्थ के लिए खीचतान कर कबीर के जीवन का नया अध्याय खोलने का व्यर्थ प्रयास नही करना चाहिए।

कबीर के गुरु—कबीरदास जी के गुरु के रूप मे हमारे सामने दो नाम आते है, एक रामानन्द जी का तथा दूसरा शेख तकी का। कबीर-पथी परम्परा के सत उन्हे रामानन्द जी द्वारा ही दीक्षित मानते हैं, परन्तु कुछ सूफी सिद्धातो के मानने वालो को इसमे आपत्ति है और वह उन्हे शेख तकी द्वारा दीक्षित मानते हैं। कबीर की साधना-पद्धति मे हमे पूर्ण रूप से भारतीयता मिलती है, इसलिए परम्परागत विचार से उनका रामानद जी का शिष्य होना ही अधिक युक्ति-

---

१. मेरी बहुरिया को धनिया नाउ, ले राख्यो राम जनिया नाउ,
इन मुडियन मेरा घर धुधरावा, बिठवहि राम रमौआ लावा,
कहत कबीर सुनहु मेरी माई, इन मुडियन मेरी जाति गँवाई।

संगत ठहरता है। यह मानने पर भी कि कबीरदास जी रामानद जी के शिष्य थे हमे यह भी मानना ही होगा कि उन्होने मुसलमान साधू सतो का भी सत्सग[1] कम नही किया। परन्तु इन सत्सगो का कबीरदास जी पर कोई प्रभाव नही पड़ा और उन्होने उन सभी मुसलमान सतो से अपना ही मत मानने[2] के लिए अनुरोध किया है। कबीरदासजी का रामानदजी से दीक्षित होना उनकी ही साखियो[3] से प्रमाणित होता है। साधारणतया रामानदजी की मृत्यु स० १४६७ वि० मे मानी जाती है। इस हिसाब से इनकी मृत्यु के समय कबीरदास जी की आयु केवल ११-१२ वर्ष की ठहरती है और इतनी कम अवस्था मे कबीरदासजी का रामानद जी से दीक्षा लेना कुछ युक्ति सगत प्रतीत नही होता। यहाँ हमे रामानद जी के मृत्यु-सवत् पर तनिक विचार करना होगा। श्री पुरुषोत्तमलाल जी इस विषय में लिखते है, "रामानद जी श्री रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा मे थे। कुछ लोगो ने उन्हे उनकी पाँचवी पीढ़ी मे और कुछ ने चौदहवी पीढी मे माना है। रामानुजाचार्य की मृत्यु स० ११६४ वि० मे हुई। यदि रामानदजी की मृत्यु स० १४६७ मे मानी जाय तो दोनो की मृत्यु के बीच २७३ वर्ष का अतर पड़ता है। चार पीढियो मे इतना समय (औसत ६६ वर्ष) व्यतीत होना सम्भव नही जान पड़ता। इसके लिए अधिक से अधिक १२० वर्ष पर्याप्त है। इस हिसाब से रामानद जी की मृत्यु लगभग १३१३ वि० मे ठहरती है। और यदि उन्हे चौदहवी पीढ़ी मे मान तथा प्रत्येक पीढ़ी के लिए २५ वर्ष औसत रख ले, तो लगभग १५१६ वि० (११६४+३२५=१५१६) तक उनका रहना निश्चित होता है। ये दोनो ही समय—स० १५१६ और स० १४६७ से बहुत दूर है। अब हम देखे कि इनमे किसके सत्य होने की सम्भावना अधिक है।

कबीर के परचई-लेखक अनन्तदास स्वामी रामानद जी की ही शिष्य-परम्परा मे हो गए है, इसका उल्लेख उन्होने स्वय किया है। पीपा की परचई मे उन्होने लिखा है—

रामानन्द के अनन्तानन्दू। सदा प्रगटज्यो पूरन चन्दू।
ताको अगर आगरै प्रेमू। लै निबह्यौ सुमिरन कीने॥
अगर की सीख विनोदी पाई। ताकौ दास अनतहि आई॥

इसमे प्रतिलिपिकार की भूल से अवश्य एक चौपाई बीच मे छूट गई है,

---

१. मानिकपुरहि कबीर बसेरा। मह्ति सुना शेख तकि केरा।
ऊजी सुनी जौनपुर थाना। झूँसी सुनि पीरन के नामा॥

२. शेख अकरदी तुम मानहु बचन हमार।
आदि अन्त औ जुग-जुग देखहु दीठि पसार॥

३ कबीर रामानन्द का, सतगुरु मिले सहाय।
जग मे जुगति अनूप है, सोई दई बताय॥—(दो० ६)

क्योकि यह अत्यन्त प्रसिद्ध बात है कि अनन्तानन्द के शिष्य कृष्णदास पयहारी (गलतॉवाले) थे जो अग्रदास जी के गुरु थे। इस प्रकार यह गुरु-शिष्य परम्परा यो होनी चाहिए—रामानन्द-अनन्तानन्द-कृष्णदास-अग्रदास-विनोदी-अनतदास। अनतदास रामानद से छटी पीढी मे हुए। यह स० १६४५ तक तो अवश्य वर्तमान थे। मोटे तौर पर अनतदास तक पाँच पीढियो के लिए १२५ वर्ष का समय रखा जाय तो अनतदास के समय मे से इसे निकाल देने पर रामानद जी का समय (१६४५—१२५) स० १५२० तक ठहरता है। इस प्रकार चाहे रामानुज से नीचे चौदह पीढी तक देखे, चाहे अनंतदास से ऊपर छठी पीढी तक देखे, दोनो प्रकार से रामानद जी का समय स० १५१६—१५२० तक आता है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि यह एक मोटा हिसाब है जिसमे १०-१५ वर्ष आगे पीछे होना सर्वथा सम्भव है। इस अनुमान से कबीर की जो एक मृत्यु-तिथि सं० १५०५ प्रसिद्ध है, वह कबीर की न होकर रामानद की ही मृत्यु-तिथि हो सकती है। ऐसा मान लेने पर यह मामला सरल हो जाता है कि कबीर की दीक्षा स० १४७५—७६ के लगभग हुई और उसके बाद वह स० १५०५ तक लगभग ३० वर्ष गुरु के साथ रहे।

कबीरदास जी के रामानदजी द्वारा दीक्षित होने के विषय मे उक्त विचार हमे मान्य है और यह समय का हिसाब भी अनुमान से ठीक ही प्रतीत होता है। कबीरदास जी शेख तकी से मिले अवश्य परन्तु उनसे दीक्षा नही ली।

कबीर का पर्यटन—कबीरदास जी का विश्वास तीर्थों इत्यादि मे नही था और इसीलिए हमे उनकी रचनाओ मे उनके देशाटन करने का बहुत कम उल्लेख मिलता है। परन्तु इस काल के सतो मे देशाटन की एक प्रवृत्ति पाई जाती है जिसका नितान्त अभाव हम कबीरदास जी मे भी नही देखते। मुसलमान फकीरो के सत्सग के लिए कबीरदास जी झूंसी, जौनपुर, मानिकपुर इत्यादि स्थानो पर गए, इसका उल्लेख हम पीछे भी कर चुके है और इसका सकेत हमे कबीरदास जी के पदो मे भी मिलता है। कबीरदास की परचई के लेखक अनतदास जी आपके, अपनी गुरुमण्डली के साथ, पीपा के देश (गागरोन गढ़) और द्वारिका जाने पर भी प्रकाश डालते हैं। आपके मथुरा जाने की ओर भी सकेत किया गया है परन्तु कबीरदास जी ने यह पर्यटन धर्म-प्रेरणा से किया होगा यह अनुमान लगाना कठिन है क्योकि उन्होने तो अपनी वाणी मे तीर्थाटन[1] और हज की निस्सारता पर ही अपने विचार प्रकट किये हैं। फिर भी चाहे खोज के लिए ही क्यो न हो परन्तु उन्होने देशाटन कुछ अवश्य किया होगा। निम्नलिखित पद

---

१. मथुरा जावै द्वारिका, भावै जा जगनाथ।
साध-सगति हरि-भगति बिन, कछू न आवै हाथ॥
—(कबीर-वचनामृत, साखी भाग, पृ० १४३, दो० ३)

से थोडी सी इसकी झलक मिलती है—

कबीर सब जग हँडिया, मदिल कंधि चढ़ाइ।
हरि बिन अपना को नहीं, देखे ठोकि बजाइ।

परन्तु यह निश्चित ही है कि वह तीर्थ-भ्रमण मे विश्वास नही रखते थे। उनकी कुछ उक्तियो[1] के आधार पर उनका काबे जाना मान लेना नितान्त भ्रम-मात्र है। उनका तो हज भी गोमती तीर पर ही समाप्त हो जाता था।

हज हमारा गोमती तीर ·· (वही आ० १३)

कबीर ने जहाँ भी इन तीर्थों के नाम लिए है वहाँ उनका लक्ष्य कभी भी लौकिक पक्ष मे नही रहा और इनकी असारता प्रकट करने के लिए ही इनका प्रयोग किया गया है। इसलिए यह मानते हुए भी कि कबीर कुछ स्थानो पर पर्यटन के लिए गये होगे यह मानना कठिन है कि यह उनके धर्म-विश्वास का कोई अग बन सकता है।

कबीर की शिष्य-परम्परा—महाकवि कबीर ने अपनी वाणी मे गुरु और शिष्य के पारस्परिक सम्बन्धो का मुक्त कण्ठ से गान किया है। आपके मता-नुसार तो गुरु का स्थान किसी भी प्रकार भगवान् से कम नही है। ऐसी दशा मे जिन-जिन लोगो को आपने सत् पथ दिखलाया, जब उन्होने आपको गुरु माना होगा तो आप उन्हे इस लाभ से वचित नही कर सकते थे। भक्त-परम्परा के आधार पर बिजली खाँ, धर्मदास, बीरसिह बघेला, सुरत गोपाल, जीवा, तत्वा, जागूदास इत्यादि आपके शिष्य है। बीरसिह बघेला के नाम का उल्लेख अनन्त-दास कृत परचई मे मिलता है। स्वय कबीरदासजी की बानी मे कही पर भी इस प्रकार का कोई सकेत नही मिलता।

कबीर के जीवन की अन्य प्रसिद्ध घटनाएँ—सत-परम्परा के कवियो के विषय मे कुछ अलौकिक घटनाओ की प्रसिद्धि भी पाई जाती है। इसी प्रकार की कुछ घटनाएँ कबीरदास जी के जीवन से भी सम्बन्धित है। उनका सक्षेप मे नीचे विवरण दिया जाता है—

(१) कहते है कि एक बार गोरखनाथ ने रामानन्द को योग-दगल के लिए ललकारा। कबीरदास ने तुरन्त आगे बढकर एक धागा आसमान मे फेंक दिया और उस पर गोरखनाथ जी के लिए आसन बन गया। इससे सभी दर्शक चमत्कृत हो उठे।

(२) एक बार बीरसिह देव की सभा मे बैठे-बैठे आपने पुरी मे जगन्नाथ जी के पडा का जलता हुआ पैर शीतल कर दिया था।

---

१. हज काबे होई-होई गया, केती बार कबीर।
मीरा मुझ सूँ क्या खता, मुखाँ न बोलै पीर॥

—(बा० सा० ५६।६)

(३) एक बार आपने एक माता पर दया-दृष्टि करके उसके मृतक बच्चे को जिला दिया था ।

(४) मृत्यु के समय आपके शव का केवल फूलो मे शेष रह जाना भी इसी प्रकार की घटना है ।

उक्त घटनाएँ सत्य हैं अथवा असत्य इसका निर्णय आज करना कठिन है। इस प्रकार की अनेको घटनाएँ और करामाते इन योगी सतो के विषय मे प्रचलित है ।

२ | कबीर कालीन परिस्थितियाँ तथा विचारधाराएँ

जिस काल मे महाकवि कबीर ने जन्म लिया उस काल की राजनैतिक, सामाजिक, साहित्यिक, और धार्मिक परिस्थितियो तथा विचार-धाराओ का प्रभाव कबीर के जीवन, व्यक्तित्व तथा विचारो पर पडना अवश्यम्भावी था। कबीर की विचारधारा तथा व्यक्तित्व ने अपने काल की विचारावलियो तथा प्रवृत्तियो को भी प्रभावित किया है, यहाँ हमे यह भी नही भुला देना होगा। इस अध्याय मे हम उन परिस्थितियो तथा विचारधाराओ पर सक्षेप मे विचार करेंगे कि जिन्होने मिलकर कबीर के जीवन और साहित्य को वह रूप प्रदान किया जिसने समाज मे एक उथल-पुथल पैदा कर दी और देश को एक नवीन विचार-धारा मे प्रवाहित किया।

देश की राजनैतिक स्थिति—हमने पीछे महाकवि कबीर का जीवन-काल स० १४५५ से १५७५ तक निश्चित किया है। यह समय लगभग चौदहवी शताब्दी के मध्यकाल से पद्रहवी शताब्दी के मध्यकाल तक ठहरता है। मोहम्मद तुगलक का समय (१३२५-५३) का था जिसमे देश की राजनैतिक तथा आर्थिक दशा बहुत खराब हो चुकी थी। तुगलक के राजधानी बदलने, ताबे का सिक्का चलाने इत्यादि के साथ ही साथ दुर्भिक्ष भी देश मे पडा और इस प्रकार देश का वातावरण एकदम अशाति और क्रान्ति का साम्राज्य बन गया। मुहम्मद तुगलक के बाद देश का शासन फिरोजशाह तुगलक के हाथो मे आया। फिरोजशाह तुगलक के समय मे देश की परिस्थिति और भी खराब हो गई और उसकी धर्मान्धता ने देश मे त्राहि-त्राहि मचा दी। ब्राह्मणो पर पॉल-टैक्स लगाया गया और उनसे अपने धर्म को श्रेष्ठ कहने का भी अधिकार छीन लिया गया। इस काल मे अनेको हिन्दुओ को तलवार के घाट उतारा गया और कहा जाता है कि कुछ लोगो को जीवित ही जला दिया गया। फिरोजशाह के पश्चात् भी कोई न्यायप्रिय शासक गद्दी पर नही बैठा। जो सुलतान सिंहसनारूढ हुए वह सभी क्रूर तथा धर्म के पक्षपाती और विलासी

थे। इसी अशाति के समय (१३९८) मे तैमूर ने आक्रमण करके हिन्दुओ पर जो जुल्म ढाया वह इतिहास के पन्नो पर उन घृणित अक्षरो से लिखा हुआ है कि जिन्हे मानवता सम्भवत कभी भी धोकर साफ नही कर सकेगी। 'मिडिवल इण्डिया' मे इस घटना का विस्तार के साथ चित्रण किया गया है। यह काल हिन्दू-धर्म और उसके अनुयायियो के लिए वह समय था जब कि उनका मान, उनकी मर्यादा, उनके बालबच्चे, उनका धन-माल सभी कुछ अत्याचारी शासको और आक्रमणकारियो की लोलुप दृष्टि का शिकार बना हुआ था। अनाचार, आचरण-भ्रष्टता, अत्याचार, दारिद्र, अशाति, निराशा और क्लाति का देश के कोने-कोने में बोलबाला था।

देश की ऐसी दुर्दशा के समय शासन की बागडोरें तुगलक वश के हाथों से छिनकर लोदी वश के हाथो मे आई और एक बार बहलोल लोदी के रूप मे देश को आशा की झलक दिखलाई देने लगी परन्तु देश के दुर्भाग्यवश वह अधिक दिन शासन-सत्ता को न सँभाल सका और उसके पश्चात् शासन की बागडोरें सिकन्दर लोदी के हाथो मे चली गई। सिकन्र लोदी का समय हिन्दुओ के लिए और भी भयानक आया। इस काल मे हिन्दुओ को गाजर-मूली की तरह काटकर फेक दिया गया। एक-एक दिन मे उसने १५०० हिन्दुओ को मौत के मुँह मे पहुँचा कर अपनी इस्लामी लिप्सा को शात किया। यहाँ तक कि उसने लोगो का यमुना मे स्नान करना भी बन्द कर दिया था। मदिरो को तुडवाकर उनके स्थानो पर सराएँ बनवाई गई और इस प्रकार हिन्दू धर्म पर कुठाराघात हुआ।

इन्ही महाशय सिकन्दर लोदी ने एक बार महाकवि कबीर को भी दडित करने का प्रयास किया था, परन्तु सौभाग्य से वह बच गये।

इस प्रकार हमने देखा कि राजनैतिक विचार से कबीर का जीवन-काल महान् अन्धकारपूर्ण था और चारो ओर निराशा का साम्राज्य छाया हुआ था।

देश की धार्मिक स्थिति—कबीर-कालीन परिस्थिति पर विचार करने से यह स्पष्ट हो गया कि इस काल मे हिन्दुओं की दशा बहुत खराब थी। उन्हें किसी प्रकार की भी स्वतत्रता नही थी। जीवन के साधारण धार्मिक नियमों को भी वह स्वतत्रता-पूर्वक नही निभा सकते थे। हिन्दू राजाओ का युग समाप्त हो चुका था। उनका एक प्रकार से सर्वनाश हो गया था और मुसलमानी सत्ता के सम्मुख हिन्दू इस काल मे सिर नही उठा सकते थे।

हिन्दुओ का बल-पौरुष समाप्त ही था। वह अपनी रक्षा करने मे असमर्थ थे। कोई संगठित प्रयास वह यवनो के विरुद्ध प्रस्तुत नही कर सकते थे। अत्याचारों को उल्कापात की भाँति सहन भर कर लेना ही इस समय इनके वश की बात रह गई थी। आत्मग्लानि के साथ अपनी आँखों के सम्मुख अपनी मान-मर्यादा को उजड़ते और लूटे जाते देख कर भी वह एक शब्द मुख से नही निकाल

सकते थे। ऐसी दशा मे स्वदेश, स्वधर्म और आत्मा की उन्नति के प्रश्नो का उनके जीवन से लोप हो चुका था।

इस काल मे भारत का हिन्दू-जीवन चारो ओर से निराश होकर भगवान् की शरण मे घुटने टेक कर गिर पडा, उसने ईश्वर की शरण ली, ईश्वर का सहारा लिया। भारत ने धर्म की वह व्यवस्था भी देखी थी जब राज्य-शासन भी उसी के द्वारा सचालित होता था, परन्तु आज तो राजनीति का धर्म से कोई सम्बन्ध ही नही रह गया था। धर्म की शृखलाएँ ढीली पड चुकी थी और ऐसी परिस्थिति मे धर्म के अन्दर अनेको धाराएँ प्रवाहित होकर अपना-अपना स्वतत्र मार्ग बना चुकी थी। उनकी कोई व्यवस्था नही थी और सभी अपनी-अपनी डेढ चावल की खिचडी प्रथक रूप से पका रहे थे। धर्म के क्षेत्र मे अस्त-व्यस्त और विशृखल प्रवृत्तियो का बोलबाला था।

इस समय तक आते-आते समाज मे उच्च और सामान्य वर्ग बन चुके थे और उनके पारस्परिक सम्बन्ध भी एक दूसरे के साथ कटुता को लेकर चलते थे। उच्च वर्ग के लोग सामान्य वर्ग के लोगो को मानवता के भी अधिकारी नही मानते थे। इन उच्च और सामान्य बर्ग के लोगो मे जहाँ तक ईश्वर की मान्यता का सम्बन्ध था उसके मूर्त्त और और अमूर्त्त रूप को लेकर अनेको प्रकार के बखेडे खडे हो गये थे। इसके अतिरिक्त आस्तिक और नास्तिक स्वरूप को लेकर भी सामान्य जनता मे कई भावनाएँ प्रचलित हो चुकी थी।

यहाँ यह जान लेना उचित होगा कि छठी शताब्दी से लेकर ग्यारहवी शताब्दी तक भारत की जनता विचार-धारा के विचार से एक प्रकार पूर्ण रूप से नास्तिको के हाथो मे जा चुकी थी। बौद्ध धर्म के प्रचार से सहजयान, बज्रयान, निरजन-पथ धारी इत्यादि धाराओ का वेग देश मे बढ रहा था। इस वेग को रोकने और एक बार फिर से भारत मे ब्राह्मण-धर्म का पुनरुद्धार करने का कार्य जगतगुरु शकराचार्य ने किया। परन्तु शंकराचार्य द्वारा प्रवाहित धारा पूर्ण रूप से आचार्यों की धारा थी जिसका प्रभाव सामान्य वर्गों मे उतना अधिक नही हुआ जितना उच्चवर्गों मे हुआ। यहाँ यह भी जान लेना आवश्यक है कि शकरा-चार्य के पश्चात् आने वाले आचार्यो के मत शकराचार्य के मत का समर्थन न होकर उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप थे। यह आचार्य रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य तथा बल्लभाचार्य थे। इन सभी आचार्यों के दार्शनिक वादो मे पारस्परिक अन्तर है, परन्तु इन सभी ने साधना मे भक्ति को प्रधानता दी है। रामानुजाचार्य ने साधना मे ज्ञान को प्रधानता दी थी। यह दोनो विचार-धाराओ का प्रधान अन्तर है।

बौद्ध धर्म की विश्रृंखल धाराओ के प्रति, जिनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके है, यवनो के भारत मे बढने वाले प्रभाव के फलस्वरूप बहुत बडी प्रतिक्रिया देखने को मिलती है। इसका प्रभाव, जनता तथा विचारको, दोनो पर समान

रूप से दिखलाई देता है। उत्तर भारत मे नाथ-पथ और दक्षिण भारत मे लिंगायत आदि धर्मों का उदय इसी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप माना जाना चाहिए।

नीचे हम उक्त आचार्यों की विचार-धाराओ का सक्षेप मे विवरण प्रस्तुत करते है।

शंकराचार्य—शंकराचार्य अद्वैत सिद्धांत के प्रधान प्रतिपादक हैं। मायावाद का भी इन्हें आचार्य माना जाता है। आपने जगत को मिथ्या कहा है और ब्रह्म तथा जीव मे कोई तात्विक भेद नहीं माना। आपने माया का आवरण और विक्षेप दो रूप मे चित्रण किया है। आवरण माया की वह शक्ति है जो जीवात्मा की दृष्टि से ब्रह्म के विशुद्ध स्वरूप को ओझल कर देती है और ब्रह्म को एक प्रकार से ढक लेती है तथा विक्षेप माया की वह शक्ति है जिसका सहारा लेकर ब्रह्म जगत का निर्माण करता है। जहाँ तक जीवात्मा का सम्वन्ध है उसे शंकराचार्य नित्य मानते हैं; ब्रह्म से उसका सर्वदा ऐक्य रहता है। आत्मा चैतन्य-स्वरूप है। जीव शरीर का अध्यक्ष है और कर्म-फल के अनुसार शरीर मे प्रवेश करता है तथा उसका त्याग करता है। जीव की दो प्रकार की प्रवृत्ति होती हैं अतर्मुखी तथा बहिर्मुखी। जब जीव अन्तर्मुखी प्रवृत्तियो के आधीन कार्य करता है तो उसका झुकाव ब्रह्म की ओर होता है और जब वह बहिर्मुखी प्रवृत्तियों मे बहने लगता है तो उस पर आवरण अर्थात् माया का प्रभाव बढने लगता है और वह ब्रह्म से विमुख होकर दुनिया मे फँसने लगता है। शकराचार्य ने ब्रह्म-प्राप्ति के साधनो मे कर्म, भक्ति और ज्ञान के क्षेत्र मे ज्ञान को प्रधानता दी है।

कबीर के विचारो पर हमे शंकराचार्य के वेदान्त का स्पष्ट प्रभाव दिखलाई देता है।

रामानुजाचार्य—रामनुजाचार्य शकराचार्य की भाँति श्रुतिप्रमाण मे मान्यता रखने पर भी दर्शन मे तीन पदार्थ मानते है—चित, अचित और ईश्वर अर्थात् जीव, प्रकृति और ईश्वर (ब्रह्म)। आपके मतानुसार ईश्वर सर्वान्तरयामी है। परन्तु साथ ही जीव तथा प्रकृति भी नित्य और स्वतन्त्र हैं। परन्तु स्वतन्त्र होने पर भी इन्हें ईश्वर के आधीन ही रहना पडता है। आपके मतानुसार उपनिषद प्रतिपाद्य ब्रह्म सगुण ब्रह्म ही है। जहाँ ईश्वर चिद्-चिद् के सम्बन्धक प्रश्न है वहाँ श्री भाष्य[1] में चिद्-चिद् को विशेषण और ईश्वर को विशेष्य माना है। यही कारण है कि रामानुजाचार्य के मत का नामकरण भी विशिष्टाद्वैत के रूप मे हुआ। ईश्वर स्वेच्छा से जगत का उत्पादन करता है। जगत की सृष्टि और संहार अपनी लीला के लिए करता है। प्रलय के समय जीव और प्रकृति सूक्ष्म रूप धारण करके परब्रह्म मे विलीन हो जाते हैं। इस प्रकार सूक्ष्म चिद्-चिद् विशिष्ट ब्रह्म को 'कारणवस्थ ब्रह्म' तथा सृष्टि-काल के स्थूल रूप को 'कार्या-

---

१. श्री भाष्य—६/१/२

वस्थ' ब्रह्म कहते है। परिणामवादी विशिष्टाद्वैत मे ही कार्यकारण का भेद मिलता है। रामानुजाचार्य जीव को अनन्त और अणु रूप मानते है। जीव को उन्होने ब्रह्म से प्रथक नही माना वरन् प्राथक्य को गुणो के कारण माना है।

शकराचार्य के ही समान रामानुजाचार्य ने भी मनुष्य का मुख्य लक्ष्य मुक्ति प्राप्ति माना है, परन्तु मुक्ति प्राप्त करने के साधनो मे जहाँ शकराचार्य ने ज्ञान को प्रधानता दी है वहाँ रामानुजाचार्य ने भक्ति को अपनाया है। कबीर-कालीन सत तथा महात्माओ की धार्मिक विचार-धारा को जितना रामानुजाचार्य की भक्ति तथा प्रपत्ति प्रभावित कर सकी उतना प्रभाव शकराचार्य की ज्ञानाश्रयी धारा का नही हुआ। कबीरदास जी ज्ञान मार्गी होने पर भी भक्ति-भावना से प्रभावित हुए बिना नही रह सके।

मध्वाचार्य—मध्वाचार्य द्वैतवाद के प्रवर्तक है। ब्रह्म सम्प्रदाय का आरम्भ आप के ही विचारो से हुआ था। यह विष्णु को साक्षात परमात्मा मानते है और वही अनन्त गुण सम्पन्न है। सजातीय तथा विजातीय सभी तत्व उसमे विद्यमान है। वह ससार के जीवो से विलक्षण है और नाना रूप धारण करते रहते है। लक्ष्मी परमात्मा की शक्ति है, उनके आधीन है, परन्तु उनसे सर्वथा भिन्न है। वह जीव को सासारिक मानते है और मुक्ति प्राप्त करना जीव का परम लक्ष्य है। मुक्त होने पर जीव ब्रह्म को प्राप्त होता है। रामानुजाचार्य के ही समान यह भी भक्ति को मुक्ति का साधन मानने है। इनकी विचार-धारा का कबीर पर हम कोई विशेष प्रभाव नही पाते, परन्तु मध्यकालीन आध्यात्मिक विचार-धारा को आपके विचारो ने कुछ कम प्रभावित नही किया।

निम्बार्काचार्य—निम्बार्काचार्य द्वैताद्वैत मत के प्रतिपादक है। आपने ब्रह्म के द्वैत और अद्वैत दोनो रूपो को माना है। वह कर्त्तव्य के लिए जीव को स्वतन्त्र मानते है परन्तु योग के क्षेत्र मे वह ईश्वराश्रित है। इस प्रकार जीव नियम्य है और ईश्वर नियन्ता। जीव ईश्वर का अश होने पर भी बहुत प्रकार का है। आपने अचित् के प्राकृत, अप्राकृत और काल तीन रूप माने है। निम्बार्क-मत मे ईश्वर के सगुण रूप का ही प्रतिपादन मिलता है। आपके विचार से जीवात्मा सासारिक क्लेशो से केवल भक्ति द्वारा ही मुक्ति प्राप्त कर सकता है। प्रपत्ति मूलक भक्ति के द्वारा ही जीव को भगवानानुग्रह प्राप्त हो सकता है। द्वैताद्वैत आध्यात्मिक विचार का भी हमे कबीर की विचारावलि पर कोई प्रभाव नही दिखलाई देता।

विष्णुस्वामी—विष्णुस्वामी मध्वाचार्य के मतावलम्बी ही थे। आपने अद्वैतवाद से माया को प्रथक करने का प्रयास किया है। आपने विशेष रूप से राधा और कृष्ण की भक्ति को ही महत्व दिया है। इनका प्रभाव विद्यापति और चण्डीदास की कविता पर पडा है। कबीर की विचारधारा से इनका कोई विशेष सम्बन्ध नही।

इस प्रकार हमने ऊपर देखा कि देश के वातावरण मे, अद्वैत और द्वैत, दोनों ही भावनाओ को लेकर आचार्य लोग आध्यात्मिक क्षेत्र मे धर्म का प्रचार कर रहे थे। देश के वातावरण मे ज्ञान और भक्ति का एक साथ समन्वय हो रहा था और उससे प्रभावित होकर देश का विचार तथा साहित्य प्रसारित हो रहा था। विचार मे भक्ति और भक्ति मे विचार का सम्मिश्रण था और इसी को निर्गुणवाद मे सगुणवाद और सगुणवाद मे निर्गुणवाद भी यदि कहा जाय तो कुछ अनुचित न होगा।

आचार्यों के इन गूढ तत्वो को समझना साधारण जनता के लिए कठिन था। इसलिए धर्म के क्षेत्र में कुछ ठेकेदार लोग पैदा हो गए, जिन्होने धर्म को अपने बस्तो मे बाँध लिया और कुछ विशेष अवसरो पर ही अपने अनुयायियों या अनुगामियों को सुनाने, समझाने या अनुसरण कराने का जिम्मा अपने ऊपर ले लिया। जन साधारण ने भी धर्म के पचडे से इस प्रकार छुट्टी पा ली और कुछ विशेष अवसरो पर खानापूरी के लिए इनके ठेकेदार पुरोहितो को मान्य मान लिया। यह पुरोहितो का एक नया रोजगार बन गया जिसका बाह्याडम्बर विकट रूप से भारत की जनता मे छा गया। हिन्दू पुरोहितो के प्रभाव से मुसलमान मुल्ले भी न बच सके और इस वातावरण का उन्होने भी लाभ उठाया। बुतो के शत्रु मुसलमान भी पीर पैगम्बरो के पीछे दौडने लगे और सन्तो का बोल बाला हो उठा।

महाकवि कबीर ने इस बाह्याडम्बर की अपने साहित्य मे खूब खबर ली है उन्होने हिन्दू या मुसलमान दोनो मे से किसी को भी नही बखशा है। यह धर्म के क्षेत्र मे व्यर्थ का आडम्बरवाद आ जाने की प्रतिक्रिया थी जो कबीर की वाणी मे स्पष्ट रूप से प्रतिलक्षित हो उठी। इस प्रतिक्रिया के साथ-ही-साथ कुछ सतो का क्रियात्मक प्रभाव भी कबीर पर पडा हुआ स्पष्ट दिखलाई देता है। जिन सतो का कबीर पर स्पष्ट प्रभाव विद्वानो ने माना है उनमे नामदेव प्रमुख है। नामदेव के अतिरिक्त जयदेव और गोरखनाथ के प्रभावो से भी कबीरदास जी वचित नही रह सके।

सत नामदेव—नामदेव जी महाराष्ट्र के सत थे। आपके गुरु का नाम विसोबा खेचर था। आपके हिन्दी मे लगभग २१० पद मिलते हैं, जिनमे से हर पद ग्रन्थ साहब मे उपलब्ध है। आपके विषय मे कहा जाता है कि आप पहिले सगुणोपासक थे और बाद मे निर्गुणोपासक हो गये। डा० मोहन सिंह ने लिखा है कि कबीर की शैली तथा भाव प्रवणता पर नामदेव का स्पष्ट प्रभाव है।[1] नामदेव जी की विचारधारा से कबीर की विचारधारा का बहुत कुछ साम्य स्पष्ट दिखलाई देता है। कर्म और वैराग्य का समन्वय दोनो की रचनाओ मे मिलता है। दोनो ने ही

---

१. कबीर एण्ड दी भक्ति मूवमेन्ट—डा० मोहनसिंह—भाग१—पृष्ठ ४८

निर्गुण ब्रह्म की उपासना मे आस्था प्रकट की है । दोनो ही जाति-भेद से दूर रहकर अपने आध्यात्मिक विचारो का प्रसार करना चाहते थे । अनन्य प्रेम की भावना दोनो मे समान रूप से पाई जाती है । नाम साधना पर दोनो ने ही बल दिया है । शक्ति के क्षेत्र मे सेव्य और सेवक की भावना का प्रतिपादन दोनो मे समान रूप से मिलता है ।

जयदेव – महाकवि कबीर ने जहाँ अपनी वाणी मे यत्र-तत्र सत नामदेव के नाम का उल्लेख किया है वहाँ जयदेव को भी नही भुलाया ।[1] जयदेव सस्कृत गीतकाव्य के प्रसिद्ध लेखक है और आपके गीतो मे राधा-कृष्ण की भक्ति का सुन्दर चित्रण है । कबीरदास को सम्भवत जयदेव की भक्ति-भावना ने प्रेरित किया था और इसलिए उन्होने उनके नाम का यत्र-तत्र उल्लेख किया है । परन्तु जहाँ तक विचारो का सम्बन्ध है वहाँ कबीर पर जयदेव का हमे कोई प्रभाव दिखलाई नही देता । केवल पद-रचना के आकार पर कुछ प्रभाव अवश्य है ।

गोरखनाथ—गोरखनाथ जी नाथ-पथ के प्रधान आचार्य हुए है और इनके विचारो की अमिट छाप हमे कबीर के विचारो मे दिखाई देती है । मन की साधना, प्राण की साधना और इन्द्रियो की साधना का जो विचार कबीर के साहित्य मे मिलता है वह हम गोरखनाथ का ही प्रभाव मानते है । नाथ-पथ पर पातञ्जली के योग का प्रभाव था और उसी ने कबीरदास को भी प्रभावित किया । योग के जो तत्त्व हमे कबीर की विचारधारा मे मिलते है वह सब नाथ-पथ की ही देन है । इनके अतिरिक्त आचार प्रवणता पर कबीर ने जो जोर दिया है वह गोरखनाथ जी का ही ऋण प्रतीत होता है । कबीरदास की भाषा पर भी गोरखनाथ की भाषा का बहुत बडा प्रभाव प्रतिलक्षित होता है ।

सूफी सम्प्रदाय—ऊपर हमने सक्षेप मे हिन्दू आचार्यो की विचारावलियो तथा उनके कबीर पर पडने वाले प्रभाव की ओर सकेत किया है । कबीरदास का दृष्टिकोण बहुत व्यापक था और वह सभी धर्मों मे पाई जाने वाली अच्छाइयो को अपनी वाणी मे समाविष्ट कर देना चाहते थे । ईसा की तेरहवी शताब्दी मे रहस्यवादी कवि जलालउद्दीन रूमी का प्रभाव फारस के मुसलमानो पर व्यापक रूप से पडा । मुसलमानो मे सूफी धर्म का प्रचार हुआ और उसका प्रभाव भारत तक भी पहुँचा । सूफी सम्प्रदाय का प्रसार चिश्ती और सुहरावर्दी ने प्रमुख रूप

---

१. (१) सनक सनन्दन जयदेव नामा । भगति करी मन उनहुँ न जाना ॥
—(कबीर पद ३३)

(२) सकरु जागै चरन सेव । कलि जागे नामा जैदेव ॥—(बा० प० ३८७, स० का०, वसत २)

(३) गुरु परसादी जैदेवु नामा । भगति कै प्रेम इन्ही है जाना ॥
—(स० क०, ग० ३६)

से किया। भारत मे इसका प्रचार ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती (११४२-१२३६) ने किया। सुहरावर्दी सम्प्रदाय का प्रसार भारत मे बहाउद्दीन जकारिया ने किया और इसका प्रसार बगाल, बिहार, गुजरात, इत्यादि सभी जगह हुआ। कबीर पर सूफी प्रेम-भावना का भी प्रभाव कम नही पडा।

इस प्रकार हमने ऊपर कबीर-कालीन धार्मिक परिस्थितियो का सक्षेप मे ज्ञान प्राप्त किया और देखा कि देश मे विभिन्न प्रकार की धार्मिक प्रवृत्तियाँ प्रश्रय पा रही थी। कबीर ने सभी प्रवृत्तियो मे से मानवमात्र के लिए लाभदायक तत्त्वो को चुना और अपने साहित्य मे उनकी झलक देकर जन-मगल कामना का प्रसार किया।

देश की सामाजिक स्थिति . हिन्दू-समाज—कबीर समकालीन देश की सामाजिक दशा बहुत खराब थी। धार्मिक आडम्बरो और राजनैतिक अव्यवस्थाओ तथा धर्मांधता के कारण समाज का ढाँचा विशृखल हो चुका था। हिन्दू और मुसलमानो, दोनों के ही जीवन मे, पोल आवश्यकता से अधिक आती जा रही थी। मुल्ला और पुजारियो का बोलबाला था और वह धर्मांध जनता को मन माने मार्गों पर डालकर अपना उल्लू सीधा करते चले जा रहे थे। हिन्दू-समाज मे कही पर भी आशा की झलक दिखलाई नही देती थी। भय और शका से समाज का जीवन आच्छादित था। पराधीन जाति के हृदय मे भी उत्साह हो इस बात की ओर कभी विजेता जाति ने प्रयत्न नही किया। बल्कि उसके शव पर नृत्य करना ही उसने सीखा था। हेयता और निराशा का साम्राज्य हिन्दू जनता मे व्यापक रूप से छाया हुआ था। यवनो के अत्याचारों, स्वेच्छाचारिता, क्रूरता, दानवता, बरबरता और अमानुषिकता ने हिन्दू समाज के दिल को प्रकम्पित कर दिया था। जीवन का उत्साह नष्ट हो चुका था और उत्साह के साथ-ही-साथ उन्नति और उत्थान की भी इति-श्री ही समझनी चाहिए। स्वाभिमान और आत्म प्रतिष्ठा के लिए हिन्दुओ के जीवन मे कोई स्थान अवशेष नही था। अपनी आँखो के सामने अपने देवालयो को नष्ट-भ्रष्ट होते देखना उनके लिए नित्य का कार्यक्रम बन गया था। इसके फलस्वरूप उनका ईश्वर की सत्ता से भी विश्वास उठता चला जा रहा था और मूर्ति-पूजा तथा बहुदेववाद के प्रति तो उनमे महान उदासीनता आती चली जा रही थी।

वर्णव्यवस्था कर्म-गत न होकर जन्म-गत तो पहिले ही हो चुकी थी। परतु इस काल मे यवनो के आने से इसके प्रतिबध आदि और भी दृढ़ हो गये और चार वर्ण के पेशो के अनुसार अनेको जातियो मे विभाजित हो गये। साथ ही रक्त की शुद्धता का बहाना सामने रखकर धर्म के ठेकेदारो ने समाज से बहिष्कृत करने के द्वार तो खोल दिये परन्तु बहिष्कृत होने के पश्चात् फिर समाज मे लौट आने के द्वार बन्द कर दिये गये। इसके फलस्वरूप समाज बराबर क्षीण तथा विभाजित ही होता चला गया। समाज के नियमो को इतना कड़ा कर दिया गया

कि उनमें मनुष्य की स्वतन्त्र प्रगति के लिए कोई स्थान ही नही रह गया था। कबीर की वाणी मे हमे इन प्रतिबन्धो के विरुद्ध स्पष्ट विद्रोह की भावना मिलती है। इसे हम धर्म की उक्त विचारावलियो की प्रतिक्रिया मानते है, जिसमे अनेक ब्राह्मणो ने एक जुलाहे से दीक्षा ली, जबकि ब्राह्मण लोग शूद्र की परछाईं से भी दूर भागते थे और शूद्रो के कानो मे वेद-वाक्य पड जाने पर उनमे सीसा गलाकर डलवा दिया करते थे।

इस काल मे हिन्दू समाज अधोगति को प्राप्त हो चुका था। समाज के पथ-प्रदर्शक पुरोहितो मे पाखडियो की गिनती बढ रही थी। समाज मे उत्साह का नाम तक नही था। ऐसी दशा मे विद्या और कला का उसमे विकास नही हो सकता था। उसका जीवन-स्तर नित्यप्रति गिरता चला जा रहा था। इस कठिन काल मे साहित्य, सस्कृति और भाषा की उन्नति का स्वप्न देखना तो स्वप्न-तुल्य ही था। जन साधारण मे शिक्षा का नितात अभाव हो चला था, धार्मिक अधविश्वास, आडम्बर इत्यादि भी इसी अशिक्षा के फलस्वरूप बढते चले जा रहे थे।

मुसलमान-समाज—मुसलमान समाज विजेताओ का समाज था, परतु उसकी भी दशा किसी प्रकार हिन्दू-समाज से अच्छी नही थी। यह सच है कि उसकी आर्थिक स्थिति हिन्दू-समाज से अच्छी थी परतु विजेता होने के कारण उसके जीवन से मानवता का तत्त्व नितात लुप्त हो चुका था। बडे-बडे सामत योद्धा और पराक्रमी न रह कर केवल आचरण भ्रष्ट अमीर और ऐशपसद साधारण व्यक्ति मात्र रह गये थे। फौजो मे स्त्रियो को रखना और शराब पीना तो इस समय की साधारण बाते थी जिनके फलस्वरूप समाज दुर्बल पडता जा रहा था और इसीलिए देश का शासन अस्त-व्यस्त होता जा रहा था। देश मे अशाति होने से लूट मार को बढावा मिला और समाज मे, चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान, जीवन हर समय सशकित रहने लगा। यवन लोगो का आचरण इस काल मे आवश्यकता से अधिक भ्रष्ट हो चुका था। इस प्रकार ऐश मे फॅस कर मुसल-मानो ने अपने जीवन के साधारण नियमो को भी ठुकरा दिया था और उनका समाज कुछ विचित्र परिस्थितियो का शिकार बन चुका था।

महाकवि कबीर ने हिन्दू तथा मुसलमान दोनो ही समाजो की उक्त धर्मा-डम्बरता के प्रति अपना कटु मतभेद प्रकट किया है और विशुद्ध मानवतावादी सिद्धात का प्रतिपादन किया। कबीर के अतिरिक्त इस काल मे पैदा होने वाले रामानद, जायसी इत्यादि सतो ने भी उक्त अव्यवस्थाओ को ध्यान मे रखकर एक सामान्य धर्म की स्थापना करने का प्रयास किया है। इस सामान्य धर्म मे मिथ्या कर्मकाण्ड के लिए कोई स्थान नही रखा गया और जाति-बन्धनो को उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया है।

साहित्यिक परिस्थितियाँ—इस काल का साहित्य प्रयोजन प्रधान था। यो

तो साहित्य का बिना प्रयोजन के होना मैं मानता ही नही और 'स्वान्त सुखाय' वाली कला कभी कालीदास के समय मे रही होगी, परन्तु जबसे हिन्दी ने जन्म लिया है उसके साहित्य मे प्रयोजन आदि काल से साथ-साथ चला है। वीरगाथा काल, भक्ति-काल, रीति काल तथा आधुनिक काल के साहित्य पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि प्रयोजन सबके अन्दर निहित है। यह प्रयोजन स्वार्थ और परमार्थ दोनो के लिए रहा है। भक्तिकाल के साहित्यिक प्रयोजन को मै परमार्थ के लिए मानता हूँ। कबीर, जायसी, सूर और तुलसी जैसे कवियो का साहित्य परमार्थ के लिए ही प्रधानतया लिखा गया।

कबीरकालीन साहित्य विशेष रूप से धार्मिक विचारधाराओ का प्रतिपादन मात्र है, कला का चमत्कार या स्वाभाविक साहित्य-विकास नही। कबीर ने जहाँ रूपको का प्रयोग भी किया है वहाँ साहित्यिक सौन्दर्य के लिए न करके अपने विचारो के स्पष्टीकरण के लिए ही किया है। कबीर कहते है "विद्या न पढूं, वाद नहि जानूं" (क० ग्र० पृ० १३५) इसका अर्थ यह है कि उनका साहित्य और कला से कोई सम्बन्ध नही था। जहाँ तक धार्मिक साहित्य का सम्बन्ध है वहाँ तक वह ज्ञान कबीरदास जी ने पढकर नही, सुनकर प्राप्त किया था।

उक्त परिस्थितियो का कबीर के साहित्य पर प्रभाव—जैसा कि हम ऊपर देख चुके है, कबीर का जीवन-काल राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक दृष्टिकोण से मिथ्यावाद और बाह्याडम्बरो के मायाजाल से ग्रस्त था।[1] कबीर के जीवन पर उक्त प्रकार के वातावरण ने एक ऐसी प्रतिक्रिया की छाप डाली कि उसके मन मे इन पाखण्डो के प्रति ग्लानि का भाव पैदा हो गया। कबीर के हृदय मे इस आडम्बर ने एकदम ऐसा वातावरण पैदा कर दिया कि उसे व्यर्थ के कर्मकाण्ड से नफरत हो गई और उसका मन सगुण भक्ति की ओर से खिचकर निर्गुण-क्षेत्र मे पहुँच गया।

महाकवि कबीर ने देश की दशा को भली प्रकार परखा और एक निर्द्वन्द्व व्यक्ति के नाते साहस के साथ धर्म और समाज की कुरीतियो के विरुद्ध आवाज उठाई। निस्सकोच भाव से बुराइयो की आलोचना की और जहाँ-जहाँ भी उन्हे कोई अच्छाई की झलक दिखाई दी उसे अपनी वाणी म व्यक्त किया। कबीर ने धर्म और समाज के जीवन मे क्राति का अमर सदेश फूंक दिया। इस क्राति के

---

१. (१) कर पकरै, अगुरी गिनै, मन धावै चहुँ ओर।
जाहि फिराया हरि मिलै, सो भया काठ की ठौर॥
—(कबीर वचनामृत-साखी भाग, पृ० १३१)

(२) केसौ कहा बिगाडिया, जे मूडै सौ बार।
मन कौ काहे न मूडिए, जामैं विषै विकार॥
—(कबीर वचनामृत-साखी, भाग, पृ० १३४)

फलस्वरूप निराश्रित पडी जनता ने एक बार फिर सहारा पाकर स्वतत्र वातावरण मे श्वास लेने का प्रयास किया और पाखण्ड के पैरो मे कुचली जाती हुई भोली-भाली जनता ने कबीर को सुधारक के रूप मे स्वीकार करके अपना पथ-प्रदर्शक माना ।

कबीरदास जी ने हिन्दू तथा मुसलमान पाखण्डी धर्म-प्रचारको को आड़े हाथो लिया । कबीर की स्वभावगत विशेषता को समय की दीन अवस्था की प्रतिक्रिया ने बल प्रदान किया और उनके विचारो ने देश के लम्बे चौडे भाग मे एक तहलका मचा दिया । कबीर का सारा जीवन सत्य की खोज और असत्य का खण्डन करने मे व्यतीत हुआ । जो उन्हे अपने प्रयोग मे सत्य ठहरा उसी का पालन और प्रचार करना उनके जीवन का लक्ष्य बन गया । कबीर के जीवन मे हमे कही पर भी निर्बलता या हताशा के दर्शन नही होते, बल्कि कठिन-से-कठिन परिस्थियो मे भी हमने उन्हे पूर्ण रूप से दृढ ही पाया है । कबीरदास जी स्वय अपने को सच्चा शूरवीर मानते थे और सच्चे शूरवीर का उन्होने मुक्त कण्ठ से वर्णन भी किया है ।[1]

कबीरदास जी जहाँ एक ओर विनय[2] के क्षेत्र मे अपने को बहुत नीचे गिरा देते है, वहाँ स्वाभिमान के क्षेत्र मे प्राणो पर भी खेल जाने मे उन्हे सकोच नही होता । यहाँ यह कह देना अनुचित नही होगा कि कबीरदास जी की इस सबलता मे अक्खडता का आभास मिलता है । इसका प्रधान कारण तो उनका असाहित्यिक होना और उच्च वर्गीय शिष्ट समाज के आडम्बरो के प्रति घृणा की भावना का होना ही जान पडता है । कबीर की निर्भीकता और स्पष्टवादिता मे हमे जो कर्कशता मिलती है उसका वहाँ होना स्वाभाविक ही है । कबीर की सुधारात्मक उक्तियो मे तो यह स्पष्टवादिता मानो कूट-कूट कर भरी पडी है ।[3] 'पण्डित वाद वदन्ते झूठा' कहने मे उन्हे तनिक भी सकोच नही होता ।

---

१. भगति दुहेली राम की, नहिं कायर का काम ।
 सीस उतारै हाथि करि, सो लेसी हरि नाम ।।

२ कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाउँ ।
 गले राम की जेवडी, जित खैंचे तित जाऊँ ।।
 —(कबीर वचनामृत, पृ० ६३)

३. (१) दिन भर रोजा रहत है, राति हनत है गाय ।
 यह तो खून वह बन्दगी, कैसे खुसी खुदाय ।।
 (२) बकरी पाती खात है, तिनकी काढी खाल ।
 जे नर बकरी खात है, तिनका कौन हवाल ।।

कबीर की बुद्धिवादिता—कबीर के विचारो की कसौटी के रूप मे हम कबीर की बुद्धि को ही पाते है। कबीरदास ने अपने जीवन मे आने वाली प्रत्येक परिस्थिति, घटना और विचार को पहिले अपनी बुद्धि की कसौटी पर कसा है और तभी उसके विषय मे अपना मत प्रकट किया है, यो ही किसी बात को वेद, शास्त्र, पुराण या कुरान के आधार पर सत्य नही मान लिया। यह इस युग मे कबीर की सबसे बडी विशेषता थी जिसने उनके जीवन मे कभी धर्मान्धता की छाया को नही घुसने दिया। यह पूर्ण रूप से बुद्धिवादी व्यक्ति थे। केवल कही-सुनी बातो पर विश्वास करना वह अज्ञानी का कार्य समझते थे, परन्तु यहाँ यह भी स्पष्ट रूप से समझ लेना होगा कि उनकी बुद्धिवादिता में तर्क की अपेक्षा अनुभूति को ही विशेष महत्त्व दिया गया था। साधना के प्रश्न को तर्क द्वारा हल करने वालो को कबीरदास जी मोटी अक्ल वाला कहते है।[1] जैसा हम पीछे कह आये है कबीरदास जी धर्म, समाज और राजनीति के क्षेत्र मे समरसता लाने के पक्षपाती थे और समरसता कभी भी तर्क द्वारा सम्भव नही होती। इसीलिए आपने कभी तर्क का समर्थन सत्य-निरूपण के लिए नही किया।

सत कबीर की वाणी मे जहाँ कही भी हमे ऐसे पद मिलते है कि उनमे आत्म-विश्वास की अभिव्यक्ति है वहाँ उनकी उक्तियाँ कुछ ऐसी प्रतीत होती है कि मानो उनमे अभिमान की मात्रा अधिक हो गई है, परन्तु कबीर जैसे विनम्र सत के ऊपर यह दोषारोपण करना उचित प्रतीत नही होता।

इस प्रकार हमने इस अध्याय मे कबीरकालीन राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक और साहित्यिक वातावरण पर दृष्टि डालते हुए उनके प्रभावों के कबीर के व्यक्तित्व-विकास मे सहयोग को देखने का प्रयास किया है। किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण उसके विचार, उसकी भावना, उसकी प्रेरणा और बाहर जगत की परिस्थितियो के आधार पर होता है। स्वभाव से व्यक्ति के शरीर और मानस की समिष्ठि को ही उसका व्यक्तित्व कहते है। यह व्यक्तित्व पूर्व जन्म और इस जन्म के सस्कारो और जीवन मे आने वाली परिस्थितियो के सघर्ष से निर्मित होता है। इसी आधार पर हमने ऊपर विचार किया है और कबीर के विचारो के प्रवाह का कारण जानने का प्रयत्न किया है।

□

---

१. कहै कबीर तरक जोई साधै ताकि मति है मोटी।

(क० ग्र० पृ०—२=११)

३ | कबीर की रचनाएँ और उनकी भाषा

मसि कागद छूआ नही, कलम गही नहि हाथ।
चारिउ जुग को महातम, (कबीर) मुखहि जनाई बात ॥

उनके हाथ की लिखी पाडुलिपियाँ खोजना तो व्यर्थ की ही बात है, और जब उन्होने अपने हाथ से कुछ लिखा ही नही तो उसकी प्रतिलिपियाँ ही कहाँ से उपलब्ध हो सकती है। परन्तु यह कागज कलम न छूना इस बात का प्रमाण नही माना जा सकता कि कबीरदास जी को लिखना पढना आता ही नही था। यदि उनके हाथ की कोई पाडुलिपि नही मिलती तो मानस की भी तुलसीदास जी के हाथ की लिखी कोई पाडुलिपि उपलब्ध नही है। इस प्रकार के वाक्य अपने विषय मे लिखने की तो प्रवृत्ति इस काल के सतो मे पाई जाती है। कवि-वर जायसी भी अपने लिए इसी प्रकार का कम पढा लिखा होने का वाक्य[1] प्रयुक्त करते है। कबीरदास जी ने तो उक्त भाव को अन्यत्र भी कई स्थानो[2] पर प्रयुक्त किया है। सत हरिदास ने भी अपनी कविता मे इसी भावना को व्यक्त किया है।[3]

इस प्रकार इन सतो मे अक्षर-ज्ञान के विरुद्ध लिखने का अर्थ भी हम उनकी पाखडी आचार्य लोगो के प्रति व्यग्य का भाव प्रकट करना ही समझते है। कबीरदास जी का यह लिखने से केवल इतना ही तात्पर्य प्रतीत होता है कि

---

१. हौ पडितन केर पछलगा।—(जायसी ग्रन्थावली—पृ० ९, चौ० २३)

२. मसि बिनु द्वात कलम बिनु अचछर सुधि होई।—(बी० श० १६)

३. (१) जन हरीदास अवगति अगम, जहाँ भ्राति नहि छोति।
हम बात तहाँ की लिखत है, बिन लेखणि बिन दोति ॥

(२) मसि कागद पहुचै नही, अगम ठौड है लोइ।
जन हरीदास ऐसी कथा, समझै बिरला कोई ॥

केवल शब्द-ज्ञान प्राप्त कर लेने से ही ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त नहीं होता। पढना-लिखना ब्रह्म-ज्ञान से सर्वथा प्रथक है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि कबीरदास को जो साहित्य उपलब्ध है वह उन्होने अपने हाथ से नही लिखा होगा। जब-जब उन्होने अपने भावो को व्यक्त किया, उनके शिष्यो ने उसे लिपिबद्ध कर लिया होगा। परन्तु दुर्भाग्यवश ऐसा मान लेने का भी कोई ऐतिहासिक प्रमाण हमारे पास उपलब्ध नही है। ऐसी दशा मे जो सबसे प्राचीन पुस्तके उपलब्ध है उन्ही को हम मान्य मानकर कबीर की रचनाओ पर विचार करेगे।

प्राप्य पुस्तकें—वास्तव मे कबीरदास जी का जीवन-वृत जितना अनिश्चित है उनकी रचनाओ के विषय मे भी विद्वानो मे उतना ही मतभेद है। नागरी प्रचारिणी सभा ने आपके ग्रथो के विषय में जो खोज की है उसके आधार पर ग्रथो की सख्या ६१ है। पुस्तको के विषय को ध्यान मे रखते हुए यह ग्रथ इस प्रकार विभाजित किये जा सकते है—

१ **योगाभ्यास**—(१) अगाध मगल, (२) कायापञ्जी, (३) श्वासगुञ्जार।

२ **साधु सतो की महिमा**—(१) छप्पय कबीर का, (२) सत्सग को अग, (३) साधौ को अग, (४) ज्ञान सम्बोध।

३. **आध्यात्मिक ज्ञानोपदेश**—(१) अमरमूल, (२) अनुरागसागर, (३) खण्ड की रमैनी, (४) अलिफनामा, (५) अक्षर-भेद की रमैनी, (६) उग्र ज्ञान मूल सिद्धात दश मात्रा, (७) कबीर जी की साखी, (८) कबीर की बानी, (९) कर्म काण्ड की रमैनी, (१०) कबीर परिचय की साखी, (११) चौका पर की रमैनी, (१२) चौतीसा कबीर का, (१३) जन्म बोध, (१४) तीसा जन्त्र, (१५) पिय पहचानबे को अग, (१६) बारामासी, (१७) ब्रह्मनिरूपण, (१८) बीजक, (१९) भक्ति का अग, (२०) भाषौ खड चौतीसा, (२१) रमैनी, (२२) मगल शब्द, (२३) रेखता, (२४) विवेक सागर, (२५) विचारमाला, (२६) शब्द अलहटुक, (२७) शब्दराग काफी और राग फगुवा, (२८) शब्दराग गौरी और राग भैरव, (२९) शब्द वशाली, (३०) सत कबीर बदी छोर, (३१) सतनामा, (३२) हिंडोरा व रेखता, (३३) सुरति संवाद, (६४) हस मुक्तावली, (३५) ज्ञानगुदडी, (३६) ज्ञान चौतीसी, (३७) ज्ञान सरोदय, (३८) ज्ञान स्तोत्र, (३९) ज्ञानसागर।

४. **विनय**—(१) अर्जनामा कबीर का, (२) कबीर अष्टक, (३) पुकार कबीरकृत।

५ **साम्प्रदायिक**—(१) अठपहरा, (२) आरती कबीर कृत, (३) शब्दावली।

६. **कबीर तथा धर्मदास कृत**—(१) उग्रगीता, (२) कबीर और धर्मदास की गोष्ठी। (३) निर्भय ज्ञान कबीर गोरख, (४) कबीर गोरख की गोष्ठी,

कबीर और शाह बलखं, (५) वलख की पैज, कबीर और मुहम्मद साहब, (६) मुहम्मद बोध ।

७. **नाम-महात्म्य**—(१) नाम-महात्म्य की साखी, (२) रम रक्षा, (३) रामसार ।

उक्त ६१ ग्रथो मे नम्बर १, ५ और ६ के अन्तर्गत आये हुए ग्रथो को डा० रामरतन भटनागर कबीर कृत नही मानते । नम्बर १ के अन्तर्गत आने वाले ग्रथ योग से सम्बन्धित है जिसका कि प्रचार कबीर ने निश्चित रूप से नही किया । इसलिए हो सकता है कि इनकी रचना कबीर के पश्चात् उनके शिष्यो ने की हो। नम्बर ६ के अन्तर्गत आने वाले सम्वाद-ग्रथो की रचना भी सम्भवत बाद मे शिष्यो ने ही की होगी । साम्प्रदायिक ग्रथो की रचना भी कबीरदास ने की होगी ऐसा प्रतीत नही होता ।

ऊपर हमने नागरी प्रचारिणी सभा से प्राप्त कबीरदास के ग्रथो की सूची पर विचार किया है । इसके अतिरिक्त कुछ अन्य विद्वानो के विचार से इन ग्रन्थो की भिन्न-भिन्न सूचियाँ उपलब्ध होती है ।[1] इन सभी सूचियो पर ध्यान दे तो कबीरदास जी के ग्रन्थो की सख्या १७५ तक पहुच जाती है, परन्तु यह विचार भ्रामक है । सम्भव यही है कि इम सूची मे सम्प्रदाय की सभी पुस्तके कबीर की पुस्तको के साथ मिल गई है । श्री पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव इस विषय मे लिखते है—

" ....कबीर के ग्रन्थो की सख्या २५ से अधिक नही होती । इन पच्चीस मे भी बिरहुली, बेली, चाँचक, रमैनी, बसन्त, हिंडोला, विप्र बतीसी, चौतीसी आदि जो अलग-अलग लिखे गये है, सब बीजक के ही अग है ।"

कबीर के नाम से प्रकाशित सग्रह—(१) कबीर साहब की शब्दावली (२) कबीर के पद्, (३) साखिया, (४) बीजक, (५) सत कबीर, (६) कबीर ग्रन्थावली ।

उक्त सग्रहो के अतिरिक्त कबीरवचनामृत, कबीर वचनावली, कबीर पदावली, कबीरदास, कबीर इत्यादि ग्रन्थो का सम्पादक मु शीरामजी शर्म, अयोध्यासिह उपध्याय, डा० रामकुमार वर्मा, नरोत्तमदास स्वामी तथा डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने किया है। परन्तु इन ग्रन्थो मे मिलने वाली प्राय. सभी रचनाएँ उक्त ग्रन्थो मे मिल जाती है, इसलिए यहाँ इन पर विचार नही किया गया ।

---

१. (१) विलसन—८ ग्रन्थ, (२) पादरी वेस्टकॉट—८२ ग्रन्थ (३) मिश्र बन्धु—७५ ग्रन्थ (हिन्दी नव रत्न), (४) श्रीरामदास गौड़—७१ ग्रन्थ (हिन्दुत्व) (५) डा० रामकुमार वर्मा—५ ग्रन्थ (सत कबीर), (६) वेंक्टेश्वर प्रेस—४० ग्रन्थ (कबीरदास), ।

कबीर की शब्दावली—शब्दावली का संकलन तथा संशोधन बहुत सी हस्तलिखित प्रतिलिपियो तथा फुटकर पदो से किया गया है। पुस्तक के सम्पादक महोदय को स्वय इसके पूर्ण रूप से मुक्त होने मे सन्देह है। इसलिए पूर्ण भरोसे के साथ इस ग्रथ की सभी रचनाओ को कबीरदास जी लिखित मानने मे कठिनाई ही है।

कबीर के पद—कबीर के पदो का सग्रह श्री क्षितिमोहनसेन ने चार भागो मे किया है। इसे सग्रह करने मे सम्पादक ने ग्रन्थ के पाडुलिपियो की अतिरिक्त सन्तो के मुख से सुने हुए पदो का भी आदान प्रदान किया है। इसके सन् सवतो के विषय मे ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नही है।

साखियाँ—कबीर की साखियों के प्रमुख ग्रन्थ वेलवेडियर प्रेस (प्रयाग) का साखी सग्रह, कबीर पथी युगलानन्द का सशोधित 'सत्य कबीर की साखी' और विचारदास का 'कबीर साहब का साखी ग्रथ' सटीक है। इन ग्रथो का भी कोई ऐतिहासिक आधार उपलब्ध नही है। केवल युगलानन्द ने एक विषय मे सवत् १६०० का उल्लेख किया है। परन्तु जिस पाडुलिपि से आपने यह सवत् लिया है वह प्रति अब अप्राप्य है। यह प्रति उन्हे शिवहर निवासी बख्शी गोपाललाल से मिली थी।

बीजक—बीजक कबीर साहब का प्रधान ग्रथ है जिसका सम्पादन सटीक अथवा मूल रूप मे विश्वनाथ सिह जू देव, पूरनदास, अहमद शाह, काशीदास, विचारदास, लखनदास, रामफल दास, राघव दास, हनुमान दास, हसदास शास्त्री और महावीर प्रसाद इत्यादि ने किया है। किसी निश्चित तिथि वाली आधार मूल पुस्तक का उक्त लेखको मे से किसी ने भी अपने सम्पादित ग्रथ मे उल्लेख नहीं किया।

कहते है कबीरदास के समय मे बीजक की एक प्रति सवत् १५२१ में धर्मदास ने तय्यार की थी और वह रीवाँ-नरेश के पास रही परन्तु आज वह उपलब्ध नही है। उक्त बीजको मे विश्वनाथसिंह जी द्वारा सम्पादित ग्रथ सबसे पुरानी प्रति द्वारा सम्पादित माना जाता है।

सन्त कबीर—'सत कबीर' मे कबीर की उन कविताओं को सग्रहीत किया गया है जिनका पाठ हमे गुरु ग्रथ साहब मे मिलता है। परन्तु इस पुस्तक की साखियो मे ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ नामदेव, तिलोचन, रैदास और नानक की भी लिखी हुई है। डा॰ रामकुमार वर्मा इस ग्रथ को कबीर का सबसे प्रामाणिक ग्रथ मानते है। वैसे सकलन इसका भी कबीर के लगभग सौ वर्ष पश्चात् सतो की स्मृति के ही आधार पर हुआ है।

कबीर-ग्रन्थावली—कबीर-ग्रथावली का रचना-काल स० १५६१ मना जाता है। इस पुस्तक मे कबीर की मृत्यु-तिथि स० १५७५ मानी है। इसका सम्पादन दो प्राचीन हस्तलिखित प्रतियो को मिलाकर किया गया है। इस ग्रंथ की भूमिका

में लिखा है, "यह कहना तो कठिन है कि इस ग्रथ के अतिरिक्त और कुछ कबीर दास जी ने कहा ही नही, पर इतना अवश्य है कि इनके अतिरिक्त और जो कुछ कबीरदास जी के नाम पर मिले उसे सहसा उन्ही का कहा हुआ तब तक स्वीकार नही कर लेना चाहिए जब तक उसके प्रक्षिप्त न होने का कोई दृढ प्रमाण न मिल जाय।" इस पुस्तक की १५६१ की प्रति को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी अपने इतिहास मे प्रामाणिक माना है। परन्तु कुछ विद्वान इस प्रति के स०१५६१ के होने पर सदेह करते है। इस प्रति को स० १५६१ की न मानने वालो ने अपने मत की पुष्टि मे केवल यही कहा है कि इस सारी प्रति की लिपि एकसी नही है। बाबू श्याममुन्दरदास जी इस बात को कोई महत्त्व नही देते। एक ही काल के दो लेखक भी इसे लिख सकते है। डा० हजारीप्रसाद जी इसे काफी पुरानी मानते हुए भी स० १५६१ की मानने मे सदेह करते है। डा० रामकुमार वर्मा भी इस प्रति को स० १५६१ की मानने मे सदेह प्रकट करते है।

विद्वानों का मत—इस प्रकार कबीर-साहित्य की जानकारी प्राप्त करने के पश्चात् विद्वान् इस निश्चय पर पहुँचे है कि यदि कबीर के यह सभी ग्रथ नही भी हैं तो कम-से-कम बानी आदि ग्रन्थ और बीजक तो अवश्य कबीरदास जी रचित है। इन ग्रन्थो की पद-सख्या निम्नलिखित है—

बानी—साखी ८०८ (अग ५९), पद ४०३ (रागु १५), (रमैनी ७)।

आदि ग्रन्थ—पद् २२८ (रागु १६), (सलोकु २३८)।

बीजक—(रमैनी ८४), शब्द (११५), (अन्य पद ३४), (साखी ३५३)।

कबीर की भाषा कबीरदास ने अपनी भाषा के विषय मे कहा है, "**भाषा मेरी पूर्वी**" परन्तु इतना भर जान लेने से काम नही चलता। अहमदशाह के मतानुसार कबीर की बोली बनारस, मिर्जापुर और गोरखपुर के आस-पास मे बोली जाने वाली हिन्दी है। आप इसे भोजपुरी का ही एक रूप मानते है। परन्तु बीजक मे कही पर भी हमे भोजपुरी नही दिखलाई देती। कबीर की भाषा को हमारे विचार से किसी सीमा विशेष से बाँधना सर्वथा भ्रम है। आप की भाषा मे हमे कई प्रकार की प्रचलित भाषा तथा बोलियो के शब्दो का सम्मिश्रण दिखलाई देता है। इसलिए आचार्य रामचन्द्रशुक्ल ने इस भाषा को सधुक्कडी कहकर सतोष कर लिया। सधुक्कडी का अर्थ हुआ साधुओ की मिली-जुली भाषा, जिसमे न तो कोई भाषा का ही प्रतिबन्ध है और न प्रदेश विशेष का ही। यह भाषा मूल रूप से हिन्दी ही है परन्तु उस पर प्रादेशिक भाषाओ का प्रभाव भी कम नही है। आदि ग्रन्थ से लिये गए पदो पर स्पष्ट रूप से पजाबी का प्रभाव है। इसका प्रधान कारण यही है कि कबीर की वाणी ने उनके भक्तो के अनुरूप ही अपना स्वरूप बनाया है और क्योकि पजाब, राजस्थान और उत्तर प्रदेश तीनो ही स्थानो पर उनके शिष्य रहते थे इसीलिए प्रधान रूप से उनकी र नाओ मे राजस्थानी, पजाबी और पूर्वी हिन्दी का स्वरूप दिखलाई देता है।

कबीर की भाषा के डा० रामरतन भटनागर ने निम्न प्रयोग दिये है—

१ परम्पराग्रहीत शब्दो और प्राचीन क्रिया-रूपो के कारण यह भाषा आज कुछ जटिल जान पडती है।

२ इसमे बोलचाल की भाषा, मुहावरो, विश्रृखल वाक्य प्रयोगो और श्लेष का प्रयोग हुआ है, इससे परिस्थिति और भी कठिन हो गई है।

३. कबीर ने कितने ही ऐसे शब्दो का प्रयोग किया है जो आज प्रचलित नही है या दूसरे अर्थों मे प्रचलित है।

४. कबीर अपनी भाषा मे व्याकरण पर ध्यान नही देते।

५. उनकी भाषा मे फारसी, अरबी और तुर्की के शब्द तद्भव और तत्सम रूपो मे आये हैं। अकेले बीजक मे २००-२५० विदेशी शब्द हैं।

६. जनता की भाषा होने के कारण वह ऊबड-खाबड है और उसमे नागरिकता का अभाव है।

७. उस समय तक हिन्दी मे अधिक नही लिखा गया था। यही नहीं पडित-समाज लोक-भाषा मे रचना करने का विरोधी था। कबीर, तुलसीदास आदि को इस विरोध का सामना करना पडा और अपनी भाषा आप गढनी पडी। तुलसी पण्डित थे, अत उन्होने लोक-भाषा और सस्कृत का अत्यन्त सुन्दर गठबन्धन किया। कबीर सस्कृत से अनभिज्ञ थे, उन्होने लोक-भाषा को ही अपना माध्यम बनाया। भाषा के परिष्कार की उन्हे कोई चिन्ता नही थी।"

उक्त कथन का समर्थन कबीर-ग्रथावली की प्रस्तावना मे भी मिलता है, "कबीर मे केवल शब्द ही नही, क्रिया-पद कारक-चिह्नादि भी कई भाषाओं के मिलते है। क्रियापदो के रूप अधिकतर ब्रजभाषा और खडी बोली के हैं। कारक चिह्नो मे 'से, कै, सन, सा' आदि अवधी के है, 'कौ' ब्रज का है और 'थै' राजस्थानी का। यद्यपि उन्होने स्वय कहा है—**'मेरी बोली पूरबी'** तथापि खडी, ब्रज, राजस्थानी, पजाबी, फारसी आदि अनेको भाषाओं की पुट भी उनकी उक्तियो पर चढी हुई है। 'पूरबी' से उनका क्या तात्पर्य है यह नही कह सकते। उनका बनारस-निवास पूरबी से अवधी का अर्थ लेने के पक्ष मे है, परन्तु उनकी रचना में बिहारी का भी पर्याप्त मेल है। यहाँ तक कि मृत्यु के समय मगहर मे उन्होने जो पद कहा है उसमें मैथिली का भी कुछ ससर्ग दिखलाई देता है। यदि बोली का अर्थ मातृभाषा लें और 'पूरबी' का बिहारी तो कबीर के जन्म के विषय पर एक नया ही प्रकाश पड जाता है। उनका अपना अर्थ जो कुछ भी हो, पर पाई जाती हैं उनमे अवधी और बिहारी दोनो ही बोलियाँ।"

उक्त कथन के समर्थन मे कबीर की रचनाओं में से अनेकों उदाहरण[1]

---

१. खडी बोली—एक अचम्भा ऐसा भया।—(बानी पद ३२६)
ब्रज भाषा—लेट्यो भोमि बहुत पछितान्यौ।—(बानी पद ७)
अवधी बोली—जस तू तस तोहि कोई न जा।—(बानी पद ४७)
राजस्थानी— बीछड़ियाँ मिलिबौ नही।—(बानी सा० १२।६)

प्रस्तुत किये जा सकते है। कबीर की बानी में खडी बोली, ब्रज, अवधी और राजस्थानी के अनेको प्रयोग भरे पडे है। बिहारी (भोजपुरी) के उदाहरण कबीर-ग्रन्थावली मे बहुत कम है परन्तु है अवश्य।[1] अरबी, फारसी के शब्दो की भी कमी नही है परन्तु उनका विशेष रूप से उन्ही मुसलमानी धर्म विषयक रूढि शब्दो के लिए प्रयोग किया गया है जिन्हे बदला भी नही जा सकता था। काजी, हलाल, जुलुम, दफतर, जिबहै, खालिक, शेख, सबूरी, काबै, बिसमिल, रोजा, निवाज, सुनति, मस्जिद, रहीम, खलक, दोजग इत्यादि शब्दो के प्रयोग आपकी कविता मे खोजने पर अनेको स्थानो पर मिल जाएँगे।[2]

इस प्रकार हमने कबीर की भाषा मे यो तो खडी, राजस्थानी, ब्रज, पजाबी, भोजपुरी, अवधी, अरबी तथा फारसी के रूपो का प्रसार पाया है परन्तु इन सबमे प्रधानता राजस्थानी को मिलती है। सम्भवतः इसी मिश्रण के कारण आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को सधुक्कडी भाषा का नामकरण करना पडा होगा।

मिश्रित भाषा होने के कारण—कबीर की रचनाओ मे विविध भाषाओ का यह सम्मिश्रण देखकर विद्वानो को सदेह होने लगता है कि क्या यह इस प्रकार कई भाषाओ के शब्दो से युक्त भाषा एक ही व्यक्ति की हो सकती है? प्रश्न कुछ युक्तिसगत भी है और कबीर की रचनाओ के विषय मे ऐतिहासिक प्रमाणो की कमी होने पर तो यह सन्देह और भी दृढ हो जाता है। विद्वानो का अनुमान है कि यह मिश्रण हो सकता है विविध सतो के हाथो मे से कबीर की रचनाओ के गुजरने के कारण हुआ हो और यह अन्तर उनमे कालान्तर मे आ गया हो, परन्तु हमारा मत इसके सर्वथा विपरीत है। इसके विपरीत मत देते हुए हमारा यह निश्चय नही है कि कबीर के नाम से मिलने और कहे जाने वाले १७५ ग्रन्थ उन्ही के लिखे हुए है और उनमे कुछ भी प्रक्षिप्त हो नही सकता, परन्तु यह निश्चय ही है कि यदि कबीर ने कोई रचना की होगी तो वह कभी भी भाषा के पचडे मे नही पडे होगे और जो शब्द भी उनके मुख मे आये होगे उन्हे भावो और अर्थ की अनुकूलता को विचार कर ही उन्होने प्रयोग कर दिया होगा। आचार्यत्व या पाडित्य के लिए उन्होने भाषा का प्रयोग नही किया। एक सत होने के नाते देश के विविध भागो की भाषाओ से उनकी वाणी प्रभावित हुई होगी, यह कुछ कठिन बात नही, और उसी का प्रभाव हमे उनकी रचनाओ मे

---

१ भोजपुरी—
त्रिगुण रहित फल रमि हम राखल तब हमरो नाँउ रामराई हो।
(बानी पद ५०)

२. दिन भर रोजा रहत है, राति हनत है गाय।
यह तो खून वह बन्दगी, कैसे खुसी खुदाय,
—(हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ७८)

स्पष्ट दीखता है। उनकी भाषा मे विवि ध भाषाओ और बोलियो के शब्दो का प्रयोग देखकर जहाँ डा० रामकुमार जी उनके विषय मे—"भाषा बहुत अपरिष्कृत है। उसमे कोई विशेष सौदर्य नही है।" यह लिख सकते है तो यह लिखने वाले भी हिन्दी मे उपलब्ध है—"भाषा पर कबीर का जबर्दस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होने जिस रूप मे प्रगट करना चाहा है, उसे उसी रूप मे भाषा से कहलवा दिया है—बन गया है तो सीधे-सीधे, नही तो दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार-सी नजर नही आती है। उसमे मानो ऐसी हिम्मत ही नही है कि इस लापरवाह फक्कड की किसी फरमाइश को नाही कर सके। और अकथ कहानी को रूप देकर मनोग्राही बना देने की जैसी ताकत कबीर की भाषा मे है वैसी बहुत कम लेखको मे पाई जाती है। असीम अनन्त ब्रह्मानद मे आत्मा का साक्षीभूत होकर मिलना कुछ वाणी के अगोचर,—पकड मे न आ सकने वाली ही बात है। पर, 'बेहद्दी मैदान मे रहा कबीरा सोय।' मे न केवल उस गम्भीर निगूढ तत्त्व को मूर्तिमान कर दिया गया है, बल्कि अपनी फक्कडाना प्रकृति की मोहर भी मार दी गई है। वाणी के ऐसे बादशाह को साहित्य रसिक काव्यानद का आस्वाद कराने वाला समझे तो उन्हे दोष नही दिया जा सकता।" —(आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी—कबीर)

हम तो कबीर की भाषा मे इन विविध शब्दो के मुक्त प्रयोग को कवि की स्वच्छन्द प्रकृति और फक्कडपन ही मानते हैं। कवि ने अपने भावो और विचारो को सही-सही व्यक्त करने वाले शब्दो का प्रयोग बिना किसी प्रतिबन्ध के किया है। इसलिए यह प्रयोग कभी भी यह प्रकट नही करते कि इस प्रकार का प्रयोग विविध शिष्यो की व्यवहृत भाषाओं के कारण हुआ है, हो सकता है, इसमे भी कोई सदेह नही।

सधुक्कडी भाषा का कबीर की वाणी पर नाथ पथियो द्वारा प्रभाव पड़ा मालूम देता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास मे इस ओर सकेत[1] किया है। परन्तु कबीर की भाषा को सही तरीके से देखने पर पता चलता है कि उसमे एक स्थायित्व था और वह किसी भी प्रकार कृत्रिम भाषा नही है। उस काल मे भी यह बिहार से गुजरात तक और पजाब से दक्षिण तक बोली जाती थी। इसलिए कबीर ने इसे ही अपने विचारो के प्रदर्शन के लिए अपनाया। यह भाषा आचार्यों की भाषा की अपेक्षा जन-साधारण की बोलियों के अधिक निकट थी, इसलिए हम इसे उस समय की सामान्य भाषा के रूप मे भी स्वीकार कर

---

१. "कबीर आदि सतो की नाथ-पथियो से जिस प्रकार 'साखी' और 'बानी' शब्द मिले उसी प्रकार 'साखी' और 'बानी' के लिए बहुत कुछ सामग्री और सधुक्कडी भाषा भी।"

—(हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २६)

सकते है। इसलिए यहाँ हम दृढतापूर्वक कह सकते हैं कि कबीर की भाषा मे बहुत सी भाषाओ तथा बोलियो के शब्द होने पर भी यह मिश्रित भाषा न होकर सामान्य भाषा ही है। कबीर की भाषा रूढ काव्य-भाषा तो हो ही नही सकती थी, परन्तु भाषा के साधारण नियमो का उल्लघन भी हम उसमे नही देखते।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार यदि हम सधुक्कडी भाषा को ब्रज, खडी और पजाबी के मेल से बनी भाषा मानले तो कबीर की भाषा इसके अतर्गत नही आती। कबीर की भाषा मे हमे खडी और राजस्थानी का पूर्व रूप मिलता है। 'बानी' मे राजस्थानी, ग्रन्थ साहब मे पजाबी और बीजक मे पूर्वी की मात्रा अधिक होने पर भी सामान्य रूप से सभी भाषाओ का प्रभाव सब पर है। परतु भाषा की जो मूलधारा है वह अविच्छिन्न है, उसके प्रवाह मे कोई अतर नही आता।

अन्य भाषाओं के पद्—कबीर की रचनाओ के मध्य कुछ पद दूसरी भाषाओ के[1] भी मिलते हैं। विशेष रूप से यह फारसी, पजाबी, राजस्थानी और पूर्वी के हैं। मौजी कवि कबीर ने अपने अल्हडपन मे इनकी रचना की होगी। इन्हे प्रक्षिप्त मानने की बात हमारी समझ मे नही आती। यह भी हो सकता है कि भिन्न-भिन्न प्रातो के शिष्यो के अनुरोध पर कुछ पदो का कवि ने उनकी भाषा मे गान किया हो और हिन्दी, फारसी तथा अन्य भाषाओ को मिलाकर रचना करने की तो इस काल मे प्रवृत्ति हमे खुसरू मे मिलती है। विद्यापति ने भी अपनी कविताओ मे भी यत्र-तत्र अन्य भाषाओ के शब्दों का प्रयोग किया है और यह प्रयोग हमे तुलसी तथा सूर की कविता मे भी मिलता है। केवल प्रश्न कम और अधिक का है।

शुद्ध पाठ—ऊपर हम कबीर की भाषा का अध्ययन कर चुके है। अब हमे

---

१. (१) **राजस्थानी**—

पेवकडे दिन चारि है साहुरडे जाणा।
अन्धा लोक न जाणई मूरखु एआणा॥

(२) **पूर्वी**—

दाँत गयल मोर पान खात, केस गयल मोर गग नहात।

—(स० क०, मा० ८)

(३) **फारसी**—

रे दिल खोजि दिलहर खोजि ना परि परेसानी माहिं।
महल माल अजीज औरति कोई दस्तगीरी क्यूँ नाहिं॥
पीराँ मुरीदाँ काजियाँ मुल्ला अरु दरवेस।
कहाँ थै तुम किनि किये, अकल है सब नेस॥

—(बानी २५७)

कबीर की रचनाओ की पाडुलिपियो के पाठ पर ध्यान देना है। इन पुस्तको के सम्पादन मे जो सबसे बडी कठिनाई है वह यही है कि जितनी भी प्रतियाँ उपलब्ध है उनके पाठो मे बडा भारी अतर हे। इनमे मिलने वाले पदो की सख्या भी न्यूनाधिक है। इसके अतिरिक्त उनमे न केवल साधारण पाठ-भेद ही हैं वरन् पंक्तियो के क्रम मे भी भेद है। इसलिए अच्छा यही है कि प्रथम रूप से इन प्रतियो का सम्पादन किया जाय। सम्पादन का अर्थ मूल पुस्तक की त्रुटियो को निकाल देना या उसकी भाषा को अपने विचार से बदल देना कदापि नही है। लिपि की भूलो के कारण कुछ उत्पन्न होने वाले भ्रमो को दूर करने के लिए सम्पादक अपने विचारानुकूल प्रथक से सकेत दे सकता है। मूल पाठ मे सशोधन या परिवर्तन का अधिकार सम्पादक को नहीं है। बानी आदि ग्रन्थ और बीजक मे आदि ग्रन्थ को ही सब से शुद्ध इसीलिए माना जाता है कि सिक्ख लोग अपने ग्रन्थ के पाठ की शुद्धता पर विशेष ध्यान देते है। इस ग्रन्थ का सबसे अच्छा सस्करण सर्व हिन्द सिक्ख मिशन (अमृतसर) ने किया है। कबीर ग्रन्थावली में बानी के पाठ का सम्पादन सुन्दर ढग से हुआ है। इसकी दोनो हस्तलिखित प्रतियाँ भी काशी नागरी-प्रचारिणी सभा मे उपलब्ध है।

उक्त तीन ग्रन्थो के अतिरिक्त भी कबीरदास जी ने अनेकों पद स्थान-स्थान और समय-समय पर कहे होंगे और वह वही पर उनके भक्तों द्वारा अपने ग्रन्थों मे सग्रहीत कर दिए गए होगे परन्तु उन्हे प्रक्षिप्त रचनाओ से प्रथक करने का कोई उपाय हमारे पास नही है। उक्त तीन ग्रन्थो की भाषा, रचना-क्रम, भाव-विकास, विचार-धारा इत्यादि के आधार पर यदि कोई कसौटी बनाकर अन्य ग्रन्थो की छान-बीन कुछ विद्वान मिल कर करे तो कोई कारण नही कि उक्त कथित १७५ ग्रथों मे से कबीरदास जी के कुछ और पदो को न खोज निकाले।

पाठान्तर—सम्पादक को जहाँ तक सम्भव हो प्राचीनतम प्रति के पाठ में अन्तर करने का अधिकार नही है परन्तु यदि वह पाठ इतना भ्रामक है कि उससे अर्थ भ्रष्ट हो रहा है और सम्पादक को यह प्रतीत होता है कि यह लिपि-भेद के कारण हुआ है तो अर्थ की रक्षा के लिए उसे पाठान्तर करने का भी अधिकार है। कवि के अर्थ को पाठको तक सही रूप मे पहुँचाने की जिम्मेदारी सम्पादक पर होती है। लिपि की भूलें प्रतिलिपियों मे ही नही वरन् मूल पुस्तको मे भी हो सकती है। नीचे कुछ पाठान्तरो की सूची हम "कबीर साहित्य का अध्ययन" पुस्तक से प्रस्तुत करते है—

मूल	पाठान्तर
१ बानी पद ६—**सारंग** श्रीरग धार रे।	गुटका १८५५—**सारग** श्री रंगधार रे।
२. बानी पद १३—चूल्हे अगनि **बताइ** करि।	,,—चूल्हे अगिन **जलाइ** करि।
३. बानी पद ३८५—कहि कबीर उबरे द्वै **तीनि**	,,—कहि कबीर उबरैं द्वै **दीन**।

४. बानी पद २५६—**बन्दे ऊपरि मिहर करो मेरे साईं ।**

बी० श० ६७—**जिन्ह पर मेहर होहु तुम साँई ।**

—(पूरनदास)

जन पर मेहर होहु तुम साँई

—(विचारदास)

उक्त प्रकार के पाठान्तर हमे कबीरदास जी की प्रकाशित पुस्तको मे मिलते हैं, जिनमे कही-कही पर तो पाठान्तरो के कारण मूल अर्थ को समझने मे सहायता अवश्य मिलती है । परन्तु बहुत से स्थानो पर तो इन पाठान्तरो से अर्थ मे बहुत बडा भेद उत्पन्न हो गया है । कबीरदास जी की रचनाओ का सम्पादन करने के लिए उनकी भाषा का पूर्ण ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है ।

□

४ | कबीर की रचनाओं में साहित्यिक अभिव्यक्ति

किसी भी रचना मे साहित्यिक अभिव्यक्ति की खोज करने के लिए हमे कुछ नियम निर्धारित करने होते है। साहित्य के पाश्चात्य आचार्यों ने साहित्य के चार प्रधान तत्व माने है और जिस रचना मे यह तत्व न्यूनाधिक रूप से पाये जाते हैं वह रचना उसी प्रकार साहित्य मे स्थान पाती चली जाती है। यह चार तत्व बौद्धिकता, भावनात्मकता, कला और शैली है। इनमे से यदि चारों का ही समन्वय करके कोई साहित्यकार अपना मार्ग निर्धारित कर सके तो उसके तो कहने ही क्या है, परन्तु देखा ऐसा गया है कि कुछ लोग यदि भावनात्मकता को प्रधानता देते है तो दूसरे विचारात्मकता को ही सिर चढाना पसन्द करते हैं। इसी प्रकार कल्पना और शैली को प्रधानता देने वाले आचार्यों ने भी साहित्य मे जन्म लिया है।

भारतीय आचार्यों मे किसी आचार्य ने ध्वनि से गठबन्धन किया है तो दूसरा अलकार को ही काव्य मानकर चलने का प्रयास करता है। परन्तु अन्तिम निर्णय के आधार पर रस की प्रधानता ही काव्य का सबसे बडा गुण माना गया है। हमारे विचार से काव्य वह आनन्ददायक रचना है जो जीवन में उत्साह, स्फूर्ति और जीवन को प्रेरणा प्रदान करे। काव्य ललित और मृदुल पदो तथा शब्दो से भरा-पूरा होना चाहिए। शब्द और अर्थ दोनो का ही सुन्दर सौष्ठव काव्य को उच्चकोटि की रचना घोषित करा सकता है। साथ ही वह इतना क्लिष्ट भी नही होना चाहिए कि पाठको को समझने मे ही कठिनाई होने लगे। यह रचना युक्ति से पूर्ण होनी आवश्यक है। उचित गुणो का उसमे समावेश होना चाहिए और इस प्रकार उसमे भावना, विचार और कल्पना का सुन्दर समन्वय करके उसे रचना-तत्व की आधार-शिला पर स्थापित कर देना चाहिए।

बुद्धि-तत्व—कबीरदास जी की रचनाओं का निरीक्षण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी रचनाओं मे बुद्धि-तत्व की प्रधानता है। इस ओर हम पीछे भी संक्षेप मे सकेत कर चुके है। परन्तु आपका बुद्धि-तत्व शुष्क और नीरस तर्कवाद का आश्रय लेकर नही चलता। वह तो कवि की स्वाभाविक

उक्तियो और भावनाओ को ही आश्रय मान कर खडा होता है। आत्मा और परमात्मा के सम्बन्धो का सूक्ष्म चित्रण आपने सरल-से-सरल भाषा मे किया है, जिससे सुन्दर भावमयी अनुभूतियो की अभिव्यक्ति होती है। आपके काव्य मे अलौकिक आनन्द की छटा नृत्य करती हुई दिखलाई देती है और आत्मा को आनन्दित करने वाली वह रसमयी शैली मिलती है कि जिसे पढकर हृदय प्रेम विभोर हो उठता है।

जहाँ तक ज्ञान-तत्व का सम्बन्ध है वहाँ तक तो हम कबीर को हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवियो मे सबसे ऊँचा आसन निस्सकोच भाव से प्रदान कर सकते है।[१] आध्यात्मिक तत्वो का आपसे सरस, सरल और भाव पूर्ण चित्रण तथा विश्लेषण अभी तक कोई अन्य कवि नही कर पाया। ब्रह्म, जीव, प्रकृति, माया को लेकर आपने अनेको पदो की रचना की है जिनमे बुद्धि-तत्व की ही प्रधानता पाई जाती है। आपने तो बुद्धि की कसौटी पर ही भावना को कसा है और जितनी भी प्राचीन रूढियाँ आपके सम्मुख आई है उनका खरा या खोटेपन का भी निर्णय आपने बुद्धि के ही आधार पर किया है।

कबीरदास जी के भक्तो मे भक्तिमार्गी और ज्ञानमार्गी दोनो ही प्रकार के सन्त मिलते है। रामानन्द जी के शिष्य होने पर भी आपने भक्ति को नेत्र बन्द करके रूढिवादी ढग से नही अपनाया। आपने भक्ति की उन्ही भावनाओ को अपनाया है कि जिन्हे समझने मे उनकी बुद्धि ने उन्हे समर्थन प्रदान किया है। इस प्रकार कबीर की कविताओ मे ज्ञानात्मकता को विशेष प्रश्रय मिला है। और यह दृढतापूर्वक कहा जा सकता है कि उनकी रचनाओ मे कोई भी पक्ति ऐसी होनी सम्भव नही कि जिसका बुद्धि-तत्व से सीधा सम्बन्ध स्थापित न किया जा सके।

भावना-तत्व—कबीरदास की कविता मे जहाँ एक ओर हमे बुद्धि-पक्ष की प्रधानता मिलती है वहाँ दूसरी ओर भावना-पक्ष को भुलाकर भी कवि ने अपनी उपदेशात्मक प्रवृत्ति को सतुष्ट नही किया है। यदि कबीरदास जी तर्कवादी

---

(१) **ज्ञान सम्बन्धी**—

(१) कबीर पाणी केरा-पूतला, राख्या पवन सँवारि।
नाना बाँणी बोलिया, जोति धरी करतारि॥

(२) झिरिमिरि झिरिमिरि बरषिया, पाहण ऊपरि मेह।
माटी गलि सैजल भई, पाहण वोही तेह॥

—(कबीर वचनामृत, पृ० २३०)

(३) **विशिष्टाद्वैतवाद**—
मेरे सगी दोई जणा एक वैष्णो एक राम।
वो है दाता मुकति का वो सुमिरावै नाम॥

बुद्धिवाद के समर्थक होते तो हो सकता था कि उनमें भावना-पक्ष गौण हो जाता परन्तु उनकी रचनाओ मे हमे भावना-पक्ष का भी उतना ही प्राबल्य मिलता है जितना कि ज्ञान-पक्ष का। कबीर के भावना-पक्ष पर हम आगे चलकर उनकी रसात्मकता के अन्तर्गत भी विचार करेगे। वास्तव मे यह भावना ही है कि जो काव्य मे रस का सचार करती है। कबीर की रचना मे शृगार रस की जो पुष्टि हमे मिलती है वह अन्य किसी ज्ञानाश्रयी कवि की वाणी मे नही है।

कबीर की कविता मे तो भावना नृत्य करती है और उसी से रस का प्रवाह होता है। कबीर की रहस्यमयी कविताओ मे जो रस की धारा बहती है वह आत्मा को कामना और वासना के क्षेत्र से बाहर निकाल कर निर्वाण के परमानन्द की स्थिति को प्राप्त कराने मे समर्थ होती है। इस स्थिति को प्राप्त करके कवि स्वय प्रेम-रस का पान करता है और ब्रह्म के रग मे रँग कर मतवाला हो जाता है। कबीर की रचनाओ मे इस रस की न जाने कितनी शीतल धाराएँ बहती हुई मिलती है जिनमे स्नान करके हृदय वाला पाठक जीवन की वास्तविक शान्ति को प्राप्त कर सकता है। भावनात्मक साहित्य के उदाहरण देखिए—

१. **नैनों की करि कोठरी, पुतरी पलँग बिछाय।**
पलको की चिक डारिकै, पिया को लिया रिझाय ॥ १
प्रीतम को पतिया लिखूँ, जो कहुँ होय बिदेस।
तन मे, मन मे, नैन मे, ताकौं कहा सँदेस ॥ २
—(कबीर, हजारी प्रसाद, पृ० ३३०-पद १७६)

२ **कबिरा प्याला प्रेम का, अन्तर दिया लगाय।**
रोम-रोम में रमि रह्या, और अमल क्या खाय ॥ १
बाता माता नाम का, पीया प्रेम अघाय।
मतवाला दीदार का, माँगे मुक्ति बलाय ॥ २
— (कबीर, हजारी प्रसाद-पृ० ३४२-पद २०२)

इस प्रकार हमने देखा कि कबीर विचार-प्रधान कवि होने पर भी भावना के क्षेत्र मे कुछ पीछे नही है। आध्यात्मिक विचारो की पृष्ठ-भूमि पर भावना के ऐसे सुनहले चित्र अकित कर देना इसी कलाकार का काम था।

कल्पना-तत्व—कबीर की कविता मे जहाँ तक कल्पना-तत्व का सम्बन्ध है वह रूपक और उपमा अलकारो मे स्वय ही आकर उपस्थित हो जाता है। यों व्यर्थ के लिए कल्पना के पीछे लम्बी-लम्बी उडानें भरना उनका लक्ष्य नही रहा परन्तु उन्होने तो अपने साहित्य के निरूपण में विषय ही वह लिया है कि जिसकी कल्पना मात्र ही की जा सकती है। आँखो से देखने के पश्चात् तो फिर उसका निरूपण करने के लिए आना ही असम्भव है। और फिर जहाँ-जहाँ

निर्गुणब्रह्म के निरूपण की बात है वहाँ तो प्रधान आश्रय ही कल्पना बन जाता है। कल्पना का स्वाभाविक विकास हमे कबीर की रचनाओ मे मिलता है।

पिया ऊँची रे अटरिया तोरी देखन चली।
ऊँची अटरिया जरद किनरिया, लागी नाम की डोरी।
चाँद सुरज सम दियना बरतु है, ता बिच भूली डगरिया।
आठ मरातिब दस दरवाजा, नौ में लगी किवरिया।
खिरकी बैठ गोरी चितवन लागी, उपराँ झाँप झोपरिया।

—(कबीर, हजारी प्रसाद,पृ०६५१-पद २२७)

इसी प्रकार माया, ब्रह्म और विविध आध्यात्मिक तत्वो का चित्रण कवि ने कल्पना के ही आधार पर किया है। कबीर की कल्पना बडी सलौनी है और जो चित्र आपने माधुर्य-रस प्रधान अकित किए है उनमे तो कल्पना की छटा और भी रंगीन हो उठी है। कल्पना के इन मनोहर चित्रो को देखकर रसिक पाठक का मन-मयूर नृत्य करने लगता है।

काव्य-शैली—जहाँ तक कबीर की भाषा के बहिर रूप का सम्बन्ध है हम कबीर की भाषा पर पिछले अध्याय मे विचार कर चुके है। परन्तु इस अध्याय मे हम कबीर की भाषा के अन्तर्गत भाषा मे पाये जाने वाले उन सभी अलकारिक गुणो पर विचार करेगे कि जिनके अलकृत भवन मे कवि अपनी भावना, कल्पना और विचारो को सजोता है। इस अध्याय मे भाषा के अन्तर्गत ही हम शब्द-योजना, शब्द-शक्ति का प्रयोग, अलकारो की रमणीयता, भाषा के गुणो का समावेश तथा छन्दो इत्यादि के प्रयोगो के आधार पर भी कबीर की कविता को तौलने का प्रयत्न करेगे। कबीरदास का भाषा पर पूर्ण अधिकार था और आपने अपनी रचनाओ मे समय, विषय और जिस व्यक्ति के विषय मे वह लिख रहे है उसी के अनुरूप भाषा का प्रयोग किया है। शब्दो का उनके पास बहुत बडा भडार था जिसमे किसी भाषा विशेष का कोई प्रतिबन्ध नही था। इसीलिए वह जहाँ जिस शब्द को उपयुक्त समझते थे निस्सकोच भाव से प्रयुक्त कर डालते थे। गहन-से गहन विषय को साधारण बोल चाल के शब्दो मे मूर्त रूप दे देना कबीर जैसे भाषा-अधिकारी का ही काम था। वास्तव मे यदि देखा जाय तो भाषा ही लेखक के विचारो तथा उपदेशक की वाणी का प्राण है। विचारो की अभिव्यक्ति का प्रधान साधन भाषा ही है। जैसा ऊपर कह चुके है, कबीर ने अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए मुक्त रूप से उर्दू, फारसी, अरबी, पजाबी, राजस्थानी, अवधी, ब्रज और भोजपुरी का प्रयोग किया है।

कबीर की भाषा मे यो देखने पर बिलकुल सरल शब्दो का प्रयोग मिलता है परन्तु उसका आद्योपान्त प्रयोग प्रतीकात्मक तथा साकेतिक है। साधारण से शब्दो मे कितने-कितने गूढ रहस्यो को आपने भर दिया यह कहने की बात नही। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने आपको वाणी का 'डिक्टेटर' कहा है। डा०

साहब लिखते है—"वाणी के ऐसे बादशाह को साहित्य-रसिक काव्यानन्द का आस्वाद कराने वाला समझे तो उन्हे दोष नही दिया जा सकता। फिर व्यग्य करने मे और चुटकी लेने मे भी कबीर अपना प्रतिद्वन्दी नही रखते। पडित और काजी, अवधू और जोगिया, मुल्ला और मौलवी—सभी उनके व्यग्य से तिलमिला जाते है। अत्यन्त सीधी भाषा मे वे ऐसी गहरी चोट करते है कि चोट खाने वाला केवल धूल झाड के चल देने के सिवा और कोई रास्ता ही नही पाता। इस प्रकार यद्यपि कबीर ने कही काव्य लिखने की प्रतिज्ञा नही की तथापि उनकी आध्यात्मिक रस की गगरी से छलकते हुए रस से काव्य की कटोरी मे भी कम रस इकट्ठा नही हुआ है।"

कबीर की भाषा पर पिछले तौर पर विचार करके विद्वानो ने उसके विषय मे अनेको भाषाओ का सम्मिश्रण-सा देखकर इधर-उधर के विचार भी प्रकट कर दिये है परतु जिन जिन विद्वानो ने कबीर का गहन अध्ययन किया है उन्होने ही वास्तव मे कबीर की भाषा और उस भाषा मे सजोये हुए काव्य को परख पाया है। योग, साधना और रहस्यवाद को अपनी गोद मे लेकर चलने वाली भाषा को छिछला और अव्यवस्थित कहना कुछ युक्तिसगत प्रतीत नही होता। कबीर की भाषा मे वह वास्तविक सौन्दर्य है कि जिसके सरक्षण और लालन-पालन मे सुन्दर-से-सुन्दर कोमल-से-कोमल और तीखी-से-तीखी भावना तथा विचार पनप कर साहित्य की अमर देन बन गये है।

छन्द—कबीर ने अपनी कविता मे प्राय सधुक्कडी छन्दो का ही प्रयोग किया है। इसमे प्रमुख रूप से सबद, साखी, रमैनी, चौपाई और दोहा इत्यादि ही मिलते है। 'सबद' अधिकतर पदो ओर राग रागनियो के रूप मे मिलते है। इन छदो को छोडकर कहरा, हिडोला, वसन्त, चौतीसी, विप्र मतीसी, वेलि, चाचर आदि भी बहुत से छद पाये जाते है। इन छदो का प्रयोग कवि ने स्वतन्त्रतापूर्वक किया है और अपने को किसी भी पिंगल के नियमो से नही बांधा। मात्रा की अपेक्षा इन छदो मे कवि ने लय और गीत को ही प्रमुख रूप से ध्यान मे रखा है। छद की बन्दिशे उनके भावो के प्रसार और विचारो के प्रकाशन मे प्रतिबन्ध बन जायँ यह वह सहन नही कर सकते थे। कबीर जैसे स्वतन्त्र प्रकृति के कवि के लिए प्रधानता भावना और विचार की थी, छन्द-बद्धता की नही। आचार्यों की छन्द-बद्ध दुनिया मे महाकवि का यह क्रातिकारी प्रयास था जिसकी सराहना रीतिकाल मे नही की जा सकती थी। उस काल में तो और उन्हे अपढ और अज्ञानी ही कहकर पुकारा जा सकता था। परतु आज के युग मे जब कविवर निराला के मुक्त छन्दो को अपनाने वाले विचारको और विद्वानो ने भी जन्म लेना प्रारम्भ कर दिया है तो महाकवि कबीर की भाषा को उस काल मे छन्दो के रूढिवादी बन्धनो से मुक्त कर देना अवश्य ही एक महान् श्रेयकर प्रयास था।

रस-प्रवाह—रस काव्य की आत्मा है, इस कठोर सत्य का यहाँ विवेचन करने की हम आवश्यकता नही समझते। यह आलोचना के सिद्धातो का विषय है। यहाँ तो हमे केवल कबीर के साहित्य को रस की कसौटी पर परखना है। रस के विचार से हम कबीर के साहित्य को चार प्रधान भागों मे विभाजित कर सकते है। १. शृगार रस-पूर्ण उक्तियाँ, २ अद्भुत रस-युक्त उलट बासियाँ, ३ शान्त रस-पूर्ण उक्तियाँ तथा रचनाओ का वह उपदेशात्मक और यौगिक भाग जिसमे शुष्क आध्यात्मिक प्रचार-पूर्ण साहित्य की प्रधानता है। इसे हम 'बिना रस की रचनाए" शीर्षक के अन्तर्गत रख सकते है।

शृ गार-रस—स्त्री और पुरुष के दाम्पत्य प्रेम को लेकर कबीर ने शृगारिक पदो मे ब्रह्म का रहस्यवादी चित्रण किया हे। इस प्रकार की कविताए यो साधारणतया देखने पर दाम्पत्य प्रेम से ओत प्रोत दिखलाई पडती है परन्तु यदि इन पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो इन चित्रणो मे आत्मा और परमात्मा के पारस्परिक प्रेम का सुन्दर चित्रण मिलता है।[1] इनमे कबीर ने सयोग और वियोग पक्ष दोनो को ही समान रूप से चित्रित किया है। साई के विरह मे तडपती नायिका के चित्रण और साई के साथ सेज पर सोने वाली प्रेमिका का आनन्द-मग्न वर्णन हमे आपकी कविता मे देखने को मिलता है।

आध्यात्मिक विरह को व्यक्त करने के लिए कोई आध्यात्मिक भाषा विशेष तो होती नही। इसलिए कबीरदास जी ने लौकिक भाषा मे ही रूपको द्वारा इस सयोग और वियोग का सजीव चित्रण किया है। भक्त का हृदय भगवान् के विरह मे उसी प्रकार तडपता है जिस प्रकार प्रेमिका का हृदय प्रेमी के लिए बेचैन हो उठता है।

अद्भुत-रस—स्थायी रूप से विस्मय जिन उक्तियो मे पाया जाता है और आश्चर्यजनक बातो का वर्णन होता है वह उलटवासियाँ अधिकाश मे अद्भुत रस युक्त होती है। इन उलटवासियो मे अलौलिक और अदृश्य की बातो का वर्णन मिलता है। इस प्रकार की कबीर की अनेको कविताएँ उपलब्ध है।[2] इन

---

१. सखियो, हमहुँ भई बलमासी।
आयो जोबन बिरह सतायो, अब मै ज्ञान गली अठिलाती।
ज्ञान-गली मे खबर मिल गये, हमे मिली पिया की पाती।
वा पाती मे अगम सदेसा, अब हम मरने को न डराती।
कहत कबीर सुनो भई प्यारे, बर पाये अबिनासी।
—(कबीर, हजारीप्रसाद, पृष्ठ २३६, पद ५१)

२. सात समद की मसि करौ, लेखनि सब बनराइ।
धरती सब कगद करौ, तऊ हरि गुण लिख्या न जाय॥
—(कबीर वचनामृत-साखी, पृष्ठ १७८)

विचित्र प्रकार की कविताओ मे कवि ने ईश्वर की अलौकिक शक्तियो का विस्तार के साथ वर्णन किया है।

शान्त रस—भक्ति-भावना से प्रेरित होकर जहाँ कबीरदास जी ने कुछ उक्तियाँ कही है वह शान्त रस पूर्ण है। भक्ति-भाव मे जिस समय मन प्रवाहित होता है तो उसमे शात रस तो आ ही जाता है। गोस्वामी तुलसीदास जी का मानस इस दिशा का हिन्दी मे सबसे बडा उदाहरण है। भक्ति को मै शान्त रस से प्रथक करके एक नया रस नही मानता। कबीर की वाणी मे भक्ति का प्रवाह अग्रदूत के रूप मे प्रस्फुटित हुआ है। कबीरदास जी ने भक्ति का पाठ रामानन्द जी से उस समय सीखा जब भारत का धार्मिक वातावरण सिद्धो के शैव-धर्म से आच्छादित था, योगियों की काया-साधना का प्रपच सीधी-साधी जनता मे विस्तार के साथ फैल रहा था, सहजयानी सिद्धो का प्रभाव भी नष्ट नही हुआ था और कर्मकाण्डी पडित, मुल्ले और काजी भी अपनी-अपनी तूतियाँ बजाने से नही चूकते थे। कबीर की इस भक्ति मे भी ज्ञान की पुट विद्यमान है[1] और इसके उदाहरण तो उनकी रचनाओ मे इधर-उधर न जाने कितने बिखरे पडे हैं।[2] इन पदो मे शान्त रस की जो अनुभूति विद्यमान है वह साधारण कविता मे भला कहाँ उपलब्ध हो सकती है।

कबीर की कविता मे नश्वरता की ओर सकेत करने वाली रचनाओ की कमी नही है। इन सभी रचनाओ को हम शान्त रस के ही अन्तर्गत सुगमता से उठाकर रख सकते है।

बिना रस की रचनाएँ—यह कबीरदास जी की वह रचनाएँ है कि जिनमे उन्होने अपने आध्यात्मिक तत्वो का नीरस होकर केवल सुधारात्मक, उपदेशात्मक या यौगिक तत्वो के आधार पर सृजन किया है। आपकी रचनाओ का यह भाग ललित कला कहलाने वाले साहित्य के अन्तर्गत नही रखा जा सकता और उसके पढने मे पाठको के हृदय मे किसी रस का भी सचार नही होता।

अलकारिक सौंदर्य—काव्य मे अलकारिक सौदर्य की मान्यता को सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है। अलकार का अर्थ है उक्ति सौदर्य। कबीर के साहित्य मे अनायास ही बहुत प्रकार के अलकार आ गये है। रचनाओ के प्रवाह को देखने से पता चलता है कि कवि ने अलकारो के प्रयोग का कोई प्रयास नहीं

---

१. करता दीसै कीरतन, ऊँचा करि करि तूड।
जाणै बूझै कुछ नही, यौंही अधा रूड॥

२. कबीर निरभै राम जपि, जब लगि दीवै बाति।
तेल घट्या बाती बुझी, (तब) सोवैगा दिन रात॥

किया परन्तु फिर भी उसमें अलकार निश्चित रूप से आ गये है ।[1]

आपके साहित्य मे स्वाभाविक अलकारो की जो योजना स्वत. आई है उससे काव्य की प्रभावात्मकता मे बहुत वृद्धि हुई है । आपकी साखियो में अलकारिक सजावट का प्रयास नही के तुल्य ही है । कबीर ने अलकारो को साध्य रूप मे ग्रहण न करके स्वाभाविक सौदर्य वृद्धि के साधन स्वरूप ग्रहण किया है । अज्ञात रूप से भाव के प्रभाव को बढाने वाले अलकार स्वत. काव्य मे प्रस्फुटित हुए है। प्रधान रूप से आपके काव्य मे उपमा और रूपक अलकार देखने को मिलते है । कबीर के जैसे अनूठे रूपक हमे हिन्दी के अन्य कवियो की रचनाओ मे कम प्राप्त होते हैं । आपके रूपको और अलकारो की विशेषता यह है कि वह परम्परागत न होकर अधिकाश से मौलिक होते है । सामान्य जीवन से उठकर कवि उन्हे अपनी वाणी से साकार चमत्कार प्रदान करता है ।

उपमा और रूपक की प्रधानता के साथ आपके काव्य मे उत्प्रेक्षा, अन्योक्ति, विभावना, लोकोक्ति, अर्थान्तरन्यास, दृष्टात, काव्यलिग इत्यादि अलकार भी यत्र-तत्र देखने को मिलते है । यहाँ तक रही अर्थालकरो की बात। शब्दालकारो मे भाषा को बनाने बैठने की प्रवृत्ति कबीर जैसे फक्कड सत मे भला कहाँ मिल सकती थी परन्तु, फिर भी अनायास ही अनुप्रास और यमक का प्रयोग रचनाओ

---

१. **रूपक**—(१) नैनो की करि कोठरी, पुतली पलग बिछाय ।
पलको की चिक डालि कै, पिय को लिया रिझाय ॥

उपमा—पानी केरा बुदबुदा, अस मानस की जाति ।
एक दिन छिप जाहिगे, तारे ज्यूँ परिभात ॥
—(क० ग्र० पृ० ७३)

अनुप्रास—सती सतोषी सावधान, सबद भेद सुविचार ।
सतगुरु के प्रसाद थै, सहज सील मत सार ॥

यमक—सहर बेगम पुरा गम्म को ना लहै,
होय बेगम्म जो गम्म पावै ।
गुना की गम्म ना अजब बिसराम है,
सैन जो लखै सोई सेन गावै ।

विभावना—बिन मुख खाइ चरन बिन चालै
बिन जिभ्या गुण गावै ।
—(क० ग्र०, पृ० १४०)

काव्यलिग—राम पियारा को छाँडि कै, करै आन का जाप ।
वेस्या केरा पूत ज्यू, कहै कौन सूँ बाप ॥
—(क० ग्र० प्र० ६)

मे हुआ है। इस तरह कबीर की रचनाओं में यहाँ-वहाँ इन अलकारो के आजाने से उनके स्वाभाविक प्रयोग ने रचनाओ को चार चाँद लगा दिये है।

काव्य-गुण सौदर्य—काव्य-गुणो के विषय मे आचार्यों का पारस्परिक मतभेद रहा है। गुणो की सख्या के सम्बन्ध मे भी भरत मुनि और वामन ने उन्हे १०, अग्नि पुराण मे १६ तथा भोज ने २४ माना है। परन्तु आचार्य मम्मट ने सभी गुणो को प्रसाद, माधुर्य और ओज इन्ही तीन गुणो मे सन्निहित कर दिया है। आपके मतानुसार गुण रस मे उत्कर्ष तथा अचल स्थिति कायम रखने वाले तत्वो का नाम है।

कबीर की रचनाओ का अध्ययन करने पर उनमे हमे प्रसाद और माधुर्य की प्रधानता मिलती है। ओज गुण का आपकी रचनाओ मे अभाव है।

प्रसाद गुण—आपकी वह रचनाएँ जिनमे आपने उपदेशात्मकता को प्रधानता दी है या जिनमे सुधारात्मक प्रवृत्ति पाई जाती है, प्रसाद गुण से पूर्ण है। है। यह उक्तियाँ आपने प्रधानतया खड़ी बोली मे ही कही है। इस प्रकार की रचनाओ मे कवि की भाषा बहुत सरल, स्पष्ट और साफ-सुथरी है। न तो व्यर्थ के अलकारो की ही ठूँस-ठाँस है और जो उदाहरण, उपमा, दृष्टान्त इत्यादि छडे छोदे अलकार आ भी गये है तो उनसे भाषा की प्रसादात्मकता[1] को और प्रश्रय ही मिलता है।

माधुर्य-गुण—कबीर की रहस्यवादी रचनाओ मे माधुर्य विशेष रूप से पाया जाता है। जैसा कि हम ऊपर भी कह चुके है कबीर ने आत्मा और परमात्मा के मिलन को लेकर सयोग और वियोग के दोनो पक्षो का बहुत सजीव चित्रण किया है। प्रेम के इन दोनो पक्षो की अभिव्यक्ति मे जो रचनाएँ कवि की मिलती हैं उनमे माधुर्य कूट-कूट कर भरा है। आचार्य मम्मट ने माधुर्य गुण के जो लक्षण दिये है उन्हे पढने के लिए कबीर कभी शास्त्रो को लेकर नही बैठे। परन्तु उनकी कविता मे तो मिठास स्वाभाविक प्रवाह और आत्माभिव्यक्ति के फलस्वरूप ही प्रस्फुटित हुआ है। कबीर की कविता मे कर्ण-कटु शब्द तो हमे उनकी कटु उक्तियो मे भी देखने को कठिनाई से ही मिलेंगे।

माधुर्य गुण[2] की इस प्रकार हम कबीर के साहित्य में प्रधानता पाते हैं

---

१. (१) राम नाम जारायो नही, लागी मोटी खोड़ि।
काया हाँडी काठ की, ना ऊ चढै बहोडि॥

(२) यह तन काचा कुम्भ है, लिया फिरै था साथि।
डबका लागा फूटि गया, कछू न आया हाथि॥

२. (१) बहुत दिनन की जोवती, बाट तुम्हारी राम।
जिव तरसे तुझ मिलन कूँ, मनि नाही विश्राम॥

(२) पन्थु निहारे कामिनी लोचन भरले उसासा।
उर न भीजै पथु ना हरि दर्शन की आशा॥

और माधुर्य मे लपेट कर आपने ब्रह्म के रहस्य को इतना प्रिय बना दिया है कि पाठक एक बार उससे अपनी अभिरुचि को सम्बन्धित करने के पश्चात् उसका ही हो रहता है।

विचाराभिव्यक्ति के प्रसाधन

प्रतीक—महाकवि कबीर ने अपने आध्यात्मिक विचारो के प्रकाशन और उनकी अभिव्यक्ति के लिए सहायक प्रसाधनो के रूप मे प्रतीक-पद्धति को अपनाया है। यहाँ क्रमश हम सक्षेप मे इसका स्पष्टीकरण करेगे।

सम्बन्धमूलक प्रतीक --प्रतीक-पद्धति के दर्शन हमे न केवल सन्त साहित्य मे ही मिलते है वरन् वैदिक साहित्य मे ऋषियो ने भी आध्यात्मिक तत्वो के निरूपण के लिए प्रतीक-पद्धति को ही अपनाया है। कबीर-कालीन साहित्य मे प्रतीकवाद को प्रधान प्रश्रय मिला और सूफी विचारको तथा कवियो ने भी इसी का सहारा लेकर अपने विचारो का स्पष्टीकरण किया। सूफियो ने आत्मा और परमात्मा के प्रेम के प्रतीक स्वरूप दाम्यत्य प्रेम को अपनाया। कबीर ने यह प्रतीक हिन्दू पद्धति के अनुसार ईश्वर को माता-पिता के रूप मे भी देखा है और सूफियो के अनुसार दाम्पत्य रूप मे भी। परन्तु कबीर ने ब्रह्म की कल्पना पति के ही रूप मे की है सूफियो की भाँति स्त्री के रूप मे नही। मीरा ने भी कबीर की ही भाँति ईश्वर को पति-रूप मे देखा है। कबीरदास जी कहते है—

१. **"हरि जननी मे बालक तोरा।"**
२. **"पिता हमारो बड्ड गुसाईं॥"**
३ **"हँसि-हँसि कन्त न पाईये॥"**
४. **"पूत पियारौ पिता कौ।"**
५ **"बिरहणि पिव पावै नहीं।"**
६ **"हरि मोर पीव मै राम की बहुरिया॥"**

उक्ति पक्तियो मे हमने आत्मा और परमात्मा के पारस्परिक सम्बन्धो की कबीर द्वारा बालक, पिता, कन्त, पूत, विरहणि, पिव, बहुरिया इत्यादि शब्दो के द्वारा देखी। कबीर के साहित्य मे वात्सल्य प्रेम की वह सूक्ष्म अभिव्यक्ति नही है जो सूर मे मिलती है परन्तु दाम्पत्य प्रेम की दिव्य रस पूर्ण अलौकिक आनन्द से ओत-प्रोत जो काव्यानुभूति हमे आपकी रहस्यवादी रचनाओ मे मिलती है वह अन्यत्र मिलनी कठिन है। विरह और मिलन की कोमलतम परिस्थितियो का दाम्पत्य प्रेम मे जो चित्रण सम्भव है वह लौकिक जीवन की अन्य परिस्थितियो मे कदापि सम्भव नही हो सकता। इसलिए कबीरदास जी ने आध्यात्मिक मिलन और बिछोह के चित्रण के लिए दाम्पत्य प्रेम को ही प्रधान रूप से प्रतीक माना है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आपके दाम्पत्य वर्णन मे विद्यापति और जयदेव की यदि सरलता नही है तो उनके जैसी

अश्लील पद्-योजना के भी यहाँ दर्शन नही होते और आप के पदो को पिता, पुत्र, माता, पुत्री, स्त्री-पुरुष, सभी एक साथ बैठकर पढ तथा गा सकते है। पवित्रता और सात्विकता इनका वह प्रधान गुण हे जिसे रसात्मकता से किसी भी प्रकार न्यून पद प्रदान नही किया जा सकता। वासना की दुर्गन्ध आपके दाम्पत्य प्रेम-प्रधान साहित्य को छू तक भी, नही गई है। कबीर का दाम्पत्य प्रेम सूफियो के प्रेमी और प्रेमिका के स्तर से ऊँचा उठकर भारत के शास्त्रीय दाम्पत्य की सीमा से भी ऊपर राम वर और आत्मा पत्नी के समीप पहुँच गया है। यह मिलन सम्भव ही तव है जब आत्मा अपने तमाम सासारिक माया-मैल को काट कर पवित्र हो जाती है। इस आध्यात्मिक सम्बन्ध के स्थिर होते समय तैंतीस करोड देवता और अट्ठासी हजार ऋषि साक्षी होते हैं। इस मिलन और बिछोह का कबीरदास जी ने बहुत ही मार्मिक चित्रण किया है। कबीर की इन रचनाओ मे जिस आध्यात्मिक रस की वर्षा हुई है वह अलौकिक है। कबीरदास जी एक बालक के रूप मे देखिये किस प्रकार ब्रह्म माता से विनती करते है—

हरि जननी मे बालिक तेरा, काहे न औगुण बकसहु मेरा।
सुत अपराध करै दिन केते, जननी के चित रहै न तेते॥
कर गहि केस करै जो घाता, तऊ न हेत उतारै माता।
कहै कबीर एक बुद्धि विचारी, बालक दुखी महतारी॥

दाम्पत्य प्रतीकों के उदाहरण हम पीछे भी कई स्थानो पर प्रस्तुत कर चुके हैं। भावना तत्व के अन्तर्गत आये हुए उदाहरण दाम्पत्य प्रतीको के सुन्दर उदाहरण है और इसी प्रकार आगे शृगार रस के वर्णन मे भी मनोरम प्रतीक पाठको को पढने के लिए मिलेगे।

माता, पिता, पुत्र, स्त्री, पति इत्यादि के अतिरिक्त आपने अपने को कुत्ता, गोरू इत्यादि भी कहा है और भगवान् को एक स्थान पर ग्वाला भी माना है। इन प्रतीको से कबीर के विनय-भाव की विनम्रता का सकेत मिलता है। इतना छोटा प्रतीक मानने से भक्त की दुर्बलता का आभास कवि ने कराया है और समस्त बल की पुष्टि आपने भगवान् में ही की है। यह सभी सम्बन्ध मूलक प्रतीक हैं, इनके अतिरिक्त आपने साकेतिक प्रतीक, पारिभाषिक प्रतीक, सख्या मूलक और रूपकात्मक प्रतीको का भी आश्रय अपनी रचनाओ में लिया है।

साकेतिक प्रतीक—साकेतिक प्रतीकों का जहाँ तक सम्बन्ध है यह कुछ योग सम्बन्धी नाथ-पन्थियो के व्यवहार मे आने वाले शब्द कबीर ने ज्यों के त्यो अपना लिये हैं। जैसे **'गगन मडल'** को **'ब्रह्म रन्ध्र'** **'शून्य चक्र'** या **'कैलाश'**; 'पच स्रोत' को इडा, पिंगला, बज्रा, चित्रणी और ब्रह्मनाडी कहा है। इसी प्रकार के बहुत से साकेतिक प्रतीक नाथ पन्थ की साधना-पद्धति से कबीरदास जी ने ग्रहण किये हैं।

परिभाषिक प्रतीक—इडा को गगा, पिंगला को यमुना तथा सुषुम्ना को सरस्वती योगियो ने पारिभाषिक रूप मे माना है और इनके सगम स्थान को त्रिवेणी कहा है। कबीरदास जी ने भी इनका इसी प्रकार प्रयोग किया है। मूलाधार चक्र के लिए सूर्य और सहस्त्रार चक्र के लिए चन्द्रमा का प्रयोग भी पारिभाषिक ही है।

संख्या मूलक प्रतीक—कबीरदास जी ने कही-कही पर केवल कुछ सख्याओ का प्रयोग मात्र करके ही सन्तुष्टि कर ली है। वह सख्याएँ भी प्रतीक स्वरूप ही आपने ग्रहण की है। जैसे चौसठ का अर्थ ६४ कला, १४ का अर्थ १४ विद्या, पाँच[1] का अर्थ पाँच नाडियाँ इत्यादि है और दस द्वारो का अर्थ दस इन्द्रियाँ है।

रूपकात्मक प्रतीक—रूपक विशेषो के लिए पूर्वकल्पित अगो का ज्यो का त्यो प्रयोग कबीरदास जी ने अपनी रचनाओ मे बहुत से स्थानो पर किया है। इस प्रकार के प्रयोग रूपकात्मक प्रयोग कहलाते है।

कबीर की उलटवासियाँ—कबीरदास जी ने अपने बहुत रहस्यमय तथा गम्भीर विचारो को उलटवासियो मे ही प्रकट किया है। सस्कृत मे भी उलटवासियाँ मिलती है। ऋग्वेद तथा उपनिषदो मे इनका उदाहरण मौजूद है। इसके पश्चात् तात्रिको ने भी इस प्रणाली को अपनाया। तान्त्रिको का प्रभाव बज्रयानी सिद्धो पर हुआ। सिद्धो और नाथ पन्थियो की परम्परा से कबीर-साहित्य में उलटवासियाँ प्रयुक्त हुई। अधिकाश उलटवासियो मे अभिधा मूलक अर्थ को न अपनाया जाकर साकेतिक अर्थ की ओर ही लेखक का लक्ष्य रहता है।

कबीरदास की आध्यात्मिक उक्तियाँ हमे उलटवासियो के ही रूप मे मिलती है। इन उक्तियो मे एक प्रकार का अलकारिक चमत्कार देखने को मिलता है यह चमत्कार उन उक्तियो की नीरसता और शुष्कता को सर्वथा नष्ट कर देता है और उसमे एक चमत्कारिक सौदर्य दिखलाई देने लगता है। कुछ आचार्यों ने तो चमत्कार को रस से भी ऊपर उठा कर काव्य का गुण माना है। अलकारिक चमत्कार के साथ-ही-साथ कबीर की उलटवासियो मे व्यञ्जना के विविध रूप भी पाये जाते है। रूपक और प्रतीकात्मकता के अलकारो से सज कर कबीर की उलटवासियाँ साहित्य के क्षेत्र मे विचरण करती है तो उनका सौदर्य देखते ही बनता है आपकी उलटवासियाँ प्राय तीन प्रकार की है—

१. अलकार-मूलक।
२. अद्भुत रस-पूर्ण।
३. प्रतीक-मूलक।

अलंकार मूलक उलटवासियाँ—[2] अलकार मूलक उलटवासियो मे भी

---

१. 'पाँच की प्यास तहँ देख पूरी।'—(कबीर पृष्ठ २४६ पद १७)

२. अगामि बेलि अकास फल अण व्यावण का दूध। (असगति)
—(क० ग्र० ८६—कबीर की विचारधारा पृ० ३६८)

५ | कबीर का आध्यात्मिक तत्व-निरूपण

आध्यात्मिक विचार—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कबीरदास जी के आध्यात्मिक तत्व-निरूपण के विषय मे लिखते हैं, "कबीरदास जी के पदो से, जैसा कि हम आगे देखेंगे, एकेश्वरवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैताद्वैत विलक्षणवाद आदि कई परस्पर विरोधी मतो के समर्थन हो सकते है, पर इस विरोध का कारण कबीरदास के विचारो की अस्थिरता नही है बल्कि यह है कि वे भगवान् को आगार समझते थे। इसीलिए लौकिक दृष्टि से जो बातें परस्पर विरोधी दीखती हैं अलौकिक भगवत्स्वरूप मे वे सब घट जाती है। यह बात भक्ति की दुनिया मे नई नही है भक्त लोग एक ही साथ भगवान् के लिए कई परस्पर विरोधी विशेषणो का व्यवहार करते हैं। लघु भागवतामृत (पृ० ३१७) में बताया गया है कि प्राकृत विशेषणो मे भगवान् के अचिन्त्य रूप का बोध दुष्कर है। यही कारण है कि उनमे ऐसे अनेक विशेषणो का प्रयोग किया जाता है जो लौकिक दृष्टि से परस्पर विरोधी जँचते हैं।"[1]

आचार्य हजारीप्रसाद जी की उक्त विचारधारा का और भी स्पष्ट तथा व्यापक समर्थन हमे आचार्य क्षिति मोहन सेन द्वारा मिलता है, "कबीर की आध्यात्मिक सुधा और आकाक्षा विश्वग्रासी है। यह कुछ भी छोडना नही चाहती, इसीलिए वह ग्रहणशील है, वर्जनशील नही। इसीलिए उन्होने हिन्दू, मुसलमान, सूफी, वैष्णव, योगी प्रभृत्ति सब साधनाओ को जोर से पकड रखा है।"[2]

उक्त उदाहरणो से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अपनी वाणी मे सिद्धान्त और साधना के तत्वो का निरूपण किसी सीमित क्षेत्र के अन्तर्गत रहकर कवि ने नही किया। अधिकतर विद्वानो का यह मत है कि आपका ब्रह्म-निरुपण

---

१. कबीर···आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी···पृ० ११०

२. कबीर का योग···आचार्य क्षिति मोहन सेन-योगाक (कल्याण)

वैदिक ढंग पर होते हुए भी अपने अन्दर अनेक धर्मों मे प्रचलित ब्रह्म-निरुपण की भावना को सम्मान के साथ अ गीकार करके चलता है । इनके ब्रह्म पर उपनिषदो, योगियो के विलक्षणवाद, बौद्धो सिद्धो और योगियो के शून्यवाद सभी की छाया न्यूनाधिक रूप से मिलती है । इन पर सहजवादियो का भी प्रभाव है । इस्लामी एकेश्वरवाद, सूफियो के इश्क इत्यादि से बचना भी उनके लिए कठिन था ।

आचार्य हजारीप्रसाद जी ब्रह्म के विषय मे लिखते है, "श्रुतियो के परिशीलन से स्पष्ट ही जान पडता है कि ऋषियो के मस्तिष्क मे ब्रह्म के दो स्वरूप थे, एक गुण, विशेष आकार और उपाधि से परे,—निर्गुण, निर्विशेष, निराकार और निरुपाधि, और दूसरा इन सब बातो से युक्त अर्थात् सगुण, सविशेष, साकार और सोपाधि । पहला परब्रह्म है और दूसरा अपरब्रह्म ।"[१] इन दोनों ब्रह्म का ज्ञान परा विद्या और अपरा विद्या से प्राप्त होता है । इन्ही दोनो ब्रह्म के स्वरूपो को निर्गुण और सगुण ब्रह्म कहा गया है। कबीरदास जी ने दोनो का ही एकीकरण अपने साहित्य मे किया है ।

कबीरदास जी के इन बेमेल विचारो को देखकर कुछ विद्वानो ने यह मत निश्चित किया, "कबीर ने अनेक देशी तथा विदेशी मतो और मार्गों से जो-जो अच्छा लगा उस-उसका सग्रह करके एक नया पथ खड़ा किया और वह भी बेमेल । उनके विचारो मे किसी प्रकार की सगति और सामजस्य नही है ।"[२] परन्तु इसके साथ ही दूसरा मत कहता है, "यदि थोडी देर के लिए 'अपढ' और 'जुलाहा' कबीर को भूलकर किंचित् धैर्य और मनोनिवेश के साथ उनकी उक्तियो का अनुशीलन किया जाय तो यह निश्चित रूप से स्पष्ट हो जायगा कि उनकी साधना-पद्धति सर्वथा असंगत सिद्धातो का बेमेल ढाँचा ही नही है, उसमे कुछ सामंजस्य भी है और सार भी ।" इसी विचार का समर्थन आचार्य हजारी प्रसाद 'कबीर' पुस्तक मे करते हैं ।[3]

इस प्रकार हमने देखा कि कबीर के आध्यात्मिक विचारों और साधना-

---

१. कबीर—हजारी प्रसाद द्विवेदी—पृ० ६६ ।
२. कबीर साहित्य का अध्ययन—पृ० १२३ ।
३. "यह कहना कि कबीरदास कभी तो अद्वैतवाद की ओर झुकते दिखाई देते हैं और कभी एकेश्वरवाद की ओर, कभी वे पौराणिक सगुण भाव से भगवान को पुकारते हैं और कभी निर्गुण भाव से, असल में उनका कोई स्थिर तात्विक सिद्धान्त नही था केवल अश्रद्धा प्रसूत है । ऐसी बातें वही लोग कहते हैं जो शुरू में ही मान बैठते हैं कि कबीरदास अशिक्षित जुलाहे थे और उल्टी सीधी अटपटी बानियो से साधारण जनता पर प्रभाव जमाना चाहते थे । ऐसे कथनो का उत्तर देना बेकार है ।"

पद्धति को समझने के लिए बहुत ही व्यापक दृष्टिकोण लेकर आगे बढने की आवश्यकता है। भारतीय परम्परा की साधना-कसौटी पर आपकी रचनाओ को कसकर यह ज्ञान कर लेने की आवश्यकता है कि उसके पश्चात् कितने विरोधात्मक विचार मिलते है। इसके लिए कबीर की साधारण कविताओ को लेकर काम नही चलाया जा सकता। कबीर की उक्तियो और उलटवासियो का भी अध्ययन करना परमावश्यक है। कबीर की रचनाओ मे दर्शन शास्त्र की खोज करने वाले को शायद निराश होना पडे परन्तु एक सत और साधक के विचारो मे पैठने वाले को उनकी रचनाओ मे न जाने कितने हीरे वाहिरात उपलब्ध हो सकते हैं। यहाँ फिर हमे कहना होगा कि कबीर को तर्क की कसौटी पर कसने वाले पारखी को तो सर्वदा ही निराश होना होगा।

कबीरदास ने अपनी साधना-पद्धति को व्यवस्थित करने का सम्भवत कभी कोई प्रयत्न नही किया। उनकी मुक्तक कविताओ मे उनकी स्वच्छन्द प्रवृत्ति और विचार स्पष्ट रूप से झलकते है। उनके एक ही विषय के दो विरोधी चित्रण पाठको को भ्रम मे डाल देते है परन्तु परा और अपरा के अर्थ को सही रूप मे ग्रहण करने वाला पाठक इस विरोधाभास को समझने मे कठिनाई का अनुभव नही करेगा। आपके समान और विरुद्ध पदो की तुलना बहुत ही सतर्कता के साथ करने की आवश्यकता है।

कबीर का ब्रह्म-विचार—परा और अपरा विद्या के आधार पर ब्रह्म और अपरब्रह्म का निरूपण हम ऊपर कर चुके है। हजारीप्रसाद जी लिखते हैं, "आपाता दृष्टि से ऐसा जाना पडता है कि यह बात एकदम असगत है कि एक ही वस्तु एक ही साथ सगुण भी हो और निर्गुण भी, साकार भी हो निराकार भी, सविशेष भी हो और निर्विशेष भी, सोपाधि भी और निरुपाधि भी। इसके उत्तर मे वेदान्ती लोग कहते है कि ब्रह्म अपने आप मे तो निर्गुण, निराकार, निर्विशेष और निरुपाधि ही है परन्तु अविद्या या गलतफहमी के कारण, या उपासना के लिए हम उसमे उपाधियो या सीमाओ का आरोप करते है। ....श्रुतियाँ बार-बार इस प्रकार प्रकट करती है, 'वह मोटा भी नही, पतला भी नही, छोटा भी नही, लोहित भी नही, स्वेत भी नही, छाया युक्त नही, अन्धकार भी नही, वायु भी नही, आकाश भी नही . ...' इत्यादि (वृहदारायक ३-८-८) इत्यादि। किन्तु ये सभी बाते अतद्व्यावृत्ति रूप से कही गई है अर्थात् इस प्रकार के कथन का अर्थ यह है कि 'पर ब्रह्म' समस्त ज्ञान वस्तुओ, गुणो और विशेषणो से विलक्षण है। इसका अभाव रूप अर्थ नही है। कबीरदास ने इस शैली का आश्रय करके भगवान् के विषय मे अनेक पद गाये

हैं ।"[1]

इस प्रकार हमने देखा कि कबीर ने प्रधान रूप से निर्गुण ब्रह्म का ही अपनी रचनाओ मे बखान किया है । ब्रह्म-निरूपण मे उपनिषदो की पद्धतियो के साथ ही साथ आपने सिद्धो और योगियो के शून्यवाद, सहजवादियो के सहज ब्रह्मवाद, इस्लाम के एकेश्वरवाद और सूफी प्रेम का आश्रय लिया है । आपके विचार से ससार के कण-कण में अनिर्वचनीय अलौकिक सत्ता निवास करती है और इसी शक्ति की आत्मा द्वारा अनुभूति का नाम ब्रह्म के इस रूप को आधि-भौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक रूप में आत्मा और परमात्मा के पारखियो ने परखा है । आधिभौतिक भावना के अन्तर्गत जो वस्तु जड रूप मे जैसी दीख पडती है उसके अतिरिक्त वह और कुछ नही है । आज का पाश्चात्य दार्शनिक प्रकृति के इसी रूप को देखता है । स्पेंसर, मिल, कांट और हेगल इत्यादि इसी प्रकार के विचारक है । आधि दैविक रूप का विचारक बाह्य प्रकृति का दैवीकरण करके उसमे ब्रह्म की शक्तियों की अनुभूति करता है । भारत मे प्राचीन काल से प्रचलित बहुदैववाद का यही विचार मूलाधार है । ग्रीस मे भी इसी प्रकार की विचार-धारा का प्राधान्य रहा है । सगुण ब्रह्म के उपासको ने ब्रह्म के इसी रूप को अपना कर भक्ति की है । आध्यात्मिक भावना के अतर्गत उक्त दोनो रूपो से ऊपर उठकर विचारक ब्रह्म के निर्गुण, निराकार और अनिर्वचनीय रूप को ग्रहण करता है । साधक प्रकृति की प्रत्येक वस्तु मे ईश्वर के इसी रूप को पाता है । कबीर मे हमे पूर्णरूप से आध्यात्मिक ब्रह्म की भावना के दर्शन होते है ।

सूरज चन्द्र का एक ही उजियारा ।
सब महि पसरा ब्रह्म-पसारा ॥
—(क० ग्र० पृ० २७३)

कबीरदास की रचनाओ मे आधिभौतिक और आधिदैविक भावना को खोजना व्यर्थ ही है क्योकि ऐसा करने से कबीर के मूल सिद्धातों को ठेस लगती है । आप कबीर को विचारक कहे, सत कहे साधक कहें, या भक्त, वह आपकी इच्छा, परन्तु जहाँ तक ब्रह्म की शक्ति के निरूपण का सम्बन्ध है, उसमें किसी प्रकार की सीमा को बाँध देना उन्हे मान्य नही था ।

ब्रह्म के विविध नाम—इस विषय मे हजारी प्रसाद जी लिखते हैं, "परन्तु

---

१. वेद विवर्जित भेद विवर्जित पाप रु पुन्य ।
ग्यान-विवर्जित ध्यान-विवर्जित विवर्जित आस्थूल सुन्य ॥
भेष-विवर्जित भीख-विवर्जित उचँभक रूप ।
कहै कबीर तिहुँ-लोक-विवर्जित ऐसा तत्त अनूप ॥
—(कबीर, हजारीप्रसाद, पृ० १००, क० ग्र० पद २१०)

यह राम या हरि कौन है ? परब्रह्म, अपरब्रह्म, ईश्वर या और कुछ ? इसमे तो कोई सदेह नही कि हरि, गोविन्द, राम, केशव, माधव इत्यादि पौराणिक नामो को कबीरदास क्वचित् कदाचित् ही सगुण अवतार के अर्थ मे व्यवहार करते है । एकदम नही करते, ऐसा नही कहा जा सकता । पर जब वह अपने परम उपास्य को इन नामो से पुकारते है तो सगुण अवतारो से उनका मतलब नही होता । उनका 'अल्लाह' अलख निरञ्जन देव है जो सेवा से परे है, उनका 'विष्णु' वह है जो संसार रुप मे विस्तृत है, उनका 'कृष्ण' वह है जिसने ससार का निर्माण किया है, उनका 'गोविन्द' वह है जिसने ससार को धारण किया है, उनका 'राम' वह है जो सनातन तत्त्व है, उनका 'खुदा' वह है जो दस दरवाजो को खोल देता है, 'रब' वह है जो चौरासी लाख योनियो का परवर-दिगार है, 'करीम' वह है जो इतना सब कर रहा है, 'गोरख' वह है जो ज्ञान से गम्य है 'महादेव' वह है जो मन की जानता है, 'सिद्ध' वह है जो चराचर दृश्यमान् जगत का साधक है, 'नाथ' वह है, जो त्रिभुवन का एकमात्र यती या योगी है, जगत के कितने साधक है, सिद्ध है, पैगम्बर है वह इस एक की ही पूजा करते है । अनन्त है इसके नाम, अपरम्पार उसका स्वरूप ।"[1] इस प्रकार ब्रह्म के सभी गुणो का समावेश कबीर ने विविध नामो के अन्तर्गत किया है और अपनी मान्यता सभी धर्मों के इष्ट देवो मे स्थापित की है। क्योकि आप किसी धर्म विशेष के समर्थक नही थे इसलिए सभी धर्मो मे मानी जाने वाली वह विशेष शक्ति जो सृष्टि का उत्पादन, सँचालन और सहार करती है, परम शक्ति है, और जिसके विविध नाम विविध विचारको ने रख दिए है। कबीरदास जी ने उन सभी को अपनाया और एक समन्वय की भावना से काम लेने का प्रयत्न किया । आप नामो के छिछले पन से ऊपर उठकर रहस्यो की गम्भीरता मे घुसे और तत्त्वो का सही रूप निरूपण किया ।

कबीरदास जी ने राम इत्यादि नामो का अपनी रचनाओ मे पौराणिक सगुणवाद के अन्तर्गत समावेश नही किया, यह बात बिल्कुल स्पष्ट है । आपने तो राम नाम का भी उल्लेख 'निगुणातीत' द्वैताद्वैत विलक्षण, भावा-भाव विनिर्मुक्त, अलख, अगोचर, अगम्य, प्रेमपारावार, निर्गुण ब्रह्म के रूप मे ही किया है, दशरथ पुत्र के रुप मे नही । डा० हजारीप्रसाद जी कबीरदास के ब्रह्म-विचार के विषय लिखते है, "वह किसी भी दार्शनिकवाद दण्ड से परे है, तार्किक बहस से ऊपर है, पुस्तकी विद्या से अगम्य है, प्रेम से प्राप्त है, अनुभूति का विषय है, सहज भाव से भक्ति है ।"[2]

ब्रह्म का साकार व्यक्त स्वरूप—भक्ति के क्षेत्र मे साकार ब्रह्म की ही उपासना सम्भव है, निर्गुण ब्रह्म की नही । इसीलिए भक्ति मार्गी आचार्यों

१. (कबीर, हजारीप्रसाद—पृ० ११५, ११६)
२. (कबीर, हजारीप्रसाद—पृ० १२७)

ने सगुण साधना पर ही बल दिया है और पौराणिक युग मे ईश्वरीय शक्तियो के प्रतीक स्वरूप देव-वाद को प्रश्रय मिला है।

भक्ति हृदय की सात्विक ईश्वरासक्ति का ही दूसरा नाम है और यह आसक्ति कभी भी निर्गुण के प्रति सम्भव नही। भक्ति के लिए श्रद्धा और प्रेम का हृदय मे जागृत होना आवश्यक है और इनके जाग्रत होने से ही मन इष्ट देव पर केन्द्रित हो सकता है। प्रेम और श्रद्धा को उत्पन्न करने के लिए ईश्वर मे आकर्षण होने की नितान्त आवश्यकता है और आकर्षण के लिए उसमे सौंदर्य, सरलता, सौम्यता, माधुर्य और ज्ञान की आवश्यकता है। इन सब के साथ-ही-साथ भक्ति की दृढता मे पूर्व जन्म के सस्कार भी साथ देते है। प्रेम और श्रद्धा को स्थिर करने के लिए आश्रय की आवश्यकता है और यह आश्रय तीन प्रकार का हो सकता है—

१ भावनात्मक (भावना प्रधान)
२. ज्ञानात्मक (बुद्धि प्रधान)
३. प्रतीकात्मक (मूर्ति रूप)

भावनात्मक—भावना के आवेश मे भक्त अपने भगवान् के अन्दर उच्चतम गुणो की अनुभूति करता है। भगवान् के अत्याधिक निकट पहुचने के लिए वह भगवान् से प्रणय-सम्बन्ध स्थापित करता है। जैसा कि हम पीछे कबीर के श्रृगार-रस के वर्णन के अन्तर्गत भी लिख चुके है कि कबीर ने प्रेम का प्रदर्शन वात्सल्य और दाम्पत्य दोनो ही रूप मे किया है। दोनो ही सम्बन्धो की प्रतीकात्मक रचनाएँ हमे कबीर के साहित्य मे देखने को मिलती है। भक्त अपने भगवान् मे विश्व के अन्दर पाये जाने वाले और कल्पना मे सामने आने वाले सभी गुणो का प्रदर्शन करता है। जब वह विनय की भावना मे बहता है तो अपने को क्षुद्र-से-क्षुद्र प्राणी मानता है और जब वह प्रेम की भावना मे बहता है तो अपने को विरहणी अथवा स्त्री के रूप मे निरखता है। इन्ही भावनाओ के अन्दर कवि को अपने उपास्य देव का भक्तवत्सल और समदर्शी रूप चित्रित करता है। कबीरदास ने भगवान् का ऐसा ही सगुण वर्णन किया है।

भक्ति के क्षेत्र मे भावना से प्रेरित होकर आत्मा भगवान् के सामने आत्म-समर्पण करती है। कबीरदास जी ने इस विषय मे लिखा है—

मेरा मुझ मे कुछ नही, जो कुछ है सो तोरा।
तेरा तुझको सौंपता, क्या लागे मेरा॥

प्रेम-भावना मे बहकर कबीरदास जी प्रेम की महिमा का इस प्रकार बखान करते है—

कबीर प्रेम न चाखिया, चाखि न लिया साव।
सूने घर का पाहुणा, ज्यू आया त्यूं जाय॥

प्रेम का बादल तो कबीर के आँगन मे हर समय छाया रहता है—

कबीर बादल प्रेम का, हम परि बरष्यां आय।
अन्तर भीगी आत्मा, हरी भई बनराइ ॥

प्रेम-बाण से बिध कर फिर भी बिंधने की अभिलाषा कबीर के हृदय मे विद्यमान है—

जिहि सरि मारी काल्हि, सो सर मेरे मन बस्या।
तिहि सिरि अजहूं मारि, सर बिन सच पाऊं नही ॥

वियोग-भावना का एक चित्र देखिए—

अक भरे भरि भेटि, मन मे नाही धीर।
कहै कबीर ते क्यूं मिलै, जब लगि दोई सरीर।

इसी प्रकार कबीरदास जी ने अतृप्ति, लालसा, व्याकुलता, पश्चात्ताप, विवशता, शका, विस्मृति और हर्ष के बहुत ही आकर्षक भावनात्मक चित्र खीचे है। प्रेम ओर विरह के यह सचारी भाव कबीर की रचनाओ मे बहुत ही स्वच्छन्दता तथा सुन्दरता से बहते है। नायक और नायिका का चित्रण भी आप ने बहुत सुन्दर किया है। नायक का रूप देखिए—

कबीर की देख्या एक अ ग, महिमा कही न जाय।
तेज पुन्ज पारस धर्णी, नैनू रहा समाय॥

नायिका का वर्णन देखिए—

नैना अन्तरि आव तूं ज्यू हौं नैन झपेउं।
ना हौं देखौ कूं, ना तुझ देखन देउ ॥

दास्य-भावना और स्वामी मे विश्वास देखिए—

उस सम्रथ का दास हौं, कदे न होई अकाज।
पतिव्रता नांगी रहै, तौ पुरिस को लाज॥

इस प्रकार पति-पत्नी के रूप मे कबीर ने प्रेम की सभी भावनात्मक व्यजनाओ और व्याख्याओ का निरूपण किया है।

ज्ञानात्मक—भक्ति के भावना तत्व का निरीक्षण करके अब हम कबीर के ज्ञान तत्व (बुद्धि-तत्व) का सक्षेप मे स्पष्टीकरण करेगे। कबीर के ज्ञान-तत्त्व के विषय मे भी हम दूसरे अध्याय मे सकेत कर चुके है। इस विषय मे डा० गोविन्द त्रिगुणायत लिखते है, "बुद्धि विनिर्मित साकार विग्रह का वर्णन सबसे प्रथम ऋग्वेद के पुरुष सूत्र मे मिलता है।[1] गीता और उपनिषदो मे[2] भी उसी की महिमा वर्णित है।······

अर्थात् उस विराट पुरुष के सहस्त्र मस्तक, सहस्त्र नेत्र तथा सहस्त्र चरण थे। उसने पृथ्वी को चारो ओर से आवृत्त कर रखा था। फिर भी वह दशगल

---

१. ह्मिन्स फ्राम दि ऋग्वेद—पिटरसन—सूक्त ३०।१

२. श्वेताश्वतर ३।२

था। इस प्रकार के वर्णनो को हम भावना-प्रेरित न मान कर बुद्धि-मूलक ही मानेगे। इस प्रकार के विराट रूप का वर्णन कबीरदास ने भी किया है।" इस तरह के बडे-बडे आकर्षक वर्णनो मे आपने ईश्वर की महानता के साथ उनके सौदर्य का भी चित्रण करना नही भुलाया। कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ २७८ पर इसी विचार का पद देखिए—

कोटि सूर जाकै परगास, कोटि महादेव अरु कविलास।
दुर्गा कोटि जाकै मर्दन करै, ब्रह्मा कोटि वेद उच्चरै।
कद्रप कोठि जाके लव न धरहि, अंतर अंतरि मनसा हरहि॥
... .

प्रतीकात्मक—कबीर की सुगण उपासना मे तीसरा प्रकार प्रतीकात्मक है। यह प्रकार भी किसी प्रकार से भावनात्मक प्रकार से कम महत्वपूर्ण नही है, बल्कि ब्रह्म का सुगण साकार रूप इसी प्रकार के चित्रणो से अधिक निखार के साथ सामने आता है। प्रतीक मूर्त्त और अमूर्त्त दोनो रूप मे पाये जाते हैं। यह पद्धति कबीर की नवीन नही है, बहुत प्राचीन है। उपनिषदो मे भी इसके उदाहरण कम नही मिलते। व्यक्त रूप मे कबीर ने प्रतीको का प्रयोग केवल मन को ही ब्रह्म रूप मानने मे किया है—

कहु कबीर को जाने भेव, मन मधुसूदन त्रिभुवन देव।
—(स० क० पृ० ३०)

ब्रह्म का अव्यक्त स्वरूप—अव्यक्त ब्रह्म का वर्णन आपने सगुण, निर्गुण, अद्वैत, विलक्षण और नेति-नेति के रूप मे किया है।

सगुण अव्यक्त—जहाँ तक सगुणरूप का सम्बन्ध है आपने ब्रह्म मे एकता, आनन्द, और सरसता का आरोप किया है।[1] आपने ब्रह्म मे महान् शक्ति का

---

१. **एकता**—हमतो एक एक करि जाना। (क० ग्र० पृ० १०५)
आनन्द—१. सदा आनन्द दुग-दन्द व्यापै नही
पूरनादन्द भरपूर देखा।
भर्म और भ्रान्ति तहँ नेक नहिं पाइये
कहैं कबीर रस एक पेखा।
—(कबीर, हजारीप्रसाद, पृ० २४७)
२. महा सुक्ख मगन होई नाचै, उपजे अग तरग।
मन औ तन थिर न रदत है, महा सुक्ख के सग॥
सब चेतन सब आनन्द है दुःख गहन्त।
कहाँ आदि कहँ अन्त आप सक्ख विच धरन्त॥
—(कबीर, हजारीप्रसाद—पद २६)

आरोप किया है। आपने अपने ब्रह्म मे सत्य और ज्ञान का आरोप किया है। डा० गोविन्द त्रिगुणायत के मतानुसार कबीर ने साकार ब्रह्म का निम्नलिखित रूपो मे चित्रण किया है—

"१. योगियो के द्वैताद्वैत विलक्षण ज्योति रूप ब्रह्म के रूपो मे।
२ उपनिषदो मे वर्णित अनन्त प्रकाश रूप मे।
३ सूफियो के नूर रूप मे।
४ उपनिषदो मे वर्णित अगुष्ठ-प्रमाण ज्योति के रूप मे।"

निर्गुण अव्यक्त—कबीरदास जी ने प्रधान रूप से ब्रह्म के निर्गुण अव्यक्त स्वरूप का ही प्रतिपादन किया है। कबीर के निर्गुण ब्रह्म के विषय मे डा० हजारीप्रसाद जी लिखते है, "कबीरदास के निर्गुण ब्रह्म मे गुण का अर्थ सत्त्व, रज आदि गुण है, इसलिए 'निर्गुण ब्रह्म' का अर्थ वे निराकार, निस्सीम आदि समझते है, निर्विषय नही।" यह निरूपण शब्द, शून्य, अनिर्वचनीय तत्व और सहज रूप मे किया है। शब्द ब्रह्म की धारणा ऋगवेद मे भी मिलती है। इसका वर्णन उपनिषदो मे भी मिलता है। ब्रह्म के इस रूप का प्रतिपादन आचार्य शकराचार्य ने भी किया है। अनहृदवाद के रूप मे महात्मा कबीर ने इसी शब्द-ब्रह्मका निरूपण किया है। राम नाम का प्रयोग भी इनके मतानुसार विशुद्ध निरजन के रूप मे शब्द-ब्रह्म का प्रतिपादन है—

मुरली बजत अखड सदा से, तहाँ प्रेम झनकारा है।
(कबीर पृ० २६५-पद ५०)

सुनता नहीं धुन की खबर, अनहृद का बाजा बजता।
(कबीर पृ० २६७-पद ५४)

उक्त पदो मे मुरली, अनहृद नाद और शब्द तीनो रूपो मे ब्रह्म शब्द स्वरूप मे ही कवि द्वारा वर्णित है।

शून्य शब्द का ब्रह्म के रूप मे प्रयोग बहुत पुरातन और भारतीय है। उपनिषदो के प्रभाव से बौद्धो ने इसे अपनाया और फिर नाथ पथी साधुओ ने इस शब्द का प्रयोग किया। कबीरदास की कविता मे 'सुन्न' शब्द का प्रयोग ब्रह्म के इसी शून्य स्वरूप के लिए हुआ है। डा० हजारी प्रसाद जी लिखते है, "कबीरदास प्राय. । 'सहज शून्य' का एक ही साथ प्रयोग करते है और कितनी ही जगह एक ही अर्थ मे भी प्रयोग किया है।" इस प्रकार कबीर ने शून्य और सहजावस्था का एकीकरण कर दिया है। समन्वय की भावना तो हमे कबीर मे आद्योपान्त मिलती ही है। उनके निकट तो शब्द, सहज, शून्य और अनिर्वचनीय तत्व सब एक ही ब्रह्म के विविध नाम है। शून्य शब्द का प्रयोग कबीरदास जी ने शून्यावस्था, शून्य सरोवर, शून्य चक्र, शून्य पदवी, शून्य भाव, शून्य मार्ग इत्यादि प्रकार से किया है। 'सुन्न' शब्द का प्रयोग देखिये—

सुन्न सहज मन सुमिरत, प्रगट भई एक जोति।
ताहि पुरुष की मै बलिहारी, निरालम्ब जो होति ॥
(बीजक पृ० ३—रमैनी)

तत्व रूप—ब्रह्म को तत्व-रूप मे भी माना गया है। निर्गुण ब्रह्म का तत्व-रूप मे कबीरदास ने चार प्रकार से वर्णन किया है—

१ निर्गुणता सूचक विशेषणो द्वारा।
२ सृष्टि बनने से पूर्व के वर्णन द्वारा।
३ विभावनात्मक वर्णनो द्वारा।
४ नकारात्मक शैली द्वारा।

उक्त चारो प्रकारो मे 'निराकार', 'अलख निरञ्जन' इत्यादि निर्गुण विशेषण है। सृष्टि से पूर्व का एक चित्रण देखिए—

बरनहु कौन रूप औ रेखा, दोसर कौन आहि जो देखा।
ओकार आदि नहि बेदा, ताकर कहहु कौन कुल भेदा॥
नहि तारागन नहि रवि चन्दा, नहि कछु होत पिता के बिंदा।
नहि जल नहि थल नहि थिर पौना, को धरे नाम हुकुम को बरना॥
नहि कुछ होत दिवस निज राती, ताकर कहहु कौन कुल जाती।
—(बीजक-रमैनी-पृ० ३)

अवगति की गति का कहूँ जस का गांव न नाव।
गुरु विहूंन का पेखिये काक धरिए नाव॥
—(क० ग्रं० पृ० २३६)

उक्त दो प्रकारो के अतिरिक्त नकारात्मक और विभावनात्मक शैली का उदाहरण देखिए—

नकारात्मक शैली—

ऐसा जोगिया है बद करमी, जाके गगन अकास न धरनी।
हाथ न वाके पाँव न वाके, रूप न वाके रेखा॥
बिना हाट हटवाई लावै, करै बयाई लेखा।
करम न वाके धरम न वाके, जो न वाके जुगुती॥
सिंगी पत्र कछू नहि वाके, काहे को मागे भुगुती।
—(बीजक—शब्द-पृ० ५४)

सगुण निर्गुण रूप—कही-कही पर कबीरदास जी विचारो की तन्मयता मे आकर भावनाओ मे बह निकलते है और उन स्थानो पर आपने ब्रह्म का सगुण और निर्गुण रूप एक ही स्थान पर प्रदर्शित कर दिया है। आप कहते है; "गुण मे निर्गुण, निर्गुण मे गुण है।"

विलक्षण नेति-नेति अव्यक्त— कबीरदास जी के परात्परवाद मे हमे सभी वादो की छाया मिल जाती है। आपने जहाँ भी विलक्षण गुणो का रूप पाया है उन्हे कही न कही किसी न किसी रूप मे अपने ब्रह्मदेव के अन्दर समाविष्ट कर दिया है। बौद्धो के अनिर्वचनीयतावाद और रहस्यवादी भक्तो के अद्‌भुत

वाद की स्पष्ट छाया हमें कबीर के अव्यक्त ब्रह्म पर दिखलाई देती है। कबीर के ब्रह्म-निरुपण पर उस काल के प्राय सभी वादो के निरूपित ब्रह्म की छाया मिल जाती है। इस प्रकार जहाँ तक ब्रह्म-निरूपण का विचार है हमे कबीर मे पूर्णरूप से आध्यात्मिक विचार ही मिलता है। कही-कही पर आधिदैविक भावना की झलक भी विद्यमान है परन्तु आधिभौतिक भावना का नितान्त अभाव है। यह विचार हम ऊपर भी स्पष्ट कर चुके है। आपका ब्रह्म-वर्णन शास्त्रीय शैली के अतर्गत न होकर उपदेशात्मक, रहस्यात्मक, भावनात्मक और बुद्धिमूलक शैली के अतर्गत हुआ है। इसीलिए यह उपनिषदो के अधिक निकट है।

आत्मा सम्बन्धी विचार—कबीरदास जी की रचनाओ मे विशेष रूप से पदो और साखियो मे आत्मा का निरूपण किया गया है। आत्मा-सम्बन्धी विचार जहाँ भी आया है वह ब्रह्ममय होकर ही प्रस्फुटित हुआ है, स्वतन्त्र रूप से बहुत कम। कबीर ने आत्मा और परमात्मा की एकरूपता पर ही बल दिया है यही अद्वैतवाद का प्रधान विचार है। आत्मा का वर्णन कबीर की रचनाओ मे भावनात्मक तथा विचारात्मक दोनो प्रकार से मिलता है। वास्तव मे कबीर ने अध्यात्म के सभी मूल तत्त्वो को, भावना और बुद्धि, दोनो की ही कसौटी पर कसकर परखने का प्रयत्न किया है। आत्म-विचार से जहाँ तक भावना-पक्ष का सम्बन्ध है वह आपकी रहस्यवादी रचनाओ मे बहुत सुन्दर ढग से मुखरित हुआ है। पहिले हम कबीर के बुद्धि-प्रधान आत्म-विचार पर दृष्टि डालते है।

कबीर आत्मा को समस्त ससार मे व्याप्त मानते है और इस ससार-व्याप्त आत्मा का नाम विश्वात्मा है। आत्मा विश्वात्मा का वह रूप है जो माया द्वारा विश्वात्मा से प्रथक कर दिया जाता है। उदाहरणस्वरूप यदि नदी मे से एक घडा[1] पानी भरकर उसे नदी मे ही रख दिया जाय तो मटके का पानी मटके मे भरे रहने के कारण सरिता के पानी से प्रथक हो जाता है। अब यदि यह माया का मटका फूट जाय तो वह पानी फिर सरिता के पानी मे मिल जाय। यही दशा आत्मा और विश्वात्मा की है। वेदान्त का भी आत्मा के विषय मे यही मत है। वेदान्त माया आबद्ध आत्मा को ही जीव कहता है।

आत्मा का जीव-निरूपण—महाकवि कबीर ने जहाँ पर भी अद्वैत की भावना को लिया है वहाँ आत्मा और परमात्मा का एकीकरण कर दिया है, परतु द्वैत को भावना का विचार भी आपने प्रगट किया है।

पाच तत्त का पूतरा, जुगति रची मै कीव।
मै तोहि पूछो पडिता, सब्द बड़ा की जीव॥

---

१ जल मे कुम्भ कुम्भ मे जल है बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना यह तथ्य कथ्यो गियानी॥
—(क० ग्रं० पृ० १०५)

उक्त पद मे कबीर ने शब्द और जीव को प्रथक-प्रथक करके देखा है। अब दूसरे पद मे एक ही रंग से जीवात्मा का प्रथक होना देखिए—

रंगहि ते रग उपजै, सभ रग देखा एक।
कौन रग है जीव का, ताका करहु विवेक ॥

कबीर ने आत्मा और परमात्मा की बूद और समुद्र से भी उपमा दी है।[२] "भारतीय दार्शनिको मे प्राय कोई मतभेद नही है कि आत्मा नामक एक स्थायी वस्तु है जो बाहरी दृश्यमान जगत् के विविध परिवर्तनो के भीतर से गुजरती हुई भी सदा एकरस रहती हे। वे सभी पडित स्वीकार करते है कि जब तक ज्ञान नही हो जाता, तब तक यह आत्मा जन्म-कर्म के बन्धन से मुक्त नही हो सकती।"[३] परन्तु कबीर का आत्म-निरूपण अधिकाश मे ब्रह्म-निरूपण के ही समान मिलता है। ब्रह्म के ही समान आत्मा का भी नकारात्मक-निरूपण देखिए—

ना इहु मानुष न इहु देवा, ना इहु जाती करावं सेवा॥
ना इहु जोगी न इहु अवधूता, ना इस माइ न काहू पूता।
या मन्दिर यह कौन बसाइ, ताका अन्त कोउ न पाई॥
ना इहु गिरही ना ओदासी, ना इहु राजा ना भीख मंगासी।
ना इहु पिण्ड न रक्त राती, न इहु ब्रह्म ना इहु खाती॥
ना इहु तपा कहावै सेख, ना इहु जीवै मरता देख।
इसु मरते कौ जे कोऊ रौवं, जे रोवै सोई पति खोवै॥

—(क० ग्र० पृ० ३०१—कबीर की विचारधारा पृ०

उक्त पद मे आत्मा का ब्रह्म मे एकीकरण प्रतीत होता है। भगवान् कृष्ण ने गीता मे कुछ-कुछ इसी प्रकार का उपदेश किया है।

आत्मा का सुरति-निरूपण—डा० गोविन्द त्रिगुणायत ने कबीर के विचार से आत्मा के दो रूप ज्ञाता या ज्ञेय, दृष्टा या दृश्य, प्राप्या या प्राप्तव्य के रूप मे उपनिषदो के आधार पर माने है और कबीर द्वारा प्रयुक्त 'सुरति' तथा 'निरति' का प्रयोग आत्मा के इन्ही दोनो रूपो के विषय मे समझा है। परन्तु हमारा विचार इससे भिन्न है। हमारे विचार से कबीर ने 'सुरति' शब्द का प्रयोग आत्मा और 'निरति' का विशुद्ध ब्रह्म के रूप मे किया है। आत्मा जब निरति की स्थिति को प्राप्त हो जाती है। हमारे इस विचार को निम्नलिखित पद स्पष्ट करता है—

---

२. हेरत हेरत हे सखी रह्या कबीर हिराइ।
समद समाना बूद मे सो कत हेर्‌या जाय॥
हेरत-हेरत हे सखी रह्या कबीर हिराइ।
बूँद समानी समद मे सो कत हेरी जाइ॥

३. कबीर—(पृ० १०३-पक्ति ६—११)—डा० हजारीप्रसाद

सुरति समानी निरति में निरति रही निराधार ।
लेख निरति परचा भया तय खुले स्तम्भ द्वार ।।

यहाँ 'सुरति' 'निरति' मे बदल नही रही है वरन् सुरति का निरति मे समाने का निर्देश है। और "आप छिपाने आपै आप" मे तो विशुद्ध अद्वैत की भावना झलक रही है। इसी अद्वैत-भावना के रूप मे 'सुरति' 'निरति' का दूसरा प्रयोग देखिए—

सुरति समांणीं निरत मै, अजया माँहे जाप ।
सुरति समांणां अलेख मैं, यूँ आया माँ हैं आप ।।

'निरति' का प्रयोग ब्रह्म के रूप मे और स्पष्ट देखिए--

सुरत निरत सों मेला करके अनहद नाद बजावै ।
—(**कबीर-पृ** २६२-**पद** ४०-**पंक्ति** ७)

आत्मा और ब्रह्म की अद्वैत भावना का एक रूपक देखिए—

साधो, सहजै काया साधो ।
जैसे बट का बीज ताहि में पत्र-फूल-फल छाया ।
काया-मद्धे बीजा बिरजे, बीजा मद्धे काया ।।
अग्नि पवन पानी पिरथी नभ, ता बिन मिलै नाहीं ।
काजी पंडित करो निरनय को न आपा माही ।।
जल भर कुम्भ जलै बिच परिया, बाहर भीतर सोई ।
उनको नाम कहन को नाहीं, दूजा धोखा होई ।।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, सत्य शब्द निज सारा ।
आपै-मद्धे आपे बौलै, आपै सिरजन हारा ।।
—(**कबीर-पद**—४६, पृ० २६४)

आत्मा का प्राण-निरूपण—कबीर ने आत्मा के लिए जीव और सुरति शब्द का प्रयोग किया है, यह हम ऊपर देख चुके है। इनके अतिरिक्त आपकी रचनाओ मे आत्मा के लिए 'प्राण' शब्द का भी प्रयोग मिलता है—

प्राँण पंड कौ तजि चलै जीव न जाणै जाल ।
कहै कबीर दूरि करि, आतम अदिष्ट काल ।।
—(क० ग्र० पृ० ३२-कबीर वचनामृत पृ० ६३)

जीवात्मा के लिए प्राण शब्द का प्रयोग उपनिषदो और अरण्यको मे भी आया है। ऋग्वेद मे प्राण का अर्थ केवल वायु है।

कबीर ने जीवात्मा का वर्णन प्राय निर्गुण-रूप मे ही किया है, साकार रूप मे नही, साकार रूप मे केवल दीपक की लौ के समान माना है। सो दीपक

की लौ[1] भी एक प्रकार से निर्गुण ही मानी जा सकती है ।

कबीर अपनी आत्मा को निरजन और निराकार कहता है । जीव के सत् स्वरूप की कबीर ने अनेको प्रकार से अभिव्यजना की है । वह जीवात्मा को अमर कहते है । वह उनके लिए घट-घट वासी अद्वैत तत्व भी है और ब्रह्म की समकक्ष भी । आत्मा कबीर के विचार से शक्तिशाली, चेतन स्वरूप, ज्ञान स्वरूप और आनन्द स्वरूप है । वास्तव मे आत्मा और परमात्मा मे कबीर के निकट कोई विशेष भेद नही है । आत्मा तत्व को आपने सच्चिदानन्द के रूप मे निरखा है । कबीर आत्मा को अनादि मानते है । कबीर ने आत्मा को सैद्धान्तिक रूप से अद्वैत-वादियो के मतानुसार वर्णित किया है । काठोपनिषद, गीता इत्यादि के मत का ही कबीर ने प्रतिपादन किया है ,

जीव का ब्रह्म से सम्बन्ध – कबीर के विचार से आत्मा कोई ब्रह्म से प्रथक वस्तु नही है वरन् ब्रह्म का ही एक अग मात्र है । जीव को ब्रह्म का अश अद्वैत-वादी, विशिप्टाद्वैतवादी तथा दैताद्वैतवादी सभी लोग मानते है ।

ब्रह्म और जीव का तादात्म्य—ब्रह्म और जीव का तादात्म्य तीन प्रकार से माना गया है—

१. ज्ञानात्मक   २. भावनात्मक   ३ यौगिक

ज्ञानात्मक—ज्ञानी लोग आत्मा और परमात्मा मे कोई वास्तविक भेद नही समझते । उनका मत है कि यह भेद माया-जन्य है । जब साधना द्वारा जीवात्मा इस माया के आवरण को चीर देती है तो आत्मा और परमात्मा का मिलन हो जाता है और जीवात्मा जीवन-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाती है । मोक्ष की भावना को व्यक्त करते हुए आत्मा और परमात्मा के इस सम्बन्ध का कबीरदास ने सुन्दर वर्णन किया हैं ।

भावनात्मक—आत्मा और ब्रह्म का जो सम्बन्ध ज्ञान और बुद्धि द्वारा होता है वह ज्ञानात्मक कहलाता है । परन्तु जो सम्बन्ध भावनाश्रित होता है उसमे भी भक्त को प्रेम-भाव से साधना करनी होती है । कबीर का रहस्यवादी चित्रण इसी भावनात्मक तादात्म्य का सजीव उदाहरण है। रहस्यवाद का आगे चल कर हम विस्तार के साथ चित्रण करेंगे ।

यौगिक—यौगिक साधना के विषय मे भी कबीर ने लिखा है और उनके मतानुसार यौगिक तादात्म्य भी सम्भव है ।

इस प्रकार ऊपर हमने तीन प्रकार के ब्रह्म तथा जीव के तादात्म्य पर

---

१. मदिर मांहि झपूकती, दीवा कैसी ज्योति ।
हस बटाऊ चलि गया, काढौ घर को छोति ॥
—(क० ग्र० पृ० ७३-कबीर की विचार धारा पृ० २२२)

विचार किया और कबीर के विचारों में हमें तीनों की ही झलक दिखलाई देती है। कबीर के आत्मचिन्तन और ब्रह्म-निरूपण मे तर्क-वितर्क के लिए कोई स्थान नही है। आपके आत्म-निरूपण पर शकर के विचारो और उपनिषदो की स्पष्ट झलक है। आत्म-तत्व की अद्वैत भावना और एकता के विषय मे कबीर का विचार बहुत दृढ है। आत्मा और ब्रह्म मे अशाशि भाव आपने प्रकट किया है।

आत्मा के रूप—कबीरदास ने आत्मा के तीन रूप किये है—

१ मानव २. अन्य जीव ३ वस्तु

स्त्री रूप—स्त्री रूपिणी आत्मा के कबीर ने चार भेद किये है—

१ कुमारी (कन्या)[1] २ सुन्दरी (विवाहिता)

३. विरहिणी ४. सती

आत्मा का जब तक ब्रह्म से परिचय नही होता वह कुमारी ही रहती है। जब कुमारी को ज्ञान प्राप्त होता है तो उसमे एक तडपन और छटपटाहट पैदा होती है। इसके पश्चात् आत्मा का 'सुन्दरी' रूप मे कबीर ने चित्रण किया है। मिलन के पहिले का सकोच, सिहरन, मिलन का वर्णन और मिलन-स्थान की रमणीकता का कबीर ने बहुत ही मार्मिक चित्रण किया है। आत्मा का सुप्तावस्था मे जो उसका ब्रह्म से वियोग होता है उसका चित्रण विरहिणी के रूप मे किया गया है। और अन्त मे विह्वल विरहणी जब असहनीय विछोह से सती होने को तैयार हो जाती है तो उसका कबीर ने सती आत्मा के रूप मे चित्रण किया है।

पुरुष रूप में—पुरुष के रूप मे आत्मा का वर्णन

१. रागात्मक सम्बन्ध, २ साधारण सम्बन्ध

रागात्मक सम्बन्ध मे योगी की समाधिस्तावस्था देखिए

झल उठि झोली जली, खपरा फूटिम फूट।
जोगी था सो रमि गया, आरूणि रही विभूति ॥

पुत्र-रूप मे

डारी खाँड पटकि करि, अन्तरि रोष उपाई।
रोवत-रोवत मिल गया, पिता पियारे जाई ॥

अन्य जीवों के रूप में—अन्य जीवो के रूप मे हम आत्मा का स्पष्टीकरण सवार, लुहार और जौहरी के रूप मे पाते हैं—

सवार कबीर घोड़ा प्रेम का, चेतनि चढ़ि असवार।
ग्यान खड़ग गहि काल सिर, भली मचाई मार ॥

---

१ कुमारी जब लगि पीव परचा नही, कन्या कुवारी जाँणि।
हथलेवा हौसे लिया, मुसकल पड़ी पिछाँणि ॥

लुहार · धवणि धवत रहि गई, बुझि गये अंगार।
अहरणि रह्या टमूकड़ा, जब उठि चले लुहार ॥
जौहरी हरि हीरा जन जौहरी, ले ले माडिय हाटि।
जब राम लैगा पारिषु, तब हीरा की साटि ॥

उक्त दृष्टान्तो के अतिरिक्त कबीरदास जी ने पक्षियो और जलचरो के रूप मे भी आत्मा का चित्रण किया है। हंस नाम से तो प्राय. कबीर आत्मा को सम्बोधित करते ही हैं।

वस्तु रूप में—इन जीवित जन्तुओं के अतिरिक्त कुछ प्रकृति की शक्तियो के रूप में भी आपने जीवात्मा को परखा है और बत्ती, ज्योति अगार इत्यादि शब्दो से सम्बोधित किया है। हिम, पारस, शख, सीप इत्यादि अनेकों नाम आपने आत्मा को प्रदान किये है।

मोक्ष विचार—कबीरदास ने मोक्ष-पद के लिए उन्ही शब्दो का प्रयोग किया है जिन्हें भक्त और वेदान्ती लोग प्रयोग मे लेते आये हैं। निर्वाण-पद, अभय-पद और परम-पद इत्यादि नाम ही मोक्ष-पद को दिये जाते थे। मुक्ति के पश्चात् कबीरदास जी आत्मा को जन्म-मरण के बन्धनो से मुक्त मानते हैं। मुक्तात्मा का कबीरदास जी ब्रह्म मे इस प्रकार तादात्म्य मानते हैं कि फिर दोनो का प्रथक होना असम्भव है। आत्मा के जहाँ वह शून्य मे विलीन होने की बात कहते हैं वहाँ वन पर बौद्ध धर्म की निर्वाणगिति का प्रभाव मालूम होता है। योगियो का भी इस पर प्रभाव है। कबीर ने कई स्थल पर मोक्ष का वर्णन कैवल्य-भाव से किया है। इस विचार के अधीन कार्य-गुण कारण गुणो मे लीन हो जाते हैं। जैसे—

कहै कबीर मन मनहिं मिलावा।
—(क० ग्र० पृ० १०२..., कबीर की विचारधारा पृ० २३१)

परंतु ऊपर बौद्धिक तथा कैवल्वीय प्रभाव कबीर की मोक्ष-भावना में देखने पर भी हम यह कह सकते है कि उनका मोक्ष-निरूपण पूर्णतया वेदान्त के आधार पर ही चित्रित किया गया है। सागर और तरग के रूप में वेदाती लोग ब्रह्म और आत्मा का निरूपण करते है। ठीक इसी प्रणाली का प्रधानतया अनुसरण कबीर ने भी किया है। मोक्ष के सम्बन्ध मे कबीर अद्वैती भावना को लेकर चलते हैं। "कबीर ने मुक्ति की अवस्था को ब्रह्मकारता की अवस्था माना है। उनका मत यह है कि जीव ब्रह्मस्वरूप होकर उसी के समान सत् चित् और आनन्द रूप हो जाता है।" कवि ने कितना स्पष्ट कहा है।

अमर भए सुख सागर पावा।
...(कबीर की विचार धारा, पृ० २३२, पक्ति ८—१०)

□

छुपाकर रखने की भी भावना कुछ ' कुछ अवश्य रही होगी । खैर जो कुछ भी सही, हमे रहस्यवाद के उसी रूप पर विचार करना है जो कुछ कि यह आज बन चुका है और उसके जिस रूप पर विद्वान विचार करते चले आ रहे है ।

महाकवि कबीर का सम्पूर्ण साहित्य यदि विश्लेषण करके देखा जाय तो प्रधानतया ब्रह्म और आत्म निरूपण के अतिरिक्त और कुछ नही है । दर्शन शास्त्र मे ब्रह्म-विचार बुद्धि के सहारे अग्रसर होता है परन्तु कबीर के रहस्यवाद मे भावना-पक्ष को भी अपनाया गया है । भावना हृदय से सम्बन्धित है और बुद्धि मस्तिष्क से । उपनिषदो ने ब्रह्म को रस रूप माना है और इससे तादात्म्य करने के लिए बुद्धि द्वारा प्रतिपादित तर्क शैली को नही अपनाया जा सकता । तर्काश्रित ब्रह्म निरूपण को कबीर ने मोटी बुद्धि का कार्य माना है ।[1]

कबीर ने भक्ति के आधिदैविक उपास्यदेव को अपने रहस्यवाद का विषय नही बनाया । ब्रह्म के आध्यात्मिक स्वरूप की अनुभूति ही उनका प्रधान लक्ष्य और विषय रहा है । प्रेमाश्रित आध्यात्मिक तत्वो की अनुभूति से रहस्य की भावना का प्रस्फुटित होना अनिवार्य था और इसी से रहस्यवाद की स्थापना होती है । कबीर का रहस्यवाद प्रेम और भावना मूलक है ।

कबीरदास जी प्रयोगवादी व्यक्ति थे और समन्वय की भावना उनके हृदय मे प्रधान रूप से कार्य करती थी । इस भावना के विषय मे हम पिछले अध्यायो मे भी लिख चुके है । कबीर की रहस्यवादी विचारधारा उक्त आधारशिला पर खडी अवश्य हुई है और उसमे प्रधान तत्व भी आध्यात्मिक और आदि भौतिक ब्रह्म-निरूपण से प्राप्त हुए है परन्तु फिर भी कही-कही उस पर सूफी प्रेम, हठयोगियो की शब्दावली तथा सिद्धो की सध्या-भाषा-शैली के प्रभाव परिलक्षित होते हैं । इन प्रभावो से रहस्य की भावना को और भी प्रश्रय ही मिला है, उसमे स्पष्टता नहीं आ सकी ।

रहस्यवाद की आस्थाएँ: आस्तिकता—आस्तिकता रहस्यवाद की सर्वप्रथम आस्था है कि जिसके आधार पर इस भावना और विचारधारा के सुसगठित रूप को आगे बढाया जा सकता है । कबीरदास जी पूर्ण रूप से आस्तिक थे, इसमे सदेह का कोई कारण नही । आपने तो नास्तिक मतावलम्बियो के विरुद्ध ही आवाज उठाई है—

बौद्ध जैन और साकत सेना ।
चार भाग चतुरंग विहीना ।

—(क० ग्र० पृ० २४०)

---

१. कहत कबीर तरक दुइ साधै तिनकी मति है मोही ।

—(क० ग्र० पृ० २७)

हम ऊपर स्पष्ट कर आये है कि कबीर ने ब्रह्म के लिए 'शून्य' शब्द का प्रयोग किया है। जहा तक शब्द को ग्रहण करने का सम्बन्ध है वहा तक हो सकता है कि कबीर पर बौद्ध और सिद्ध लोगो का प्रभाव हो परन्तु आपने इसका अर्थ नास्तिको के अनुसार ग्रहण नही किया, यह भी यथार्थ सत्य है। कबीर ने 'शून्य' शब्द सम्भवत नाथ-पथियो से लिया है। 'शून्य' 'नाद' इत्यादि अद्‌भुत और अलौकिक सत्ताओ पर हम ब्रह्म-विचार के अतर्गत लिखे चुके है कि इनमे कबीर ने अखण्ड और सर्वव्यापी ब्रह्म के ही रूप के दर्शन किये है। कबीर के रहस्यवाद की गोद मे हम यौगिक रहस्यवाद को बैठा हुआ पाते है। जहाँ कबीर ब्रह्म को सर्वव्यापी अखण्ड इत्यादि कहते है वहाँ उसे 'शून्य मण्डलवासी' मानने मे भी उन्हे कोई आपत्ति नही—

ऐसा कोई न मिलै, सब विधि देइ बताय।
सुन्न मन्डल मे पुरुष एक तहि रहे ल्यो लाई॥

—(क० ग्रं० पृ० ६७)

प्रेम और भावना—आस्तिकता के पश्चात् रहस्यवादी आत्मा का ब्रह्म मे तादात्म्य हो जाने के लिए प्रेम और भावना की आवश्यकता है। कबीरदासजी ने प्रेम और भावना के लिए प्राय. 'भाव प्रगति' शब्द का प्रयोग किया है। जहाँ तक भावना और भक्ति का सम्बन्ध है कबीरदासजी ने भक्ति मे सात्विक हृदय की ब्रह्म मे अनन्याभक्ति मानी है परन्तु जहाँ प्रेम का सम्बन्ध आता है वहा सूफी-साधना का आश्रय लिया गया है।

गुरु की भावना—ब्रह्म मे आस्था होने और आत्मा मे ब्रह्म से मिलने की भावना तथा प्रेम का उदय होने के पश्चात् भी दोनो का मिलन उस समय तक सम्भव नही है जब तक कि दोनो को मिलाने वाला कोई सच्चा सद्‌गुरु न हो। वास्तव मे गुरु के द्वारा ही शिष्य के हृदय मे ब्रह्म के प्रेम का अकुर जमता और पल्लवित होता है।

कबीरदास ने गुरु का बखान मुक्त कठ से किया है और उनके विचार से गुरु का महत्व किसी भी प्रकार ब्रह्म से कम नही है। वह तो दोनो को साथ-साथ खडे देखकर असमजस मे रह जाते है कि पहिले किसके पैर उन्हे लगना चाहिए, गुरु के अथवा भगवान के—

गुरु गोविन्द दोनों खड़े,
काके लागूँ पॉव।

वास्तव मे सद्‌गुरु ही ब्रह्म को दिखाने वाला है।[1] आपने तो स्पष्ट ही कहा

---

१. सत्‌गुरु की महिमा अनन्त, अनन्त किया उपगार।
लोचन अनन्त उघाड़िया, अनँत दिखावणहार॥

है कि यदि गुरु योग्य नही होगा तो ब्रह्म से मेल नही हो सकता।

इस प्रकार ब्रह्म मे आस्था होने पर सत्गुरु की पहचान होना और फिर उसके मार्ग प्रदर्शन पर भावना तथा साधना का आश्रय लेकर ब्रह्म तथा आत्मा के मिलन का जो वर्णन किया गया है वही कबीर का रहस्यवाद है।

ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग की बाधाएँ—भावना और प्रेम की साधना द्वारा जब आत्मा गुरु-दीक्षा लेकर ब्रह्म-मिलन के मार्ग पर चलती है और आनन्द विभोर होकर ब्रह्म-मय होना चाहती है तो उसके मार्ग मे माया अपना जाल बिछाकर खडी हो जाती है। कबीर के विचार मे आत्मा के ब्रह्म-प्राप्ति के मार्ग मे माया ही सबसे बड़ा प्रतिबन्ध है। सूफियों ने माया के स्थान पर शैतान की कल्पना की है। माया का चित्रण कबीर ने कचन और कामिनी के रूप मे किया है। कबीर ने माया का प्रयोग मात्र रूपात्मक अविद्या के लिए ही किया है। माया को कबीरदास ने भौतिक जगत् के विभिन्न रूपो मे रख कर परखा है। कबीर ने अपनी साखियो में माया को दीपक, स्त्री, जल, वृक्ष, दवाग्नि इत्यादि अनेक रूपो में प्रकट किया—

१. माया दीपक नर पतंग भ्रमि भ्रमि इवै पड़ेत।
२. कबीर माया डाकणी, सब किसही कौ खाई।

आत्मा और परमात्मा के मिलन का यह आनन्द भाव प्रारम्भ मे स्थायी नही होता। माया छलना बीच मे आकर इस मिलाप मे बाधा उपस्थित कर देती है और आत्मा विरहवस्था को प्राप्त हो जाती है। आत्मा की इस दशा का वर्णन कबीर साहब ने विरहिणी के रूप मे किया है। आत्मा के परमात्मा बन जाने के मार्ग मे यह आत्मा की तीसरी (कुमारी, सुन्दरी और विरहिणी) अवस्था है। इस दशा मे कबीर ने आत्मा मे उठने वाली तडप का बहुत हो सजीव चित्रण किया है।[1]

विरह-भावना के अन्तर्गत आपने विकलता, विवशता, परेशानी, चिन्ता, उन्माद, कृशता, मलिनता, स्वेद, कम्पन, आकुलता, विह्वलता, चिन्ता इत्यादि का मनोहर चित्रण किया है। कबीर का आध्यात्मिक विरह वर्णन बहुत ही मार्मिक बन पडा है। जायसी और सूर के विरह वर्णन भी इसके सामने फीके पड जाते हैं—

१ नैना नीझर लाइया, रहँट बहै निस जाय।
पीहा ज्यूं विष पिव करौं, कबरू मिल हुगे राम॥
—(कबीर वचनामृत--पृ० २६ पद २४)

२ यह तन जालौं मसि करौ ज्यों धुआ जाई सरग्नि।
मति वै राम दया करै बरसि बुझालें अग्नि॥
—(क० ग्रं० पृ० ६)

---

१. बहुत दिनन को जोवती, बाट तुम्हारी राम।
जिव तरसै तुझ मिलन कू, मनि नाही विश्राम॥
—(कबीर वचनामृत-पृ० २१, पद ४१)।

रहस्यवाद की अभिव्यक्ति दाम्पत्य प्रेम मे ही सब से सुन्दर रूप से प्रस्फुटित होती है क्योकि प्रेम की चरम परिणति दाम्पत्य प्रेम मे ही है। प्रेम की प्रधान प्रवृति भावना है और भावना अनुभूति का मूल श्रोत है। इसी के द्वारा रहस्यवाद की अभिव्यक्ति सम्भव है। रहस्यवाद चाहे कबीरदास का हो या जायसी का, उसमे दाम्पत्य प्रेम, साधना और ब्रह्मज्ञान की अनुभूति का होना नितान्त आवश्यक है। विरह की दशा मे अनुभूति का प्रधान रूप से उद्रेक होता है और हृदय तन्मयता चरम लक्ष पर पहुँच जाती है। कबीर ने तो स्पष्ट रूप से अपने को राम की बहुरिया माना है। कबीर ने भगवान् को पुरुष रूप मे ही स्वीकार किया है, यह पूर्ण रूप से भारतीय विचारधारा का प्रभाव है, सूफी सिद्धान्तो का नही। दाम्पत्य प्रेम के अन्दर मिलन, विरह और प्रियतम के लोक की मधुर कल्पनाएँ कवि ने प्रस्तुत की है।

आत्म-शुद्धि—कबीर के विचार से आत्म-शुद्धि के बिना आत्मा को परमात्मा का ज्ञान होना किसी भी प्रकार सम्भव नही है। आत्म-शुद्धि के विषय मे आपने कोई शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत न करके केवल नीति सम्बन्धी निर्देशन ही किया है। लोभ, काम, मोह, क्रोध, अहकार, तृष्णा, कपट, कटुवचन इत्यादि से जीवन को मुक्त रखने की ओर आपने सकेत किया है।[1]

साधना के साधन—कबीर ने साधको और भक्तो के लिए ब्रह्म प्राप्ति के प्राय सभी मार्गो का समन्वय करते हुए उधर अग्रसर होने का सकेत किया है। लक्ष एक ही है, मार्गों का अन्तर हो सकता है। आत्म-शुद्धि के लिए आत्मा को कठोर तपस्या करने की आवश्यकता है। जो व्यक्ति नैतिक नियमो को निभाने मे असमर्थ हो वह प्रपत्ति मार्ग अपना सकता है—

१. **'केवल राम जपहु रे प्रानी।'**
२. **'कबीर सुमिरण सार है।'**
३. **'कबीर निरभै राम जपि।'**
४. **'लूटि करै तो लूटियौ राम नाम है लूटि।'**

---

१. काम— भगति बिगाडी काँमिया, इन्द्री केरै स्वादि।
हीरा खोया हाथ थै, जनम गँवाया बादि॥
अहकार— ऐसी बाणी बोलिये, मन का आपा खोइ।
अपना तन शीतल करै, औरन कौ सुख होइ॥
कटुवचन— अणी सुहेली सेल की, पडता लेइ उसास।
चोट सहारै सबद की, तास गुरू मैं दास॥
कपट— कबीर तहाँ न जाइये, जहाँ कपट का हेत।
जालू कली कनेर की, तन रातौ मन सेत॥
क्रोध— ऐसा कोई नाँ मिलै, अपना घर देई जराइ।
पचू लरिका पटकि करि, रहै राम ल्यौ लाइ॥

जहाँ तक जप का सम्बन्ध है कबीरदास जी ने अजपाजप के ही महत्व का गुणगान किया है। क्योकि केवल मुख से राम नाम जपने की तो कबीर ने स्पष्ट शब्दो मे ही निन्दा की है—

पडित बाद बदै सो झूठा।
राम कहे जो जगत गति पावै; खाँड कहे मुख मीठा।
पावक कहे पाँव जो डाहै, जल कहै त्रिया बुझाई ॥
—(बीजक-सब्द, पृ० ४३—पद ४०)

प्रपत्ति की साधना के लिए भी आपने सगीत को अपनाया है। ध्यान, नाम, जप, कीर्तन इत्यादि सब प्रपत्ति के ही साधन है। इस प्रकार की प्रपत्ति मे कबीर ने अपनी उलटी चाल की कविताओ का प्रयोग किया है—

१ निरगुन आगे सरगुन नाचै,
बाजै सोहँग तूरा।
चला के पाँव गुरूजी लागौं,
यही अचम्भा पूरा ॥
—(कबीर—पृ० २५५ पद २८)

उन उलटवासियो से कबीर की योग-वृत्ति का आभास मिलता है। आपने बहिरमुखी वृत्तियो को अर्न्तमुखी करने की ओर सकेत किया है, आत्मा मे केन्द्रित किया है, जिसके बिना साधना के पथ पर पैर रखना ही नितान्त असम्भव है।

प्रेम का साधन—उक्त जितने भी साधना के साधन है इन सभी की ओर कबीर ने यत्र-तत्र सकेत किया है परन्तु भावातिरेकता और प्रपत्ति का अनन्य साधन प्रेम ही है। आत्म-शुद्धि भी बिना प्रेम के सम्भव नही। आत्मा को ब्रह्म की भावनात्मक अनुभूति प्रेम द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। दाम्पत्य प्रेम के अन्तर्गत कुमारी, सुन्दरी और विरहिणी के विषय मे हम ऊपर लिख चुके है। प्रेम की चौथी दशा सती की होती है जब वह प्रेमी पर अपना बलिदान देने को तैयार हो जाती है। उस समय आत्मा अपने विशुद्ध रूप मे सामने आती है और उसके जन्म मरण का सकट उससे छूट जाता है। प्रेम की यह अवस्था साधना और भावना के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है, तर्क-वितर्क द्वारा नही, यह अन्तिम लक्ष्य ज्ञान की पहुँच से दूर है। यह अध्यात्म की अन्तिम सीढी है जहाँ पहुँचकर साधक को ब्रह्म के दर्शन हो जाते है और वह ब्रह्म के आलौकिक रूप का अपनी अटपटी भाषा मे चित्रण करना आरम्भ कर देता है। ऐसी दशा के विषय मे डा० रामरतन भटनागर लिखते है "सच तो यह है कि कबीर आदि इन साधुओं के लिए जो प्रत्यक्ष था वह हमारे लिए रहस्य है। इस अनबूझपन पर कोई भी 'वाद' खडा करना उचित नही। फिर भी रहस्यवाद नाम से बड़े-बड़े महल खड़े हो रहे हैं।

कबीर के राम के सम्बन्ध मे कुछ कहना ही नही है। कुछ कहा ही नही जा सकता। वह गुणो से परे होकर भी गुणो को लपेटे हुए है, फिर कोई क्या कहे ? जीव और ब्रह्म एक ही है। जैसे बूद समुद्र। इन दोनो की अद्वैतावस्था ही अन्तिम लक्ष्य है।"

एकरूपता—इसी दशा मे पहुँचकर हमे आत्मा और परमात्मा की एकरूपता के दर्शन होते है। यही पर पहुँच कर कबीर एक प्रकार से बौखला उठते है और ब्रह्म के साथ सभी स्नेह-सम्बन्ध स्थापित करने पर उतारू हो जाते है। जननी, स्वामी, पिता, पति, देवता, अगम्य, अगोचर, ब्रह्म, अनहद, शून्य, शब्द और न जाने क्या-क्या कहकर पुकारने लगते है। परन्तु इस समय जो कुछ भी सम्बन्ध है उनमे प्रेम और माधुर्य का अतिरेक स्वाभाविक ही है। यह भावना का चरमलक्ष्य है जहाँ सब कुछ मधुर-ही-मधुर है। आत्मा का तादात्म्य ब्रह्म के साथ हो जाता है और अपने को ब्रह्म के रूप मे निरखने लगता है।[1]

आत्मा प्रेम-मार्ग पर चलकर ब्रह्म के पास पहुँचती है। इस मिलन और मिलन से पूर्व की परिस्थिति का कबीर ने बहुत ही मार्मिक चित्रण किया है। मिलन की आकाक्षा, प्रेरणा, अकुलाहट, तडपन, भावनाओ का उद्रेक, जलन, प्रयास इत्यादि के आकर्षक चित्र अकित किये है।

यहाँ तो मुक्ति की भी अभिलाषा समाप्त हो जाती है। विरहिणी की दशा देखिए—

बहुत दिनन की जोवती, बाट तुम्हारी राम।
जिव तरसै तुझ मिलन कूँ, मनि नाही बिसराम।।

प्रेम की दशा देखिए—

कबिरा प्याला प्रेम का, अतर दिया लगाय।
रोम-रोम मे रमि रह्या, और अमल क्या खाय।।
राता माता नाम का, पीया प्रेम अघाय।
मतवाला दीदार का, माँगै मुक्ति बलाय।।

रहस्यवाद अनिर्वचनीय है—आत्मा और ब्रह्म के मिलन का वर्णन करना असम्भव है इसीलिए इसमे स्पष्टता नही आ सकती। हृदय के नेत्र जिस असीम सौदर्य मे घुस सकते है उस सौदर्य की छटा का वर्णन करना वाणी की क्षमता मे नही है। इसीलिए कबीर ने अटपटी उलटबाँसियाँ लिखकर कुछ उसकी झलक डालने का प्रयास किया है परन्तु यह स्पष्ट है उसे रहस्यवाद के अतिरिक्त और कोई नाम नही जा सकता। असीम और ससीम का मिलन वह चमत्कार पूर्ण घटना है कि जिससे अलौकिक आनन्द की सृष्टि तो होती है; साथ

---

१. मोको कहाँ ढूढे बन्दे, मैं तो तेरे पास मे।
   ना मैं देवल ना मै मस्जिद, ना काबे कैलास में।।

ही उसका स्पष्टीकरण करना भी बहुत कठिन है। इसीलिए इसे अनिर्वचनीय कहा गया है। यही रहस्यवाद है। पाश्चात्य विद्वान रहस्यवाद के विषय मे लिखते है

"Mysticism is the type of religion which on puts the emphasis in immediate awareness of relation with God, on direct intimate consciousness of Divine Presence. It is religion in its most acute, intense and living stage.

R. M. Jones

Persons who have been face to face with God, who have heard his voice and felt his presence (are mystics.)

Christian Mysticism is the doctrine, or rather the experience of the spirit—the realisation of human personality as characterised by and consumated in the indwelling reality, the will of christ which is God.

Canon R. C. Moberly

There are times when powers and impressions of the course of mind's normal action and words that seem spoken by a voice from without, messages of myterious knowledge, of counsel or warning, seem to indicate the intervention, as it were, of a second soul. (This is mystic experience.)

(Attitude of C F. Andrews summed up by the 'Leader' in its leading article of Jan. 4—1939)

—('कबीर' डा० रामरतन भटनागर पृ० १५२)

कबीर के रहस्यवाद मे हमे ठीक उक्त प्रकार की भावना के दर्शन होते है और यह विचार उनकी आध्यात्मिक प्रणाली के अन्तर्गत प्रवाहित होता दृष्टिगोचर होता है। कबीर ब्रह्म से इस प्रकार बातें करते है कि मानो दोनो एक दूसरे के बिलकुल निकट है और एक के मर्म से दूसरा अनभिज्ञ नही। ऐसी ही दशा मे ब्रह्म को सामने देखकर जब कबीर वर्णन करते हैं तो उन्हें स्वय सदेह होना लगता है कि कही उनके इस रहस्यमय वर्णन पर कोई विश्वास भी करेगा अथवा नही—

१. भाई रे अदबुद रूप अनूप कथा है, कहौं तौ को पतियाई।
जहँ-जहँ देखो तहँ-तहँ सोई, सब घट रहा समाई॥

—(बीजक, पृ० ३६ पद २७)

२. राम गुन न्यारो न्यारो न्यारो।
अबुझा लोग कहाँ लौ बूझै, बुझनिहार बिचारो।

—(बीजक पृ० ३५ पद १८)

इस प्रकार कबीरदास जी ने अपने देखे हुए ब्रह्म का वर्णन करने मे अपनी असमथता प्रकट की है। वह तो 'गूगे' के लिए गुड के समान है। केवल सकेतो द्वारा ही अभिव्यक्ति कराने का प्रयास किया गया है। इसी दशा को योगी 'उन्मनावस्था' और वेदान्ती 'जीवन-मुक्ति' कहते है। कबीर ने अपना सकेत सभी दिशाओ मे किया है—

१. **अविगत अकल अनूपम देखा, कहता कही न जाय।**
सैन करै मन ही मन रहसे, गूगे आनि मिठाय॥

—(क० ग्र० पृ० ६०)

यहाँ तक रहस्यवाद की अवस्था केवल साक्षात्कार की ही होती है परन्तु जैसा कि हम इगित कर चुके है एक अवस्था वह भी आती है कि जब अनिर्वचनीय का प्रश्न ही नही उठता और आत्मा का ब्रह्म मे मिलकर एकीकरण हो जाता हे। वह पूर्ण रूप से विशुद्ध भारतीय अद्वैतावस्था है। कबीर ने इसी के लिए 'बूद का बूद मे समाना' लिखा ह।

कबीर के रहस्यवाद को विशेषता—कबीर के रहस्यवाद को हम पूर्ण रूप से भारतीय आध्यात्मिक आदर्शो का प्रतीक मानते ह। कबीर की मान्यताओ पर यो यत्र-तत्र कुछ सूफी प्रभाव अवश्य है। परन्तु जहा तक ब्रह्म के मूल-तत्व के निरूपण का सम्बन्ध हे वह पूर्णतया अद्वैतवाद की साधारण प्रतिक्रिया मात्र है।

१ **यौगिक प्रयास**—ब्रह्म की अनुभूति प्राप्त करने लिए योग भी भारतीय आध्यात्मिक आदर्शो मे एक साधन है। यौगिक-ब्रह्म-मिलन का उपनिषदो और पुराणो मे भी वर्णन मिलता है। योगी भी रहस्यवाद की प्रथम मान्यता, आस्तिकता, को मान कर चलता ह और साधन के अष्टाग, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान और समाधि, द्वारा उसकी प्राप्ति का प्रयत्न करता हे। समाधि की अवस्था मे ब्रह्म की अनुभूति होती ह और शब्द-ब्रह्म का अनहद नाद सुनाई देती है। कबीर के रहस्यवाद मे यौगिक रहस्यवाद की पूरी झलक मिलती हे।

यौगिक रहस्यवाद से प्रभावित होकर कबीर ने बहुत से पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग किया है जिनके फलस्वरूप आपकी रचनाओ मे कही-कही भावना और माधुर्य को ठेस भी लगती हे और पाठक उन्हे समझने मे भी असमर्थ-सा रह जाता हे। इस प्रकार के नीरस प्रयोगो की आपकी रचनाओ मे कमी नही है। यदि इस प्रकार के प्रयोगो से मुक्त करके आपकी रचनाओ को देखा जाय तो वास्तव मे उनमे मधुर रस का श्रोत प्रवाहित होता दीख पड़ेगा।

भावनात्मक—भावनात्मक रहस्यवाद मे आधिदैविक भावना को लेकर भक्त सब प्रकार से भगवान् की शरण मे चला जाता है। आपकी शान्त रस प्रधान उक्तियो मे भावनात्मक रहस्य भरा पडा है और आपने स्मरण की महानता का बखान करके भावना को प्रश्रय दिया है। कबीर ने षठ चक्रो का जहाँ यौगिक

रहस्यवाद के अतर्गत वर्णन किया है, वहाँ उनमे भक्ति की भावना का भी पूर्ण-उद्रेक दिखलाई देता है। इस प्रकार के वर्णनो मे पौराणिकता की छाप देकर कवि कबीर ने उन्हे रहस्यमय बनाने के साथ-ही-साथ मधुर भी बहुत बना दिया है।

अभिव्यक्ति मूलक—यौगिक प्रयास और भावनात्मक विचारो के साथ-ही-साथ कबीर की रचनाओ और विशेष रूप से उन रचनाओ मे जहाँ आपने रहस्यवाद की झाँकी प्रस्तुत की है, रहस्य की अभिव्यक्ति का प्रभावशाली चित्रण मिलता है। इस प्रकार हमे कबीर के रहस्यवाद मे योग, भावना और अभिव्यक्ति का सुन्दर सगम दिखलाई देता है।

□

७ | कबीर की आध्यात्मिक मान्यताएँ

यो साकेतिक रूप मे हम गत दोनो अध्यायो मे कबीर की प्राय· सभी आध्यात्मिक मान्यताओ पर साकेतिक विचार कर चुके हैं परन्तु उनके सही रूप को समझे बिना कबीर का अध्ययन अपूर्ण ही रह जाता है। ब्रह्म और आत्मा तत्व का पिछले अध्यायो मे स्पष्टीकरण हो चुका है। इस अध्याय मे हम कबीर की माया, जगत, भक्ति, योग, दर्शन इत्यादि विषयक मान्यताओ पर विचार करेंगे।

माया का निरुपण

वेदों, उपनिषदो, बौद्धों तथा शकंराचार्य के मतानुसार माया का निरूपण। माया शब्द का प्रयोग वेदो मे वेश बदलने के अर्थ मे मिलता है। उपनिषदो मे माया का प्रयोग नामरूप के अर्थ मे हुआ। बौद्ध काल मे मायावाद स्वप्नवाद और शून्यवाद से प्रभावित होकर स्वप्नवाद ही बन गया। शकराचार्य ने स्वप्नवाद का खडन कर शास्त्रीय मायावाद को फिर से प्रतिष्ठा दी। आपने माया को भ्रम के रूप मे वर्णित किया है। गीता मे भी माया का कुछ-कुछ यही रूप वर्णित है।

भावमय भ्रम—कबीरदास जी ने माया को 'भावमय भ्रम' माना है। यह भावरूप भ्रान्ति कबीर के मायावाद मे वेदान्त का स्पष्ट प्रभाव है। वेदान्त ने माया को अनिर्वचनीय ख्यातिवाद या सदासद्वाद के अर्न्तगत रखा है। कबीरदास जी ने इसी विचारधारा के अन्तर्गत माया को सगुण और निर्गुण दोनो रूपो मे देखा है।

मीठी-मीठी माया तजी नहि जाई।
अनगयानी पुरुष को मोलि मोलि खाई॥
निर्गुन सगुण नारी ससार पियारी।
लखमण त्यागी गोरख निवारी॥

—(क० ग्र० पृ० १६६)

स्वप्नवाद और शून्यवाद—कबीर के माया निरूपण में हमे शून्यवाद और स्वप्नवाद दोनो की झलक मिलती है, परन्तु सैद्धान्तिक रूप से वह अनिर्वचनीय ख्यातिवाद पर ही आकर स्थिर होते है और उन्हे कहना पडता है—

राम तेरी माया दुन्द मचावै ।
गति मति वाकी समझि परै नहिं सुर नर मुनहिं नचावै ।
का सेमर के साखा बढ़ाये, फूल अनुपम बानी ।
केतिक चातक लागि रहे हैं, चाखत रुआ उडानी ॥

—(कबीर हजारीप्रसाद, पृ० ३०६ पद १२६)

कबीर ने माया को डाकिनी के रूप में चित्रित किया है और कहा है कि वह सबको खाने वाली है परन्तु सत लोग उमसे भयभीत नही होते—

कबीर माया डाकणी सब किही कौ खाय ।
दांत उपाणो पापड़ी जे संतो नेड़ी जाय ॥

माया और प्रकृति—साख्य मतावलम्बियो ने वेदान्तियो के माया नाम को प्रकृति रूप मे निरूपण किया है । प्रकृति त्रिगुणात्मिका मानी गई है। प्रकृति जननी भी है और इसीलिए प्रसव धर्मिणी भी । स्वय अव्यक्त है परन्तु व्यक्त जगत को जन्म देती है और महत् तत्व का उत्पादन करती है । यह महत् तत्व अहकार का पैदा करने वाला है । इम विषय मे डा० त्रिगुणायत लिखते है—"अहकार से सात्विक सेन्द्रिय और निरीन्द्रिय सृष्ट्रियाँ होती है । सेन्द्रिय सृष्टि मे पाँच तन्मात्राएँ तथा पच महाभूत उत्पन्न होते है । सक्षेप मे माख्य का सृष्टि-विकास का क्रम वही है । इनमे महत् अहकार और पाँच तन्मात्राएँ प्रकृति विकृति कहलाती है। बाकी सोलह तत्व विकार कहलाते है । वेदान्त्रियो का तत्व वर्गीकरण दूसरे प्रकार का है । वे प्रकृति अष्टधा मानते है । प्रकृति के इन आठ अंगो मे प्रकृति महत् अहकार और पंचतन्मात्राएँ आती हैं ।"

कबीर की माया सम्बन्धी विचारधारा साख्यवादियो के अधिक निकट है क्योकि आप प्रकृति को त्रिगुणात्मिका मानते हैं—

१. माया तरवर त्रिविध का साखा दुख संताप ।

—(कबीर वचनामृत पृ०, ९९)

साथ ही समस्त सृष्टि का जन्म भी इसी माया या प्रकृति से हुआ है—

१. एक विमानी रचा विमान, सब अपान सो आपे जान ।
सत रज तम ये कीन्ही माया बारि सानि विस्तार उपाय ॥

—(क० ग्रं० पृ० २२८)

परिवर्तनशील—शकराचार्य ने माया को परिवर्तनशील माना है । प्रकृति का परिवर्तन प्रधान गुण है । कबीर शकराचार्य के इस मत से सहमत है और आपने मृत्यु और जन्म के परिवर्तनो को प्रकृति के इसी गुणाधीन माना है । यही परिवर्तन आवागमन है और आवागमन से जीव की शाति नष्ट होती है तथा

आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध विच्छेद होता है। यही दुख का प्रधान कारण है—

संतो आवै जाय सो माया।
है प्रतिपाल काल नहिं वाके, न कहुँ गया न आया ॥

(बीजक सब्द पृ० ३१ पद ८)

मोहकता—अब प्रश्न यह उठता है कि आत्मा यह जानकर भी कि माया दुखदायिनी है क्यो अपने को इसके बन्धन से मुक्त नही करती। यहा यह समझ लेना आवश्यक है कि माया का स्वरूप बहुत ही आकर्षक है और यह आकर्षण जीव को अपने बन्धन मे बाँध लेता है। जिस प्रकार स्वय की गृहणी को छोडकर व्यक्ति वेश्यागामी बन जाता है उसी प्रकार परमात्मा को त्याग कर आत्मा माया के जाल मे फँस जाती है।

माया के इस आकर्षक रूप का कबीर ने बहुत रूपो मे वर्णन किया है। माया के इन्द्रजाल को समझ लेना अज्ञानी मनुष्य की शक्ति-सीमा से परे की बात है। इस बन्धन रूपी माया की 'मोर' 'तोर' शृखलाएँ जीव को बन्धन मे जकडे रहती है और अज्ञान के अन्धकार को माया ही ससार पर बिछाती है। माया के लिए कबीर ने पापिणी', 'बसास' (विश्वासघातिनी) 'मोहनी', 'डाकण', 'साँपिनि' इत्यादि रूप मे सम्बोधित किया है।[1] आत्मा संसार मे आकर धन, वैभव, मान, शक्ति, यश इत्यादि जितने भी प्रकार के भ्रम मे फँसता है वह सब माया-ही-माया है।

सर्वव्यापी माया—माया का विस्तार जल, थल और आकाश सभी स्थानो पर कबीर ने माना है। विश्व के सभी सम्बन्ध माया जन्य है। यही माया जन्य सम्बन्ध आत्मा को अपने मे फसा कर ईश्वर से दूर ले जाते है और उसके साधना-मार्ग मे बाधक होते है। कबीर ने माया को व्यक्त और अव्यक्त दोनो ही रूप मे निरखा है। अव्यक्त ने ही माया को सर्वव्यापी बनाया है। माया का अव्यक्त स्वरूप वेदान्ती और साँख्य दोनो ही दार्शनिको को मान्य है। व्यापक माया का कबीर ने विस्तार के साथ चित्रण किया है। कबीर समस्त सृष्टि को ही मायामय मानते है।[2]

---

१ कबीर माया सर्पणी, हरि सू करै हराम।
मुखि कडियाली कुमति की, कहण न देई राम ॥

—(कबीर वचनामृत—पृ० ९५—पद ४)

२. कबीर माया डाकणी, सब किस ही कौ खाइ।
दाँत उपाणौं पापडी, जे सतौ नेडी जाइ ॥

—(कबीर वचनामृत— पृ० ९९—पद २१)

माया जग साँपिनि भई, विष ले बैठी पास।
सब जग फदे फदिया, चले कबीर उदास ॥

—(बीजक-साखी—पृ०—१०५—पद १४२)

कबीर ने कनक और कामिनी को माया के प्रधान प्रतीकों के रूप मे चित्रित किया है। मान, आशा, तृष्णा, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मन्सा, मद इत्यादि मानसिक विकार माया के मित्र है। अपने इन्ही मित्रो के सहयोग से माया जीव को फँसाकर ब्रह्म से दूर-दूर लिए फिरती है। माया को कबीर ने 'बाधा और बन्धन' दोनो ही रूप मे चित्रित किया है। यह साधना भी है और साध्य भी। जहाँ तक बाधा का सम्बन्ध है यह प्रभाव सूफी सिद्धान्तो का प्रतीत होता है क्योकि वहाँ शैतान के रूप मे ही माया का चित्रण किया गया है।

माया स्त्री ब्रह्म पति—श्वेताश्वतर उपनिषद के अनुसार "माया तु प्रकृति विद्यात् मायिन महेश्वरम्"—माया प्रकृति है और महेश्वर उसका स्वामी है। कबीर ने भी ब्रह्म को माया के 'खसम' रूप मे चित्रित किया है—

तेतो माया मोह भुलाना, खसम राम जो किनहु न जाना।

—(कबीर की विचारधारा पृ० २७४)

कबीर के माया-निरूपण पर हमे प्रधान रूप से वेदान्त का ही प्रभाव दिखलाई देता है।

माया के भेद—कबीर ने माया के दो भेद माने है और उनका स्पष्टीकरण 'मोटी' और 'झीनी' के रूप मे किया है। स्पष्ट ही है कि यह शब्द अविद्या रूपणी और विद्या रूपणी माया के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

दर्शन-निरूपण—दार्शनिक बनने की चेष्टा कबीर मे न पाते हुए भी दार्शनिक सिद्धान्तो का निरूपण और स्पष्टीकरण हमे कबीर की रचनाओ के अतर्गत स्पष्ट दिखलाई देता है। आपने अनेकानेक दर्शनो को आत्मसात किया है और कुछ अपने निश्चित सिद्धान्त और दृष्टिकोण भी प्रस्तुत किये है। यहाँ हम उन्ही पर सक्षेप मे विचार करेगे।

दार्शनिक क्षेत्र मे कबीर को हम अद्वैतवाद के ही अधिक निकट पाते है। अद्वैत यों भारत मे १८ प्रकार का माना गया है परन्तु इनमे तीन प्रधान है—

१. शब्दाद्वैत। २. विज्ञानाद्वैत। ३. सत्ताद्वैत।

अद्वैतवाद के उक्त तीन रूपो मे कबीर को हम शब्दाद्वैत के अधिक निकट पाते है। आपने शब्द ब्रह्म का मूल रूप से प्रतिपादन किया है। यही कबीर का 'शब्द-सुरतियोग' है और इसी का विकास हम आपकी अद्वैत-भावना के अतर्गत देखते हैं।[1]

कबीर की रचनाओ को ध्यानपूर्वक देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्हे न तो विशिष्टाद्वैतवाद ही अपनी ओर प्रभावित कर सका और न केवल

---

१. सब्द हमारा आदि का, सब्दै बैठा जीव।
फूल रहनि की टोकरी, घोरे खाया घीव॥
—कबीर-बीजक-साखी पृष्ठ ९२-पद ३

द्वैतवाद ही। विशुद्ध अद्वैत की ही झलक हमें उनकी रचनाओं मे मिलती है। आपकी मोक्ष-भावना मे ब्रह्म और आत्मा का विशुद्ध तादात्म्य निहित है। आपने—

१ ब्रह्म के निर्गुण और अव्यक्त स्वरूप को स्वीकार किया है।

२ सगुण का निर्गुण मे विलय दूध मे दही के समान है।

३ वेदान्ती विचारधारा के अनुसार आत्मा और परमात्मा मे कोई अन्तर नही है। केवल माया का आवरण ही दोनो को प्रथक किये हुए है।

४ आत्मा को ब्रह्म की ही भाति अनिर्वचनीय कहा है।

५ आत्मा को स्वयं प्रकाशमान गिना है और ज्ञान स्वरूप कहा है।

६. जगत को माया का खेल और मिथ्या भ्रम मात्र माना है।

७. अशाँशि भाव मे अद्वैत की ही भावना परखी है।

८. जीव के मुक्त रूप मे और ब्रह्म मे कोई अन्तर नही माना।

९. प्रतिबिम्बबाद और विवर्तवाद, जो कि अद्वैतवाद के ही अग है, की भावना अपनी रचनाओ मे प्रखरता के साथ चित्रित की है।

उक्त बाते कबीर की अद्वैत-भावना मे मिलने पर भी हम कबीर को पूर्ण-रूपेण भारतीय अद्वैतवादी दर्शन का समर्थक नही मान सकते। सिद्धान्त रूप से कई बातो मे कबीर का मतभेद है—

१. कबीर का विश्वास ज्ञान मे रहते हुए भी भक्ति मे कुछ कम नही रहा। साथ ही सूफी-प्रेम की भी उनके विचारो पर अच्छी झलक है।

२. कबीर ने श्रुति प्रमाणो को नही माना।

३. कबीर का ब्रह्म और आत्मा का निरूपण जहाँ एक ओर अद्वैत भावना से प्रेरित है वहाँ उस पर एकेश्वरवाद, द्वैताद्वैत विलक्षणवाद और शून्य-वाद का भी प्रभाव है।

४. जीव के विषय मे आपको सूफियो का मत मान्य है कि जीव ब्रह्म मे से निकला हुआ है।

इस प्रकार हमने देखा कि कबीर का अद्वैती स्वरूप न तो शकर से ही पूर्णतया मेल खाता है और न किसी अन्य आचार्य से ही। आपके निरूपण मे हमे सर्वत्र आपकी समन्वयकारिणी प्रतिभा के दर्शन होते है। आपने तो अद्वैत और विशिष्टाद्वैत के प्रधान तत्व ज्ञान और भक्ति का भी सामंजस्य स्थापित किया है।

प्रकृति का निरूपण—कबीरदास ने प्रकृति का निरूपण मिथ्या रूप मे किया है। ससार को स्वप्न तुल्य वेदान्ती तथा बौद्ध दोनो ने ही माना है, परन्तु कबीर की विचारधारा पर हमे पूर्णरूपेण शकराचार्य के मायावाद का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। बौद्धों ने जहाँ ससार को एकदम स्वप्नवत् कह दिया है वहाँ शकर ने उसे केवल आत्मा की तुलना मे स्वप्नवत् कहा है। बौद्धो और शकराचार्य के मतभेद को मैक्समूलर साहब इस प्रकार स्पष्ट करते है—

Even the existance, apparent and illusory of a material world requires a real substratum which is Brahman. Just as the appearance of the snake in the simile requires the real substratum of a rope Buddhist philosophers held that everything is empty aud unreal and that all we have and know are our perceptions only. Shanker himself argues most storngly against this extreme idealism and enters into full argument against the nihilism of Buddhists. The vedanist answer that though we perceive perceptions only, these perceptions are always perceived as perceptions of something.

—Max Muller's Indian Philosophy-PP. 209-11.

बौद्धो के मायावाद में सृष्टि को स्वप्न-तुल्य मानकर ईश्वर मे भी आस्था नही पाई जाती, परन्तु शकराचार्य का मत इसके सर्वथा भिन्न है। शंकर ने ब्रह्म को मायामय सृष्टि का आधार माना है। बौद्ध लोग इसे सर्वथा आधार विहीन मानते हैं। इस प्रकार दोनो विचारों के मूल मे ही अन्तर है।

कबीर की विचार-धारा में शंकर के मायावाद की झलक है। कबीर आस्तिक थे यह हम पीछे लिख चुके हैं और समस्त सृष्टि को ब्रह्ममय मानते थे।[1]

सृष्टियोत्पत्ति से पूर्व कबीर ने निर्गुण ब्रह्म की सत्ता को माना है। कबीर का यह मत भी बौद्धो के शून्यवाद के विपरीत है। ऋग्वेद के नासादीय सूक्त वर्णनों मे भी इसी प्रकार का वर्णन है।

इस प्रकार हम कबीर को शकर के वेदान्त के ही अधिक निकट पाते हैं। बौद्धो के नास्तिक शून्य की इनकी रचनाओ मे जो झलक दृष्टिगोचर होती है वह केवल शून्य शब्द का प्रयोग मात्र है और वह भी कबीर ने हर स्थान पर ब्रह्म के लिए ही किया है। अद्वैत वेदान्त के प्रतिबिम्बवाद, आभासवाद, विवर्तवाद और अध्यात्मवाद इत्यादि की झलक हमें कबीर की विचारधारा में स्पष्ट दिखलाई देती है। आपका सृष्टि-विकास का क्रम एकदम वेदान्तियों से साम्य रखता है। बौद्धों के नास्तिक शून्यवाद तथा सांख्यों के द्वैतवाद की चाहे झलक कहीं पर हमें कबीर-साहित्य मे भले ही मिल जाय परन्तु उस पर हम कवि के दार्शनिक-सिद्धान्तोंको स्थापित नहीं कर सकते।

सृष्टि के विकास पर महाकवि कबीर ने कही पर भी व्यवस्थित रूप से प्रकाश नही डाला। शब्दाद्वैतवादियों के मतानुसार आपने ओंकार से भी सृष्टि की उत्पत्ति मानी है। वैसे कबीर जगत् को सेंवल के फूल के समान मानते हैं;

१ जो तुम देखो सो यह नाही,
यह पद अगम अगोचर माही।

—(क० ग्रं० पृ० १३३)

अर्थात जगत् सत्य होकर भी सारहीन ही है। इस प्रकार वेदान्त के अनुसार आप जगत को मिथ्या ही मानते है ।

कबीर की आध्यात्मिक मान्यताओ को समझने के लिए हमें उनकी मूल विचारधारा तक पहुँचने मे कठिनाई होती है । इसका प्रधान कारण यह है कि वह जिस-जिस सम्प्रदाय के जन-समुदाय मे अपने मत का प्रचार करने के लिए गये है, वहाँ-वहाँ उन्होने उसी समुदाय की शब्दावली का प्रयोग किया है । सूफियो मे बैठकर आपने सृष्टि-विकास-क्रम का वर्णन करते हुए 'नूर' शब्द का प्रयोग किया है तथा बौद्ध धर्मावलम्बियो के मध्य 'शून्यवाद' का।

अन्त मे सृष्टि के सम्बन्ध मे कबीर का स्पष्ट मत यही जान लेना पर्याप्त होगा कि आपने-साख्य शास्त्र के विकास-क्रम को मान्यता देने पर भी वेदान्त के ही मत को प्रधानता देकर प्रकृति को ब्रह्मोद्भव और ब्रह्माश्रित माना है। सूफी और बौद्ध शब्दावली का प्रयोग केवल उन मतावलम्बियो पर अपना विचार प्रकट करने के लिए ही कवि ने किया है । इन शब्दो से हम कवि की उनके सिद्धान्तो मे मान्यता नही मान सकते ।

भक्ति का निरूपण—मध्ययुग मे भक्ति का प्रवाह उस काल के बौद्धिक धर्माचार्यों द्वारा प्रस्तुत एक क्रान्ति का बीजारोपण था जिसने नीरस पद्धति के विरुद्ध भारत की जनता मे सरसता और सहकारिता को लाने का प्रयास किया। नाथ-पन्थी योग-पन्थ से अन्धी जनता को निकाल कर जीवन के उस प्रवाह पर आश्रित किया कि जहाँ वह जीवन के प्रति उदासीनता से मुक्त होकर सरल रस-धार मे प्रवाहित हो सके।

मध्य-युग मे विविध दार्शनिक वादो ने जन्म लिया, इसका संक्षेप मे उल्लेख हम पुस्तक मे पीछे कर चुके हैं। स्वामी रामानुजाचार्य ने इस काल मे भक्ति-भावना को प्रवाहित करने मे विशेष सहयोग दिया और फिर उनके शिष्य श्री रामानन्द जी ने उसके प्रसार मे अपना जीवन लगा दिया । जो भक्ति-शृखला रामानुजाचार्य ने बनाई उसमे रामानन्दजी ने और कुन्दे डाल कर उसे और मजबूत किया और उनकी विचारधारा को परिवर्धित करने का मुख्य श्रेय आपको ही जाता है।

महाकवि कबीर ने भी आचार्य रामानन्द जी से ही दीक्षित होकर भक्ति-भावना का प्रसार भारत की जनता मे किया । किसी भक्त-कवि ने लिखा भी है—

भक्ति द्रविण ऊपजी लाए रामानन्द ।
परगट किया कबीर ने सप्त दीव नव खण्ड ॥

आचार्य रामानुजाचार्य ने भक्ति-मार्ग मे नारद को आदर्श-स्वरूप ग्रहण किया है कबीर प्रधान रूप से नारद-भक्ति-परम्परा से प्रभावित दीख पडते है परन्तु प्रभाव उन पर श्रीमद्भागवत् और श्रीमद्भगवद् गीता का भी है क्योकि इस काल के भक्ति-क्षेत्र मे इन ग्रन्थो की विशेष मान्यता रही है ।

नारद-भक्ति-सूत्र मे भक्ति को कर्म, ज्ञान और योग तीनो से श्रेष्ठ माना है। कबीरदास ने भी भक्ति को कर्म, ज्ञान और योग से श्रेष्ठ माना है, कबीर की भक्ति-भावना हमे बाद मे ज्ञानाश्रित सी चलती प्रतीत होती है परन्तु मोक्ष प्राप्ति का साधन आपने भी भक्ति को ही माना है। 'महाराष्ट्र के साधु सन्त ज्ञानदेव आदि ने भक्ति का समर्थन, मायावाद और अद्वैत को स्वीकार करके किया। उनके मत से भी मोक्ष-प्राप्ति का सबसे सुगम साधन भक्ति ही है। इसी परम्परा मे कबीर आदि सन्त भक्ति का आलम्बन निर्गुण या अव्यक्त को मानकर चले।'

—(कबीर वचनामृत, पृ० ६१)

सन्त कबीर के विचार से आत्मा का जन्म मरण से मुक्त होना केवल भक्ति द्वारा ही सम्भव है—

> भाव भगति बिसवास बिन, कटै न ससै सूल
> कहै कबीर हरि भगति बिन, मुक्ति नही रे मूल
>
> —(क० ग्र० पृ० २४६)

भक्ति के रूप—भक्ति का निरूपण विविध आचार्यों और कवियो ने विविध रूप से किया है। इसीलिए उनकी परिभाषाओ मे भी थोडा बहुत अन्तर आ गया है। व्यास मुनि के मतानुसार पूजा इत्यादि के अन्दर ही प्रगाढ प्रेम होने को भक्ति कहते हैं। दूसरे मत के अनुसार कीर्तन इत्यादि मे विशेष रूप से रत होना भक्ति है। तीसरा मत शाडिल्य का है जिसके अनुसार आत्मा मे तीव्र रति को भक्ति माना है। चौथे मतानुसार ईश्वर मे परम अनुरक्ति होना भक्ति है। निष्काम भाव से परमात्मा मे लय होना या स्नेहपूर्वक ईश्वर में अपने हृदय की भावनाओ को विलीन कर लेने का नाम भी भक्ति है। इस प्रकार हम भक्ति के विविध रूपो मे प्रेम और अनुराग के तत्व की प्रधानता पाते हैं।

महाकवि कबीर ने अपनी भक्ति-भावना मे प्रेम-तत्व को प्रधानता दी है। कबीर की नारदी भक्ति विशेष रूप से प्रेम-तत्व की ही घोषणा करती है। नारद-भक्ति-सूत्र के प्रभाव के साथ-ही-साथ कबीर पर उनकी समकालीन सूफी प्रेम-भावना का भी प्रभाव कम नहीं था। ईश्वर से प्रेम और इश्क की जो भावना सूफियो ने भारतीय वातावरण मे प्रसारित की उसका प्रभाव कबीर पर पडे बिना न रह सका और जहाँ तक शब्दावलियो के प्रयोग से हमारा सम्बन्ध है वह तो हम ऊपर ही स्पष्ट रूप से लिख चुके हैं कि कबीर ने जहाँ से भी जो शब्द उन्हे अपनी भावनाओ को व्यक्त करने के लिए मिला है उसे बहुत ही उदारता के साथ ग्रहण कर लिया है। कबीर के शब्दो की इस भूल-भुलैया मे कबीर के पाठक को खो नही जाना चाहिए। सूफी 'प्रेम पियाला', 'प्रेम रसायन', और 'खुमार' इत्यादि शब्द कबीर की कविता मे चाहे जितने भी खोजे जा सकते हैं—

१ हरि रस पीया जानिगे जे कबहुँ न जाय खुसार। क० ग्र० पृ० १६
२ राम रसायन प्रेम रस पीवत अधिक रसाल। क० ग्र० पृ० १
(कबीर की विचारधारा, पृ० ३२८)

हरि सगति रीतल भया, मिटी मोह की ताप।
निस बासुरि सुख निधि लह्या, जब अन्तरि प्रगटया आप॥

ईश्वर के प्रति प्रेम-भाव से अनन्य भक्ति मे कबीर ने त्याग और तपस्या को विशेष रूप मे महत्वपूर्ण स्थान दिया है। 'विरहणी'[1] आत्मा जब त्याग की चरम सीमा पर पहुँच जाती है तभी उसे ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। 'सूर' और 'सती' के रूपको द्वारा कवि की इसी त्याग और तपस्या की भावना का स्पष्टीकरण होता है।

कबीर ने भक्ति का जिज्ञासु बनकर अनेक रूप मे आत्मा का परमात्मा से तादात्म्य करने का सफल प्रयास किया है। 'सती' और 'सूर' की स्थिति के पश्चात् जब आत्मा त्याग की पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है तो वह सासारिक शोक, ताप, क्लेश और परेशानियो से मुक्त हो जाती है। भक्ति की यह चरम सीमा है। जब भक्त को किसी भी वस्तु की इच्छा ही अवशेष नही रहती, ससार के प्रति उसकी ममता समाप्त हो जाती है और राग द्वेष का कोई सम्बन्ध उससे नही रहता। नारद-भक्ति-सूत्र मे भी भक्ति की चरम सीमा की कुछ-कुछ इसी प्रकार की शब्दावली मे व्याख्या दी गई है।

कबीर साम्प्रदायिक आराधना के पक्षपाती नही थे। उनके सामने तो हिन्दू, मुसल्मान, सिख इत्यादि सभी समान थे। इसलिए उन्होने सभी को साथ लेकर चलने वाले भक्ति-भाव की मान्यता मे आस्था स्थापित की है। कबीर का प्रभु के चरणो मे आत्म-समर्पण और आत्म-निवेदन इसीलिए किसी विशेष सम्प्रदाय के आदर्शों से सम्बद्ध नही है। ऊच, नीच, वर्ण, धर्म सब आपकी प्रेम-धारा मे प्रवाहित होकर एक हो गये। रामानन्द के शिष्य होने पर भी आपने अपने को वैधी-भक्ति तक ही सीमित नही रखा। कबीर की भक्ति पूर्ण रूपेण रागानुगा भक्ति थी। इस भक्ति का मूलाधार प्रेम ही है।

रागानुगा भक्ति : दो रूप—रागानुगा भक्ति (१) काम रूपा और (२) सम्बन्ध रूपा दो प्रकार की होती है। सम्बन्ध रूपा भक्ति दास्य, सख्य, वात्सल्य, दाम्पत्य चार प्रकार की होती है। कबीर ने ब्रह्म की इन चारो ही रूपो मे भक्ति की है।

भक्ति के साधन—भक्ति की इस चरम सीमा को प्राप्त करने के लिए नारद-भक्ति-सूत्र मे विषय और कुसगति के त्याग को साधन स्वरूप ग्रहण किया

---

१. विरह भुवगम तन बसै, मन्त्र न लागै कोई।
राम वियोगी न जिवै, जिवै त बौरा होई॥

गया है। विषय और कुसगति के त्याग मे आत्मा मे चरित्र-बल की प्रतिष्ठा होती है और भावना की तल्लीनता के लिए फिर लोक समाज मे भगवान्-गुण-गान और कीर्तन का सहारा लिया जाता है। परन्तु इन साधनो के होने के उपरान्त भी भक्ति भगवद्-कृपा पर ही अवलम्बित है और इसीलिए राम नाम के जाप का विशेष महत्त्व वर्णित है।

महाकवि कबीर ने भक्ति-साधना के क्षेत्र मे उक्त सभी साधनो को स्वीकार किया है और उनकी वाणी मे सभी के सुन्दर उदाहरण मिल जाते है—

भजन—भगति भजन हरि नाँव है, दूजा दुख अपार।
मनसा वाचा करमना, कबीर सुमिरण सार॥
—(कबीर वचनामृत, साखी भाग, पृ० १२)

कनक कामनी त्याग—
एक कनक अरू कामनीं, दोऊँ अगनि की झाल।
देखें ही तन प्रजलै परस्या ह्वै पामाल॥
(—कबीर वचनामृत, साखी भाग, पृ० ११७)

संगति—कबीर संगति साधु की बेगि करीजै जाइ।
दुरमति दूरि गँवाइ सो देसी सुमति बताइ॥
(— कबीर वचनामृत, साखी भाग, पृ० १४३)

कुसंगति-त्याग—मारे मरूँ कुसंग की, कैला काठै बेरि।
वो हाले वो चीरिए, साषित संग न बेरि॥

भक्ति के साधनो मे कबीरदास जी ने गुरु-कृपा, ईश्वर-कृपा, पूर्व सस्कार, महात्माओ की कृपा इत्यादि को भी मान्यता दी है। इन सभी साधनो मे सद् गुरु का मिलना कबीरदास जी के विचार से बहुत महत्त्वपूर्ण है और वह मिलता भी भगवद्-कृपा से ही है—

जब गोविन्द कृपा करी तब गुरु मिलिया जाय।

गुणगान—गोव्यन्द के गुण बहुत हैं, लिखे जु हिरदै माँहि।
डरता पाणी नाँ पीऊँ, मति वै धोये जाँहि॥
(कबीर वचनामृत, साखी भाग, पृ० ९२)

स्मरण—कबीर निरभै राम जपि, जब लग दीवै बाति।
तेल घट्या बाती बुझी, (तब) सोवैगा दिन राति॥
(कबीर वचनामृत, साखी भाग, पृ० ९३)

विरह-तत्त्व—कबीर की भक्ति-भावना में हमे विरह-तत्त्व की प्रधानता मिलती है और भगवान् का साक्षात्कार करने की दशा से पूर्व विरह की सवेदना का पराकाष्ठा तक पहुँच जाना कवि ने अवश्यम्भावी माना है। विरह की भावना

यो तो भारतीय साहित्य और दार्शनिक विचारधारा के अतर्गत प्राचीनकाल से चली आती है परन्तु इस काल मे सूफियो ने भी इसकी मार्मिक अभिव्यक्ति प्रस्तुत की है। सूफियो की साधना का प्राण विरह ही तो है। नारद ने भी भक्ति मे विरह को प्रधान तत्त्व करके माना है।

कबीरदास की भक्ति-भावना मे विरह का समावेश हम उक्त दोनो के उपलब्ध तथा प्रचलित विचारो के कारण मानते है। सूफियो के मतानुसार भक्त के हृदय मे विरह का आरम्भ तथा उद्रेक गुरु द्वारा स्थापित होता है। कबीर ने भी इसे इसी प्रकार माना है—

सत् गुरु मारया वाण भरि, धरि करि सूधी मूठि।
अंगि उघाड़ै लागिया, गई दवा सू फूटि॥

—(क० ग्र० पृ० ६)

विरह सम्बन्धी बहुत से पद[1] कबीरदास ने लिखे है। विरह मे कबीरदास ने आत्मा की दशा एक पागल और उन्मत्त की वर्णित की है। इस दशा में आत्मा अपना सब कुछ भूलकर, खोकर, केवल ब्रह्ममय ही हो जाती है और वह अपना अस्तित्व बिल्कुल समाप्त कर देती है।

निर्गुण भक्ति—भक्ति के क्षेत्र मे भारतीय विचारधारा के अतर्गत ब्रह्म का सगुण रूप ही स्वीकार किया गया है। इसका प्रधान कारण यही है कि अद्वैत निर्गुण ब्रह्म मे चित्त की एकाग्रता उतनी नही हो सकती जितनी सगुण ब्रह्म मे हो सकती है। परन्तु यह प्रश्न केवल सुगमता और कठिनाई मात्र का ही है। कबीर ने भी भक्तजनो की कठिनाई को अवश्य अनुभव किया होगा, परन्तु अनुभव करने के पश्चात् भी उनकी मान्यता अव्यक्त मे ही रही। व्यक्त के प्रति भक्ति-भाव लेकर वह अपनी विचार-धारा को अग्रसर नही कर सके। कबीर ने ब्रह्म को पुरुषरूप मे ही माना है और कही-कही ऐसा प्रतीत होने लगता है कि उस पुरुष मे उन्होने व्यक्त और अव्यक्त, दोनो का समावेश किया है।[2]

निराधार की उपासना करना सरल कार्य नही, यह रहस्य कबीरदास नही जानते थे, ऐसी बात नही। इसीलिए आपने भक्तो को आत्मा से भक्ति करने का मार्ग सुझाया है।

कबीर की भक्ति की विशेषताएँ—कबीर की निर्गुण-भक्ति की सबसे बड़ी विशेषता निष्कामता है और निष्कामता पर कबीर ने पूरा-पूरा प्रकाश डाला

---

१. बहुत दिनन की जोवती, बाट तुम्हारी राम।
जिव तरसै तुझ मिलन कूँ, मनि नाँहि विश्राम॥

२. ऐसा कोई नाँ मिलै, सब विधि देइ बताइ।
सुंनि मडल मैं पुरषि एक, ताहि रहै ल्यो लाइ॥

—(कबीर वचनामृत-साखी भाग, पृ० २६)

है। कबीर के विचार से तो व्यक्ति सकाम रहकर निर्गुण-भक्ति कर ही नही सकता। निर्गुण-भक्ति का जीवन मे समावेश होते ही जीवन मे शान्ति और निष्कामता का असीम सागर लहरे मारने लगता है। कबीर की भक्ति का भागवत की त्रिगुणातीत भक्ति से बहुत साम्य है। आत्मा को भगवान् की प्राप्ति इन तीनो गुणो से ऊपर उठकर ही होती है—

चौथे पद को जो नर चीन्है,
तिनहि परम पद पाया।

—(क० ग्र०, पृ० २७२)

कबीर ने अपनी भक्ति मे आचरण की उच्चता पर विशेष रूप से बल दिया है। काम, लोभ और मोह से आत्मा को जहाँ तक बन सके दूर ही रहने का आदेश दिया है। साथ ही आपने नास्तिको के सम्पर्क से दूर रहने की भी प्रेरणा दी है। अभिमान और दुर्गुणो को त्यागने की ओर भी उपदेश है। दुष्ट-सगति से दूर और शिष्ट-सगति मे श्रद्धा रखने पर भी उन्होने प्रकाश डाला है। स्त्री से जहाँ तक बन पडे दूर ही रहने की ओर कबीरदास ने सकेत किया है। धन और कामिनी को अपने भक्ति के मार्ग मे कण्टक माना है और इसीलिए इनकी खुलकर निन्दा की है। कबीर ने भोग विलास और खाने पीने मे मस्त रहकर भगवान् को भुला देने वालों की भी निन्दा की है—

नारि नसावै तीनि सुख, जा नर पासें होइ।
भगति, मुकति, निज ग्यान मे, पैसि न सकई कोई॥

— (कबीर वचनामृत-साखी भाग-पृ० ११६)

इस प्रकार आपने काम, क्रोध, लोभ, मोह, कपट, अभिमान, तृष्णा, कुसगति इत्यादि सभी दुर्गुणो की निन्दा करते हुए इन्हे भक्ति के मार्ग मे बाधक माना है। भक्त के लिए इन सभी का त्याग नितान्त आवश्यक है क्योकि इनके रहते आत्मा पकिल ही रहती है और भगवद्-भक्ति मे विशुद्ध श्रद्धा और सचाई के साथ रत नही हो सकती।

प्रपत्ति परता—कबीर ने रामानुजाचार्य द्वारा प्रतिपादित प्रपत्ति-मार्ग की परम्परा को भी अपने भक्ति क्षेत्र मे निभाने का प्रयास किया है। भगवान् की शरण मे जाने के लिए ही कबीर की भक्ति है—

कहत कबीर सुनहु रे प्रानी, छांड़हु मन के भरमा।
केवल नाम जपहु रे प्रानी, परहु एक की सरना॥

—(क० ग्र० पृ० २६७)

यह प्रपत्ति की भावना हमे कबीर की बहुत सी रचनाओ मे मिलती है और इसी के आधार पर आपने अपनी भक्ति का द्वार वर्ण-व्यवस्था से मानव को मुक्त करते हुए खोल दिया। जात-पाँत की संकीर्णता से ऊपर उठकर कबीर ने

मानव-मात्र के लिए अपनी भक्ति का श्रोत बहाया और भगवान् के दरबार मे आपने सभी जातियो को समान पद पर स्थापित किया।

सद्गुण और सदाचरणो पर कबीर ने प्रधान रूप से बल दिया है, यह हम ऊपर कह चुके है। सद्गुण और सदाचरण ही भगवान् को अच्छे लगते है और भगवान् को अच्छे लगने वाले कृत्यो की मान्यता मे विश्वास और उन पर आचरण करना ही प्रपत्ति के अगो को निभाना है। कबीर ने प्रपत्ति-आत्म निवेदन—के प्राय सभी अगो को निभाया है।

भगवान् के अनुकूल कार्य करना तथा प्रतिकूल का विसर्जन—मनुष्य को वही कार्य करना चाहिए जो भगवान् को भला लगे, रुचे और जिससे भगवान् प्रसन्न हो। इसीलिए उमे ऊपर जितने भी बुरे कर्म गिना आये है उनसे दूर ही रहना चाहिए। असन्त और कपटी लोगो की सगति नही करनी चाहिए—

कबीर तासू प्रीत करि, जो निरबा है ओड़ि।
बनिता विविध न राचिए, देषत लागै षोडि॥
कबीर तहाँ न जाइये जहाँ कपट का हेत।
जालूं कली कनेर की, तन रातौ मन सेत॥

—(कबीर वचनामृत, साखी भाग, पृ० १८८)

जहाँ असगति के त्याग पर कबीर ने बल दिया है वहाँ साधु की सगति की भी सराहना की है—

कबीर सोई दिन भला, जा दिन सत मिलाहि।
अक भरे भरि भेटिया, पाप सरी रौ जाँहि॥

—(कबीर वचनामृत, पृ० १४४)

भगवान की रक्षा में विश्वास—प्रपत्ति का तीसरा गुण यह है कि भक्त को भगवान् की दशा और उनकी रक्षा मे अटूट विश्वास होना चाहिए। आस्तिकता की यही चरम सीमा है। 'राम भरोसे' का गुणगान कबीर की वाणी मे अनेको स्थान पर मिलता है।

अब मोहि राम भरोसा तेरा, और कौन का करौं निहोरा।

—(क० ग्र० पृ० १२४)

भगवान्-ध्यान—प्रपत्ति का चौथा गुण भगवान् का एकान्त ध्यान है। इसमे भक्त एकान्त मे बैठकर ईश्वर के गुणो मे रीझता हुआ उसकी महिमा का वर्णन करता है। कबीर ने इस प्रकार की तल्लीनता के विषय मे अनेको सकेत किये है।

मेरा मन सुमिरै राम कू। मेरा मन रामहिं आहि।
अब मन रामहि ह्वै रह्या। सीस नवावों काहि॥

—(कबीर वचनामृत—साखी भाग, पृ० १३)

दीनता—दास्य भावना की भक्ति के अतर्गत दीनता का आना स्वाभाविक ही है। आत्म निवेदन करते समय भक्त अपने को अकिचन मानकर भगवान् की शरण मे पहुँचता है। यह भगवान् के दरबार मे भक्त का नम्र निवेदन होता है। कबीर ने इस भावना के बहुत से पद लिखे है—

> **कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाऊँ।**
> **गले राम की जेवड़ी, जित खेंचे तित जाऊँ॥**
>
> × ×
>
> **कबीर चेरा सत का, दासनि का परदास।**
> **कबीर ऐसे रह्या, ज्यू पाऊँ तल घास॥**

उक्त पदो मे कबीरदास ने दीनता की हद करदी है। यहाँ हमने कबीर की भक्ति के साधनो और उनकी विचारधारा पर सक्षेप मे विचार करके देखा कि उन्होने भक्ति के क्षेत्र में भगवान् की कृपा का ही विशेष रूप से आश्रय लिया है। क्रियात्मक प्रयास अर्थात् योग इत्यादि साधनो की ओर कोई विशेष बल नही दिया। परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि आपने योग की निन्दा की है। निन्दा आपने भगवन्-मिलन के किसी प्रतिष्ठित साधन की नही की बल्कि थोडा बहुत जितना बन पड़ा है, समर्थन ही किया है।

योग मिश्रित भक्ति—कबीर ही केवल एक विचारक है कि जिसने भक्ति और योग का सम्मिश्रण करने का प्रयास किया है। हठ-योग और प्रेम-योग के साधना-क्षेत्र मे आपने भक्ति की जो प्रतिष्ठा की है उससे विभिन्न प्रकार की प्रचलित समकालीन विचारधाराओ मे आपने वह साम्य स्थापित करने का प्रयास किया है कि जिससे आस्तिक जनो की विचारावलियो का सामूहिक सम्बन्ध होकर एक अबाध भक्ति का प्रसार हो। जिसमे छोटे बडे सभी वर्गों के ज्ञानी तथा अज्ञानी व्यक्ति समान रूप से बह सकें, भगवान् भक्ति कर सकें और भगवान् के आनन्दमय स्वरूप का दर्शन कर उस रस का रसास्वादन कर सके जो जीवन को चिर-शाति, चिर-मगल प्रदान करने वाला हो।

योग का निरूपण—योग विषय भारत का प्राचीन विषय है। कई स्थानो पर ऋगवेद, सहिताओ मे भी योग का वर्णन मिलता है और यजुर्वेद, अथर्ववद, सामवेद और उपनिषदो इत्यादि मे तो योग का बहुत महत्त्वपूर्ण निर्देशन किया गया है। पतजलि के योगसूत्र मे हमे इसकी विशेष प्रतिष्ठा मिलती है। परन्तु इन सभी ग्रन्थो मे योग एक विशेष दार्शनिक तथा पारिभाषिक अर्थ के साथ ही ग्रहण किया गया है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि तक ही यह सीमित था। परन्तु आगे चलकर योग शब्द का प्रयोग भगवान् और आत्मा के तादात्म्य मे बहुत से स्थानो पर प्रतिष्ठित किया गया है। गीता मे योग के १८ प्रकार माने गए है। परन्तु बाद मे प्रतिष्ठा केवल

अष्टांग और उनके आधार पर बने हठ-योग, राज-योग, तप-योग और मन्त्र-योग की ही रही।

महाकवि कबीर ने उक्त सभी प्रकार के योगो का सूक्ष्म निरीक्षण करने के पश्चात् सहज योग को प्रतिपादित किया। आपका सहज योग प्रपत्ति मूलक था, जिसका नामकरण बाद मे जाकर भक्ति योग भी पडा। योग के अतर्गत आपने सत स्वरूप का मण्डन और असत स्वरूप का खण्डन किया है। योग के जटिल स्वरूप का कबीर ने सरल स्वरूप मे जनता के सामने प्रस्तुत किया है। अनेकरूपता को एकरूपता मे वर्णित करना कबीर का प्रधान लक्ष्य रहा है। योग के वर्णन मे भी आपने इसी सिद्धान्त को निभाया है। नाथपथी और रामानन्दी पथी अवधूत योगियो की तामसिक प्रणालियो का खण्डन कर कबीर ने सात्विकता का प्रतिपादन किया। पथ-भ्रष्ट अवधूतो को समझाने के लिए कबीरदास ने कहा

> अवधू, सो योगी गुरु मेरा, जो या पद कौ करै निबेरा।
> तरवर एक पेड़ बिन ठाढ़ा, बिन फूलाँ फल लागा।
> साखा पत्र कछू नहिं वाकै, अष्ट गगन मुख बागा॥
> पैर बिन निरति करॉ बिन बाजै, जिभ्या हिणा गावै।
> गावणहार के रूप न रेखा, सत गुरू होई लखावै॥
> पंखी का खोज मीन का मारण कहै कबीर बिचारी।
> अपरंपार परसोत्तम वा मूरति की बलहारी॥
> —(क० ग्र० पद १६५)

कबीर की रचनाओ का निरीक्षण करने से पता चलता है कि पहले उन्होने हठयोग को अपनाया। परन्तु हठयोग का जाल जब उनकी रचनाओ मे पुरने लगा तो उन्हे अधिक समय नही लगा कि उन्होने इसकी जटिलता का अनुभव किया और साथ ही उसका बहिष्कार भी। यही पर कबीर ने योग मे प्रेम का समावेश किया। प्रेम-साधना को हठयोगी प्रवृत्तियो पर प्रधानता देकर कबीर ने प्रपत्ति का आश्रय ले प्रेम-योग का आधार ग्रहण किया और जन-हित की भावना से उसका सरल रूप जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया।

कबीर ज्यो-ज्यो प्रेम-साधना द्वारा अनिर्वचनीय मे तादात्म्य की ओर अग्रसर हुए त्यो-त्यो उन्हे हठयोग के चक्रभेदन प्रक्रिया के प्रति उसके अनेको आडम्बरो के कारण निवृत्ति सी हो गई। 'शब्द सुरति योग' इसी स्थिति मे कबीर ने प्रतिपादन किया है। अनहद शब्द के रूप मे ब्रह्म-आस्था की कबीर ने अभिव्यक्ति की और लय-योग का प्रतिपादन किया। कबीर इस स्थिति मे आकर हठ-योग से बिलकुल प्रथक हो गये। इगला-पिंगला से चल कर कबीर आसन और प्राणायाम से होते हुए त्रिकुटी मे केन्द्रित ध्यान अर्थात् मन्त्र-योग की स्थिति तक पहुँच

गये । इसी स्थिति मे कबीर ने अजपाजाप और सुमिरन को महत्व दिया जो कि सहज-योग के बहुत निकट है—

अजपा जपत सुनि अभि अन्तरियहु तत् जाने सोई ।

—(कबीर की विचारधारा, पृ० ३१८)

कबीर के योग की अन्तिम स्थिति सहज-योग की है जहाँ साधक को ब्रह्म-प्राप्ति के लिए विशेष प्रयत्नशील नही रहना होता । सहज योग मे भी कबीरदास ने शब्द-ब्रह्म के ही स्वरूप की स्थापना की है। यह योग का सरलतम रूप है जिसकी स्थापना कबीर ने साधारण जनता के उपासनार्थ की है । इसके अन्तर्गत आपने मन-साधना और इन्द्रिय-निग्रह पर विशेष बल दिया है ।

कबीर के इसी सहज-योग ने बाद मे जाकर भक्ति-योग का स्वरूप धारण किया जहाँ पहुँच कर योग की अपेक्षा भक्ति की प्रधानता स्थापित होती चली गई । कबीर को योग-भावना इस तरह आद्योपान्त परिवर्तनशील रही है । जटिल-से-जटिल हठयोग से चलकर कवि सहज-योग और भक्ति-योग के स्वाभाविक सरल मार्ग पर पहुँच गया। हठ-योग से लय-योग, लय-योग से सहज-योग और सहज-योग से मन्त्र-योग । यही मन्त्र-योग आगे चलकर सहज-योग तथा फिर भक्ति-योग के नाम से उच्चारित हुआ ।

सहज-योग मे कबीर द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म को 'सहज शून्य' नाम से पुकारा गया है। मन का इसी सहज शून्य मे लय हो जाना परमानन्द की प्राप्ति है । यही लय हो जाने की अवस्था उन्मनावस्था है और यही समाधि की भी अवस्था है । इसी अवस्था मे पहुँच कर साधक को तीनो कालो का ज्ञान प्राप्त होता है ।

कबीर की योग-भावना मे यो सम्मिश्रण तो सभी योगो का कही-न-कही मिल जायगा परन्तु विचारो की परिपक्वता मे जो धारा अबाध गति से बही है वह सहज-योग की ही है । सहज-योग का आपने निम्नलिखित स्वरूप निर्धारित किया है—

अवधू जोगी जग से न्यारा ।
मुद्रा निरति सुरति करि सिगी, नाव न षंडै धारा ।।
बसे गगन मे दुनी न देखै, चेतनि चौकी बैठा ।
चढ़ि अकास आसन नहिं छाँडै, पीवै महारस मीठा ।
परगट कंथा माँहैं, जोगी, दिल मै दरपन जोवै ।
सहस इकीस छ सै जारै त्रिकुटी संगम जागै ।।
ब्रह्म अगनि मे काया जारै त्रिकुटी संगम जागै ।
कहै कबीर सोई जोगे स्वर, सहज सुनि त्यो लागै ।।

—(क० ग्र०, पृ० १०६)

इन्द्रिय-निग्रह और मन-साधना ही सहजयोग है। मन-साधना पर कबीर ने विशेष रूप से बल दिया है । बाह्य जप-तप सहज योगी के लिए कोई महत्व-

पूर्ण वस्तु नही, व्यर्थ ही है। खपरा और सीगी धारण करना भी सहज योगी के लिए आवश्यक नही है। उसका तो एक मात्र लक्ष्य मन पर विजय प्राप्त करना मात्र ही रहता है और उसी के द्वारा वह लोभ, मोह, काम, क्रोध इत्यादि वासनाओ को अपने वश मे करता है—

सो जोगी जाकै मन में मुद्रा।
रात दिवस न करई निद्रा॥
मन मे आसन मन में रहना।
मन का जप तन मन सूं कहना।
मन मे खपरा मन में सीगी।
अनहद नाद बजावै रगी।
पच परजारि भसम करि भूका।
कहै कबीर सो लहसै लंका॥

—(क० ग्रं० पृ० १८२)

योग की अतिम अवस्था 'पूरे सो परिचय' प्राप्त करके होती है और वही योगी की सिद्धावस्था है। इसी स्थिति मे आत्मा की समस्त कामनाएँ शान्त हो जाती है और वह ब्रह्मानन्द मे पूर्णरूपेण विलीन हो जाती है। ऐसी दशा मे योगी को अपने तन की कुछ भी खबर नही रहती और यही उसकी मुक्तावस्था है। इस अवस्था मे आत्मा ब्रह्म मे विलीन हो जाती है और दोनो का पारस्परिक भेद-भाव मिट जाता है—

उलटि समाना आप मे, प्रगटी जोति अनन्त।
साहेब सेवक एक संग, खेलै सदा बसत॥
जोगी हुआ झलक लगी, मिटि गया ऐंचा तान।
उलटि समाना आप में, हुआ ब्रह्म सयान॥

—(कबीर, हजारीप्रसाद, पृ० ३५४)

इस प्रकार आत्मा और ब्रह्म का तादात्म्य होता है। यहाँ यह फिर स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि सहज-योग की यह अतिम सीढी ही भक्ति-योग है और यही पर आकर कबीर द्वारा योग तथा भक्ति का समन्वय हुआ है। कबीरदास जी भक्ति और योग को साथ-साथ लेकर चले है। जहाँ तक तन-साधना का सम्बन्ध है कबीर ने योग का आश्रय लिया है और जहाँ मन-साधना का सम्बन्ध है वहाँ भक्ति को साधन स्वरूप ग्रहण किया है। इस प्रकार योग और भक्ति के समन्वय की जो धारा कबीर ने प्रवाहित की वह जन-मंगलकारिणी थी और जनता को पाखडी विचारको तथा प्रचारको के पजो से मुक्ति प्रदान करने वाली थी।

८ | कबीर की धार्मिक और सामाजिक विचारधारा

धर्म तथा समाज के क्षेत्र मे भी कबीर ने आध्यात्मिक क्षेत्र की ही भाति बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया है। कबीर के धर्म-सम्बन्धी विचारो पर प्रकाश डालने से पूर्व साकेतिक रूप से यह समझ लेना आवश्यक होगा कि पुराने आचार्यों ने धर्म की क्या-क्या परिभाषाएँ की है। मनु और कणाद इत्यादि स्मृतिकारो ने "कुछ विशेष प्रकार के नैतिक नियमो के पालन तथा कुछ सामाजिक व्यवस्थाओ के अनुसरण" को धर्म माना है।

मीमासको ने धर्म की परिभाषा दूसरे ही प्रकार से की है। वह धर्म को प्रेरणा-प्रधान मानते है। धर्म को उन्होने "विविध प्रवृत्तियो पर उचित अर्गला देने वाला तत्व" माना है।

महाभारत मे व्यास जी ने "समाज की व्यवस्था करने वाले समस्त तत्वो को धर्म कहा है।"

कणाद ने धर्म की परिभाषा देते हुए कहा है—"धर्म लौकिक एव पारलौकिक समृद्धि एव शान्ति का विधान करने वाली साधना-पद्धति है।"

उक्त चारो ही परिभाषाओ को डा० त्रिगुणायत ने अपूर्ण माना है, केवल अंतिम, कणाद की परिभाषा को आप कुछ युक्ति-सगत मानते है। आप लिखते हैं—"धर्म की सभी परिभाषाओ पर विचार करने पर हमे उनके दो स्थूल पक्ष दिखलाई देते है। उन्हे हम धर्म के साधारण और विशेष स्वरूप कह सकते है। उसका विशेष स्वरूप व्यक्ति, देश, और काल की सीमाओ से बँधा रहता है। यही कारण है विविध देशो के धर्मों मे हमे परस्पर अनेक विभेद दिखलाई पडते हैं। धर्म का साधारण रूप देश, काल और व्यक्ति की, सीमाओ के परे रहता है और प्राय सभी देशो के धर्मों में समान रूप से परिव्याप्त है। इसमे मानव-मात्र के नैतिक नियमो की प्रतिष्ठा रहती है। धर्म का यह स्वरूप भी मानव-धर्म के नाम से प्रसिद्ध है। विश्व के धर्म-सस्थापको ने प्राय. अपने धर्म मे धर्म के दोनो पक्षो की प्रतिष्ठा की है। किन्तु धर्म-सस्थापको के उठते ही धर्म के

ठेकेदार धर्म के विशेष स्वरूप को लेकर धर्म का अनर्थ करते रहे है। यही कारण है कि किसी भी धर्म का स्वरूप विकृत हुए बिना नही रहा। किन्तु यह विकृत स्वरूप चिरस्थाई कभी नही रहता। समय के प्रवाह मे सदा उसकी प्रतिक्रिया उदय होती है। धर्मो का इतिहास वास्तव मे इसी क्रिया और प्रतिक्रिया का इतिहास है। जब-जब समाज मे धर्म के विशेष रूप को अधिक महत्व देकर उसे विकृत किया गया तब-तब धर्म के साधारण स्वरूप की पुन प्रतिष्ठा की गई है।"

उक्त कथन की सत्यता का प्रमाण भारतीय और विश्व के सभी धर्मों के इतिहास हैं। ब्राह्मण धर्म मे जब धर्म के साधारण स्वरूप की अवहेलना कर विशेष रूप को महत्व दिया गया—तभी बौद्ध और जैन धर्म का आविर्भाव हुआ। इसी प्रकार की प्रतिक्रियाएँ विभिन्न धर्मों मे विभिन्न कालो के अन्दर पाई जाती हैं। साथ ही एक एक धर्म की भिन्न-भिन्न शाखाओ के बन जाने का कारण भी प्रचारको, विचारको और ठेकेदारो के पारस्परिक मतभेद ही है, जो कि धर्म के साधारण और विशेष स्वरूपो के आधार पर बनते और बिगडते रहते हैं।

जहाँ तक साधारण नियमो का सम्बन्ध है वह तो विश्व के सभी धर्मों मे लगभग समान रूप से विद्यमान है। ऊपर की दृष्टि से देखने पर विश्व के प्रख्यात धर्म जो एक दूसरे के विरोधी से प्रतीत होते है उनके भी यदि साधारण नियमो का निरीक्षण किया जाय तो उनमे बहुत बडा साम्य मिलता है। भेद केवल उनके विशेष रूप मे ही होता है।

कबीर के जीवन-काल मे भारत को हिन्दू और इस्लाम धर्म के ठेकेदारो ने भोली भाली जनता मे पाखण्डी प्रचार और अधविश्वास तथा धर्म के बाह्याडम्बरो के जाल फैलाने का गढ बनाया हुआ था। धर्म के इसी विकृत स्वरूप के प्रति प्रतिक्रिया के रूप मे कबीर की धार्मिक विचारधारा ने जन्म लिया। कर्मकाण्डी धर्म-व्यवस्था की कुरीतियो के प्रति कबीर की विचारधारा मे विद्रोह की भावना का प्राधान्य हुआ और उन्होने हिन्दू तथा इस्लामी धार्मिक कुव्यवस्थाओ को मुक्त कण्ठ से खडन किया। कबीर ने जिस धार्मिक विचारधारा का प्रसार किया उसे 'सहज धर्म' कहा गया, अर्थात् जिसमे किसी भी कठिन धार्मिक व्यवस्था मे आस्था स्थापित नही की गई। 'निज-धर्म' और 'मानव-धर्म' भी इसे कहा जा सकता है। इस कर्म मे किसी भी रूढिवादी विचारधारा को बिना विचारे पालन करने की प्रथा का अनुमोदन कबीर ने नही किया।

गत अध्याय मे हम कबीर के सहज योग पर विचार करते हुए यह देख चुके है कि कबीर की विचारधारा के प्रारम्भ मे चाहे रूढि के लिए कोई स्थान रहा भी हो परन्तु विचारो की परिपक्वता आने पर तो कबीर ने विचार, भावना

और मान्यताओ के क्षेत्र मे सहज विचारधारा को ही पूर्ण रूप से प्राधान्य दिया है। दादू, नानक, इत्यादि अन्य सतो ने भी इसी सहज प्रथा का आश्रय लिया है और कबीरदास जी के दिखलाए हुए पथ का अनुसरण किया है। सतो के सहज धर्म को व्याख्या करते हुए आचार्य क्षितिमोहन सेन ने लिखा है—"प्रतिदिन के जीवन के साथ चरम साधना का कोई विरोध नही होना चाहिए। आज की वैज्ञानिक भाषा मे अगर कहना हो तो इस प्रकार कह सकते है, पृथ्वी जिस प्रकार अपने केन्द्र के चारों ओर घूमती हुई अपनी दैनिक गति सम्पन्न करती है और यही गति उसे सूर्य के चारो ओर वृहत्तर वार्षिक गति के मार्ग मे अग्रसर कर देती है उसी प्रकार साधना भी जीवन को सहज ही अग्रसर करती है।

दैनिक गति से सूर्य की शाश्वत गति का जो योग है, उसे सत सहज पथ कहते है। नदी के भीतर दोनो जीवन का पूर्ण सामंजस्य है। नदी प्रतिपल अपने दोनो किनारों कर अगणित कार्य करती चलती है और साथ-साथ अपने को असीम समुद्र मे प्रवाहित भी कर रही है। उसका दण्ड-पथ-गत जीवन उसके शाश्वत जीवन के साथ सहज-योग से युक्त है। इसमे से एक को छोडने से दूसरा निराश हो जाता है। ससार और गृहस्थ जीवन को छोडकर साधना नही हो सकती। साधना मे नित्य और दैनिक लक्ष का कोई विरोध नही।

कबीर ने इस सत्य को खूब समझा था। यही कारण है कि वे संन्यासियों के शिरोमणि होकर गृहस्थ थे। कबीर की बाणी मे सहज धर्म के सम्बन्ध मे अनेक बाते भरी पडी है।"

(कबीर की विचारधारा, पृ० ३५६)

कबीर ने आजीवन एक जिज्ञासु के रूप मे अध्यात्म का अध्ययन किया। इनकी जिज्ञासा का आधार अनुभूति था। कबीर की अनुभूति की कसौटी पर जो सहज और सरल आध्यात्मिक तत्त्व आये उन्ही की मान्यता कबीर द्वारा स्थापित हुई। इस प्रकार कबीर ने सत्य की खोज मे अपना समस्त जीवन लगाया। दर्शन भी अपने गूढ रूप मे कबीर को कभी मान्य नहीं रहा। तर्क द्वारा अपने मत की पुष्टि कबीर ने कही पर भी नही की—इस विषय मे हम पिछले अध्याय में भी सकेत कर चुके हैं। कबीर का यह दर्शन पूर्ण रूप से अद्वैत-वादी है।

कबीर पूर्ण रूप से आस्तिक हैं और उनकी जिस सहज-तत्व मे आस्था है वह न पूर्ण रूप से हिन्दुओ का भगवान् ही है और न मुसलमानो का खुदा ही। योगियो का गोरख भी वह नही है। वह तो घट-घट में निवास करने वाला सहज-तत्व है। कबीर ने अपनी साधना को केवल 'सहज' के ही चारो ओर केन्द्रित किया है। आत्मा इसी सहज मे विलीन हो जाती है, कही जाने-आने का प्रश्न ही नही उठता। मोक्ष इत्यादि के विषय मे भी इस प्रकार यह प्रश्न स्पष्ट हो जाता है।

कबीर का सहज धर्म अनुभूति के साथ-ही-साथ बुद्धि-तत्व को भी लेकर चलता है। कबीर ने तर्क मिश्रित बुद्धि को न अपना कर अनुभूति मिश्रित बुद्धि को अपनाया। कबीर के सहज धर्म मे हमे कही भी भावना-प्रधान बाह्याडम्बर या रूढिवाद पनपता हुआ नही मिलता। कबीर ने हिन्दू और मुसलमान, दोनो धर्मो की भूलो पर समान रूप से कटाक्ष किया है और धर्म के नाम पर भोली जनता मे भ्रम पैदा करने वालो के तो कबीर कट्टर शत्रु रहे है। कबीर ने काफी कडे शब्दो मे उनकी आलोचना की है और साथ ही सहज-धर्म का प्रचार भी।[1]

कबीर की खण्डनात्मक प्रवृत्ति के अन्दर हमे जडता लेश मात्र को भी नही मिलती। स्थान के आधार पर किसी वस्तु का पवित्र या अपवित्र होना कबीरदास नही मानते. साथ ही कोई छोटा काम करने से भी कोई व्यक्ति छोटा नही होता। मन्दिर का पुजारी ही श्रेष्ठ पुरुष नही है, सडक पर झाडू लगाने वाला मेहतर भी पुण्यात्मा हो सकता है। स्थान, काम और वेश के आधार पर व्यक्ति की परख करना कबीर को मान्य नही था। इसी आशय पर गालिब ने लिखा है—

गालिब शराब पीने दे मसजिद मे बैठ कर
या वो जगह बता दे जहाँ पर खुदा न हो।

अहकार-मूलक कर्मकाण्डियो से कबीर को घृणा थी। अपने सहज-धर्म को कबीर ने व्यर्थ के कर्मकाण्ड के चक्कर मे फँसा कर उसके मानने वालो का व्यर्थ समय नष्ट करना उचित नही समझा। स्वर्ग नर्क कोई प्रथम स्थान है, जहाँ आत्मा को कर्मो के अनुसार जाना होता है, इसमे भी उनका अविश्वास था। 'अहोई' इत्यादि का व्रत करने वाली स्त्री को उन्होने 'गदही' तक कह दिया है। अधविश्वास के साथ तीरथ, व्रत इत्यादि कर्मकाण्डो मे लीन रहने वालो की तो कबीरदास ने गति ही नही मानी। कबीर ने अपने सहज धर्म मे आचरण-प्रवणता, शुद्धता, हृदय की सरलता और निष्कपटता, सत्य बोलना और मानव-मात्र मे बिना काम, स्थान और पद के प्रेम-भाव बनाये रखने को ही धर्म के प्रधान लक्षण-स्वरूप ग्रहण किया है।

'काम, क्रोध, तृष्णा तजै, ताहि मिले भगवान् '
—(क० ग्र० पृ० १)

हृदय और मन की शुद्धता तथा निष्कपटता पर कबीर का सहज धर्म आधारित है जिसके लिए न तो बडे-बडे वेद-कुरान, इन्जील और बाइबिल के पोथे पढने की आवश्यकता है और न मन्दिर, मस्जिद या गिरजे मे जाकर भजन,

---

१. साधो पाँडे निपुन कसाई।
बकरी मारि भेडि को धाये, दिल मे दरद न आई।
करि अस्नान तिलक दै बैठ, बिधि सो देवि पुजाई।

पूजन, नमाज इत्यादि मे समय नष्ट करने की। सच्चे मन से भगवान् का भजन कर उसमे आस्था के साथ रत हो जाना ही जीवन की वास्तविक शान्ति है और यही शान्ति प्राप्त करना सहज-धर्म का प्रधान लक्ष्य है। मन शुद्ध और हृदय निष्कपट होने पर व्यक्ति के आचरण कभी भी असात्विक और धर्म-विरुद्ध नही हो सकते। इसलिये कबीर ने पहले मन की शुद्धता और हृदय की निष्कपटता पर बल दिया है। कबीर का सहज धर्म मन की शुद्धता पर ही अवलम्बित है, यदि कह दिया जाय तो कुछ अनुचित न होगा। सहज-ज्ञान के लिए शुद्ध मन होना नितान्त आश्वयक है। शुद्धमान और निष्कपट हृदयके साथ यदि विचारो मे सात्विकता आ जाय तो सोने मे सुहागा हो जाता है। सच्चे और पवित्र मन से विचारो मे सात्विकता धारण करने से ही भगवान् से आत्मा का सहज योग होता है। बीच का भेद-भाव और कालिमा विलुप्त हो जाती है। धर्म की शुद्धता विचारो की शुद्धता पर ही अवलम्बित है।

आचार और **विचार**—विचारो की शुद्धता पर ऊपर हमने प्रकाश डाला और बतलाया कि कबीर ने उन पर विशेषरूप से बल दिया है। विश्व के सभी धर्मों मे जिस क्षेत्र के अन्दर मतभेद पाया जाता है वह है आचारो-सम्बन्धी सूची। इस सूची का विस्तार ही बास्तव मे विस्फोट का कारण बनती है। कबीर ने इस प्रकार की कोई सूची अपने सहज धर्म के लिए तैयार नही की। आचारों का विस्तृत विधि-निषेध हमे सहज-धर्म का नही मिलता। कबीर ने धर्म के बाह्य स्वरूप को विशेष मान्यता न देकर उसके मानसिक और नैतिक स्वरूप को ही मान्यता प्रदान की है। वास्तव मे वह धर्म के उस बाह्य स्वरूप से घृणा करते थे जिसके अन्दर वास्तविकता की अपेक्षा पोल के लिए अधिक स्थान हो। कबीर ने विचार पर विशेष बल दिया है।[1]

विश्व-धर्म से अर्थात् धर्म के साधारण रूप से सम्बन्ध रखने वाले प्राय: सभी आचरणो की मान्यता हमे कबीर के सहज धर्म मे मिलती है। कबीर एक सच्चे मानव धर्मावलम्बी थे जिन्होने विश्व-धर्म को नैतिक आदर्शों की ही आधार-शिला पर स्थापित्त करने का प्रयास किया हैं। दया, क्षमा, दान, धैर्य, सन्तोष, त्याग, परोपकार, अहिंसा, शील इत्यादि मानव के ऐसे गुण है कि जिनका समर्थन समान रूप से सभी धर्मों के धर्म-ग्रन्थो मे उपलब्ध हो जायेगा। इसी प्रकार काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहकार, कपट, कायरता, निर्दयता, तृष्णा, इत्यादि कुवृत्तियो का भी खण्डन विश्व के सभी धर्मों ने किया है। विश्व के सब धर्मों की इन

---

१. कबीर सोच विचारिया, दूजा कोई नाहिं।
आपा पर जब चीन्हियाँ, तब उलटि समाना माँहि॥

—(कबीर-वचनामृत, साखी-भाग-पृ० १३०)

मान्यताओ को कबीर ने अपने सहज धर्म मे ज्यों-का-त्यो ही नही अपना लिया वरन् इन पर विशेष रूप से बल दिया है और इन विचार-प्रधान नैतिक तत्वो के प्रसार के लिए अपनी वाणी मे उपदेश किया है आचरण पर जोर देने के साथ ही कबीर ने मद्य और माँस का भी निषेध किया है। कर्म के साथ कबीर ने सदाचार पर विशेष बल दिया है।

मध्य-मार्ग—महात्मा कबीर के सहज धर्म मे हमे मध्य मार्ग के अनुसरण की छाप दिखलाई देती है। कबीर पर यह प्रभाव सम्भवत बौद्धो से आया प्रतीत होता है। बौद्धो ने मध्य-मार्ग को विशेष रूप से अपनाया है। मध्य-मार्ग की छाया हमे कबीर के सहज-धर्म के "रहनी" स्वरूप मे मिलती है। मध्य-मार्ग ग्रहण करके कबीर ने हिन्दू तथा मुसलमान दोनो की बुरी बातो का खडन करते हुए भी दोनो का ही समर्थन प्राप्त किया है और दोनो के विरोध से अपने को बचाया है। मध्य मार्ग मे व्यर्थ का द्वन्द्व नही चलता। इससे अपने विचारो के प्रकाशन मे कबीर की सहायता तथा सहयोग मिला। मध्य मार्ग के विषय मे कबीर ने कई पद कहे हैं।[1]

सहज-साधना—कबीर ने अपने सहज-धर्म की साधना भी सहज ही रखी है। विश्व के सभी धर्मो के साधना-मार्ग प्रथक-प्रथक है। कबीर ने सहज-धर्म मे उपादान स्वरूप सहज-योग, सहज-वैराग्य, सहज-ज्ञान और भक्ति को मान्यता प्रदान की है। कबीर की प्रत्येक धामिक विचारधारा के साथ 'सहज' का प्रयोग मिलता है। वेशभूषा बदलने का नाम कबीर ने वैराग्य नही माना। कबीर कहते है कि यदि कोई व्यक्ति तन के स्थान पर मन से वैरागी हो जाता है तो उसे सहज ही सब सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती है—

बनह बसे का कीजिये
जो मन नहि तजे विकार।
तन कौं जोगी सब करैं, मन का बिरला कोई।
सब सिधि सहजै पाइए, जे मन जोगी होई।

मूंड मुडाना इत्यादि सब वृथा है यदि मन मे धार्मिक वृत्तियो का उदय नही हुआ और मन को अन्य कामो से मुक्ति नही मिली है।

केसौं कहा बिगाड़िया, जे मूंडै सौ बार।
मन कौं काहे न मूड़िए, जामैं विषै बिकार।

समरसता—कबीर ने अपने सहज-धर्म मे समरसता को स्थापित किया है। मानव जीवन मे साम्यता स्थापित करने का तो मानो कबीर ने बीडा ही उठाया

---

१ कबीर मधि अग जेको रहै, तो तिरत न लागै बार।
दुहु दुहु अगसूं लागि करि, डूबत है ससार॥
—(कबीर-वचनामृत-पृ० १५५)

था । कबीर जीवन को धर्म और धर्म को साधना तथा नैतिकता से समरसता के ही आधार पर सम्बद्ध करके चले है । आप तो मानव मात्र को एक धर्म, एक समान और एक ही नैतिक बन्धन मे बाँध कर बाह्याडम्बरो की जटिल परम्पराओ से मुक्त कर देना चाहते थे । मानव जीवन की अनेको विषमताओ को जडमूल से उखाड कर उनके स्थान पर समतल स्थापित कर देने का आपने प्रयत्न किया। कबीर ने साधना के क्षेत्र मे धर्म और कथन दोनो को समान रूप से ग्रहण किया है । इनके सहज-धर्म मे अनुराग तथा विराग आपस मे गठबन्धन करके चलते है । यह समरसता ही कबीर के जीवन और धार्मिक सिद्धान्तो की वह उच्च शिखा है कि जिसकी ओर विचारक तथा भक्त सभी एकसी श्रद्धा के साथ लौ लगाकर एक भावना, एक कल्पना और एक विचार के साथ देखते है ।

वैराग्य और कर्मयोग—कबीर ने अपने सहज धर्म मे वैराग्य और कर्म योग दोनो का समन्वय बहुत ही ज्ञानात्मकता के साथ किया है । यहाँ पर हम समरसता की पराकाष्ठा पाते है । कवि ने विरोधी भावों को एक धारा मे बहा कर उन्हे उसी प्रकार आपस मे विलीन कर दिया है जिस प्रकार उनकी उलटवासियो मे आत्मा और परमात्मा का मिलन दिखलाया गया है। सहजगामी जीव जीवन के सभी कार्यों मे अपना कर्त्तव्य निभाता हुआ धीरे-धीरे वैराग्य की ओर अग्रसर होकर भगवान् मे विलीन हो जाता है। यो सहज-धर्म की साधना मे सीधे रूप से समाज को कोई विशेष स्थान नही दिया गया परन्तु मान्यता उनके निकट व्यक्ति की अपेक्षा समाज की ही अधिक रही है ।

—(क० ग्र० पृ० २६२)

ज्ञान, कल्पना और अनुभूति—कबीर ने 'जहाँ ज्ञान तहँ धर्म' कहकर यह स्पष्ट कर दिया कि बिना ज्ञान के धर्म भी सम्भव नही। ज्ञान के बिना कबीरदास जी जीवन को वृथा मानते है—

"बावरे तै ज्ञान बिचारं न पाया । बिरथा जनम गँवाया ।।

—(क० ग्र० पृ० २६५)

धर्म के मार्ग में आने वाली आपत्तियो या बाधाओ को नष्ट करने की शक्ति केवल ज्ञान मे ही है । कबीर ने ज्ञान, अनुभूति और कल्पना तीनो का ही आश्रय लिया है परन्तु प्रधानता ज्ञान को ही दी गई है क्योकि ज्ञान से अनुभूति और कल्पना दोनो सम्भव है ।

"कबीर का ज्ञान ब्रह्मलीन, अनुभूति सौदर्यलीन और कल्पना रहस्यलीन है । उनका ज्ञान-तत्त्व या अद्वैत को लेकर, अनुभूति चिर सुन्दर या द्वैत को लेकर और कल्पना भौतिक शरीर को लेकर चली है । ज्ञान मे कबीर परमहस है, कल्पना मे योगी और अनुभूति मे प्रिय के प्रेम की भिखारिणी पतिव्रता रानी । कबीर के ज्ञान का अश ब्रह्म दर्शन है । कल्पना के लिए वह सिद्धो या नाथो के कृतज्ञ है और अनुभूति ? वैष्णवो की माधुर्य भावना, भक्ति मार्ग की प्रेम पीर

और अभिव्यजना की तूलिका से गहरा रग पाकर कबीर की अनुभूति अनोखी बन बैठी। कबीर का ज्ञान लोकातीत है परन्तु अनुभूति लोकातीत और लौकिक दोनो है। ज्ञानावस्था मे कबीर सिद्ध और साधक दोनो है। योगावस्था मे उनकी शारीरिक साधना है और प्रेमावस्था मे मानसिक साधना।"

—(कबीर-वचनामृत-पृ० १३८)

कबीर के सहज धर्म मे त्रिगुण समन्वय की भावना है।

स्मरण, नाम, अपजाजप और प्रवृत्ति ज्ञान द्वारा कबीर ने अपने भक्ति-मार्ग मे ईश्वर-प्राप्ति के कठिन मार्गों का त्याग और सहज साधनो के ग्रहण की ओर ही निरन्तर ध्यान दिया है। जैसा हम उपर लिख चुके है हठयोग के कठिन आसनो इत्यादि की ओर से कबीरदास बहुत शीघ्र उदासीन हो चुके थे और फिर उन्होने सहजाभक्ति के अनुकूल साधनो को ही अपनाना प्रारम्भ कर दिया था। भक्ति मे स्मरण, नाम, अजपाजप और प्रपत्ति आदि को ही प्रधानता दी गई है। कबीर कीर्त्तन के विशेष प्रेमी थे। 'सुमिरन' को कबीर ने भगवान-भक्ति का सार माना है। यही स्मरण समय पाकर जप और अजपाजप तथा प्रपत्ति मे बदल जाता है और यही भगवान् की सहज भक्ति का चरम लक्ष्य बन जाता है। प्रपत्ति का अर्थ है शरणागति। भारतीय भक्ति-मार्ग मे प्रपत्ति का विशिष्ट स्थान है। प्रपत्ति के महत्त्व का गुणगान भगवद्गीता मे भी मिलता है। बाद मे आकर श्रीमद्भागवत पुराण मे भी इसकी ओर विस्तार के साथ व्याख्या मिलती है और इसके महत्व को बल दिया गया है। मुसलमानो के 'इस्लाम' शब्द का अर्थ भी प्रपत्ति ही है। डा० भडारकर का मत है कि प्रपत्ति की भावना का हिन्द की भक्ति मे आगमन मुमलमानी सम्पर्क से प्रतीत होता है, गलत ही है क्योकि गीता की रचना मुसलमानो के भारत मे आने से बहुत पूर्व हो चुकी थी। डा० त्रिगुणायत ने भी अपने कबीर की विचारधारा ग्रथ मे पृ० ३६५ पर डा० भडारकर के इस मत का खडन ही किया है और कबीर के प्रपत्ति सम्बन्धी विचार को भारतीय परम्परा से ही सम्बद्ध किया है।

कबीरदास ने अपने भक्तो को भगवान् की शरण मे जाने का मुक्त कठ से उपदेश किया है और यह शरण मे जाना स्मरण, नाम-जप, अजपाजप और प्रपत्ति से ही सम्भव माना है।[1]

बाह्याचारों का खंडन—कबीर ने अर्चन और उपासना के क्षेत्र मे बाह्याचारो की ओर से जनता की प्रवृत्ति को हटाने का प्रयत्न किया है। माला-जपना, घटे

---

१. **सुमरन**—कबीर सुमिरण सार है और सकल जजाल।
आदि अन्त सब सोधिया, दूजा देखौं काल॥

घड़ियाल बजाना, काबे जाना इत्यादि सब कबीर ने निरर्थक और भ्रामक माने हैं। इन सबको पाखण्ड समझकर कबीर ने खडन किया है।[1]

ब्राह्याचारो के स्थान पर कबीर ने मनाचारो की ओर प्रवृत्ति पर बल दिया है। हृदय और मन की शुद्धता ही कबीर ने ब्रह्मभजन, पूजन के लिए आवश्यक मानी है और भगवान् का निवास-स्थान मदिर या मस्जिद न होकर मनुष्य का मन और हृदय ही आपने बतलाया है।

कबीर ने अपने सहज-धर्म मे सहज और सरल प्रवृत्तियो को ही स्थान दिया है। व्यर्थ का बाह्याडम्बर और व्यर्थ के आदर्शवाद या धर्म इत्यादि के प्राचीगूढ तत्त्वो मे घुसाकर व्यक्ति को भुला देने की प्रवृत्ति को नही अपनाया। आपका सहज-धर्म पूर्ण रूप से बुद्धिवादी है, परन्तु ज्ञानी बनकर लोगो को गोरख पथियो की भाँति कबीर ने कही पर भी भ्रमात्मकता मे नही फँसाया। कबीर की अद्वैत विचारधारा सिद्धान्तो और तर्क पर आधारित न होकर अनुभूति पर आधारित है। कबीर के धार्मिक विचार बुद्धि का भित्तिया पर ठहरे हुए है। नैतिकता का उनमे बल है। सरलता और सात्विकता से वह अनुप्राणित है। मानव-सेवा और मानव हित उनमे कूट-कूट कर भरा है। सूफी प्रेम और भारतीय भक्ति का सरल सामजस्य हमे कबीर की सहज धार्मिक पद्धति मे प्राप्त होता है। भावना, कल्पना और विचार की त्रिवेणी मे निवास करके कबीर ने अपने मानव-धर्म सम्बन्धी उद्गारो को प्रसारित किया है।[2]

समाज और कबीर—पुस्तक के प्रथम अध्याय मे हम कबीर-कालीन सामाजिक दशा पर विचार कर चुके है। यहाँ हम कबीर की समाज-सम्बन्धी विचारधारा पर सक्षेप मे विचार करेंगे। समाज व्यक्ति का ही विकसित रूप है। जब व्यक्ति इकाई के रूप मे विचार न करके सामूहिक विचारधारा के अधीन सोचता है तो उसका दृष्टिकोण समाजवादी कहा जाता है। सामूहिक दृष्टिकोण मे व्यक्ति का हित तो सम्मिलित रहना ही है परन्तु स्वार्थ प्रिय व्यक्तिवादी दृष्टिकोण मे समाज का अहित होने की सम्भावना रहती है। समाज क्योकि व्यक्तियो का ही सामूहिक स्वरूप है इसलिए जब भी व्यक्ति कर्त्तव्य-च्युत होता है तो उसका प्रभाव समाज पर अनिवार्य रूप से पडता है। समाज विशृखल होकर गिरावट की ओर चलने लगता है। व्यक्ति मे किसी भी प्रकार का दोष समाज की गिरावट का कारण बनता है। व्यक्ति का आत्मिक पतन, व्यक्ति का

---

१. कबीर निरभै राम जपि, जब लग दीवै बाति।

—(कबीर-वचनामृत—पृ० १३)

२. कर सेती माला जपै, हिरदै बहै डडूल।
पग तौ पाला मैं गिल्या, भाजण लागी सूल॥

—(कबीर-वचनामृत—पृ० १३१)

नैतिक पतन, व्यक्ति का मानसिक पतन, व्यक्ति का बौद्धिक पतन, व्यक्ति का शारीरिक पतन, व्यक्ति का आर्थिक पतन—यह सभी उसके समाज मे प्रतिबिम्बित हो उठते है। व्यक्ति की यह प्रवृतियाँ स्वार्थ से प्रेरित होकर समाज मे विष के समान फैल जाती है। समाज के इस विष को दूर करने के लिए महापुरुषो ने जन्म लिया है और समाज के विशृंखल ढाँचे को फिर से शृंखलाबद्ध करने के निमित्त अपना जीवन लगाया है। महात्मा बुद्ध, महावीर स्वामी, कबीर, स्वामी दयानन्द, राजा राममोहनराय, महात्मा गाँधी इत्यादि के नाम इस दिशा मे उल्लेखनीय है कि जिन्होने समाज मे प्रचलित कुरीतियो का खण्डन कर नवीन प्रवृत्तियो को जन्म दिया और प्राचीन पाखण्डी मान्यताओ के प्रति विद्रोहात्मक प्रतिक्रिया को प्रश्रय दिया।

समाजवादी भावना का लोप –इस काल मे भारत के सामाजिक वातावरण मे समाजवादी भावना का लोप हो चुका था। एक विशाल समाज खण्ड-खण्ड होकर पहिले ही समूहो मे विभाजित हो चुका था और यह समूह भी आज आर्यकाल की वर्ण-व्यवस्था के अधीन कार्य नही कर रहे थे। इनके मूल मे कर्म की अपेक्षा जन्म को प्रधानता दी जाने लगी थी और फिर भाग्य की परिपाटी ने तो मानव-समाज का जो अहित किया वह कुछ कहने की बात ही नही। भाग्य का सहारा लेकर पाखण्डी धर्म और समाज के ठेकेदारो को अपनी पाखण्डी विचार-धारा भोली-भाली जनता मे फैलाने के अन्दर सहारा मिला और उन्होने अपनी स्वार्थप्रिय प्रवृत्तियो के आधार पर व्यक्तिवादी परम्परा को प्रश्रय दिया। राजनीति के क्षेत्र मे भी यह एकतत्रवादी राज्यसत्ताओ का युग था जिसमे व्यक्तिवादी विचारधारा का ही प्राधान्य रहा। राजा या बादशाह और फिर सामन्त तथा उनके नायक—जनता का कोई स्थान नही था, कोई मत नही था—वह काम करे और मिट मरे।

धर्म के क्षेत्र मे शकराचार्य ने इस पाखण्ड की व्यक्तिवादी परम्परा का खण्डन किया। कबीर के युग मे स्वामी रामानन्द ने धर्म के क्षेत्र मे पाखण्ड का खण्डन किया और उसी से प्रभावित होकर कबीर ने जनता मे उनकी विचार-धारा का प्रसार किया।

कबीर ने जाति-पाँति की विचारधारा का खण्डन कर समाज को मिलाकर दृढ बना देने का प्रयास किया। धर्म को किसी वर्ग विशेष की बपौती न मानकर आपने उसे सार्वजनिक क्षेत्र मे लाकर खडा किया। रामानन्द जी की 'भाव भगति' वाली विचारधारा को जनता जनार्दन तक पहुँचाया। कबीर की विचार-धारा धर्म, जाति अथवा समाज विशेष तक सीमित नही थी—उसमे मानव-मात्र के कल्याण की भावना थी। इस भावना ने समाज के नैतिक और धार्मिक दोनो प्रकार के उत्थान मे सहयोग दिया।

आचरण की सभ्यता—जहाँ कबीर ने धर्म के क्षेत्र मे स्मरण, नाम-जप,

अजपाजप और प्रपत्ति पर बल दिया है वहाँ दूसरी ओर आचरण की सभ्यता पर भी कम प्रकाश डालने का प्रयत्न नही किया। ‹ ाचरण की सभ्यता के लिए व्यक्ति मे जो गुण होने आवश्यक है उन सभी का निर्देश कबीर ने अपनी बानी मे किया है। काम, क्रोधादि पाँच विकारो के लिए कबीर ने लिखा है—

कबीर पाटण कारिवाँ, पच चोर दस द्वार।
जम राणो गढ मे लिसी, सुमरि लै करतार॥

कबीरदास कहते है कि केवल कथन मात्र से काम नही चलता, यदि तुम्हारा कर्म अच्छा नही है—

कथणी कथी तौ क्या भया, जो करणीं नांठहराइ।
काल बूत के कोट ज्यूँ, देषत ही ढहि जाइ॥

—(कबीर वचनामृत, पृ० ११०)

परस्त्री पर दृष्टि डालने वाले के लिए कबीरदास जी लिखते है—

पर नारी राता फिरै, चोरी बिढ़ता खाहि।
दिवस चारि सरसा रहै, अति समूला जाहि॥

—(कबीर-वचनामृत, पृ० ११४)

× × ×

पर नारी कै राचणै, औगुण है, गुण नाँहि।
षार समद मै मछला, केता बहि-बहि जाँहि॥

सत्य भाषण के लिए कबीरदास जी लिखते है—

यह सब झूठी बन्दिगी, बरियाँ पच निवाज।
साँचै मारै झूठ पढ़ि काजी करै अकाज॥

—(कबीर-वचनामृत, पृ० १२४)

भेष बदलने पर कबीर के विचार देखिए—

नव सत साजे कांमिनी, तन मन रही सजाई।
पीव के मनि भावै नहीं, पदुम कीए का होई॥

—(कबीर-वचनामृत, पृ० १३६)

कुसगति के लिए कबीरदास जी कहते है—

मारी मरूँ कुसग की, केला काठे बेरि।
वो हालै वो चीरिये, साषित सग निबेरी॥

—(कबीर-वचनामृत, पृ० १३८)

दूसरों के दोषो को देखकर हँसने वाले के प्रति कबीर कहते हैं—

दोष पराये देखकर, चल्या हसत हसंत।
अपनै च्यंति न आवइ, जिनकी आनि न अन्त॥

इस प्रकार हमने देखा कि आचरण की सभ्यता व्यक्ति मे स्थापित करने के लिए कबीर ने व्यक्ति के नैतिक उत्कर्ष की ओर उसका ध्यान आकर्षित किया है। वास्तव मे चरित्र का उत्थान ही व्यक्ति का उत्थान है और व्यक्ति का उत्थान ही समाज का उत्थान है। इसी विचार-धारा के अतर्गत कबीर ने चरित्र पर विशेष रूप से बल दिया है और सामाजिक असगठन की प्रधान बेडियो को अपने उपदेशो और महान व्यक्तित्व से तोड़ने का प्रयास किया है।

इस काल मे कर्म के वास्तविक और साधारण तथ्यो का समाज से लोप हो चुका था और लकीर के फकीरो ने अपने को ब्रह्मज्ञानी मानकर एक अन्धकार-पूर्ण वातावरण देश में फैला दिया था। कबीर ने धर्म के वास्तविक स्वरूप की वह रूपरेखा समाज के सामने प्रस्तुत की कि जिसके आँचल मे सभी धर्मों की साधारण मान्यताएँ विश्राम ग्रहण कर सकती थी। कबीर ने समाज मे स्व-कर्त्तव्य की भावना भरने का प्रयास किया। धर्म का सम्बन्ध व्यक्ति से है और व्यक्ति का सम्बन्ध समाज से। इसलिए यदि व्यक्ति धार्मिक मान्यताओ से शून्य हो जाता है तो वह उसके आधार से साधारण मानव-धर्म के उन व्यापक नियमो को भी अगीकार नही करता कि जिनके आधार पर उनका व्यक्तित्व खडा होता है। वह स्वयँ गिरने लगता है। कबीर ने धर्म और व्यक्ति के इस स्वरूप का पूर्ण अध्ययन किया और उसके प्रभाव को समाज पर विविध रूप मे पडते हुए देख कर व्यक्ति तथा समाज के सुधार मे भरसक सहयोग प्रदान किया।

कबीर ने हिन्दुओ के आडम्बर और मुसलमानो के पाखण्ड की समान रूप से आलोचना करके समाज के रोग का उपचार प्रस्तुत किया है—

यह सब झूठी बन्दगी बिरथा पच निवाज।
सांचै मारे झूठि पढ़ि काजी करै अकाज॥

×

काजी कौन कतेब बखानै।
पढ़त-पढ़त केते दिन बीते, गति एकै नहिं जानै॥

—(क० ग्र० पृ० ४२)

६ | कबीर का मूल्यांकन

विचारक के नाते - कबीर ने जिम युग मे जन्म लिया उस युग की धार्मिक प्रवृत्तियो, मान्यताओ, राजनीतिक समस्याओ और सामाजिक विश्रृखलताओ पर हम पीछे विचार कर चुके है । विश्व के इतिहास मे जितने भी विचारक हुए है उनकी जीवनियो का अध्ययन करने से पता चलता है कि उनकी विचारधारा ने अपने इर्द-गिर्द की समस्याओ से ही प्रभावित होकर विश्व के सम्मुख अपने विचारो की रूप-रेखा प्रस्तुत की है । कबीर की विचारधारा पर भी कबीरकालीन परिस्थितियो का स्पष्ट प्रभाव दिखलाई देता है ।

हर देश मे हर काल के अन्दर तीन प्रकार के विचारक पाये जाते है । एक विचारक-वर्ग वह होता है जो रूढिवादी ढग का होता है और प्रत्येक नवीनता पर प्राचीनता को तरजीह देता है । दूसरा विचारक-वर्ग वह होता है जो मध्य-वर्ती मार्ग ग्रहण करता है और प्राचीन तथा नवीन मे सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न करता है । प्राचीन का खण्डन भी यदि वह करता है तो दबी जबान से और नवीन का समर्थन भी यदि वह करता है तो वह भी बलवती भाषा मे नही । वह समाज की मान्यताओ को मानकर चलता है, उनसे विद्रोह करके आगे नही बढता । तीसरा विचारक-वर्ग एकदम क्रान्तिकारी होता है जिसके विचारो मे प्राचीन रूढियो के लिए किंचित मात्र भी मोह नही होता और वह अपना हर प्रकार से नया ही मार्ग ग्रहण करना चाहता है ।

कबीरदास जी मध्य-युग के विचारक हैं । इस काल के रूढिवादी विचारक शास्त्रीय विधि-विधान और वर्णाश्रम-धर्म मे आस्था रखते थे । यह श्रुति प्रमाण-वाद को कट्टरता से मानते थे । शकराचार्य ने इसी प्रकार के रूढिवादी विचार का समर्थन किया । शकराचार्य के पश्चात् इस धारा के प्रमुख विचारक विष्णु स्वामी, निम्बार्काचार्य, वल्लभाचार्य इत्यादि हुए । यह सभी लोग भारतीय सनातन धर्म के कट्टर पक्षपाती थे और अति प्रमाणवाद के अनुयायी । सनातन धर्म की सभी मान्यताओ का इन विचारको ने प्रतिपादन किया है ।

मध्यवर्ती मार्ग ग्रहण करने वाले मध्यगामी वर्ग के विचारकों में प्रधान स्थान रामानुजाचार्य का है जिन्होने प्राचीन तथा अर्वाचीन मे सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयास किया। श्री रामानुजाचार्य ने जहाँ सामाजिक क्षेत्र मे शूद्रो को नीचा ही समझा वहाँ दूसरी ओर धर्म के क्षेत्र में उन्हे भी भगवान् की भक्ति का पूर्ण अधिकार दिया। रामानुजाचार्य ने किसी हद तक भारत के दलित वर्गों मे प्राणपन स्थापित किया और मानव-धर्म के निकट अपनी धार्मिक अवस्थाओं को लाने का प्रयास किया। शूद्रो के लिए रामानुजाचार्य ने प्रपत्ति का मार्ग दिखलाया। नरसिंह मेहता, नामदेव, रामदास, तुकाराम इत्यादि इसी रामानुजाचार्य के प्रपत्ति मार्ग के अनुयायी है। गोस्वामी तुलसीदास जी की भक्ति-भावना भी प्रपत्ति विचारधारा के अतर्गत ही आती है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने वैष्णव होते हुए भी समकालीन विविध मान्यताओ मे सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयास किया है और अपने प्रमुख ग्रन्थ मानस मे ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश की समान रूप से उपासना की है। गोस्वामी जी ने रामायण को भाषा मे लिखकर सर्वसाधारण तक धर्म को ले जाने का प्रयास किया और इस प्रकार रामायण जैसे प्रमुख धर्म ग्रन्थ को पण्डितो और आचार्यों के बस्तो से निकालकर जनता के घर-घर मे पहुँचा दिया।

तीसरा वर्ग था स्वतन्त्र विचारको का जिनके सामने प्राचीन रूढ़िवादी आडम्बर कोई महत्त्व नही रखते थे। यह वर्ग अत्यन्त सरल और उदार वृत्ति का था, जिनकी भावना और जिसके विचार मानव-धर्म और मानव-कल्याण की भावना को लेकर चलते थे। बौद्ध-धर्म और जैन-धर्म इसी स्वतत्र विचारधारा से जन्म लेकर आये। यह स्वतन्त्र विचारो का प्राबल्य प्राचीन रूढियो के अत्यधिक प्रतिबन्धो के ही कारण होता है।

मध्य-युग मे इस स्वतत्र विचारधारा ने बहुत ही उच्छृ खल रूप धारण कर लिया। हिन्दू और बौद्ध धर्म दोनो ही इस काल मे अधोगति को प्राप्त हा चुके थे और दोनो ही क्षेत्रो मे पाखण्ड का बोल-बाला था। हिन्दू धर्म ओर बौद्ध धर्म दोनो मे अनेको सम्प्रदायो ने जन्म लेकर अपनी-अपनी ढपली और अपना-अपना राग अलापना आरम्भ कर दिया था। उन सभी की दशा पतनोन्मुख थी। धर्म के क्षेत्र से मर्यादा नष्ट हो चुकी थी, प्रवृत्तियाँ असात्विक हाती जा रही थी, बुद्धि का ह्रास हो रहा था, भावना कुण्ठित हो चली थी और दुराचरण का साम्राज्य स्थापित हो गया था। कबीर ने स्वतन्त्रता के इस विशृंखल वातावरण को मर्यादा प्रदान की, असात्विकता को सात्विकता प्रदान की, मूर्खता को बुद्धि का सूर्य दिखलाया और दुराचरण को सदाचरण मे बदलने का प्रयास किया।

कबीर ने उत्तर भारत मे एक स्वतन्त्र चिन्ताधारा को प्रवाहित किया। इस काल मे इसी स्वतन्त्र-चिन्तन-धारा का प्रवाह हमे दक्षिण भारत मे भी देखने को मिलता है। लिंगयात, सिद्धरा इत्यादि सम्प्रदायो ने स्वतन्त्र चिन्ता से ही

जन्म लिया। यह सभी सनातन धर्म की प्रतिक्रियास्वरूप उदय हुए। धर्म और समाज-सुधार की भावना को लेकर इन सम्प्रदायो के प्रवर्त्तक कार्य क्षेत्र मे उतरे। कबीर की ही भाँति इन सम्प्रदायो के प्रवर्त्तक भी हिन्दू तथा मुसलमान दोनो को ही अपने सम्प्रदाय की छत्र-छाया में लेकर चले। परन्तु इन सम्प्रदायो और इनके प्रवर्तको को कबीर के समकक्ष लोकप्रियता के नाते रखना भ्रम ही है। कबीर के साथ इन धर्म-प्रवर्त्तको को दार्शनिक और विचारक के नाते भी नही रखा जा सकता केवल समानता यही है कि यह सभी विभिन्न सम्प्रदायो मे समन्वय की भावना को लेकर चले।

कबीर धर्म और समाज सुधारक होने के साथ-ही-साथ एक दार्शनिक थे और एक उच्च कोटि के प्रचारक भी। आपका दार्शनिक दृष्टिकोण देशकाल की सीमा से आगे की बात है। यह बात हमे इस काल के किसी अन्य विचारक के साहित्य मे देखने को नही मिलती।

सूफी विचारको मे भी कुछ-कुछ स्वतन्त्र चिन्ता की झलक दिखलाई देती है परन्तु जहाँ तक मुसलमान, विचारको का सम्बन्ध है वहाँ कोरा अधविश्वास ही दिखलाई देता है, स्वतन्त्र चिन्ता वहाँ है ही नही। सूफी विचारक मसूर की स्वतन्त्र चिन्ता ने ही उसे सूली पर चढाया।

मध्य-युग की स्वतन्त्र-चिन्ता के विचारको मे कबीर का विशेष स्थान है और भारतीय जनता पर उसका महान् उपकार तथा आभार है। जनता मे अपने सहज-धर्म द्वारा स्वतन्त्र चिन्ता की भावना को जाग्रत कर देना कबीर का ही काम था। इस्लाम धर्म के तूफान से भयभीत तथा आतंकित जातिया कबीर की विचारधारा से आश्रय ग्रहण कर उसकी सहज प्रणाली मे प्रवाहित हुई और मत-परिवर्तन की बाढ मे एक बाँध सा लग गया। छोटी जातियो को तो कबीर की सहज-विचारधारा के अन्तर्गत मानो भगवान् ही मिल गये, आश्वासन मिल गया, सहारा मिल गया।

कबीर ने भारतीय जनता मे भेद-भाव विहीन सहज-धर्म और सामाजिक नियमो का जो ढाँचा खडा किया उससे जनता को बल मिला, उनके नैतिक जीवन मे सुधार की प्रवृत्ति जागरूक हो उठी और सभी मे अपने जीवन, अपने समाज और अपने धर्म के प्रति स्वतन्त्ररूप से विचार करने की प्रवृत्ति ने जन्म लिया।

इस प्रकार कबीर मध्य-युग का वह स्वतन्त्र विचारक है जिसने अपना निजी दर्शन, निजी समाज-व्यवस्था, निजी आचरण का आदर्श, निजी नैतिक सिद्धान्त, निजी धर्म-व्यवस्था जनता को प्रदान किये और यह सभी विश्वव्यापी मानव-धर्म के साधारण नियमो को अपने मे सन्निहित करके चले। कबीर अपने समय की जनता के हृदय का नेता था और उसका नेतृत्व भारत की विभिन्न जातियो ने माना, इसमे आज सन्देह करने का कोई कारण नही।

साहित्यकार के नाते—कबीर जैसे स्वतन्त्र विचारक के साहित्य पर विचार करने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि साहित्य के किसी भी रूढिवादी दृष्टिकोण से कबीर का मूल्यांकन करना—कवि के साथ अन्याय करना होगा। कबीर का साहित्य उसके हृदय की प्रेरणा है। उसके मस्तिष्क की विचारधारा का प्रचलित भाषा मे सहज-भाव से स्पष्टीकरण है। न तो वहाँ शब्दो का जटिल माया-जाल है और न अलकार-शास्त्र का पाडित्य और छन्दो की उछल कूद। कबीर के साहित्य मे तो विचारो का ही प्रधान्य है, भावना की पुट के साथ।

साहित्य की आत्मा उसकी भावना और उसका विचार ही तो है—उसकी भाषा नही, उसका शब्द-जाल नही, उसके अलकार नही, छन्द-बन्धन नही। कबीर जनता का कवि था जिसने अपनी कविता मे क्लिष्ट शब्दो का प्रयोग न करके साधारण जनता मे प्रचलित शब्दो का ही प्रयोग किया है और यही कारण है कि उसकी वाणी साधारण जनता मे उसी प्रकार प्रचलित हुई जिस प्रकार शिष्ट कहलाने वाले समाज मे तुलसी का रामचरितमानस। भारत की छोटी कही जाने वाली जातियो मे कबीर के पद आज भी असख्यो की गणना मे गाये जाते है। कबीर का साहित्य लोकप्रिय है, आचार्यो की बगल की पोथी नही।

जहाँ तक कबीर-साहित्य के अन्य गुणो का सम्बन्ध है वह हम पीछे विस्तार के साथ दे चुके है। कबीर-साहित्य मे धर्म, समाज, आचरण, नैतिकता, व्यवहार इत्यादि सभी विषयो पर रचना मिलती है। कबीर का विचार-क्षेत्र बहुत व्यापक है और व्यापक रूप से ही उस पर कवि ने प्रकाश डाला है। आत्मा तथा परमात्मा के मिलन का जो सवर्प कवि ने चित्रित किया है वह अद्वितीय हे। कितना अनुपम है यह श्रृगार कि पाठक की सम्पूर्ण रागात्मक वृत्तियो को झकृत कर देने पर भी कही वासना के लिए कोई स्थान नही। यह विरह का एक चित्र देखिए—

साईं बिन दरद करेजे होय।
दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया, कासे कहूँ दुख होय।
आधी रतियाँ पिछले पहरवा, साईं बिना तरस रही सोय।
कहत कबीर सुनो भाई प्यारे, साईं मिले सुख होय।

—(**कबीर, हजारीप्रसाद, पृ० २६६, पद १-१३०**)

कबीर का साहित्य कवि के हृदय की वह सहज भावना और कल्पना है कि जिसमे बनावट के लिए तो कोई स्थान है ही नही। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि यह खान से निकला हुआ वह स्वर्ण है जिसे तपाया तो गया है परन्तु कुशल स्वर्णकार द्वारा उस पर डैमल (Diamond) नही काटा गया। कबीर ने इस स्वर्ण की स्वाभाविकता द्वारा ही सौन्दर्य की अनुभूति प्रदान की है—उसमे बनावट को प्रश्रय नही दिया। जैसा कि हम ऊपर ही कह चुके है, शब्दो और भाषा को उस रूप मे माँजना सहज-धर्मी कबीर के लिए सम्भव भी नही हो सकता था। यह उसकी विचारधारा के सर्वथा प्रतिकूल था।

कबीर के साहित्य मे विचारो की वह ताजगी है जो मध्य-युग के किसी भी कवि की रचना मे उपलब्ध नही होती। आज के राष्ट्र कवि रवीन्द्र भी कबीर की ही वाणी से अनुप्राणित होकर विश्व को गीताञ्जलि जैसा अमर ग्रन्थ प्रदान कर सके—यह उक्त कथन का ज्वलन्त प्रमाण है। कबीर-साहित्य में स्वतन्त्र चिन्ता को जो स्थान मिला है वह मध्य-युग के साहित्य की अमर निधि है और आज के विचारक तथा साहित्यिक के लिए भी पथ-प्रदर्शन का मार्ग प्रशस्त करती है। कबीर-साहित्य ने समाज को वह स्वतन्त्र विचारधारा प्रदान की कि जिसके दर्पण मे समाज अपने चित्र को भली प्रकार देख सके और स्वतन्त्र रूप से उसकी कमियो को ठीक कर सके। प्राचीन रूढ़ियो के प्रतिबन्धो से कबीर ने अपने साहित्य को मुक्त रखा है और विचार, भावना तथा भाषा तीनों ही क्षेत्र मे सहज भावना से काम लिया है।

धार्मिक प्रवक्ता के नाते—धर्म व्यक्ति के जीवन की वह सम्पदा है जिसके आधार पर वह अपने व्यक्तित्व का निर्माण करता है और फिर अपने से ऊपर उठकर समाज, देश तथा विश्व के प्रागण मे प्रवेश करता है। मानव के इतिहास मे धर्म ने एक विशेष स्थान पाया है और एक युग रहा है जब राजनीति के सूत्रो का भी सचालन धार्मिक नेताओ द्वारा ही हुआ है। परन्तु इस प्रवृत्ति ने धर्म के मूल तत्वो को सम्मानित करने के स्थान पर उलटा अपमानित ही किया है और उसके द्वारा मानव-शान्ति मे योग मिलने के स्थान पर उलटी अशान्ति और क्रदन ही विश्व को प्राप्त हुआ है। बडे-बडे सग्रामो, लूट मारो और आक्रमणो का कारण धर्म बना है। इसके फल-स्वरूप मानव के जीवन से साधारण धार्मिक तत्वो का लोप और स्वार्थ के साथ कट्टर रूढिवाद को प्रश्रय मिला है। इसी के फलस्वरूप मानव की स्वतन्त्र विचारधारा कुण्ठित हुई है और मूढ तथा भोली जनता की छाती पर स्वार्थप्रिय मनो-वृत्ति वाले समुदायो ने व्यक्तिवादी विचारधारा के अन्तर्गत एकत्रित होकर मनमानी मूँग दली है, अत्याचार किए है।

इन्ही अत्याचारो के युगों मे एक के बाद दूसरे धार्मिक नेताओ ने जन्म लेकर मानव को मानव-धर्म के निकट लाने का प्रयास किया है। कबीर-कालीन मध्य-युग धर्म की प्रचलित रूपरेखा के अनुसार बाह्याडम्बरो मे फंसकर अपने साधारण तत्वो को भूल चुका था। हिन्दू तथा मुसलमान दोनो ही धर्म की प्रणालियाँ गलत मार्ग ग्रहण करती चली जा रही थी। धर्म एक नाम मात्र की वस्तु रह गया था और इसके आवरण में लोगो को अपनी स्वार्थ-सिद्धि का अवसर मिलता था। मुसलमान बादशाह हिन्दू राज्यो पर धर्म का नाम लेकर आक्रमण करते थे और नर-सहार मे प्रसन्न होकर अपने को धर्म का नेता मान बैठते थे। यह थी विजेता और विजित की कहानी परन्तु हिन्दू धर्म के नेताओं मे भी जुल्म की मात्रा कम न थी। दलित जातियो के साथ उनका जो व्यवहार था वह किसी

भी प्रकार मुसलमानो के हिन्दुओं पर होने वाले अत्याचारो से कम नही था। कहने का अभिप्राय यही है कि धर्म के क्षेत्र मे जो प्रवृत्ति इस समय प्रतिलक्षित होती थी यह पूर्णरूपेण स्वार्थप्रिय थी—उसमे लेशमात्र भी धर्म के साधारण नियमो की सरलता, सौम्यता, सद्गुण, सदाचार, सद्व्यवहार, दया, सचाई और ईमानदारी के गुण वर्त्तमान नही थे। धर्म के नाम पर यह स्वार्थप्रिय प्रवृत्ति अपना नग्न नृत्य कर रही थी।

कबीर ने एक विचारक के नाते भारतीय जनता मे प्रश्रय पाने वाली इस प्रवृत्ति को परखा और फिर अपने सहज-धर्म द्वारा मानव-धर्म की स्थापना की। अकबर द्वारा स्थापित दीन-ए-इलाही धर्म मे राजनीति की बू आसकती है परन्तु कबीर के सहज-धर्म मे इस प्रकार की किसी भावना को खोजना उस विचारक और धर्माचार्य के साथ अन्याय करना है। धर्म का प्रधान लक्ष्य मानव को शान्ति की प्रेरणा प्रदान करना है और यह तभी हो सकता है जब उसकी प्रवृत्तियाँ सघर्ष-मूलक न होकर असघर्ष-मूलक हो। असघर्ष-मूलक कहने से यहाँ हमारा तात्पर्य अकर्मण्यतामूलक से नही है, यह पाठको पर स्पष्ट कर देना हम उचित समझते है।

कबीर ने अपने समय की सघर्ष-मूलक प्रवृत्तियो को शान्ति प्रदान करने का प्रयत्न किया और रूढिवादी सघर्षप्रिय विचारको को समन्वय और शान्ति का मार्ग सुझाया। विश्व के इतिहास मे मानव-कल्याण के लिए किये गए प्रयासो मे महाकवि कबीर का प्रयास एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। कबीर ने जिस धर्म का भारत की जनता मे प्रतिपादन किया, उसमे चाहे महान धार्मिक ग्रन्थो की प्रतिष्ठा न हो परन्तु मानव-हित का वह मूलश्रोत विद्यमान है कि जो युग-युग तक मानव-जीवन मे शान्ति और प्रेम-रस का सचार कर सकता है।

कबीर मानव-धर्म का अग्रदूत बन कर मध्य-युग मे आया और उसने भारतीय जनता को पारस्परिक प्रेम और सद्भावना का सन्देश दिया, मिथ्या-डम्बरो और पाखण्डो को चुनौती और जनता को विचार करने की शक्ति दी।

जनहितवादी नेता के नाते—कबीर एक मजदूर था और मजदूरी के इस सीधे सच्चे जीवन मे ही उसने दर्शन, समाज, धर्म और मानव-जीवन की परख की। अपने समय की कुरीतियो को परखा, धर्माडम्बरो को तोडा, दर्शन को नई रूप-रेखा दी और समाज को एक जनहितकारी पथ का सकेत दिया। जनता कबीर के लिए सब कुछ थी और वह भी गरीब जनता, वह जनता जिसे धर्म-शास्त्रो को पढने और सुनने का अधिकार नही था, जिसे जीवन मे धार्मिक शान्ति ग्रहण करने का कोई आश्रय नही था। मन्दिरो मे जिसकी पहुँच नही थी, समाज मे जिसका नीचा स्थान था, उच्च वर्गीय लोग उससे घृणा करते हुए भी भगवान् के उपासक थे, उस भगवान् के जो दीनो का सहायक है। धर्म और भगवान् का

न जाने क्या अर्थ था इन रूढिवादी विचारको के मस्तिष्क में, परन्तु कबीर के लिए वह मान्य नही था।

कबीर की सहज-भावना जनहित की भावना थी। धर्म के क्षेत्र मे प्रतिबन्ध का होना भारत के एक बहुत बडे जन-समुदाय के मस्तिष्क मे असन्तोष का कारण बनी हुई थी। कबीर ने जन-हितकारी आन्दोलन की नीव रखी और समाज तथा धर्म के क्षेत्रो मे सकुचित दृष्टिकोणो का खण्डन किया तथा मानव मात्र के लिए धर्म का मार्ग उन्मुक्त कर दिया। अपने सहज-भगवान् के मार्ग से कबीर ने, मन्दिर, मसजिद, माला, घन्टे, घडियाल-शख इत्यादि सब उठा लिए और जनता के लिए वह सहज मार्ग सुझाया कि जिन पर चलाने मे किसी को भी कठिनाई और आपत्ति न हो सके।

जन-हित की भावना कबीर के हृदय मे वर्तमान थी। दलित, गिरे और पिछडे वर्गों के उत्थान का कबीर ने सन्देश दिया और उन्हे ऊपर उठाकर समाज मे उच्च वर्ग वालो के पास बिठला दिया।

कबीर का क्षेत्र पूर्ण रूप से कर्म और समाज ही था। आर्थिक क्षेत्र मे उन्होने घुसने का प्रयास ही नही किया परन्तु इतना तो सत्य ही है कि अर्थ-प्रधान वर्ग विशेषो का कबीर पर कोई प्रभाव नही था और पैसे को उन्होने व्यक्ति से ऊपर कभी विशेषता प्रदान नही की।

कबीर-पन्थ का प्रचार आज भी हम दलित वर्ग के अन्दर ही विशेप रूप से पाते हैं। कबीर का यही वह जनहितकारी दृष्टिकोण था जो आज के युग मे महाकवि टैगोर की वाणी मे भी प्रस्फुटित हुआ और विश्व के कानो में गीताञ्जलि बनकर गूँज गया।

कबीर जनता का विचारक, जनता का धर्माचार्य, जनता का सुधारक और जनता का प्रतिनिधि था। उसकी वाणी के शब्द-शब्द से जन-हित की भावना झकृत होती थी। कबीरदास भारतीय परम्परा के अनुसार सम-दर्शन के मानने वाले थे। यो ऊपर से देखने पर तो साम्यवाद से उसके विचारो का मेल नही खा सकता क्योकि कबीर देहवादी व्यक्ति न होकर आत्मवादी व्यक्ति थे और दैहिक सुख समृद्धि के पश्चात् भी वह कुछ अन्य प्राप्य वस्तुएँ मानते थे, परन्तु जहाँ तक जन-हित के क्षेत्र मे समता का सम्बन्ध है यह तो कबीर की ही साधना थी।

आधुनिक साम्यवाद और कबीर का समदर्शन—कबीर के समदर्शन और आधुनिक साम्यवाद में मौलिक अन्तर है। कबीर का "आत्मवाद मनुष्य के सासारिक और सामाजिक सुख-सन्तोष की ओर एकदम उदासीन नही। उसकी व्यवस्था करने में यह भौतिक साम्यवाद से पीछे नही प्रत्युत स्थायित्व और व्यापकता की दृष्टि से उससे कही आगे ही बढ़ा हुआ है। उसके दिए सुख मे ईंधन के योग से निरन्तर धधकती रहने वाली अग्नि की तरह बढती हुई अमिट

लालसा नही, स्थायी तृप्ति और शान्ति है, क्योकि भौतिक सुख उसका साध्य नही, किसी बडे साध्य के लिए साधन मात्र है। उसकी तृप्ति और शान्ति भीतर से आती है, केवल बाह्य साधनो पर अवलम्बित नही। आत्मवादी शरीर और मन की आवश्यकताओ और इच्छाओ का दास नही, स्वामी है, इसलिए भोग-सामग्रियो को वह भोग भी सकता है, ठुकरा भी सकता है। उसके उस निर्द्वन्द सुख की तुलना हो ही नही सकती। रही समता की बात सो आत्मवादी का साम्य-सिद्धान्त केवल देश या वर्ग विशेष के व्यक्तियो तक ही सीमित नही है, न वह केवल अपने कट्टर अनुयाइयो के लिए है। उसके विश्व-समाज मे प्रत्येक देश, प्रत्येक जाति और प्रत्येक धर्म के मनुष्यो के लिए समान स्थान है। भौतिक और आध्यात्मिक साम्यवाद मे सबसे बडा अन्तर इस बात का है कि पहला तो बाह्य भौतिक सामग्रियो पर नियन्त्रण करके उनके समान वितरण द्वारा व्यक्तियो की सुख-सुविधा का प्रबन्ध करता है और दूसरा भौतिक परिस्थितियो की अनिवार्य विषमता को आन्तरिक एकत्व-दर्शन के द्वारा दु ख और कलह के स्थान पर सुख और शान्ति का कारण बना देता है।"

—(कबीर साहित्य का अध्ययन, पृ० ३७७-३७८)

कबीर को हम भारतीय आध्यात्मिक समदर्शन का प्रतीक मानते है। यह सच है कि आपने आर्थिक क्षेत्र मे कोई क्रान्ति की बीजारोपण नही किया परन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र मे सम-भावना का सदेश आपने दिया और बडी ही निर्भीकता के साथ दिया, पुराने पोंगापथी आडम्बरवादी आचार्यो का सीधा-सीधा विरोध करके दिया। कबीर ने न तो प्राचीन शास्त्र-पथ को अपनाया और न समाज के वर्तमान वर्गीकरण मे ही अपनी आस्था प्रकटकी। आपने त्याग, तपस्या, सदाचार, समता और सद्भावना का वह साम्यवाद भारतीय जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया जिसमे जन-हित की भावना निहित थी और थी समूचे मानव जगत की बहिर तथा आन्तरिक शान्ति।

कबीर का हर सदेश किसी व्यक्ति, समाज, जाति, देश या वर्ग-विशेष के लिए नही है। वह तो मानव मात्र के लिए है। हम कबीर को मध्ययुग का सब से बडा जनवादी विचारक मानते है, जिसने जनता के बीच की अनेको दीवारो को गिराकर समाज मे एक समतलता लाने का प्रयास किया और धर्म की उस रूढिवादी विचार-धारा के विरुद्ध आवाज उठाई जो इस युग की प्रधान शक्ति थी, राजनीति के क्षेत्र पर जिसका प्रधान प्रभाव था और जनता के भी स्वार्थी उच्च वर्ग की जिसके साथ सहानुभूति ही नही उसमे मान्यता भी थी।

क्रान्तिकारी के नाते—सक्षेप मे, कबीर और कबीर-साहित्य पर एक दृष्टि डालने के पश्चात् हम कबीर में उसकी सत्यानुभूति के दर्शन पाते है। सत्यानुभूति मे उनकी अलौकिक प्रतिभा ने योग दिया—जिसके फलस्वरूप कबीर के दर्शन और उसके सिद्धान्तो का निर्माण हुआ। कबीर का जीवन हमे प्रयोगो

और सत्यान्वेषणो की श्रखला-सी प्रतीत होता है। शाश्वत आत्मतत्व का कबीर की अलौकिक प्रतिभा द्वारा गुणगान नही किया गया वरन् इतिहास लिखा गया है। इन खोज और परख के प्रयोगो को करते समय जो असत्य और मिथ्या जँचा है उसके त्याग पर बल देने मे कबीर ने सकोच नही किया। कबीर इस दिशा में महान् क्रान्तिकारी रहा है। महान सम-दर्शनवादी रहा है और महान् जन-हित की भावना को उसने अपनी वाणी द्वारा मुखरित किया है। मध्य-युग के विचारको मे कबीर की यह सम-दर्शन की भावना विश्व-इतिहास मे क्रान्ति-अध्याय के ही पन्ने पर लिखी जायगी।

कबीर अपने युग का एक सबल प्रतिभाशाली क्रान्तिकारी था। प्रतिभा की चारो प्रधान शक्तियाँ तत्व-ग्राहणी शक्ति, तत्व-धारणा शक्ति, उद्भावना शक्ति और अभिव्यञ्जना शक्ति कबीर मे अपरिमित रूप से विद्यमान थी। केवल सुनने मात्र से वह तत्व ग्रहण कर लेते थे। जटिल-से-जटिल विषय उनके समक्ष सरल और सहज थे। हिन्दू और मुसलमानो के दर्शन को आत्मसात कर अपना साम्यवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत कर देना कबीर की प्रतिभा की तत्व-ग्राहिणी शक्ति के ही फलस्वरूप सम्भव हो सका। तत्व जानने के साथ-ही-साथ उन्हे हर समय धारण किये रहने और स्मरण रखने की शक्ति भी कबीर मे विशेष थी। कबीर का मस्तिष्क एक सागर के समान था जिसके अन्तर मे तथ्य और अनुभवो के असंख्य रत्न विद्यमान थे।

तत्व ग्रहण और धारण करने के साथ-ही-साथ कबीर मे उद्भावना और अभिव्यञ्जना की भी कमी नही थी। कबीर के कथन मे एक मौलिक कल्पना का रूप हमे दिखलाई देता है। प्रचण्ड कल्पना कबीर-साहित्य मे विद्यमान है। कबीर की रहस्यवादी विरह-वेदना का जन्म कबीर की कल्पना-शक्ति से ही हुआ है। वह कल्पना—कितनी मधुर, कितनी कोमल और कितनी हृदयग्राही है। कबीर के रूपको को, उलटवासियो, अन्योक्तियो इत्यादि मे हमे कवि की मौलिक योजना के दर्शन होते हैं। कबीर-साहित्य मे हमे पिष्ट-पेषण नही मिलता, वहाँ तो हर अभिव्यक्ति कबीर के अपने साँचे मे प्रथक से ढलकर आती है। कबीर के विचारो का तो साँचा ही अलग है—और वह है सहज का साँचा। केवल 'सहज' शब्द मे कबीर का दर्शन, कबीर की विचारधारा, कबीर की कल्पना, कबीर की अभिव्यञ्जना, कबीर की मौलिकता सभी कुछ तो आ जाते है। कबीर की अभिव्यञ्जना ही कबीर की वाणी का प्राण है। कवि की प्रतिभा को अनुप्राणित करने वाली शक्ति यही अभिव्यञ्जना है और इसी के द्वारा कवि के भावो की अभिव्यक्ति होती है। यहाँ आचार्य हजारीप्रसाद जी का निम्नलिखित वाक्य फिर हमारे कानो में बज उठता है—"कबीर भाषा का डिक्टेटर है······ जिस बात को उन्होने जिस रूप मे प्रकट करना चाहा है उसी रूप में भाषा से कहलवा लिया है। बन गया है तो सीधे-सीधे नही तो दरेरा देकर। भाषा कुछ

मुसलमानो के भारत मे आकर बस जाने से देश के वातावरण मे और विशेष रूप से देश के विचारको के मस्तिष्क मे किसी 'सामान्य' मार्ग को खोज निकालने की धुन तो यो वीरगाथा काल मे ही आरम्भ हो चुकी थी। नाथ-पथी योगी और सिद्धो ने यह मार्ग खोज ही निकाला था परन्तु सगुण-भक्ति के सामने 'सामान्य-भक्ति' के निर्गुणवादी दृष्टिकोण को सर्वप्रथम जन-समुदाय तक सफलतापूर्वक पहुँचाने का श्रेय महात्मा कबीर को ही पहुँचता है। जिन शास्त्रज्ञ विद्वानो को नाथ-पथी योगी और सिद्ध किंचित मात्र भी प्रभावित न कर सके थे उन्हे सर्वप्रथम कबीर ने ही ललकारा।

जैसा कि हम पीछे सकेत कर चुके है कबीर ने समन्वय की भावना से अपने साहित्य का सृजन किया। उन्होने तो जो कुछ भी कहा है उसमें अपने समय के विभिन्न विचारो और विचारको के मूल तत्त्वो को सँजोकर ही कहा है।

निर्गुण पन्थ की स्थापना—निर्गुण की उपासना का जो मार्ग कबीर ने सुझाया और उसके अन्तर्गत जो विचारो की परम्परा बनी उसमे समय के प्राय सभी सम्प्रदायो, दर्शन-शास्त्रो, धर्म-ग्रन्थो और रहस्यवादी विचारो का एकीकरण हो गया है। योग, वैष्णव-धर्म और बुद्ध-धर्म के तत्व किसी न किसी रूप मे इस निर्गुण-पन्थ की विचारधारा के अन्दर निहित थे। इस धारा मे बुद्ध-धर्म का 'शून्य-वाद और 'जिब्बान' भी था और गुरु गोरखनाथ का हठयोगी तात्रिक मायाजाल भी, वेदान्त का अद्वैत भी था, सूफी धर्म की प्रेम-पीर का विरह-वर्णन भी, पतञ्जलि और कपिल के योग-सूत्रो का भी सकेत था और वैष्णवो की दास्य-भक्ति भी इसमे कूट-कूट कर भरी थी। निर्गुण-पथ का साहित्य तीखा भी था और मीठा भी, कसक भी थी उसमे और फटकार भी। वास्तव मे निर्गुण-धारा का यह साहित्य अपने समय की महान जन-हित क्राति का सदेश था। यह सदेश जनता के निकट पहुँचा और देश की पराधीन परि-स्थितियो के बावजूद भी उसने कम-से-कम धर्म के क्षेत्र मे समानता स्थापित

कबीर के सामने लचर-सी नजर आती है। उसमे मानो इतनी हिम्मत ही नही कि वह लापरवाह फक्कड की किसी फरमाइश को नाही कर सके।" मतलब यह है कि कबीर मे अभिव्यक्ति-सौष्ठव पूर्णरूप से विद्यमान है।

एक क्रातिकारी प्रतिभासम्पन्न विचारक के नाते कबीर ने मध्य-युग की जनता को जनहित का मार्ग सुझाया। कबीर मे प्रतिभा के साथ-ही-साथ अनुशीलन की विलक्षण शक्ति भरी पडी थी। अनुशीलन ही उनकी परख की कसौटी थी। अनुशीलन के पश्चात् सत्य जँचने वाली वस्तु का समर्थन और असत्य लगने वाली वस्तु का खण्डन करना वह अपना धर्म समझते थे। कबीर का अनुशीलन निष्पक्ष था, अरूढिवादी था, पूर्ण रूप से बौद्धिक था परन्तु कुछ मान्यताओ को लेकर, कुछ विश्वासो के साथ। अपने अनुशीलन में सत्य जँचने वाली प्रणालियो का प्रतिपादन कबीर ने अनेको बवडरो का सामना करते हुए भी किया। कबीर ने सर्वदा नीर-क्षीर का निर्णय अपनी इसी अनुशीलन प्रवृत्ति के आधार पर विवेक का आश्रय ग्रहण करके किया। समाज, धर्म, दर्शन, साहित्य सब कबीर ने इसी कसौटी पर कसे।

विशुद्ध अनुशीलन के फलस्वरूप कबीर को बहुत सी अच्छी बाते सग्रह करने का अवसर मिला, बहुत से ताजे विचारो को वह सग्रहीत कर सके और फिर अपनी वाणी द्वारा उन्हे कबीर ने जनता तक भी पहुँचाया। आत्मा और परमात्मा की जटिल ग्रन्थियो को खोलने के साथ-ही-साथ कबीर ने व्यक्ति के जीवन की सचाई पर भी विशेष बल दिया है और आचरण का आदर्श जनता के सामने रखा। कबीर ने हर स्थान पर मिलने वाले ऊँचे विचार को अपनाया है, उसका सम्मान किया है और यही विचार वास्तव मे कबीर की वाणी की वह अमूल्य सम्पत्ति हैं जो युग-युग तक मानव के अन्धकार पूर्ण मार्ग को प्रकाशमान करते रहेंगे।

कबीर का समस्त जीवन उनके काल की परिस्थितियों की प्रतिक्रिया है। कबीर के जीवन की क्रांतिमय भावना कभी भी युगीन अधकारपूर्ण प्रवृत्तियो का साथ नही दे सकती थी। अनेको धर्म और साधनाओ के बीच बाह्याडम्बरो और स्वार्थ की पोल देखकर कबीर तिलमिला उठा। उसकी विचारधारा सहन ही न कर सकी उन्हे और उनके विरुद्ध कबीर ने प्रचण्ड रोष-प्रकट किया। समाज, धर्म, दर्शन और सभी विचारो, प्रवृत्तियो तथा साधनो पर कबीर की दृष्टि गई और कबीर ने सभी को अपने दृष्टिकोण से पछोर कर देखा और अनुशीलन द्वारा परखा। इस निरन्तर प्रयोग और अनुशीलन की भट्टी मे तपाकर यह विचारक सन्त जो कुन्दन भी अपने जीवन भर तय्यार कर सका बस वही कबीर की वाणी है, वही कबीर की मानव को देन है, वही कबीर के जीवन की साधना है, आराधना है, प्रयास है, विचार है—कबीर का सब कुछ वही तो है।

की। निर्गुण पथ का यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य था जिसने विविध विचारो के मूल तत्वो को एक ही स्थान पर सग्रहीत कर दिया। यही मार्ग सत-साहित्य का मध्य-मार्ग था।

मध्य-मार्ग ग्रहण करने की भारतीय प्रवृत्ति कबीर और उनके पश्चात् आने वाले सत साहित्य के कर्णधारो ने अपनाई। वेद, ब्राह्मण-ग्रन्थ, पुराण, रामायण, महाभारत, गीता और उसके पश्चात् जैन, बौद्ध, महायान, नाथ-सम्प्रदाय—यह जितने भी ग्रन्थ और सम्प्रदाय हमारे सामने है इन सभी मे मध्य-मार्ग की प्रवृत्ति पाई जाती है। वास्तव मे भारतीय दृष्टिकोण आदि काल से विद्रोहात्मक न होकर परिवर्तनशील रहा है और किसी भी नवीन बात को ग्रहण (Adopt) करने की भी इसमे क्षमता रही है। भारतीय सस्कृति की ही यह विशेषता है कि वह सभी विचारधाराओ को अपने मे समोकर अपना बना लेती है। भारतीय सस्कृति की यह विशेषता भारत मे जन्म लेने वाली प्राय सभी प्रधान विचार-धाराओ और धर्मों मे रही है।

अद्वैत और द्वैत योग—निर्गुण धारा ने भी समय के प्रचलित सभी दर्शनों को आत्मसात किया और सभी सम्प्रदायो के लोगो को अपनाया। सभी धर्म-ग्रन्थो की विचारधाराओ और धार्मिक-सिद्धान्तो का सम्मिश्रण भी चलता गया। एकातिक धर्म का विकास हुआ और शङ्कराचार्य ने ईश्वरवाद को विशेष मान दिया। परन्तु इस मत के प्रति विपरीत विचार रखने वाले पैदा होते जा रहे थे। विचार के गर्भ मे विशिष्टाद्वैत, द्वैत, भेदाभेद इत्यादि ग्रन्थियाँ पडने लगी थी। स्वामी रामानन्द ने अद्वैत और द्वैत का मिश्रण कर विशिष्टाद्वैत की स्थापना की। शकर का अद्वैत और वैष्णव-भावना का द्वैत एक स्थान पर आकर एक दूसरे मे तिरोहित हो गए।

प्राचीन योग और बौद्ध धर्म का योग – इसी काल मे प्राचीन योग बौद्धिक विचारो और परम्पराओं का भी सम्मिश्रण हुआ। इन दोनो के योग से योगा-चार-तत्रवाद की स्थापना हुई। योगाचार-तत्रवाद को मानने वाला सिद्धो का एक बहुत बलवान समुदाय बना, परन्तु ज्यो ही इसमे शृगार का पदार्पण हुआ तो उनके विचारको मे खलबली मच गई और यह सम्प्रदाय वज्रयान और नाथ दो पृथक सम्प्रदायो मे बँट गया। सिद्ध-सम्प्रदाय ने शृगार का घोर विरोध किया और यही विरोधी सम्प्रदाय नाथ-सम्प्रदाय बना। इसी समय मे इस योग ने वैष्णव-धर्म को भी प्रभावित किया। वैष्णव-धर्म मे योग की मान्यता तो पहिले से ही वर्तमान थी—केवल प्रश्न था इस नये प्रकार के योग को अपनाने का। सो उसमे अधिक समय नही लगा।

इसी समय श्री राघवानन्दजी का प्रादुर्भाव हुआ जो अद्वैतवादी थे और योगी भी। रामानन्द ने इन्ही से अद्वैतवाद की दीक्षा ली। राघवानन्दजी के सम्पर्क से रामानन्द के जीवन मे वेदान्त, भक्ति और योग तीनो समय के प्रचलित

रूपो के प्रति मोह उत्पन्न हो गया और उन्होने तीनो को ही अपना लिया। रामानन्द ने तीनो खजानो की निधि बटोरकर महाकवि कबीर के लिए एकत्रित कर दी। निर्गुण पन्थ की परम्परा का यही मूल सिद्धान्त था जिसका स्थिर रूप रामानन्द ने ही निश्चित कर दिया था।

निर्गुण पन्थ को कबीर की देन—रामानन्द द्वारा निर्धारित वेदान्त, वैष्णव धर्म और योग की विचारधारा के एकीकरण को कबीर ने ज्यो का त्यो अपना लिया, उससे उन्हे कोई विरोध हो ही नही सकता था। परन्तु साथ ही कबीर इस विचारधारा मे मूर्तिपूजा और अवतारवाद को ग्रहण न कर सके। वैष्णव धर्म की इन दो प्रधान मान्यताओ पर इन्हे आपत्ति थी और इनका कबीरदास ने जी खोलकर खडन किया। इन दो प्रधान बातो के अतिरिक्त तीर्थाटन, माला इत्यादि और बाह्याडम्बरो वाली धर्म की विशेष मान्यताओ को भी कबीर ने अपनी विचारधारा मे स्थान नही दिया।

सासारिक स्त्री पुरुष के रूपक मे ब्रह्म और आत्मा को बाँधने का भी प्रथम प्रयास कबीर का ही है। कबीर ने ही सर्वप्रथम इस निर्गुण-धारा के अन्तर्गत ईश्वर और आत्मा को नर और नारी के रूपको मे पाया। मूर्तिपूजा और अवतारवाद का खडन हो सकता है कबीर ने मुसलमान विचारधारा से प्रभावित होकर किया हो परन्तु स्त्री और पुरुष के रूप मे ईश्वर और आत्मा को देखना—भारत की प्राचीन परम्परा है। सूफी लोग भगवान् को स्त्री और आत्मा को पुरुष के रूप मे देखते हे। जायसी के पद्मावत ग्रन्थ मे रत्नसेन आत्मा है और पद्मनी परमात्मा, परन्तु कबीर ने उलटा ही रखा है।

कबीर ने अपने साहित्य मे वेदान्त, योग और भक्ति तीनो का समन्वय करने पर भी तीनो को फटकारे बतलाई है। कबीर की विचारधारा वैष्णवो के सब से अधिक निकट रही है क्योकि इनमे कबीर को दम्भ का लोप और समरसत्ता की भावना के दर्शन हुए। भक्ति की भावना मे प्रपत्ति का होना कबीर को बहुत प्रिय हो चला था और फिर उनकी 'सहज' भावना को वैष्णव-धर्म मे ही विश्राम मिल सकता था। परन्तु यह सब बात होने पर भी उन्हे पूर्ण वैष्णव कहना भूल होगी क्योकि वैष्णव-धर्म की साधारण मान्यताओ पर विश्वास रखते हुए भी उसकी विशेष मान्यताएँ मान्य नही थी। वैष्णव-धर्म के कर्मकाण्ड मे कबीर की बिल्कुल आस्था नही थी और उसका उन्होने खण्डन भी किया है। परन्तु जहाँ कर्म-काण्ड, अवतारवाद और मूर्ति-पूजा का खण्डन किया है वहाँ वैष्णवो की प्रशंसा भी कबीर ने की है। जहाँ तक धर्माचरण का सम्बन्ध है कबीर वैष्णव सम्प्रदाय से प्रभावित थे।

कबीर का प्रयास एक नया धर्म चलाने का कभी नही रहा, कुछ विद्वानो का ऐसा विचार है और वह केवल समय के प्रचलित धर्मों मे ही सुधार की प्रवृत्ति को लेकर आगे बढे। हमारा मत इससे भिन्न है। एक विचारधारा, कबीर-जैसी

निश्चित विचारधारा, रखने वाला व्यक्ति जिसमे अपने समय के धर्म और समाज के प्रत्येक अग को छुआ ही नही टटोला और झझोडा था उसे फिर कुछ सुधार के पश्चात् वही पर छोड दे, यह कैसे सम्भव हो सकता था। कबीर के पास अपनी व्यवस्था थी। उसने जिस विचारधारा को भी लिया है उसे काट-छाँट कर अपने अनुकूल बना लिया है। और चारो ओर सभी धर्मों और ग्रन्थो मे मिलने वाले मानवहितकारी सूत्रो को एकत्रित कर अपने सहज-धर्म मे जोड दिया है। कबीर का यही सहज-धर्म भारत मे प्रचलित सभी धर्मों को हज्म करने की क्षमता रखता था। इसमे क्या कुछ नही समा सकता था ?

कबीर ने निर्गुण-पक्ष को सभी कुछ प्रदान किया। धर्म की व्यवस्था दी, समाज का ढाँचा दिया, व्यक्ति के आदर्श दिए, कर्त्तव्य की दृढता और महानता दी, बुद्धिवादी दृष्टिकोण दिया, आडम्बरो के खण्डन की प्रवृत्ति दी, निर्भीक विचारो को क्षमता दी, क्रान्ति का सन्देश दिया, मानव-हित का मार्ग सुझाया—क्या नही दिया कबीर ने। और यह जो कुछ भी कबीर ने दिया यह न केवल नाथ-पन्थ को ही दिया वह भारत-मात्र ही नही, मानव को दिया। धार्मिक सहिष्णुता लाने के लिए कबीर ने जनता का ध्यान धर्म के बाहरी आचार-विचारो की ओर से खीच कर उसके प्रधान तत्त्वो पर केन्द्रित किया। व्यर्थ के आडम्बरो मे भी उसे नही फॉसा और न शब्दो, आदर्शो और परम्पराओ के जजाल मे।

कबीर ने जो धर्म की व्यवस्था दी उसमे न तो उपासना है और न कर्म-काण्ड की व्यवस्था। वहाँ तो केवल सार-गृहण मे आस्था मात्र है और यही कबीर का सहज-धर्म है। धार्मिक सम्प्रदायो की शृखला बाँधने के लिए धर्माचार्य जो कर्म-काण्ड निश्चित् कर देते है वही अन्त मे जाकर उन धर्मो का वह रूढिवादी दृष्टिकोण बन जाता है कि जिनके प्रतिक्रिया स्वरूप दूसरे धर्म का जन्म लेना अवश्यम्भावी हो जाता है। परन्तु कबीर का सहज-धर्म तो ऐसा व्यापक है कि इसमे प्रतिक्रिया का कोई स्थान ही नही। यहाँ तो सब क्रिया ही क्रिया है। जो कुछ भी अच्छा हो, जो कुछ भी सच हो, जो कुछ भी बुद्धि को ठीक जँचे, जो कुछ भी मानव हित मे हो, वही इस सहज-धर्म का अग बन सकता था।

निर्गुण पन्थ के जन्मदाता—कबीर रामानन्द जी के शिष्य थे और उन्ही से कबीर न वेदान्त, योग और भक्ति के सगम पर दीक्षा ली और उन्ही की विचारधारा को जीवन भर कुछ परिवर्तन तथा परिवर्धित रूप मे आगे भी बढाया, परन्तु प्रश्न यह उठता है कि क्या रामानन्द जी निर्गुण-पन्थ के जन्मदाता थे—नही, यह सत्य नही है। उक्त तीनो विचारो के समन्वय का बीजारोपण कबीर के अन्तर मे करने का श्रेय तो रामानन्द को ही प्राप्त था परन्तु निर्गुण-पन्थ की परम्परा कबीर से ही स्थापित होती है। निर्गुण-पन्थ की प्रधान मान्यताओ का निर्धारण कबीर ने ही किया और पन्थ को एक रूपरेखा भी कबीर ने ही प्रदान की। साथ ही जो व्यवस्था तथा प्रचार नाथ-पन्थ का हुआ उसका

पूरा श्रेय कबीर को ही पहुँचता है। निर्गुण-पन्थ की स्थापना के विषय मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते है—"हृदय-पक्ष शून्य सामान्य अन्तस्साधना का मार्ग निकालने का प्रयत्न नाथ-पन्थी कर चुके थे, यह हम कह चुके है।[1] पर रागात्मक तत्त्व से रहित साधना से ही मनुष्य की आत्मा तृप्त नही हो सकती। महाराष्ट्र देश के प्रसिद्ध भक्त नामदेव (स० १३२८-१४०८) ने हिन्दू-मुसलमान दोनो के लिए एक सामान्य भक्ति-मार्ग का भी आभास दिया था। उनके पीछे कबीरदास ने विशेष तत्परता के साथ एक व्यवस्थित रूप मे यह मार्ग 'निर्गुण-पन्थ के नाम से चलाया। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कबीर के लिए नाथ-पन्थी जोगी बहुत कुछ रास्ता निकाल चुके थे। भेद-भाव को निर्दिष्ट करने वाले उपासना के बाहरी विधानों को अलग रखकर उन्होने अन्तस्साधना पर जोर दिया था। पर नाथ-पन्थियो की अन्तस्साधना हृदय-पक्ष शून्य थी, उसमे प्रेम-तत्त्व का अभाव था। कबीर ने यद्यपि नाथ-पन्थ की बहुत सी बातो को अपनी बानी मे जगह दी, परन्तु यह बात उन्हे खटकी। इसका सकेत उनके यह वचन देते है—

झिलमिल झगरा झूलते बाकी रही न काहु।
गोरख अटके कालपुर कौन कहावै साहु॥
बहुत दिवस ते हिडिया सुन्नि समाधि लगाइ।
करहा पड़िया गाड़ मे दूरि परा पछिताइ॥

(करहा= (१) करभ, हाथी का बच्चा (२) हठ योग की क्रिया करने वाला)

अत कबीर ने जिस प्रकार एक निराकार ईश्वर के लिए भारतीय वेदान्त का पल्ला पकडा था उसी प्रकार उस निराकार ईश्वर की भक्ति के लिए सूफियो का प्रेमतत्व लिया और अपना 'निर्गुण-पन्थ' बडी धूम-धाम से निकाला। बात यह थी कि भारतीय भक्ति-मार्ग साकार और सगुण रूप को लेकर चला था, निर्गुण और निराकार ब्रह्म-भक्ति या प्रेम का विषय नही माना जाता था। इसमे कोई सन्देह नही कि कबीर ने ठीक मौके पर जनता के उस बड़े भाग को सँभाला जो नाथ-पन्थियो के प्रभाव से प्रेम-भाव और भक्ति-रस से शून्य और शुष्क पडा था।

(हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६४)'

कबीरदास ने देश के वातावरण मे जिस निर्गुण-पन्थी भावना को जन्म दिया उसके फलस्वरूप कबीर-पन्थ, दादू-पन्थ, नानक-पन्थ, जग्गू-पन्थ, सत्नामी-पन्थ, साहित्य-पन्थ, राधास्वामी-पन्थ इत्यादि बहुत से पन्थो का जन्म हुआ। इन सभी पन्थो के गुरु प्रथक-प्रथक चाहे रहे हो परन्तु इनकी प्रधान मान्यताएँ वही रही है जिनकी स्थापना कबीरदास अपने सहज-धर्म मे कर गये।

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल पृ० १६

निर्गुण-पन्थ एक विचारधारा—इस प्रकार ऊपर देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि निर्गुण-पन्थ कोई सम्प्रदाय नही वरन् एक महान विचारधारा थी, धर्म की व्यवस्था थी और वह इतनी व्यापक थी कि सृष्टि के अन्त तक आने वाला कोई भी स्वतन्त्र विचारक उसमे स्थान पा सकेगा। उसे अपना नया घर बनाना नही होगा केवल मडैया डाल लेनी होगी कबीर के साफ किये मैदान मे, कबीर ने तो विचारको के लिए एक व्यापक मैदान बना कर छोड दिया है, जहाँ पर पुरानी गली सड़ी दुर्गन्ध नहीं, चारो ओर से खुली हवा आती है और इस स्वच्छ वायु मण्डल मे बैठकर कोई भी विचारक अपने विचारो की सुगन्धि को फैला सकता है और जनता का हित कर सकता है। कबीर ने केवल उन पुरानी दीवारो को ढहाया है जिनके बन जाने से, कभी जन-हित की रक्षा हुई होगी, परन्तु आज स्वच्छ हवा रुक रही थी, दम घुट रहा था और उन दीवारो तथा छतो को रहने दिया जो जन-हित को सुरक्षा प्रदान करती थी।

कबीर ने जिस निर्गुण-विचारधारा को जन्म दिया वह निराली ही विचारधारा थी और उसमे हर स्वतन्त्र प्रकृति वाले फक्कड के लिए विचरने को मुक्त स्थान था, विचार करने के लिए स्वतन्त्र चेतना थी और कार्य करने के लिए मत-मतातरो और सम्प्रदायो की बदिशो से मुक्त वातावरण था। कबीर ने एक नई स्फूर्ति दी इस विचारधारा से देश की जनता को, देश के समाज को और देश के व्यक्ति को।

मध्य-युग मे गोरख-पन्थ की धारा, निर्गुण-पन्थी धारा, सगुण-पन्थी धारा और सूफी-धारा समानान्तर चलती रही है। सभी प्रवाहित हुई है अपने प्रथक-प्रथक रूपो को लेकर। कही पर यह आपस मे मिलती गई है और फिर प्रथक हो गई है-—परन्तु इन सभी का कार्य क्षेत्र एक होने पर भी, साम्यता बन जाने पर भी प्रथकता वर्तमान रही है। इन सब धाराओ की अपेक्षा निर्गुण धारा मे मध्य-मार्ग गृहण करने की प्रवृत्ति अधिक मात्रा मे पाई जाती है। इसी लिए इसके सिद्धान्त व्यापक होने पर भी इसकी ऊपरी रूप-रेखा इतनी उभर कर जनता के सम्मुख नही आ सकी और यह कोई कट्टरवादी पन्थ नही बन सका। इसे इस प्रकार रूढियो मे जकड कर कट्टरवादी पन्थ बनाना कभी कबीरदास का लक्ष्य भी नही रहा। कबीर का एक विचार था 'सहज प्रतीति' का और वह इसी का समावेश मानवहित के लिए उसकी धर्म-व्यवस्था और समाज-व्यवस्था मे करना चाहते थे।

कबीर अपनी विचारधारा को प्रसारित, प्रचारित और प्रतिपादित करने मे पूर्ण रूप से सफल रहे। जैसा हम ऊपर सकेत कर चुके है इस विचारधारा मे बहकर बहुत से सन्त-विचारको ने अपने पन्थ चलाये और सभी ने कबीर को मान्यता दी। कबीर की वाणी को अपनाया और अपने पन्थ का श्रीगणेश ही उस वाणी से किया।

निर्गुण-धारा के कवि—महाराष्ट्र मे नामदेव ने सामान्य भक्ति-मार्ग की विचारधारा को प्रवाहित किया और अपनी कविता का श्रोत भी बहाया परन्तु उन्हे हम निर्गुण-मार्गी कवियो की परम्परा मे स्थान नही दे सकते। इस धारा का प्रवाह तो हम कबीर की ही वाणी से मानते है। कबीर वास्तव मे इस विचारधारा के जन्मदाता और इस प्रणाली की कविता का श्रीगणेश करने वाले कवि थे। कबीर के विषय मे हम पीछे विस्तार के साथ कह चुके हैं, इसलिए और कुछ यहाँ नही कहेगे। कबीर के पश्चात् इस धारा मे बहकर अपनी रचनाए हिन्दी साहित्य को प्रदान करने वाले कवियो का सक्षेप मे परिचय करा देना यहाँ पर आवश्यक है। कबीर के पश्चात् दूसरे निर्गुण विचारक सन्त कवि रैदास या रविदास है।

रैदास या रविदास—रामानन्दजी के बारह शिष्यो मे रैदास जी भी अपना विशिष्ट स्थान रखते है। रैदास जी जाति के चमार थे। रैदास जी ने अपने ही पदो मे अपने को चमार[1] कहा है। कबीर की भाँति रैदास भी काशी के ही रहने वाले थे।[2] इनकी भक्ति भी निर्गुण विचार-धारा के अतर्गत ही बहती है। मीराबाई और धन्ना ने इनका नाम बडे आदर के साथ लिया है। सन्त रैदास के कई शिष्य हुए और पछाँह की ओर इनके फर्रुखाबाद और मिर्जापुर मे सम्प्रदाय भी पाये जाते है।

रैदास की रचनाओ का कोई ग्रन्थ-विशेष नही मिलता। कुछ फुटकल पद सन्त बानी सीरीज मे 'रैदास-बानी' के नाम से संग्रहीत है। इनके चालीस पद आदि गुरुग्रन्थसाहब मे मिलते है। एक पद देखिए—

माधव क्या कहिए प्रभु ऐसा जैसा मानिए कोई न तैसा।
नरपति एक सिहासन सोइवा, सपने भया भिखारी।
अछत राज बिछुरत दुखु पाइया, सोगति भई हमारी॥

इन पक्तियो को पढने से पता चलता है कि इनमे निर्गुण-विचारधारा का सार भरा हुआ है।

धर्मदास—धर्मदास जाति के बनिए थे और इनका जन्मस्थान बाँधवगढ़ था। साधु-सत्सग इन्होने बाल्य-काल से ही प्रारम्भ कर दिया था और दर्शन, पूजन, तीर्थाटन इत्यादि मे रत रहने लगे थे। कबीर से धर्मदास का साक्षात्कार मथुरा से लौटते समय हुआ। जब इन्होने कबीर से मूर्तिपूजा, तीर्थाटन, देवार्चन,

---

१. ऐसी मेरी जाति विख्यात चमार।
—(हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ८१)

२. जाके कुटुम्ब सब ढोर ढोवत।
फिरहिं अजहुँ बानरसी आसपासा।

माला और अन्य पाखण्डों का खण्डन सुना तो यह बहुत प्रभावित हुए और इनका झुकाव निर्गुण-पन्थ की ओर होगया। धर्मदास का हृदय यही से परिवर्तित हुआ और उन्होने कबीर से 'सत्य नाम' की दीक्षा ले ली। इसके पश्चात् यह कबीर के जीवन पर्यन्त अनन्य भक्तो मे रहे। कबीर की समस्त बानी को सग्रहीत करने का प्रधान श्रेय इन्ही को पहुँचता है। सवत् १५७५ मे कबीर की मृत्यु के पश्चात् उनकी गद्दी पर धर्मदास ही बैठे।

धर्मदास बहुत बडे त्यागी थे और जब इन्होने कबीर से दीक्षा ली थी तो अपनी सब सम्पत्ति ही दीन-दुखियो मे लुटा दी थी। कबीर के पश्चात् लगभग बीस वर्ष तक धर्मदास गद्दी पर रहे और जब इन्होने अपना शरीर छोडा तो यह बहुत वृद्ध थे।

धर्मदास की कविता कबीर की अपेक्षा सरल और मधुर है। कठोरता और कर्कशता उसमे बिलकुल नही है। भाषा इन्होने पूर्वी ही प्रयोग की है। धर्मदास ने जो अन्योक्ति के व्यञ्जक चित्र अपनी बानी मे प्रस्तुत किये है वह बहुत ही सुन्दर तथा मार्मिक है। कबीर की भाँति धर्मदास का झुकाव विशेष रूप से खण्डनात्मक प्रवृत्ति और उपदेशात्मकता की ओर नहीं रहा। इनकी जो रचनाएँ मिलती है उनमे प्रेम की ही प्रधानता है। धर्मदास की कविता का एक उदाहरण देखिए—

मितऊ मड़ैया सूनी करि गैलो
अपना बलम परदेस निकरि गैलो, हमरा के बिछुवौ न गुन दै गैलो।
जोगिन होइके मै बन-ढूँढो, हमरा के विरह-बैराग दै गैलो॥
सग की सखी सब पार उतरि गइलो, हम धनि ठाढ़ि अकेली रहि गैलो।
धरमदास यह अरज करतु है, सार सबद सुमिरन दै गैलो॥

यहाँ भी सूक्ष्म रूप से देखने से पता चलता है कि इस पद मे कबीर के विचारो की आत्मा समाविष्ट है।

नानक—सवत् १५२६ कार्तिकी पूर्णिमा के दिन नानक का जन्म तिलवण्ड ग्राम मे हुआ था। यह ग्राम लाहौर जिले मे है। इनके पिता कालूचन्द जी जाति के खत्री थे। यह लाहौर की शरकपुर तहसील के लिवण्डी नगर के पठान सूबा बुलार के कारिन्दे थे। नानक की माता का नाम तृप्ता था। नानक का स्वभाव बाल्यकाल से ही बहुत उदार और साधु-वृत्ति वाला था। स० १५४५ मे नानक का विवाह गुरदासपुर के एक खत्री श्री मूलचन्द जी की कन्या से हुआ। इस कन्या का नाम सुलक्षणी था। सुलक्षणी से श्रीचन्द और लक्ष्मीचन्द दो पुत्रो का जन्म हुआ। इन्ही श्रीचन्द जी ने आगे चल कर उदासी सम्प्रदाय की स्थापना की।

बाल्यकाल से ही नानक की प्रवृत्ति सासारिक व्यवहारो मे न थी। इसीलिए उनके पिता को उन्हे किसी उद्योग मे लगाने के अन्दर सफलता न मिली।

व्यवसाय करने के लिए उन्हे एक बार कुछ पूँजी दी भी तो वह सब इन्होंने गरीब साधु-सन्तो मे लुटा दी।

कबीर के समान ही नानक ने भी मध्य-मार्ग ही ग्रहण किया और निर्गुण-विचारधारा को अपनाकर ऐसा मत प्रचारित किया कि जो हिन्दू तथा मुसलमान दोनो को ही मान्य हो। नानक ने घरबार छोड कर दूर-दूर तक देशाटन किया और उपासना के क्षेत्र मे सामान्य स्वरूप को ही अपनाया। नानक सिख-सम्प्रदाय के आदि गुरु है। कबीर की भाँति यह भी भाषा के आचार्य नही थे और न ही शास्त्रो-विषयक इनका ज्ञान पूर्ण था। यह तो सत भक्त थे जिन्होने मस्ती मे आकर जनहित की भावना से जो कुछ भी कहा है वह सिख सम्प्रदाय का धर्म-ग्रन्थ बन गया यही है 'ग्रन्थ साहब'। ग्रथ साहब के भजन पजाबी और देश की अन्य भाषाओ मे हैं। हिन्दी का प्रयोग काव्य-भाषा ब्रज और खडी दोनो मे ही हुआ है। पजाबी का रूप तो कही पर भी झलक आता है। भाषा को पजाबी से मुक्त रखना नानक के लिए कठिन था। नानक ने विनय और भक्ति के सीधे सच्चे भावो को सीधे-साधे रूप मे प्रकट किया है। कबीर की उलटवाँसियाँ और टेढे-मेढे प्रयोग हमे नानक की कविता मे नही मिलते। नानक अहकार शून्य व्यक्ति थे जिनका स्वभाव बहुत ही सरल था और इनका यही भोलापन इनकी रचनाओ मे भी स्पष्ट रूप से झलकता है। नानक का देहान्त सवत् १५९६ मे हुआ।

जो नर दुख मे दुख नहिं मानै।
सुख सनेह अरु भय नहिं जाके, कंचन माटी जानै।
नहिं निंदा नहिं अस्तुति जाके, लोभ मोह अभिमाना
हरष शोक तें रहै नियारौ, नाहिं मान अपमाना॥
आसा मनसा सकल त्यागि कै जगतें रहै निरासा।
काम क्रोध जेहि परसै नाहिं न तेहि घट ब्रह्म-निवासा॥
गुरु किरपा जेहि नर पै कीन्हीं तिन्ह यह जुगति पिछानी।
नानक लीन भयो गोबिन्द सों ज्यो पानी सग पानी॥

—(हिन्दी के कवि और काव्य—भाग २, पृ० ६९)

नानक की कविता मे इस प्रकार हमने देखा कि सरलता तो है और भक्ति-भावना भी, परन्तु उस काव्यात्मकता का अभाव है जो कबीर की बानी मे उपलब्ध है। एक भक्त के लिए इसमें तल्लीन कर लेने की क्षमता अवश्य है परन्तु एक विचारक और साहित्यकार के लिए कम ही सामग्री उपलब्ध होती है।

दादूदयाल—दादूदयाल का जन्म सवत् १६०१ मे गुजरात के अहमदाबाद नामक स्थान पर हुआ। दादूदयाल की जाति के विषय में मतभेद है। एक मत के अनुसार ये मोची या धुनिया और दूसरे मत के अनुसार गुजराती ब्राह्मण ठहरते है। कहते हैं यह लोदीराम ब्राह्मण को सामरमति नदी के अन्दर

बहते हुए मिले थे । उस समय यह बच्चे ही थे और इसी ब्राह्मण ने इन्हे पाला । दादूदयाल को अधिकाश व्यक्ति नीच जाति का ही मानते है। दादूदयाल के गुरु के विषय मे कुछ पता नही । यह सच है कि दादूदयाल ने अपना पन्थ पृथक् से चलाया और उसका नाम दादू-पन्थ पडा, परन्तु इन्होने सिद्धान्त रूप से पूरी तरह कबीर का ही अनुकरण किया है । इन्होने कबीर का नाम बडे सम्मान के साथ लिया है ।

दादूदयालजी आमेर मे चौदह वर्ष रहे और फिर बीकानेर, मारवाड इत्यादि स्थानो पर घूमकर सवत् १६५६ मे नराना जाकर बस गए । यह स्थान जयपुर से बीस कोस दूर है । जीवन के अन्त-काल मे यह भराना चले गये थे जो नराना से लगभग चार कोस है । दादूदयाल का मृत्यु-सवत् १६६० माना जाता है । 'भराना' दादू पथियो का मान्य-स्थान है । यहाँ अभी तक दादूदयाल जी की पोथी और कपडे रखे हुए है।

दादूपथी लोग भी कबीर-पथियो की ही भाँति निर्गुण की उपासना करते है । तिलक लगाने और कठी पहनने की प्रथा इनमे भी नही मिलती । सुमरनी से सत्यनाम का जाप यह अवश्य करते है ।

दादू की बानी मे अधिकाश दोहे ही है, कबीर की साखी की भाँति कही-कही कुछ पद भी कहे है। प्रधान भाषा मिली-जुली हिन्दी है और उसमे राजस्थानी की कही-कही पर शब्दावली आ जाती है । गुजराती, राजस्थानी और पजाबी मे भी दादूदयाल ने कुछ पद कहे है । दादूदयाल की भाषा मे पूरबी-पन नही मिलता । अरबी और फारसी के शब्दो का इनकी वाणी पर काफी प्रभाव है। दादूदयाल पर सूफी प्रभाव भी कम नही मालूम देता । इसीलिए इनकी वाणी मे प्रेम तत्त्व की व्यञ्जना बहुत सुन्दर और मार्मिक बन पडी है। प्रेम-भावना को दादूदयाल ने बहुत ही सरसता और गम्भीरता के साथ अपनी बानी मे निभाया है । दूसरो को अप्रिय लगने वाला खण्डन दादूदयाल को प्रिय नही था । निर्गुण-पथ की जिन विचारधाराओ का हम ऊपर चित्रण कर चुके हैं उनका सुन्दर समावेश हमे दादूदयाल की बानी मे देखने को मिलता है। गुरु, सुमिरन, विरह, भक्ति और लौ, चितावनी, दुविधा, बेहद, समरथ, विनय, विश्वास, विचार, मौन, पतिव्रता इत्यादि दादूदयाल की बानी के वही विषय हैं जो कबीर ने अपनाये थे । एक बानगी इनकी कविता की भी देखिए—

जब बिरहा आया दरद सौ, तब कडवे लागे काम ।
काया लागी काल ह्वै, मीठा लागा नाम ।।
जे कबहूँ बिरहिनि मरै, तौ सुरति बिरहिनि होई ।
दादू पिव-पिव जीवताँ, मुवा भी टरै सोइ ।
मीयाँ मैंडा आव घर, वाँदी वत्ताँ लोइ ।
दुखड़े मुँहड़े गये मराँ विछोहै रोइ ।।

—(हिन्दी के कवि और काव्य—भाग २, पृ० ८२)

विरह की कसक देखिए—जायसी को भी पीछे उठाकर रख दिया है।

सुन्दरदास—जयपुर राज्य मे द्यौसा नामक स्थान पर सवत् १६५३ मे सत सुन्दरदास का जन्म हुआ था। सुन्दरदास जाति के बनिये थे। इनकी माता का नाम सती और पिता का नाम परमानन्द था। दादूदयाल द्यौसा मे गये तो सुन्दरदास जी उनसे बहुत प्रभावित हुए। उस समय सुन्दरदास जी की आयु केवल छै वर्ष की थी। तभी से यह दादूदयाल जी के साथ ही रहने लगे। सवत् १६६० मे दादूदयाल जी के देहान्त पर यह द्योसा आये। इनके साथ इनके मित्र जगजीवन भी थे। फिर यह जगजीवन जी के साथ काशी चले गये। वहाँ तीस वर्ष तक इन्होने शास्त्रो का अध्ययन किया। यह सस्कृत और फारसी के विद्वान् थे। काशी से लौट कर यह राजपूताने मे फतहपुर (शेखावाटी) नामक स्थान पर पहुँचे और वहाँ इन्होने रहना प्रारम्भ कर दिया। वहाँ के नवाव आलिफखाँ ने इनका बडा सम्मान किया। सुन्दरदास जी की मृत्यु साँगानेर मे कार्तिक शुक्ल ८ सवत् १७४६ को हुई थी।

सुन्दरदास जी शरीर के बहुत हृष्टपुष्ट और सुन्दर थे। वर्ण इनका गोरा था। इनका स्वभाव बहुत ही कोमल तथा सरल था। सुन्दरदास जी आदित्य ब्रह्मचारी थे और स्त्री सम्पर्क से दूर रहते थे। निर्गुण-पथ के जितने भी साधू सन्त हुए हे उन सभी मे सुन्दरदास जी से अच्छा शास्त्र-ज्ञान अन्य किसी मे नही। इनकी रचनाओ मे साहित्यकार सौष्ठव कूट कूट कर भरा है। सुन्दरदास जी ने अन्य सत कवियो की भाँति केवल गाने भर के लिए दोहे और चौपाइयो मे ही तुकबन्दी नही की, इन्होने तो सिद्धहस्त लेखको और कवियो की नाँई कवित्त और सवैयो की रचना की है। इनके छोटे बडे कई ग्रन्थ मिलते है। इनमे 'सुन्दरविलास' सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ है। सुन्दरदास ने अलग-अलग प्रान्तो के ऊपर कुछ फनतियाँ कसी है जो बहुत ही विनोदपूर्ण है।

सुन्दरदास जी एक विद्वान व्यक्ति थे। इन्होने जहाँ एक ओर सत-साहित्य की परिपाटियो को अपनाया है वहाँ दूसरी ओर लोक-धर्म को भी पूरी तरह निभाया है। कोरे निर्गुणवादियो की तरह दिल छीलने वाली टीका टिप्पणी इन्हे प्रिय नही रही। इनकी कविता का एक नमूना देखिए—

पीव की अदेसो भारी, तो सूँ कहूँ सुन प्यारी।
यारी तोरि गये सोतो, अजहूँ न आये है॥
मेरे तौ जीवन प्राण, निसि दिन उहै ध्यान।
मुख सूँ न कहूँ आन, नन उर लाय हैं॥
जब तें गए बिछोहि, कल न परत मोहि।
ता तें हूं पूछत तोहि, किन बिरमाये है॥
सुन्दर बिरहिनी को, सोच सखी बार-बार।
हम कू बिसार अब, कौन के कहाये हैं॥

—(हिन्दी के कवि और काव्य—भाग २, पृ० ११०)

इसमे साहित्यिक पुट है। इसी प्रकार की साहित्यिकता हमे सुन्दरदास की सब रचनाओ मे मिलती है। उन्होने तो व्यर्थ की तुकबन्दी करने वाले कवियो को भी फटकारा है—

> **बोलिये तो तब जब, बोलिबे की सुधि होइ।**
> **न तौ मुख मौन गहि, चुप होइ रहिये॥**
> **जोरिये तो तब जब, जोरिबे की जानि परै।**
> **तुक छंद अरथ अनूप जा में लहिये॥**
> **गाइये तौ तब जब, गाइबे को कंठ होइ।**
> **श्रवण के सुनत ही मन जादू गहिये॥**
> **तुक-भग छंद-भंग अरथ मिलै न कछु।**
> **सुन्दर कहते ऐसी, बाणी नही कहिये॥**
>
> **—(हिन्दी के कवि और काव्य—भाग दो, पृ० ११३)**

उक्त कवियो के अतिरिक्त इस परम्परा मे अन्य भी बहुत से सत कवियो ने रचनाएँ की है और सत साहित्य के भडार को भरा है। इन सत कवियो मे धनी राम, पलटू, भीखा साहिब, चरनदास, मलूकदास, दयाबाई, दरिया साहब, गुलाब साहब, यारी साहब, दूलनदास, गरीबदास, सदना इत्यादि के नाम उल्लेखनीय है। इन सभी की रचनाएँ कबीरदास जी के ही समान प्राय· कुछ कम अधिक विषयो पर मिलती है। सत-साहित्य जिस भाषा मे लिखा गया है वह प्रधानतया जनता की अपनी बोली जाने वाली भाषा रही है, उसमे साहित्यिक सौदर्य बहुत कम मिलता है। वास्तव मे इस धारा के कवियो ने जो रचनाएँ की है वह साहित्यिक होने के नाते नही की, बल्कि अपने विचारो को जनता तक पहुँचाने के लिए ही की है। इन सभी कविताओ मे कबीर की रहस्यवादी प्रणाली को पानी देने का प्रयास किया गया है। यह इस धारा के लेखको की एक शैली सी बन गई थी। इसका यह अर्थ नही समझ लेना चाहिए कि कबीर को ब्रह्म का साक्षात्कार हो गया तो अन्य सभी इस प्रणाली की रचनाएँ लिखने वालो को भी ब्रह्म ने आकर दर्शन दिये होगे और तभी उन्होने इस प्रकार की रचनाएं की परन्तु हाँ इतना तो सत्य ही है कि इस धारा के द्वारा सभी सतो मे कुछ न कुछ चमत्कार अवश्य था जो आज भी किवदतियो के रूप मे उनकी गद्दियो के इर्द-गिर्द प्रचलित है।

कबीर-साहित्य ने एक परम्परा हिन्दी साहित्य को प्रदान की कि जिसके आधार पर उक्त इतने सतो ने अपनी वाणी का प्रसार किया और भारतीय जनता के बीच मिथ्याडम्बर के विरुध क्रान्ति को जन्म दिया। कबीर की यह देन भारतीय जनता और साहित्य दोनो क्षेत्रो मे सम्मान का विषय है। कबीर की विचारधारा कबीर के साथ ही समाप्त नही हुई बल्कि उनके बाद देश के विभिन्न भागो मे कुछ-कुछ रूपान्तर के साथ एक लम्बे युग तक चलती ही गई। उन

विभिन्न सतो ने यह सच है कि अपने-अपने नाम के पथ चलाये परन्तु जिन सिद्धान्तो पर यह पथ आधारित किये गये वह कबीर की निर्गुण-धारा के ही मूल तत्व थे ।

इस प्रकार कबीर द्वारा निर्धारित विचारधारा की एक शृखला बन गई, परम्परा बन गई और इसने अपना व्यापक विस्तार प्रदेश, और काल की सीमाओ का उल्लघन करके, भारत के भू-भाग पर किया, भारत की जनता के हृदयो मे किया और वह हिन्दी साहित्य के इस युग की मूल भावना बन कर साहित्य की अमर सम्पत्ति बन गया ।

११ | परिशिष्ट—१

कबीर की कविता—'कबीर की रचनाओ में साहित्यिक अभिव्यक्ति' शीर्षक के अन्तर्गत हम पीछे कबीर की कविता के गुणो का अध्ययन कर चुके हैं और बुद्धि, भावना, कल्पना, काव्य-शैली, रस प्रवाह, छन्द, अलकारिक सौन्दर्य, काव्य-गुण सौन्दर्य इत्यादि की कसौटी पर कसकर देख लिया है। कबीर की कविता के विषय मे श्री पुरुषोत्तम लाल श्रीवास्तव लिखते हैं— "कबीर की कविता ताजमहल की इमारत के समान नही है जिसे कला और ऐश्वर्य की सर्वोत्तम कृति बनाने मे कोई बात उठा नही रखी गई। वह उस विहारोद्यान की भाति भी नही जिसमे एक क्षुप अत्यन्त सुकुमारता और सावधानी से चुनकर यथास्थान बैठाया गया है और घास और झाडियो तक की कटाई छँटाई मे ्ाथ का अद्भुत कौशल दिखाया गया है। न वह उस सुन्दर सरोवर के सदृश्य है जिसके चारो ओर मनोहर घाट बने हैं, तट पर रम्यवाटिका शोभित है और जल मे विकसित कमल-श्रेणी। वह तो उस पर्वतीय दुर्ग के समान है जिसमे नुकीले, छोटे-बडे, सभी तरह के पत्थर बिना बहुत नाप-जोख या खराद के बैठाए हुए दिखलाई देते हैं वह उस वन के सदृश्य है जिसमे यदि सघन सफल वृक्षावलियाँ और पुष्पित लता कुञ्ज हैं तो पुराने ठूठ और कँटीली झाडियो का भी अभाव नही। अथवा वह उस गिरि-निर्झर की भाति है जिसके अवनि-स्पर्श मे शिखर-सेतना की तथा जिसकी तरलता मे भी शिला-भंजन की अप्रतिहत शक्ति विद्यमान है। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नही कि उसमे सौन्दर्य और सरसता का अभाव है। यदि ताजमहल मुन्दर है तो अनगढ पत्थरो वाले दिगतदर्शी पर्वत-दुर्ग की भी अपनी विशिष्ट भव्यता है, यदि पुष्पोद्यान मनोहर है तो ठूठ और कँटीली झाडियो वाले बीहडबन की भी अपनी अद्भुत् मोहकता और शक्ति है।

कबीर की कविता मे काट छाँट-सवार सिगार और प्रदर्शन का प्रयत्न एकदम नही है, परन्तु उसमे उ्च्चकोटि के काव्य का प्रभाव और आकर्षण विद्यमान

है। इससे साहित्य-शिक्षा और काव्य-कला की चतुराई प्रकट नही होती, परन्तु उनकी स्वाभाविक सरलता ही उसमे शिशुता की स्निग्ध मधुरता और तारुण्य का पवित्र तेज भरकर श्रेष्ठ काव्यो की श्रेणी मे उसे अचल आसन प्रदान करती है।

कबीर की कविता मे एक ताजगी है, बासीपन नही, यह इसकी महान विशेषता है। उसने जो कुछ भी कहा है उसमे नयापन है, पुरानी बातो को रगडना उसने नही सीखा।

कबीर के आध्यात्मिक विषयो के बारे हम पीछे विचार कर चुके है। यह सब समझ लेने के पश्चात् इस बात के कहने की यहाँ आवश्यकता तो नही रह जाती कि यहाँ प्रथक से कबीर की कविता के विषयो पर कुछ लिखे परन्तु फिर भी विषय के प्रथक स्पष्टीकरण के लिए यहाँ सक्षेप मे सार दे देना आवश्यक समझते है।

कबीर की कविता का अध्ययन करने से पूर्व यह समझ लेना आवश्यक है कि कविता कबीर का लक्ष नही था। इसीलिए कबीर की कविता का क्षेत्र भी व्यापक नही बन सका और वह केवल उनकी विचारधारा के इर्द-गिर्द ही घूमकर रह गया। अनन्तरूपात्मक जगत् मे फँसना और फिर उसकी अनन्तता को आलम्बन मानकर अपनी कविता के क्षेत्र को व्यापक बनाना, यह कबीर के जीवन का लक्ष नही था, प्रकृति की विविध सुन्दर, कलात्मक और जानदार चीजो मे भी भगवान् की अनुपम छटा को निरखने का कबीर ने प्रयत्न नही किया। प्रकृति के व्यापक क्षेत्र मे कबीर मानो घुसे ही नही। वैष्णव भक्त कवि तुलसी और सूर के लिए भी उनकी कविता का प्रधान विषय बहिर जगत् न होकर ब्रह्म ही रहा है परन्तु क्योकि उनका भगवान् निर्गुण नही था सगुण था और वह जगत् मे विहार करता था तो उनके लिए जगत् का सौदर्य भी एक महत्व रखता था और उन्होने जगत् के व्यापक क्षेत्रों से चुन-चुन कर ऐसे विषयो को उठा लिया कि जिनमे हृदय की वृत्तियाँ रमती है।

मैया मोरी मै नहि माखन खायौ
भोर भयो गैयन के पीछे मधु बन मोहि पठायौ।
चार पहर बसीबट भटक्यों, साँझ परै घर आयौ॥
मै बालक बहियन कौ छोटौ, छींकौ किहि विधि पायो।
ग्वाल बाल सब बैर परे हैं. बर बस मुख लपटायौ॥
तू जननी मन की अति भोरी, इनके कहे पतियायौ।
जिय तेरे कछु भेद उपजि है, जानि परायौ जायौ॥
यह लै अपनी लकुट-कमरिया, बहुतहि नाच नचायौ।
'सूरदास' तब बिहसि जसोदा, लै उर कठ लगायौ॥

—(अष्टछाप के कवि, पृ० ११२)

बालक्रीडा का यह लोकचित्र कबीर की कविता मे मिलना कठिन है क्योकि इस ओर तो कबीर की प्रवृत्ति कभी आकृष्ट ही नही हो सकती थी। उसका निर्गुण ब्रह्म तो घट-घट का वासी है, वह भला माखन चुराने गोकुल मे क्यो जायगा ! उसके लिए न तो गोकुल का ही कुछ महत्व है और न पचवटी का ही—

इसी समय पौ फटी पूर्व में।
पलटा प्रकृति पटी का रग;
किरण-कटकों से श्यामाम्बर
फटा, दिवा के दमके अंग।
कुछ-कुछ अरुण सुनहली कुछ-कुछ
प्राची की अब भूषा थी;
पंचवटी का द्वार खोल कर
खड़ी स्वयं क्या ऊषा थी ?

—(पचवटी, पृ० ३८ पद ६३)

प्रकृति के साथ इस प्रकार सीता देवी का एकीकरण कर देना कबीर की प्रवृत्ति नही थी। कबीर ने तो जो कुछ भी कहा है वह स्पष्ट ही कहा है और जो कुछ उसने स्पष्ट कहा है उसमे भी कलात्मकता है—क्योकि स्पष्ट कहना काव्य की मैं सबसे बडी कला मानता हूँ।

कबीर की यह स्पष्टवादिता और भी निखर जाती यदि वह अपनी कविता का क्षेत्र कुछ व्यापक कर पाते परन्तु इस ओर तो कभी उनका सम्भवत ध्यान ही नही गया होगा। कविता उनके सामने सर्वदा ही माध्यम के रूप मे आई और इसलिए इसमे निखार लाने की प्रवृत्ति भी हम कबीर मे नही पाते। श्रीवास्तव जी का ऊपर दिया हुआ उदाहरण हमारे इसी विचार की पुष्टि करता है।

कविता का विषय—कबीर की कविता का क्षेत्र उनकी धार्मिक प्रवृत्तियो से प्रथक नही हो सकता था। निर्गुण-भक्ति और अन्तर्मुखी साधना का प्रधान विचारक काव्य के लौकिक पक्ष की ओर दृष्टि डाल ही नही सकता था, इसलिए तो उनके काव्य का क्षेत्र इतना सकीर्ण रह गया। कबीर की कविता के प्रधान विषय ससार की असारता, माया का प्रपच, शरीर की अनित्यता, विरक्ति, ब्रह्म मिलन की व्याकुलता, भगवान् के साक्षात्कार की प्रसन्नता, आत्मा और परमात्मा मे विलीनता, आचरण की सभ्यता, आडम्बरो का खण्डन इत्यादि ही रहे है। इन्ही विषयो के अन्तर्गत इन्द्रियो की लालसा की निन्दा, काम क्रोधादि विकारो की निन्दा, भाषा की निन्दा असाधुओ की निन्दा तथा गुरु की महिमा, साधुओ का गुणगान, जीव पर दया, सदाचारो की प्रशसा, सत्य गुणगान इत्यादि भी आ जाते हैं। खण्डन के क्षेत्र मे सन्त अवधूत, पाण्डे, मुल्ला इत्यादि के जप, तप, तीर्थ, पूजा निमाज, रोजा इत्यादि की भी कबीर ने खूब खबर ली है। उपदेश, योग और वैराग्य के पद भी कबीर को वाणी मे नही मिलते।

इन सभी विषयो मे कबीर ने जो रचना भक्ति-भावना से प्रेरित होकर की थी और उसमे भी विशेष रूप से विरह का जो वर्णन किया वह बहुत ही मार्मिक बन पडा है और काव्य के सभी गुण उसमे वर्त्तमान है । उनमे से एक-एक पद् ऐसा है कि जो भावुक साहित्य-प्रेमी के हृदय पर गहरी चोट करता है और उसमे अपने भावो के साथ पाठक को बहा ले जाने की सभी क्षमता विद्यमान है ।

इस प्रकार कबीर का कविता-क्षेत्र सीमित होने पर भी आत्मा के उस तत्व को लेकर चलता है जो जीवन की अमूल्य निधि है और जिसका जीवन की आत्मिक शान्ति से सीधा सम्ब्रन्ध है । रस का उसमे से कभी न सूखने वाला श्रोत प्रवाहित होता है और होता ही रहेगा ।

१२ | परिशिष्ट—२

कठिन पद्य और शब्दों के अर्थ—किसी भी पद्य का सही अर्थ ग्रहण करने के लिए पद्य का विषय तथा कथा की शृखला और शब्द का अर्थ जान लेना नितान्त आवश्यक है। विषय-ज्ञान, शब्द-ज्ञान मे सहायक होता है और विशेष रूप से प्रसग-शृखला, परन्तु इनका अधिक लाभ पाठक के प्रबन्ध-काव्य मे ही होता है। स्फुटपद्य का अर्थ लगाने मे पाठक को यह सुविधा नही होती। कबीर का साहित्य स्फुट ही है और इसीलिए उनके पद्यो का अर्थ भी सदिग्ध ही रहता है। पाठको को किसी शृखला-विशेष का आश्रय अर्थ लगाने मे नही मिलता। इसलिए कबीर के पद्यो का अर्थ समझने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि पाठक पहले पद्य मे प्रयुक्त शब्दो का सही-सही अर्थ लगा सके और तभी वह अभीष्ट अर्थ तक पहुँच सकता है। कबीर की वाणी का विषय सदिग्ध नही है इसी लिए अर्थग्रहण करने मे अधिक कठिनाई नही हो सकती। परन्तु यह कठिनाई उसी दशा मे नही होगी जब पद्यो मे प्रयुक्त शब्दो का अर्थ पाठक को ठीक-ठीक आता हो। यदि पद्य स्फुट है और शब्दो का अर्थ भ्रामक है, तो पाठक की समझ मे पद्य का अर्थ कभी नही आसकता।

पद्य मे जहाँ कवि शब्दो या वाक्यो द्वारा स्वय भाव का निर्देशन करता है वहाँ पाठक को अपनी ओर से अधिक श्रम नही करना होता और पद्य का अर्थ भी सुगमता से ठीक बैठ जाता है। परन्तु जहाँ कवि अपनी ओर से किसी विषय-विशेष का निर्देशन नही करता और भावना मे बहकर केवल भाव को ही व्यजित करता है वहाँ अर्थ ग्रहण करने मे कठिनाई हो जाती है। ऐसी दशा मे पाठक को विषय की खोज के लिए ऊपर से आक्षेप करने की आवश्यकता होती है और अनुमान के द्वारा ही सही विषय तक पहुँचा जाता है। ऐसी दशा मे पाठक को प्रत्यक्ष रूप से कोई सहायता नही मिलती क्योकि यहाँ विषय और प्रसग जानकर केवल वाक्यो और शब्दो की सगति मिलाने भर से ही उसका काम नही चलता। यहाँ तो पाठक को अपनी ओर से अनुभव लगाकर ही अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति करनी होती है। केवल शब्दो और वाक्यो की सगति भर मिलाना अपूर्ण

सिद्ध हो जाता है। जहाँ पाठक को अनुमान का आश्रय लेना होता है वहाँ यह भी सम्भव है कि अनेक अनुमानित या आरोपित प्रकरणो मे अर्थ की सगति बैठ जाने से पद्य के कई भिन्नार्थक रूप सामने आ खडे हो और उनमे से सही अर्थ को ग्रहण करने की समस्या भी पाठक के सामने आजाय। बिहारी के दोहो मे यह बात पूर्ण रूप से चरितार्थ होती है और उसी के साथ-साथ जब पडित लोग केशव की रामचन्द्रिका मे भी उसी प्रकार का प्रयास करते है तो वह उपहासास्पद सा प्रतीत होने लगता है। इसका प्रधान कारण यही है कि रामचन्द्रिका के विषय की एक परम्परा है, एक शृखला है और कविता का विषय भी उसी से बँध कर चलता है। परन्तु बिहारी की कविता मे इस प्रकार की कोई शृखला नही है और इसीलिए चमत्कारवादी आचार्यो को भाषा के खीचतान मे सुगमता हो जाती है। फिर बिहारी का लक्ष्य भी कुछ-कुछ-इसी दिशा मे रहा है परन्तु कबीर मे इस प्रकार की प्रवृत्ति हमे देखने को नही मिलती। भाषा का चमत्कारिक प्रयोग करना कबीर को अभीष्ट नही था। कबीर का तो विचार पूर्ण रूप से स्थिर था, उसकी भावना भी स्थिर थी और उसका विषय तो इतना स्थिर था कि उसे हिलाया डुलाया ही नही जा सकता। इस लिए कबीर की कविता का अर्थ लगाते समय उसके विषय को पूर्ण रूप से आत्म-सात् करने की आवश्यकता है। इसके पश्चात् रह जाता है शब्दो का ज्ञान। शब्दो के ज्ञान मे कुछ कठिनाई अवश्य सामने आती है। उसका प्रधान कारण यही है कि कबीर ने विषय को तूल न देने के लिए और उसे कुछ गम्भीर बनाने के लिए जहाँ पद्यो मे उलटवासियो की शैली को अपनाया है वहाँ वाक्यो को भी तोडा मरोडा है। इसके अतिरिक्त सन्धियो और शब्दो के प्रयोग मे भी कवि ने सक्षेप मे बहुत कुछ कह जाने की ही प्रवृत्ति को अपनाया है। सक्षेप मे बहुत कुछ कह जाने की वह प्रवृत्ति है जिसके कारण उनके अभीष्ट अर्थ तक पहुँचने मे कठिनाई होती है।

कबीर का विषय भी कुछ गूढ है और उसमे योग तथा आध्यात्मिक तत्वो का जो निरूपण किया गया है उसे समझाने मे साधारण पाठक को कठिनाई होती है। इसलिए कबीर के सीधे-साधे साधारण भाषा मे जँचने वाले पद्य भी पाठक की समझ मे नही आते।

पिछले अध्यायों मे हम कबीर के धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तो की सक्षेप मे विवेचना कर आये है। उस पर साधारण अध्ययन भी पाठको को कबीर की रचना के समझने मे सहायक सिद्ध होगा।

कबीर की अटपटी सी लेखन-शैली देखकर पाठक को बिदक नही जाना चाहिए, विषय को समझकर शब्दो का थोडा ज्ञान प्राप्त करके यदि पाठक कबीर की रचना को समझने का प्रयास करे तो उसे विशेष कठिनाई नही होगी। रमैनियाँ तो प्रबन्धात्मक है ही, इसलिए उनका अर्थ लगाना भी कठिन नही है। पद्यो मे कबीर ने विषय पर या तो पद्य के आरम्भ मे ही जोर दे दिया है या उसके अन्त

मे उसे स्पष्ट कर दिया है। जिन पद्यो मे आदि और अन्त कही पर भी जोर नही है ऐसे पद्य बहुत कम है और जो है भी उनमे भी कही-न-कही से विषय की झलक आ जाती है। पाठक को सोच-विचार कर पढने मे अधिक कठिनाई नही होगी।

कबीर की साखियो का विषय खोजने मे पाठक को कुछ कठिनाई होती है क्योकि वहाँ कवि ने कोई स्पष्ट सकेत नही किया। परन्तु पाठक यदि साखी को पढकर उसके अगो को ठीक से सम्बद्ध कर लेगा तो उसे अर्थ-ग्रहण करने मे विशेष कठिनाई नही होगी और अभीष्ट अर्थ स्पष्ट हो जायगा। वाक्यार्थान्वय द्वारा पद्य का स्पष्ट अर्थ समझाने मे कठिनाई नही होगी।

उलटवासियाँ हिन्दी मे कबीर द्वारा ही प्रचलन मे आई परन्तु कबीर से पूर्व नाथ-पन्थी योगी और सहजायानी सिद्धो ने भी इस प्रणाली को अपनाया था। कबीर जैसी उलटवासियो के पद गोरखनाथ के भी मिलते है।

कबीर ने अपनी उलटवासियो मे जिस प्रकार की उक्तियाँ प्रस्तुत की है उस प्रकार की उक्तियाँ उपनिषदो मे भी मिलती है और यह भी सम्भव है कि यदि इस परम्परा को वैदिक साहित्य तक लेजाने का प्रयास किया जाय तो यह प्राचीन तन्त्रादि के ग्रन्थो तक पहुँच जाय।

कबीर की उलटवासियो को समझने के लिए उनकी भाषा की सन्धियो को समझ लेना नितान्त आवश्यक है और सन्धि को समझने के लिए विषय तथा शब्द-ज्ञान की आवश्यकता है। यह तभी सम्भव है जब पाठक को कबीर की साधना का भी सामान्य ज्ञान हो।

शब्दार्थ-बोध—जिस प्रकार पद्य का प्रस्तुत अर्थ वाक्यार्थो के अन्वय से प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार शब्दार्थ-बोध से वाक्य का अर्थ निकलता है। वाक्यार्थ का सही ज्ञान करने के लिए वाक्यो मे प्रयुक्त शब्दो का अर्थ प्रयोग पाठक को सही-सही ज्ञात होना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार पद्य का सही अर्थ लगाने के लिए पहले शब्दार्थ, फिर शब्द-प्रयोग, फिर वाक्यार्थ और उसके भी बाद वाक्यार्थान्वय की आवश्यकता होती है। इस क्रम से किसी भी कविता का अध्ययन बहुत ही सुगमता से किया जा सकता है। कबीर की कविता इस नियम से बाहर की कोई विशेष वस्तु नही है।

कवियो की शब्द विशेषो को प्रयोग करने की कुछ विशेष शैलियाँ भी होती है। किसी कवि-विशेष की रचनाओ का अध्ययन करने से पूर्व उसकी इन शैलियो पर अधिक ध्यान दे लेने से अर्थ-ग्रहण मे सुगमता होती है।

कबीर की उलटवासियो मे अनेको पद ऐसे है कि जिनका अर्थ सामान्य पद्धति से नही लगाया जा सकता। साधारण शब्द-कोश, व्याकरण और अर्थ ग्रहण करने के साधनो की सहायता उनके अभीष्ट अर्थ प्राप्त करने के लिए पर्याप्त नही है। "धरती के बरसने से अम्बर का भीगना (बा० प० १६२),

समुद्र मे आग लगना और नदियो का जलकर कोयला हो जाना (बानी, सा० ४।१०), असम्भव और विरुद्ध प्रतीत होने वाली बातो का ऐसे सामान्य रूप मे उल्लेख पाया जाता है मानो ये कबीर की स्वाभाविक भाषा का अग रही हो और इनमे उन्हे कुछ भी प्रयत्न न करना पडा हो। परन्तु इनको पढ या सुनकर साधारण पाठक या श्रोता की तो यह स्थिति हो जाती है कि या तो वह भौचक्क होकर अर्थहीन शून्यावलोकन करने लगता है, अथवा कबीर को असगत-वक्ता समझ कर उधर ध्यान देने की आवश्यकता ही नही समझता।"

—(कबीर साहित्य का अध्ययन-पृ० २४७-२४८)

इस प्रकार की कबीर की कविता को केवल भाषा-ज्ञान से ही नही समझा जा सकता। इसको समझने के लिए उनके कुछ वाक्य विशेषो और उनके कुछ प्रयोग विशेषो को जान लेने की आवश्यकता है। कबीर के सिद्धान्त विशेषो के विषय मे हम विस्तार के साथ पीछे अध्ययन कर चुके है।

कबीर की वाणी मे हम जिन शब्दो का प्रयोग देखते है, और विशेष रूप से उलटवासियो मे जहाँ 'सिंह गाय को चराता है' और 'मुर्गा बिल्ली खाता है', उनका सीधा अभिधात्मक अर्थ ग्रहण नही किया जा सकता। साधारण कोष मे मिलने वाले अर्थ से तो उन पद्यो को समझना असम्भव ही है। उनके लिए तो साम्प्रदायिक कोष का अध्ययन आवश्यक हो जाता है।

साम्प्रदायिक शब्द प्रयोग के नाते ही कबीर की वाणी को समझा जा सकता है। परन्तु यहाँ भी एक कठिनाई सामने आती है और वह यह कि एक तो वह अर्थ लोक-प्रसिद्ध नही है और दूसरे वह सम्प्रदायो मे भी एक ही अर्थ मे प्रयुक्त नही होते। अभिधा द्वारा कबीर के पद्यो का अर्थ लगाने मे कठिनाई ही होती है और वहाँ पर लक्षणा का ही आश्रय ग्रहण करना होता हे। इसलिए कबीर के पद्यो का अध्ययन करते समय पहले वाच्यार्थ खोजने का प्रयत्न करना चाहिए और यदि वह अभीष्ट अर्थ तक पहुँचाने मे असमर्थ हो तो लक्षण का आश्रय लेकर अर्थ ग्रहण करने मे कोई सकोच नही होना चाहिए परन्तु यह लक्षण भी कबीर की साधना-पद्धति के अनुकूल होना आवश्यक है।

कुछ शब्द ऐसे भी है जो प्राचीन होने के कारण बदल से गये है और उनका वही रूप जो पद्यो मे है कोषो मे नही मिलता परन्तु इन शब्दो का अर्थ निकाल लेना कुछ कठिन काम नही है। शब्द की जरा जाँच पडताल करने से वह स्पष्ट हो जाता है। इसी प्रकार गाने इत्यादि से जो शब्द-भेद पैदा हो गये हैं, वह भी समझ मे आ जाते हैं। इसी प्रकार कुछ रूढि-शब्द भी है जिनको कबीर ने या तो स्वयँ गढा है या नाथ-पन्थी अथवा सहचारियो से लिया है और बाद मे उनका प्रचलन सभी सन्तो की वाणियो मे मिलता है।

१३ | परिशिष्ट—३

शब्दार्थ

अजपाजप—यह जप की वह अवस्था है जिसमे माला, होठ, जीभ आदि की क्रिया न हो। यह जप की चरमावस्था है जिसका सम्बन्ध केवल मन से है।

अबिहड—परमात्मा से अविच्छेद्य होना। तादात्म्य हो जाना।

चाणक— नीति, चातुर्य।

जर्णा—जलना, पचना। मनोवृत्तियो का दमन, मन की उत्सुकता और अशान्ति का शमन करना।

ज्ञान चौंतीसा— ॐ तथा क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म, य, र, ल, व, श, ष, स, ह,— इन तैंतीस अक्षरो से आरभ करके कही हुई ज्ञान-उक्तियाँ।

परचा प्रत्यभिज्ञान, पहिचान, आत्मस्वरूप का ज्ञान, परमात्मा का साक्षात्कार।

पारिष—परख।

बिरहुली - बीजक का एक प्रकार का राग या गीत। मूल रूप मे सर्प का विष उतारने को गाया जाने वाला गीत। (विरोहण = एक सर्पों के देवता का नाम)

बीजक—वल्लरी, बेल, लता। माया, त्रिगुण या विषय-वासना रूपी बेल, सुबुद्धि रूपी बेल।

मधि—मध्य, बीच। द्वन्द्व से परे, सुख-दु ख, स्वर्ग-नरक, हिदू-मुसलमान आदि विरोधी भेदो से मुक्त।

रमैनी—रामायण के ढग पर रची हुई कबीर आदि सन्तो की वाणी। दोहे चौपाइयो के बन्ध की यह परम्परा मानस से बहुत पुरानी है, परन्तु इसका रमैनी नाम, शायद रामायण के आधार पर पडा है।

लांबि—लम्बाई, गहराई, थाह, इयत्ता। ब्रह्म स्वरूप की अनन्तता या अगम्यता।

लै—लय, स्थूल का सूक्ष्म मे, व्यक्त का अव्यक्त मे, ध्याता का ध्येय में मिलकर एक हो जाना।

बिप्रमतीसी—विप्रबतीसी, बीजक मे ब्राह्मणो के कर्मों की आलोचना जो तीस चौपाईयो और एक दोहे, ३२ पक्तियो मे है।

सहज—राम के मिलने का सहज उपाय, हठयोगी क्रियाओ से मुक्त योग।

सहज समाधि—ब्रह्म मे साक्षात्कार की अवस्था, मुक्तावस्था, पूर्ण आनन्द स्वरूप मे लय।

साखी—साक्ष्य। साक्षात्कार। सन्तो की अनुभवपूर्ण वाणी, यह प्राय दोहो मे कही गई है।

साखीभूत—वह (सन्त) जिसे साक्षात्कार हुआ है।

सुरति-निरति—सुरति=श्रुति, शब्द, वाक्। श्रवण (सुनने) की वृत्ति अन्तर्नाद-श्रवण। ध्यान, लगन। वृत्ति, वासना।

अंकुर—अहंकार ७, बडा ज्ञान १५०।

अगना—हृदय २०७।

अंबर—अन्त करण १६२, आत्मा १६२, २८०।

अकास—आकाश, अन्त करण १५७, १६२; ऊँची दशा १२, १७७, आत्मा, आत्मस्थान, परमात्मा की दिशा ६६, ३२८, ३२६।

अगनि (अग्नि)—विरह या ज्ञानविरह की ज्वाला ११२, ब्रह्म की ज्वाला ७, ६६, ७१, ७४, १५५, १६०, २०४।

अब की घरी—सुबुद्धि २२६।

अमृत—ज्ञान, ब्रह्म का नाम ५, परमात्मा १८, १५२, १६२; रामरस १७४, २०४।

अमृतफल—ब्रह्म-दर्शन ७२।

आगनि (आंगन में)—हृदय मे १७७।

आन बहू—अनभौ (अनुभव) १३।

इहि गांइ (गाँव)—इस शरीर मे २२२।

उदिध (उदधि)— शरीर, अन्तःकरण १६८।

ऊँट—मन १७७।

औलौटी—इद्रियाँ ८, २२।

कत—परमात्मा ३७१।

कंवलि (कदली)—शरीर २१०, ३२८।

कलस—आत्मकमल २८०।

कवल—(कमल)—नाभिकमल २०२, षटचक्र २०२ परमात्मा के।

काइथ—मन २२२।

कामधेनु—मन की वृत्ति १५२।

मलिक मुहम्मद जायसी

१ | जायसी की जीवनी

जायसी की जीवनी—खेद का विषय है कि साधारण कवियो की तो बात क्या हिन्दी साहित्य के महाकवियो के जीवन-वृत्तो के विषय मे भी अभी तक हमारी जानकारी पूर्ण नही हो मकी । इसका प्रधान कारण यही है कि न तो इन महाकवियों ने ही कभी इस बात की आवश्यकता महसूस की और न किसी अन्य समकालीन लेखक ने ही उसका सही लेखा-जोखा प्रस्तुत करने का प्रयास किया। जो सामग्री मिलती भी है वह भी अनेको कारणो से सदिग्ध ही ठहरती है। विशेष रूप से भक्त कवियों के विषय मे उनके शिष्यो की जो सूचनाए मिलती हैं वे आज जीवन-वृत्त पर प्रकाश डालने मे सर्वथा अपूर्ण हैं। महाकवि जायसी के जीवन-वृत्त पर प्रकाश डालने के लिए दो प्रकार की सामग्री हमे उपलब्ध है १. अतर्साक्ष । २. बहिर्साक्ष । इनके अतिरिक्त कुछ किवदतियो के भी आधार उपलब्ध है, परन्तु वे अधिकांश मे अविश्वसनीय है ।

जायसी का जन्म—मलिक मोहम्मद जायसी की एक फारसी लिपि की पुस्तक 'आखिरी कलाम' मिलती है। यह पुस्तक बाबर के समय मे (सन् १५२८ ई० के लगभग) लिखी गई थी। कवि ने इस पुस्तक मे अपने जन्म की ओर सकेत किया है—

भा अवतार मोर नव सदी । तीस बरस ऊपर कवि बदी ।

(जायसी पृष्ठ ३८४)

इस पंक्ति का 'नव सदी' ही यदि शुद्ध पाठ माना जाय तो जायसी का जन्म काल ९०० हिजरी (सन १९४२) के लगभग निश्चित् होता है। कवि की उक्त पक्ति के दूसरे भाग का अर्थ यह निश्चित होता है कि तीस वर्ष की आयु मे जायसी ने सुन्दर कविता करनी आरम्भ कर दी थी ।

जायसी ने अपने जन्म के समय की स्थिति का वर्णन किया है। वह लिखते है कि उस समय एक बहुत बड़ा भूकम्प आया तथा साथ ही भारी सूर्य-ग्रहण भी पड़ा था ।

जायसी का जन्म स्थान—कुछ विद्वानो का मत है कि मलिक मुहम्मद जायसी किसी अन्य स्थान के रहने वाले थे और बाद मे आकर जायस मे बस गये। पं० सुधाकर और डाक्टर ग्रियर्सन का यही मत है कि कवि यहाँ का रहने वाला नही था। इनके इस कथन का आधार जावसी की निम्नलिखित पक्ति है :

जायस नगर धर्म अस्थानू। तहाँ आइ कवि कीन्ह बखानू॥

'तहाँ आइ' शब्दो के आधार पर डा० ग्रियर्सन और प० सुधाकर का मत यह बना कि जायसी ने कही बाहर से आकर जायस मे निवास किया और वही पर पद्मावत् की रचना की। परन्तु इस विषय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का विचार इनके विपरीत है।

'—पर यह ठीक नही। जायस वाले ऐसा नही कहते। उनके कथनानुसार मलिक मुहम्मद जायस के ही रहने वाले थे। उनके घर का स्थान अब तक वहाँ के कचाने मुहल्ले मे बताते है।"[1]

अतर्साक्ष के आधार पर भी जायस उनका जन्म स्थान सिद्ध होता है। कवि ने लिखा है

जायस नगर मोर अस्थानू।
नगर क नांव आदि उदयानू॥
तहाँ दिवस दस पहुनै आएऊँ।
भा बैराग बहुत सुख पाएऊँ॥

यहाँ 'पहुनै कहने का तात्पर्य भी कुछ विद्वान् कवि के बाहर से आकर जायस मे बसने से ही लगाते है परन्तु हमारे विचार से कवि ने वैराग्य-भावना से प्रेरित होकर ही 'पहुनै' शब्द का प्रयोग किया है। इन पक्तियो के पश्चात् "जायस नगर धरम अस्थानू। तहाँ 'आइ' कवि कीन्ह बखानू॥" 'आइ' शब्द का अर्थ भी स्पष्ट हो जाता है। उक्त वैराग्य की शब्दावली मे 'आइ' शब्द का अर्थ जन्म लेना ही लगाना उचित है।

जायस नगर का पहला नाम 'उद्यान' था। इस विषय मे डा० कमल कुल-श्रेष्ठ लिखते है, "जायस के निवासी उदयनगर का सम्बन्ध उद्दालक मुनि से जोडते है, जिनकी चर्चा महाभारत आदि ग्रन्थो मे आई है। उद्दालक का अर्थ शहद भी होता है। सम्भव है, यह नगर पहले शहद के लिए प्रसिद्ध हो। कुछ लोगो का मत है कि यह उद्यान नगर का बिगडा हुआ रूप है। सम्भव है कि पहले यह जगह उद्यानो के लिए प्रसिद्ध हो। कुछ लोग इसका नाम उजालिक नगर भी देते है। इस विषय मे देखिये—

अवध गजटियर भाग १, डिस्ट्रिक्ट गजटियर (राय बरेली), दे ज्योग्रेफिकल डिक्शनरी आव ऐशेन्ट एण्ड मिडीवल इण्डिया।

---

१. जायसी ग्रथावली पृष्ठ ६

जायस शब्द 'जैश' शब्द से बिगडकर बन सकता है। फ़ारसी मे जैस का अर्थ पडाव होता है। शायद मुसलमान वहाँ आकर रहे हो। इससे 'जैश' से बिगड कर इसका नाम 'जायस' पड गया हो। दूसरे शब्द 'जा ए-ऐश' से भी इसका सम्बन्ध हो सकता है, जिसका अर्थ 'खुशी या आराम की जगह' होता है। शायद मुसलमानो की सेना ने कभी यहाँ पर आराम किया हो। तीसरे शब्द 'जाएस्त' से भी इसका सम्बन्ध हो सकता है, जिसका अर्थ है 'यह जगह है।' शायद कभी मुसलमानो ने यहाँ की उपजाऊ एव हरी-भरी भूमि देखकर 'जाएस्त' कहा हो और इसका नाम भी वही पड गया हो।

यहाँ के निवासियो का विश्वास है कि यह जगह अच्छी नही है। हिन्दू एव मुसलमान दोनो इसका नाम सवेरे-सवेरे नही लेते। डर रहता है कि सवेरे-सवेरे यह नाम लेने से दिन भर रोटी नही मिलेगी और कोई आफत आ जाएगी। यह लोकोक्ति भी प्रचलित है—'जाइस जाइसना, जाइस तौ रहिसना, रहिसतौ खाइसना, साइस तौ सौइस ना, सोइस तौ रोइसना।"[1]

जायसी का नाम और वश — महाकवि जायसी का असली नाम मुहम्मद था और जायस मे रहने के कारण इन्हे लोगो ने जायसी कहना प्रारम्भ कर दिया था अर्थात् जायस के रहने वाले। इस प्रकार के प्रयोग हमे मुसलमान शायरो के नामो के साथ आज भी मिलते है। जैसे लखनवी, देहलवी, मलीहाबादी, मुरादाबादी, बरेलवी, मेरठी इत्यादि।

इसका सकेत हमे अतर्साक्ष से भी मिलता है :

एक नयन कवि मुहम्मद गुनी। सोइ बिमोहा जेइ कवि सुनी ॥
जग सूझा एकै नयना हाँ। उआ सूक सूक जस नखतन्ह माहा ॥
— जायसी ग्रन्थावली पृ० ८

महाकवि जायसी जहाँ हृदय के इतने सुन्दर और मोहक थे वहाँ शरीर से बहुत ही कुरूप और काने थे। कुछ विद्वान् उन्हे जन्म से ही एकाक्षी मानते हैं तथा दूसरो का मत है कि शीतला के प्रकोप से उनकी एक आँख जाती रही थी। हमे दूसरा ही मत मान्य है।

मुहम्मद बाईं दिसि तजा, एक सखन एक आँखि।

उक्त पक्ति से सिद्ध होता है कि कवि बाँई आँख और बाँये कान से रहित थे।

जायसी का परिवार — महाकवि जायसी का परिवार जायस के कचाने मुहल्ले मे रहता था। इनके पिता का नाम मलिक शेख ममरेज या मलिक राजे अशरफ था। इनके परिवार के लोग किसान थे। जायसी प्रारम्भ से ही बड़े

---

१. मलिक मुहम्मद जायसी—भाग १० पृष्ठ ७-८

दयालु और ईश्वर-भक्त थे। जायसी कभी अकेले खाना नही खाते थे। जो कोई भी उन्हे आस-पास मे दिखाई देता था उसे ही वह अपने भोजन मे शामिल कर लेते थे। एक कथा प्रचलित है कि एक बार जब जायसी भोजन करने के लिए बैठे तो आस-पास मे कोई अन्य व्यक्ति साथ भोजन करने के लिए दिखलाई न दिया। अन्त मे एक कोढी दिखलाई दिया। जायसी ने उस कोढी को ही अपने साथ भोजन पर बिठला लिया। भोजन करते-करते उस कोढी के शरीर से कोढ चूकर खाने मे गिर पडा। मलिक मुहम्मद जायसी ने वह अपने खाने के लुकमे मे उठा लिया। कोढी ने जायसी का हाथ रोककर कहा, "इसे तुम न खाओ, मैं खाऊँगा।" परन्तु जायसी उसे तुरन्त खा गये। इस घटना के पश्चात् वह कोढी अदृश्य हो गया और कहते है तभी से जायसी की लगन भगवान् के प्रति पहले से कई गुनी अधिक हो गई। अखरावट के एक दोहे मे कवि ने इस घटना की ओर सकेत किया है :

बुँदहि समुद समान, यह अचरज कासौं कहौं।
जो हेरा सो हेरान, मुहम्मद आपुहि आपु महँ॥

कहते है जायसी के पुत्र भी थे, परन्तु उनकी मृत्यु किसी दीवार के नीचे दबने या अन्य दुर्घटना से हो गयी। इसका जायसी पर और भी गहरा प्रभाव पडा और वह विरक्ति की ओर झुक कर घर से निकल गये।

जायसी की माता के नाम का अभी तक पता नही। मुहम्मद जायसी के दो भाई और थे—

१. मलिक शेख मुजफ्फर।
२. मलिक शेख हाफिज।[1]

उक्त दो भाइयो मे मलिक शेख हाफिज के वशज जायस मे आज भी है। जायस के एक शेख के पास वश-वृक्ष[2] भी है परन्तु वह आधुनिक है, पुराना नही। इसलिए वह विश्वस्त नही। जायसी के माता-पिता की मृत्यु इनके बाल-काल मे ही हो गई थी।

जायसी का बचपन और विवाह—माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् यह बचपन से ही साधुओ की सगति मे रहने लगे थे।[3] इनका बचपन कोई आनन्द-मय बचपन नही था। बडे होने पर इनका विवाह हुआ अथवा नही यह विवादास्पद है। एक जनश्रुति के आधार पर इनका विवाह हुआ और दूसरी के आधार पर नही हुआ। पहिले के आधार पर बचपन मे ज्यो ही साधुओ की सगति

---

१. वही।
२. ना० प्र० प० भाग २१—पृष्ठ ४६।
३. वही भाग २१—पृष्ठ ४३।

मे गये सो गये, परन्तु दूसरी मे इनके पुत्रो का मकान के नीचे दबकर मर जाने का जिक्र आता है।

जायसी के मित्र—जायसी के चार मित्र थे। इनके चार मित्रो के विषय मे जहाँ अतर्साक्ष से बहुत से प्रमाण मिलते है वहाँ जन-श्रुतियाँ भी प्रचलित है। मलिक यूसूफ, मलिक पट्टी मुहल्ला कचाना के जमीदार थे, जिनके वश मे कोई भी जिन्दा नही बचा।[1] सालार खादिम सालार पट्टी मे रहते थे और यह शाहजहाँ के समय तक जिन्दा रहे। इनकी हैसियत साधारण थी परन्तु यह तलवार चलाना खूब जानते थे। यह दानी और बुद्धिमान व्यक्ति थे।[2] मियाँ सलौने नामक जायस मे उस समय तीन व्यक्ति थे। ये तीनो ही सज्जन थे। जन-श्रुति के आधार पर इन तीनों का ही जायसी से प्रेम था। ये दोनो ही वीर, उदार और शेख बडे धनी व्यक्ति थे। इनमे से एक जायसी के भाई तथा दूसरे बहनोई थे। शेख बडे नाम के पाँच व्यक्ति कहे जाते है।[3] इसके विषय मे कवि की निम्न-लिखित पक्तियाँ देखिये

> **चारि मीत कवि मुहमद पाए। जोरि मिताई, सिर पहुँचाए ॥**
> **यूसुफ मलिक पंडित बहु ज्ञानी। पहलै भेद बात वै जानी ॥**
> **पुनि सेलार कादिम मतिमाहाँ। खांडे दान उभै निति बाहाँ।**
> **मिया सलोने सिघ बरियारू। वीर खेतरन खडग जुझारू ॥**
> **सेख बड़े, सब सिद्ध बखाना। किए आदेश सिद्ध बड़माना ॥**
> **चारिउ चतुरदसा गुन पढे। औ सजोग गोसाई गढ़े ॥**

जायसी के गुरु जायसी निजामुद्दीन औलिया की शिष्य-परम्परा मे आते है। यह परम्परा दो शाखाओ मे विभाजित हुई, एक जायस वाली तथा दूसरी मानिकपुर कालपी वाली। इन दोनो परम्पराओ का उल्लेख कवि ने किया है। मानिकपुर कालपी वाली शाखा लम्बी है परन्तु जायस वाली शाखा का उतने विस्तार के साथ कवि ने उल्लेख नही किया। फिर भी अपने दीक्षा-गुरु अशरफ जहाँगीर तथा उनके पुत्र का उल्लेख मिलता है। सूफियो के अनुसार ये दोनो परम्पराएँ इस प्रकार है .

---

१. ना० प्रा० पृष्ठ ५३।

२. वही।

३. वही पृष्ठ ५५—५६
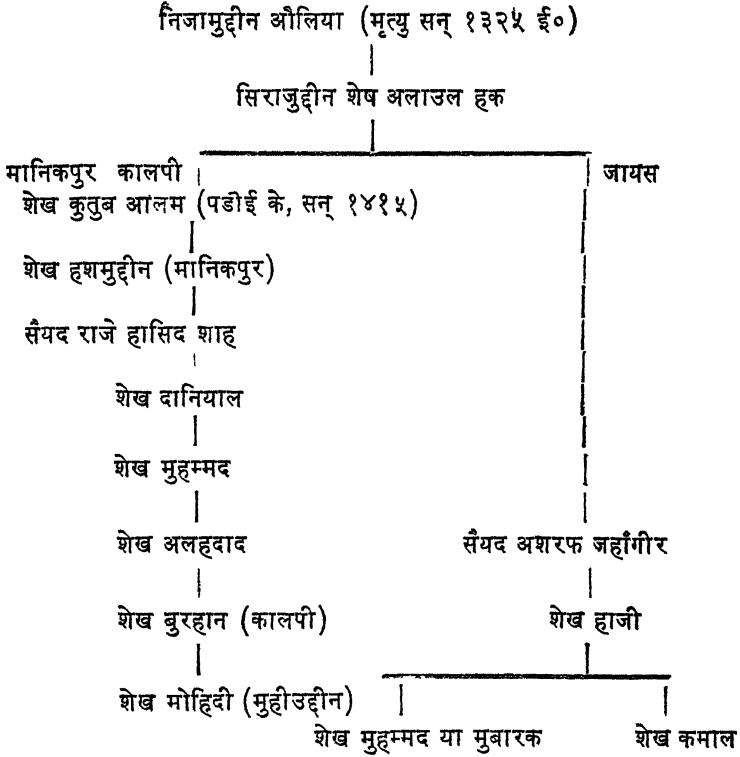
मानिकपुर कालपी वाली परम्परा का उल्लेख कवि ने 'पद्मावत और अखरावट' दोनो मे विस्तार से किया है। डा० ग्रियर्सन ने इसीलिए सैयद अशरफ जहाँगीर को उनका गुरु न मानकर, मानिकपुर वाली परम्परा के शेख मोहिदी को उनका गुरु माना है।

१ सैयद अशरफ पीर पियारा। जेहि मोहि दीन्ह पंथ उजियारा ॥
ओहि घर रतन एक निरमरा। हाजी सेख सबै गुन भरा ॥
तेहि घर दुइ दीपक उजियारे। पथ देइ कहुँ दई सँवारे ॥
सेख मुहम्मद पून्यो करा। सेख कमाल जगत निरमरा ॥[1]

२—गुरु मेहिदी सेवक मै सेवा। चलै उतराइल जेहि कर खेवा ॥
अगुवा भए सेख बुरहानू। पंथ लाइ मोहि दीन्ह गयानू ॥
अलहदाद भल तेहि कर गुरु। दीन दुनी रोसन सुरखरू ॥
सैयद मुहम्मद के वै चेला। सिद्ध पुरुष सगम जेहि खेला ॥

---

१. पद्मावत—स्तुति खण्ड—पृष्ठ ७

दानियाल गुरु पथ लगाए। हजरत ख्वाजा खिजिर तेहि पाए॥[1]
भए प्रसन्न ओहि हजरत ख्वाजे। लिए मेरइ जहँ सैयद राजे॥
३—मानिक एक पाएउँ उजियारा। सैयद असरफ पीर पियारा॥[2]
४—पा-पाएउँ गुरु मोहिदी मीठा। मिला पथ सो दसन दीठा॥
नाव पियार सेख बुरहानू। नगर कालपी हुत गुरु थानू॥
औ तिन्ह दरस गोसाई पावा। अलहदाद गुरु पथ लखावा॥
अलहदाद गुरु सिद्ध नवेला। सैयद मुहमद के वे चेला॥
सैयद मुहमद दीनहिं साचा। दानियाल सिख दीन्ह सुबाचा॥[3]

उक्त पद्याशो से कवि की आस्था शेख मोहिदी और सैयद अशरफ़ दोनो मे प्रतीत होती है। पद्मावत और अखरावट मे तो कवि ने दोनो गुरुओ को मान्यता दी है परन्तु अपने 'आखरी कलाम' मे केवल सैयद असरफ जहाँगीर का ही जिक्र किया है। जायसी ने पीर शब्द का भी प्रयोग सैयद असरफ के ही नाम से पहिले किया है। और अपने को उन्ही का बन्दा माना है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते है—" · इससे हमारा अनुमान है कि उनके दीक्षा-गुरु तो थे सैयद अशरफ, पर पीछे से उन्होने मुहीउद्दीन की सेवा भी करके उनसे बहुत कुछ ज्ञानोपदेश और शिक्षा प्राप्त की। जायसवाले तो सैयद अशरफ के पोते मुबारकशाह बोदले को उनका पीर बतलाते है, पर यह ठीक नही जँचता।" हमारे मत से भी सैयद अशरफ पर ही गुरु के रूप मे महाकवि जायसी की आस्था दिखलाई देती है और अन्य महापुरुषो के प्रति जो उनकी उदारता और सद्विचार दिखलाई देते है, वह उनके हृदय की विशालता है जिनमे हर बुद्धिमान और नेक ज्ञानी स्थान प्राप्त कर सकता था।

जायसी का सत्सग—मलिक मुहम्मद जायसी का सत्संग जहाँ एक ओर मुसलमान साधू-सन्तो के साथ था वहाँ दूसरी ओर कई अन्य सम्प्रदायो मे भी वह उठते-बैठते थे। गोरखपन्थी, रसायनी वेदान्ती इत्यादि सभी सम्प्रदाय-वादियो के साथ उनका सत्सग चलता था। हिन्दू-साधू-सन्तो के इस सत्सग से महाकवि जायसी ने बहुत-सी बाते सीखी। हठयोग, वेदान्त और रसायन इत्यादि की जो बाते उनके साहित्य मे मिलती है वे सब इसी कारण है। इगला, पिगला और सुम्ना नाडियो तथा नाभिचक्र (कुण्डलिनी) हृतकमल, दशमद्वार (ब्रह्मरध्र) इत्यादि का वर्णन पद्मावत मे मिलता है। ब्रह्म की अनुभूति के लिए योगी कुण्डलनियो को जगाकर ब्रह्मरध्र तक पहुँचने का प्रयास करता है। योगी की यह साधना निर्विघ्न समाप्त नही होती। जायसी ने योग की इस कथा मे

---

१. पद्मावत-स्तुति खड—पृष्ठ ८।
२. जा० ग्र० पृष्ठ ३८६।
३. वही पृ० ३६४

ईस्लामी और भारतीय मान्यताओं का विचित्र सम्मिश्रण किया है। योग-साधना के मार्ग में जो विघ्न आते है उनका कारण जायसी ने शैतान को माना है और शैतान के लिए 'नारद' नाम का प्रयोग किया है। दशमद्वार का यही नारद पहरेदार है और काम क्रोध इत्यादि इसके सैनिक है। साधको को यही बहकाता है। कवि ने अखरावट मे इसका जिक्र किया है। यह नारद शैतान का काम करता है

नारद दौरि सन्त तेहि मिला। लेइ तेहि साथ कुमारग चला॥

—(जायसी ग्रन्थावली, पृ० ३२०

भारतीय परम्परा मे नारद को झगडा लगाने वाला कहा जाता है, इसीलिए शायद जायसी ने उन्हे शैतान का रूप दे डाला है। रसायनिको की भी बहुत-सी बातें कवि ने इस प्रकार प्रयोग की है जिनका उपयोग सही नही कहा जा सकता। गोरखपन्थियो की तो न जाने कितनी बाते मानी है। पद्मना स्त्रियो की सिहलद्वीप मे कल्पना गोरखपन्थियो की ही मान्यता है। जायसी एक सच्चे जिज्ञासु थे, जिन्होने सभी धर्मो मे मिलने वाली अपने मतलब की बातो को लिया है।

जायसी एक सत्सगी व्यक्ति थे, जो हिन्दू तथा मुसलमान, सभी साधु-सन्तो की सगत मे बैठते थे और उनसे जो कुछ भी ग्रहणीय बाते होती थी उन्हे ग्रहण करते थे।

जायसी सिद्ध फकीर के रूप मे—मलिक मुहम्मद जायसी अपने समय के एक माने हुए सिद्ध फकीर थे। उनका, जहाँ भी वह जाते थे, बडा मान होता था। अमेठी के राजा मानसिह उनकी बडी इज्जत करते थे और उन्हे श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। अपने जीवन के अन्तिम दिनो मे जायसी अमेठी के पास ही जगल मे रहा करते थे। जायसी की कब्र अमेठी के राजा के वर्तमान किले से पौन मील की दूरी पर है। परन्तु यह दुर्ग जायसी की मृत्यु के काफी दिन बाद बना है। यहाँ का पुराना दुर्ग इस कब्र से डेढ कोस की दूरी पर था। यह बात कि अमेठी के राजा को जायसी के आशीर्वाद से पुत्र हुआ और उन्होने अपने दुर्ग के नजदीक ही उनकी कब्र बनबाई, गलत है।

जायसी की प्रसिद्धी थी कि वह अपनी जबान से जिस किसी के लिए भी जो कहा करते थे, वह अवश्य फलित होता था।

बहिर्साक्ष—जायसी के जीवन-वृत्त की उक्त जानकारी हमे अन्तर्साक्ष से प्राप्त होती है। अब हम थोड़ा-सा प्रकाश बहिर्साक्षो पर भी डालेंगे। बहिर्साक्ष से जो सामग्री उपलब्ध है वह है :

१. **समसामयिक सामग्री।**
२. **बाद की जायसी से सम्बन्धित सामग्री।**

सममामयिक सामग्री मे एक जायसी का मकान और दूसरी जायसी की कब्र,— बस यही दो चीजे है। जायसी के मकान से जायसी की जीवन-सम्बन्धी कोई विशेष सूचना प्राप्त नही होती, इसी प्रकार जायसी की कब्र भी उनकी जीवन-सम्बन्धी जानकारी को आगे बढाने मे कोई विशेष योग नही देती।

जायसी के सम्बन्ध मे जो लेख मिलते है वे काफी नवीन है, इसलिए उनका महत्त्व भी कुछ विशेष नही माना जा सकता।

अठारहवी शताब्दी मे मीर हसन ने अपनी मसनवी मे लिखा है

थ मलिक नाम मुहम्मद जायसी। वह कि पद्मावत जिन्होने है लिखी॥
मर्दे आरिफ थे वह और साहब कमाल। उनका अकबर ने किया दरयाफ्त हाल॥
होके मुश्ताक बुलवाया सिताब। ताकि हो सोहबत से उनकी फैजयाब॥
साफ बातिन थे वह और मस्त अलमस्त। लेक दुनिया तो है यह जाहिर परस्त॥
थे बहुत बदशक्ल और वह बदकवी। देखते ही उनको अकबर हँस पड़ा॥
जो हँसा वह तो उनको देखकर। यो कहा अकबर को होके चश्मेतर॥
हँस पड़े माटी पर ऐ तुम शहरयार। या कि मेरे पर हँसे बे अख्तियार॥
कुछ गुनाह मेरा नही ऐ बादशाह। सुर्ख बासत तू हुआ और मै सियाह॥
अस्ल मे माटी तो है सब एक जात। अख्तियार उसका है जो है उसके साथ॥
सुनते ही यह हर्फ रोया दारगर। गिर पड़ा उनके कदम पर आनकर॥
अलगरज उनको व एजाजे तमाम। उनके घर भिजवा दिया फिर वस्सलाम॥
साहबे तासीर है जो ए हसन। दिल पै करता है असर उनका सखुन॥[1]

काजी नसरुद्दीन हुसैन जायसी ने अपनी याददाश्त मे जायसी की मृत्यु ४ रज्जब ९४९ हिजरी मानी है।[2] नसरुद्दीनहुसैन अवध के नवाब शुजाउद्दौला के समय मे हुए थे।

कविवर जायसी का एक चित्र भी मिलता है। यह चित्र शिरेफ के पद्मावती के अनुवाद मे प्रकाशित किया गया है। यह अब्दुलगनी के 'परिशयन लिटरेचर एट मुगल कोर्ट' मे भी उपलब्ध है परन्तु इसकी भी प्रामाणिकता अभी से प्रसिद्ध है।

जायसी के जीवन की अन्य घटनाएँ—जायसी के जीवन की एक प्रमुख घटना का उल्लेख हम जायसी का परिवार शीर्षक के अन्तर्गत कर चुके है, जिस का सम्बन्ध इनके एक कोढी के साथ खाना खाने से है।

दूसरी घटना मे कहा जाता है कि जायसी ने अपने 'पोस्तीनामे' मे अफीमचियो का खूब खाका खीचा है। यह खाका जब जायसी ने अपने अफीमची पीर साहब को सुनाया तो वह इन पर बहुत नाराज हुए और इन्हे श्राप दिया कि

---

१. नागरी प्रचारणी पत्रिका भाग २१—पृष्ठ ४४-४५।

२. जायसी ग्रथावली (भूमिका) पृ० १०।

इनके सातो बच्चो की मृत्यु छत गिरने से हो जाय। कहते है अन्त मे ऐसा ही हुआ। परन्तु बाद मे पीरसाहब ने जायसी को क्षमा भी कर दिया और कहा कि उनका नाम और ख्याति उनकी रचनाओ द्वारा होगी।[1]

जायसी के रूप के विषय मे दो मत नही है। कहते है यह बहुत ही कुरूप थे। एक बार यह शेरशाह के दरबार मे गये। इन्हे देखकर शेरशाह और उनके दरबारी हँस पडे। जायसी ने यह देखकर अत्यन्त शात भाव से पूछा,—"मोहि काँ हँसि, कि कोहरहि ?" मतलब यह है कि तुम मुझपर हँसते हो या मेरे बनाने वाले पर। यह पक्ति इस प्रकार भी कही जाती है

"कौहरे हँसे कि मटिये।" अर्थात् कुम्हार पर हँसते हो या मिट्टी पर। यह सुनकर सब दरबारी चुप हो गये और सभी ने अपनी गलती के लिए क्षमा-याचना की। यह इनके जीवन की तीसरी प्रसिद्ध घटना है।

इस प्रकार की घटनाओ का इतिहासकार की दृष्टि से कोई विशेष महत्त्व नही है। ये प्राय सभी घटनाएँ जनश्रुतियो के आधार पर कही जाती है, इनका कोई भी प्रामाणिक आधार उपलब्ध नही है।

जायसी की मृत्यु—जायसी की मृत्यु के सम्बन्ध मे जनश्रुतियो के आधार पर कुछ उल्लेख मिले हैं। इनके आधार पर कवि की मृत्यु १५४२, १६३६, १६५६ ई० मानी जा सकती है। मृत्यु ई०सैयद काजी नासिरुद्दीन ने १५४२ मानी है, मु० गुलाम शरूर लाहौरी ने १६३६ मानी है और १६५६ ई०का उल्लेख ना० प्र० प० के भाग ३१-पृष्ठ ५८ पर मिलता है। जायसी ने एक बार अमेठी के राजा से कहा था कि उनकी मृत्यु किसी दिन किसी शिकारी की गोली से होगी। इस पर राजा ने उनके रहने के आस-पास के जगल मे शिकार की मनाही करा दी थी। परन्तु एक दिन एक शिकारी उधर जा निकला और उसने बाघ की गरज सुनी। उसने अपनी रक्षा के लिए गोली चलाई जिससे बाघ न मर कर जायसी की मृत्यु हो गई। अमेठी के राजा ने जहाँ वह मरे वही उनकी कब्र बनवा दी।

जायसी का व्यक्तित्व—शेख मलिक मुहम्मद जायसी एक उदार प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। कही पर भी कोई सार की बाते उन्हे मिलती, तो वह उसे ग्रहण करने मे न चूकते थे। धर्म के क्षेत्र मे उनका दृष्टिकोण महाकवि कबीर के दृष्टि-कोण तक नही पहुच पाया था। ये मुसलमान थे और मुसलमान धर्म मे इनकी पूरी आस्था थी। इस्लाम-धर्म तथा उसके पीर-पैगम्बरो को यह पूरी तरह मानते थे। परन्तु इनकी किसी एक मत के विषय मे कट्टरता नही थी। कबीर की सहज-धर्मी मान्यताएँ इन्हे मान्य न होने पर भी ईश्वर तक पहुचने के अनेक मार्गो को

---

१. जा०—ग्र० (भूमिका) पृष्ठ ६

जायसी ने मान्यता प्रदान की है । उन्होने स्वीकार किया है कि आत्मा कई मार्गों से होकर ब्रह्म के पास तक पहुच सकती है

विधना के मारग हैं तेते । सरग नखत, तन रेवाँ जेते ॥

सिद्धान्त रूप से 'विविध मार्गों वाली विचारधारा को मान्य मानकर भी कवि ने अपनी मान्यता और श्रद्धा का पात्र मुहम्मदसाहब को ही माना है

तिन महँ पथ कहौ भल गाई । तेहि दूनौ जग छाज बड़ाई ।
से बड पथ मुहम्मद केरा । हैं निरमल कैलास बसेरा ॥

जायसी भावुक भक्त थे, परन्तु कबीर जैसे विचारक नही । समय की प्रचलित विचारधाराओ मे से कुछ मुक्ता चुनकर अपनी नई माला तो आप गूथ सके परन्तु उसके आधार पर कोई पथ खडा कर देना उनके बल-बूते की बात नही थी । यह शक्ति तो कबीर मे ही थी । तुलसी और सूर भी अनुगामियो के रूप मे ही इस दिशा मे सामने आते है, पथ-प्रदर्शको के रूप मे नही । जायसी अपना कोई नया पथ चलाना भी नही चाहते थे । वह तो एक सच्चे दयालु भक्त थे जिनका जीवन बडा सरल और उदार था । वह सच्चे अर्थों मे मानवता के पुजारी थे । दैन्य भावना उनमे कूट-कूट कर भरी थी और अभिमान तो मानो लेश मात्र उनमे था ही नही । कवि अपने को विद्वान् नही मानता और कितने स्पष्ट शब्दो मे कहता है

औ बिनती पडितन सन भजा । टूट सँवारहु, नेरवहु सजा ॥
हौ पण्डितन कर पछ लागा । किछु कहि चला तबल देई डगा ॥

कबीर के समान जायसी मे अहंकार तनिक भी नही था । यह सच्चे माने मे भक्त थे, विचारक नही । जायसी की रचनाओ मे कबीर के जैसी गर्वोक्तियाँ भी नही मिलती । एक उदार भक्त का सरल जीवन उन्होने पाया था जिसमे अभिमान और गर्व के लिए स्थान कहाँ ।

महाकवि जायसी एक प्रसिद्ध फकीर थे, यह हम पीछे स्पष्ट कर चुके हैं। उनके अनेको शिष्य भी बन गये थे । ये शिष्य पद्मावत के भागो को गाते हुए इधर-उधर फिरा करते थे । कथा प्रसिद्ध है कि ऐसा ही एक जायसी का चेला पद्मावत का गान करता हुआ अमेठी (अवध) पहुचा था । वह नागमती का बारहमासा गाता था और घर-घर से भीख माँगता था । एक दिन वह गाता हुआ अमेठी के राजा के द्वार पर भी पहुच गया और वहाँ के राजा ने निम्नलिखित दोहा सुना :

कँवल जो बिगसा मानसर, बिनु जल गयउ सुखाइ ।
सूखि बेलि पुनि पल है, जौ पिव सींचै आइ ॥

—जा० ग्र० पदमावत पृ० १५६

इस दोहे को सुनकर राजा मुग्ध हो गये । उन्होने गाने वाले फकीर से पूछा कि यह दोहा किसने बनाया है। फकीर ने मुहम्मद जायसी का नाम बतलाया । राजा के मन मे कवि के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई और उसने उन्हे आदरपूर्वक अपने यहाँ बुलवाया ।

जायसी प्रेम-पीर का पुजारी था और यही उसकी भावुकता का राज था।

सार निरूपण—मलिक मुहम्मद जायसी का असली नाम मुहम्मद था। जायसी इनका नाम जायस-निवासी के अर्थ मे आता है। इनका जन्मस्थान जायस था। जायस नगर का पहला नाम उद्यान था। जायसी का जन्म ९०६ हिजरी मे हुआ था। 'आखिरी कलाम' मे जायसी ने यह बात स्पष्ट रूप से लिखी है। जायसी की ननिहाल, कहा जाता है जिला परतापगढ मे, मनिकपुर थी। इनके माता-पिता जायस के कचाने मुहल्ले मे रहते थे। पिता का नाम मलिक शेख ममरेज या मलिक राजे अशरफ था। इनकी माता के नाम के विषय मे अभी जानकारी अपूर्ण है। मुहम्मद जायसी, मलिक शेख मुजफ्फर और मलिक शेख हाफिज ये तीन भाई थे। शेख हाफिज के परिवार के लोग आज भी जायस मे रहते हैं, परन्तु जायसी बचपन मे ही माता पिता की मृत्यु हो जाने पर फकीर हो गये थे।

इनके विषय मे एक मत यह है कि इनका विवाह हुआ और बच्चे भी हुए परन्तु वे सब दीवार के नीचे दबकर मर गये और यह विरक्त हो गये। दूसरा मत यह है कि इनका विवाह ही नही हुआ और ये जीवन भर फकीर ही रहे, एक साधु महात्मा।

मलिक युसुफ, सालार खादिम, मियाँ सलोने और शेख बडे ये चारो मुहम्मद जायसी के मित्र थे, जिनके उल्लेख कवि ने 'आखिरी कलाम' के पृष्ठ ५३, ५४, ५५, ५६ पर किया है।

जायसी का शरीर विकृत था। उनकी एक आँख और उनका एक कान बेकार थे।

जायसी अपने समय के सिद्ध फकीर थे और लोगो मे इनकी बहुत बडी मान्यता थी। निजामुद्दीन औलिया की शिष्य-परम्परा मे आने वाले अशरफ जहाँगीर जायसी के गुरु थे।

जायसी का सम्बन्ध अमेठी के राजा से बहुत घनिष्ठ था और वह इनका बडा मान करते थे। अमेठी के पास ही जगल मे इनकी कुटिया थी और अपने जीवन के अतिम दिनो मे यह यही रहते थे। यही पर एक दिन एक शिकारी की गोली से इनकी मृत्यु हुई और यही पर इनकी कब्र भी मिलती है। कहते है इसे अमेठी के राजा ने ही बनवाया था।

□

२ | प्रेम मार्गीय विचारधारा तथा समकालीन परिस्थितियाँ

हिन्दू और मुसलमान संस्कृति का सम्पर्क—प्रेम काव्य का हिन्दी साहित्य मे प्रवेश विशेष रूप से मुमलमान सूफी कवियो द्वारा ही हुआ । भारत मे सूफी सिद्धान्तो का प्रवेश बारहवी शताब्दी मे हुआ । यो भारतीय तथा मुसलमानी सस्कृति का पारस्परिक मेल-जोल तो नवी शताब्दी से बढना प्रारम्भ हो गया था । मौलाना सैयद सुलैमानी नदवी ने अरब और भारत के सम्बन्ध मे यह लिखा है कि सूफी मत के प्रभाव स्वरूप हिन्दू मुसलमान बने और बहुत से मुसलमानो ने मूर्ति-पूजा प्रारम्भ कर दी । इसके अतिरिक्त जो जबरदस्ती धर्म-परिवर्तन हुआ उससे धर्म की प्रतिष्ठा नही होती ।

धर्म-प्रतिष्ठा का सम्बन्ध लोगो के स्वाभाविक प्रवाह से सम्बन्ध रखता है । सूफी सतो का भारतीय जनता पर प्रभाव पडा । इसका मुख्य कारण उनका सात्विक जीवन और मरल गनोवृत्ति था । इसी से उनके प्रति श्रद्धा उत्पन्न होने का कारण बना । सूफी मत के भारत मे अपनाये जाने का दूसरा प्रबल कारण यह रहा कि सूफी मत मे वेदान्त के सभी लक्षण मिलते है और यदि उसे वेदान्त का रूपान्तर भी कह दिया जाये तो कुछ विशेष अनुचित नही होगा । सूफी धर्म की निर्माण-शैली का अध्ययन करने पर मालूम देता है कि उसमे सम्भवत वेदान्तिक सिद्धान्तो का हाथ रहा हो । 'कलेला दमना' बैरूनी के मतानुसार 'पचतंत्र' का अनुवाद है । फारसी मे यह पुस्तक दूसरी हिजरी मे अनुदित हुई । इस पुस्तक के लेखक का नाम 'वेद' है और प्रो० जखऊ अपनी 'इडिया' पुस्तक की भूमिका मे 'वेद' नाम को 'वेदव्यास' मानते है । वेदव्यास वेदान्त के प्रमुख आचार्य हुए है ।

ईसा की बारहवी शताब्दी मे भारत के अन्दर सूफी मत आया । इस धर्म के निम्नलिखित चार सम्प्रदाय भारत मे आये

१. **चिश्ती सम्प्रदाय** . बारहवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे ।

२. **सुहरावर्दी सम्प्रदाय** . तेरहवी शताब्दी के पूर्वार्ध मे ।

३. **कादरी सम्प्रदाय :** पंद्रवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में।
४ **नक्शबदी सम्प्रदाय** सोलहवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे।

ये सम्प्रदाय भारत मे तुर्किस्तान, ईरान और अफगानिस्तान से विविध सन्तो द्वारा भारत मे प्रचारित हुए। ये सम्प्रदाय राजाश्रय प्राप्त करके भारत मे नही आये। इनका कोई सगठन भी नही था। इन सम्प्रदायो के सन्त अपनी प्रेरणाओ के फलस्वरूप भारत मे आये। इन सन्तो की साधना से जनता प्रभावित होती थी और राजाओ पर भी उनका प्रभाव पडता था। आचरण की पवित्रता और सात्विकता ही इनका बल था, इनके मत-प्रचार का साधन था। ये सरल तथा सहिष्णु व्यक्ति थे। हिन्दू धर्म के निष्ठावान धार्मिक सतो का सत्सग करते थे और उनके गुणो को ग्रहण करने की भावना इनमे रहती थी। ये कट्टरपन्थी नही थे। उदारता और हृदय की विशालता इनमे कूट-कूट कर भरी थी। अनुभव-सञ्चय के लिए ये विविध स्थानो का भ्रमण करते थे और विद्वानो से भेंट करते थे। बात सदा मीठी ही कहते थे। दूसरो की भावनाओ को ठेस पहुँचाने वाली स्पष्टवादी कबीर-प्रवृति इनमे नही थी। सूफी धर्म का प्रसार भारत मे पूर्ण शान्ति और अहिंसा के सिद्धान्तो पर चलकर हुआ। यह इस्लाम का वह रूप नही था जो तलवार की धार पर चलकर या रक्त की सरिता मे बहकर भारत-भूमि पर आया हो। प्रेम, आत्मीयता, सरलता और सच्चरित्रता के सहारे यह विचार-धारा भारत मे फैली और इससे इस्लाम के प्रसार मे योग मिला। यह स्थायी योग था जिसने जनता के दिलो मे घर किया। किसी भय या आतक के कारण इसका प्रसार नही हुआ।

चारों सम्प्रदायों की एकता—जिस प्रकार वैष्णव सम्प्रदाय की विविध शाखाए हैं, परन्तु उनके मूल सिद्धान्तो मे कोई अन्तर नही, उसी प्रकार सूफी मत के भी मूल सिद्धान्त एक समान हैं, जो इन चारो सम्प्रदायो को मान्य है और वही पर इन सब की एकता स्थापित होती है। ये चारो ही सम्प्रदाय, जहाँ तक इनका धार्मिक और सामाजिक सहिष्णुता का सम्बन्ध है, अत्यन्त उदार, सरल, सरस और प्रेमपूर्ण है। एकेश्वरवाद के ये सभी पक्षपाती है। बहुत से देवी देव-ताओ मे इनकी आस्था नही थी। इन सम्प्रदायो का मत भी धार्मिक आचरण के क्षेत्र मे है। धर्म के बहिर्रूप का जहाँ सम्बन्ध है वहाँ कुछ भेद पैदा होता है। चिश्ती और कादरी सम्प्रदायो मे सगीत को विशेष महत्त्व दिया गया है। अन्य दो सम्प्रदायो मे सगीत को वह महत्त्व प्राप्त नही। दूसरे दोनो सम्प्रदायो मे नृत्य तथा सगीत धार्मिक दृष्टिकोण से गलत है, अनुचित है। चारो ही सम्प्रदाय सरल मार्ग से ईश्वरोपासना के पक्षपाती हैं। प्रेम सभी का साधन है।

सूफी धर्म ने सामाजिक एकता का प्रचार किया। किसी भी जाति का कोई व्यक्ति क्यो न हो, जो इस्लाम धर्म को स्वीकार करता था वह सम्मान और

श्रद्धा की दृटि से देखा जाता था। उसके पूर्व-सस्कारो की रस्सियो मे जकडा हुआ उसका यह जीवन मुक्त समझा जाता था और वह अन्तर्जातीय विवाह इत्यादि सम्बन्ध स्थापित कर सकता था। धर्म के सभी अधिकारो का उपभोग वह अपने जीवन-स्तर को ऊँचा लेजाने के लिए कर सकता था। व्यक्ति के बडप्पन को मापने का मापदण्ड इनके पास उसके जीवन की सरलता, नम्रता, प्रेम और सहानुभूति थे, न कि उनकी जाति, वर्ण या वर्ग। ये सभी भेदभाव सूफी विचारधारा मे नगण्य हो गये। अपने इन्ही गुणों के कारण इनके धर्म प्रचारकों ने जनता और राजकीय अमलो मे महत्ता प्राप्त की। सरकारी न्यायाधीश भी इनका आदर करते थे। इन्हे सब लोग मलिक, शेख, खलीफा, मोमिन इत्यादि आदरसूचक शब्दों से सम्बोधित करते थे।

जनता पर प्रभाव—सूफी सम्प्रदाय ने सामाजिक उत्थान का नया मार्ग प्रर्दशित किया। यह ठीक है कि अपने को ऊँची कहने वाली जातियो का इससे विरोध हुआ और उन लोगो ने इसे अपनाने से इकार कर दिया परन्तु भारत की जनता का वह प्रधान अग नही था। देश की गिरी हुई जातियो पर इसका गहरा प्रभाव पडा और उन्होने इस्लाम धर्म को अपने जीवनोत्थान के लिए अपनाया। सूफी संतो के चमत्कारो से प्रभावित होकर लाखो हिन्दू अपने जन्म जन्मान्तर को कर्मवादी बधनो से मुक्त करके मुसलमान बन गये। सूफी सिद्धान्त का प्रसार इस प्रकार जनता में हुआ और इन सम्प्रदायो की नीव पडी।

चार सम्प्रदाय--चिश्ती सम्प्रदाय· ख्वाजाअब्दुल्लाह चिश्ती-सम्प्रदाय के आदि प्रवर्तक है। इनकी मृत्यु सन् ९६६ मे हुई। सीस्तान के ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती इस सम्प्रदाय को भारत मे लाये, जिनका समय सन् ११४१ और १२२६ के बीच का है। सन् ११९२ के आसपास आपने भारत मे इस सम्प्रदाय का प्रचार किया। ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती को पर्यटन का विशेष शौक था। पर्यटन के दौरान मे आपने खुरासान, नैशापुर इत्यादि स्थानो का भ्रमण किया और बहुत से साधु-संतो का सत्संग किया। ख्वाजा उसमान चिश्ती हारूनी के शिष्य रहे है और बहुत निकट से उन्होने उनके सिद्धातों और मान्यताओ का निरीक्षण किया, परखा और अपने जीवन मे घटाया। मक्का और मदीना की यात्रा के दौरान में इनकी भेंट शेख शिहाबुद्दीन सुहरावर्दी और शेख अब्दुल कादिर जीलानी से भी हुई और पारस्पारिक विचार विमर्श भी हुआ। शहाबुद्दीन गोरी के आक्रमण-सेना के साथ सन् ११९२ ई० मे यह भारत आये और सन् ११९५ में अजमेर की यात्रा की। अजमेर को ही आपने अपना प्रधान केन्द्र बनाया। ९३ वर्ष की आयु में यही पर आपका सन् १२३६ मे देहान्त हुआ। दिल्ली के प्रसिद्ध विद्वान ख्वाजा हसन निजामी इन्ही के वँशज है। भारत के सूफी सम्प्रदायो में यह सबसे पहिला सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदाय के लोगों की सख्या भी अन्य सबसे अधिक है। मुगल सम्राटो पर इस सम्प्रदाय के सूफी फकीरों का काफी प्रभाव रहा है, शेख सलीम

चिश्ती जिनके आशीर्वाद से अकबर के पुत्र हुआ माना जाता है, इसी सम्प्रदाय के फकीर थे। भारत मे इसके कई केन्द्र है और जैसा ऊपर लिख चुके है, प्रधान केन्द्र अजमेर मे है। जहाँ प्रतिवर्ष देश के कोने-कोने से लाखो मुसलमान ज्यारत करने के लिए जाते है।

२. **सुहरावर्दी सम्प्रदाय**— सुहरावर्दी सम्प्रदाय का प्रचार भारत मे सर्वप्रथम सैय्यद जलालुद्दीन सुर्खपोश ने किया। यह समय सन् ११९९ से १२९१ के बीच का है। जलालुद्दीन सुर्खपोश का जन्म बुखारा मे हुआ था परन्तु स्थायी रूप से ऊँच (सिंध) मे रहे। भारत के अनेको स्थानो मे आपने अपने मत का प्रचार और प्रसार किया। सिंध, पंजाब और गुजरात मे आपने अपने मत के केन्द्र स्थापित किये। सुहरावर्दी सम्प्रदाय में बहुत से प्रतिभाशाली तथा ख्याति प्राप्त सत फकीर हुए है। इस सम्प्रदाय ने वास्तव मे सब सम्प्रदायो से अधिक प्रतिभाशाली महात्मा पैदा किये और इस सम्प्रदाय का प्रचार भी भारत मे अन्य तीन सम्प्रदायो की अपेक्षा अधिक हुआ।

सैयद जलालुद्दीन सुर्खपोश के पौत्र जलाल इब्नअहमद कबीर मखदूम-इ जहानिया के नाम से मशहूर हुए। इन्होने छत्तीस बार मक्के की यात्रा की। जलालइब्न अहमद के पुत्र सैयद मुहम्मद शाह आलम की प्रसिद्धि इनके पिता से भी अधिक हुई। इनकी मृत्यु सन् १४७५ ई० में हुई। इनकी कब्र अहमदाबाद के नजदीक रसूलाबाद में है।

इस प्रकार इस सम्प्रदाय का प्रथम प्रसार सिंध, पंजाब मे होकर फिर एक दम बंगाल और बिहार तक पहुँच गया। इस सम्प्रदाय के सतो का प्रभाव जनता तथा राज कर्मचारियो तथा राजाओ पर भी पडा। बगाल के राजा कंस के पुत्र जटमाल ने अपना धर्म परिवर्तन इस सम्प्रदाय के प्रभाव मे आकर किया। इन्होने 'जादू जलालुद्दीन' नाम से प्रसिद्धि पाई। राजवशों मे श्रद्धा पाकर यह सम्प्रदाय काफी फला-फला और इसका प्रसार बहुत तीव्र गति के साथ हुआ।

३ **कादरी सम्प्रदाय**—बगदाद के शेख अब्दुल कादिर जीलानी कादरी सम्प्रदाय के आदि प्रवर्तक हैं। इनका सम्य सन् १०७८ से ११६६ ई० तक का माना जाता है। लोकप्रियता के नाते यह सम्प्रदाय भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नही है। अब्दुल कादिर जीलानी एक प्रतिभा सम्पन्न, शालीन सरल तथा प्रभाव शाली व्यक्ति थे। इनके इन चरित्र-गुणो के कारण सम्प्रदाय के प्रसार मे बहुत महत्त्वपूर्ण योग मिला। उत्कट प्रेमावेश और असीम भावकतापूर्ण व्यवहार इनके सिद्धान्तो की विशेषता है। इस्लाम का सरस प्रचार इसी सम्प्रदाय द्वारा हुआ। सूफी फकीरो मे अब्दुल कादिर जीलानी का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है और उनके प्रति मान्यता अन्य सम्प्रदायो के व्यक्तियो मे भी कम नही है।

अब्दुल कादिर जीलानी के वशज सैयद बदगी मुहम्मद गौस इस सम्प्रदाय को भारत मे लाये। सर्व प्रथम इसका प्रारम्भ भी सिंध में ही हुआ। सैयद

जलालुद्दीन सुर्खपोश के द्वारा अपनाये गये ऊँच (सिंध) नामक स्थान को ही आपने भी अपने निवास-स्थान के निमित्त चुना/सवत् १५१७ ई० मे ऊँच मे ही मुहम्मद गौस का देहावसान हुआ। इनका मृत्यु सवत् १५१७ ई० है। इस सम्प्रदाय की उत्कट भावकुता ने भारतीय भक्ति का दामन इतने निकट से छुआ कि आम जनता मे इसके लिए श्रद्धा उत्पन्न हो गई। भारतीय भक्ति-भावना और इनका प्रेम पद्धति मे सामजस्य स्थापित हुआ। इस सम्प्रदाय के सतो की चमत्कार पूर्ण किंवदतियाँ आज भी कम प्रचलित नही है। यो तो इसे मत का प्रसार समस्त उत्तरी भारत मे रहा परन्तु कश्मीर मे विशेष रूप से इसकी प्रभुता स्थापित हुई। कविवर गजाली, प्रसिद्ध सूफी कवि, इसी सम्प्रदाय से थे।

४. **नक्शबंदी सम्प्रदाय**—तुर्किस्तान के ख्वाजा वहा अल-दीन नक्शबद इस सम्प्रदाय के आदि प्रवर्तक थे। सन् १३८९ ई० में इनका देहावसान हुआ। भारत मे नक्शबदी सम्प्रदाय के प्रसार का श्रेय ख्वाजामुहम्मद बाकी गिल्लाह बैरंग को पहुँचता है। मुहम्मद बाकी गिल्लाह का देहावसान सन् १६०३ ई० मे हुआ। शेख अहमद फारूकी सरहिन्द वालो को भी कुछ विद्वान् लोग इस सम्प्रदाय का भारत में प्रथम प्रवर्तक मानते है। इनकी मृत्यु सन् १६२५ ई० हुई। नक्शबदी सम्प्रदाय का प्रकाश भारत मे उक्त तीनो सम्प्रदायो की अपेक्षा बहुत कम हुआ। इसका प्रधान कारण यही था कि विचारो का वह सरल और भावनात्मक प्रवाह जो अन्य तीनो सम्प्रदायो मे मिलता था, उनका इसमे लोप रहा। इस सम्प्रदाय की विचारधारा काफी जटिल थी जिसकी गुत्थियाँ सुलझाना साधारण व्यक्तियो का कार्य नही था। साधारण लोगो के मनोवैज्ञानिक स्तर ऊपर इस सम्प्रदाय के लोग बाते करते थे, जिनमे जनता रुचि नही ले सकी। इनका तर्क जाल काफी क्लिष्ट था और वह प्रेम-प्रवाह का सरल साधन नही बन सकता था। इसीलिए इस सम्प्रदाय का प्रसार काफी सीमित रहा। लोक-रुचि मे यह वह पैठ पैदा नही कर सका जो इससे पूर्व भारत मे प्रचारित होनेवाले सम्प्रदायो ने की।

प्रसार—उक्त चार धाराओ मे बहकर सूफी मत और इस्लाम धर्म का प्रचार भारत की जनता मे हुआ। भारत का जन-समुदाय, जिसके प्रति अपने को उच्च वर्गीय हिन्दू कहलाने वाले इज्जत के पैत्रिक ठेकेदारो का व्यवहार घृणापूर्ण था, इस्लाम धर्म के इन सम्प्रदायो की ओर आकृष्ट हुए और उन्होने काफी बडी सख्या मे अपना मत परिवर्तन किया। शासन करने वाले धर्म का धर्मावलम्बी होने का प्रलोभन तथा सामजिक विषमताओ से मुक्ति पाने की उत्कट आकांक्षा ने निम्नवर्गीय जनता को उस ओर झुकने के लिए प्रोत्साहित किया। इन्ही कारणो के फलस्वरूप बहुत से व्यक्ति इन सम्प्रदायो मे दीक्षित हो गये।

देश की राजनैतिक स्थिति—जायसी का रचना-काल महाकवि कबीर से लगभग १०० वर्ष पश्चात् आता है। लगभग सन् १५४० के आसपास का यह समय था। जायसी ने मसनबी की रूढ़ि का पालन करते हुए 'शाहे-वक्त' के रूप में शेरशाह की तारीफ की है।

शेरशाह देहली सुलतानू । चारहु खड तपै जस भानू ॥
ओही छाज राज औ पाटू । सब राजै भुइँ धरा ललाटू ॥
जाथि सूर औ खाँडे सूरा । और बुधिवत सबै गुन पूरा ॥
सूर नवाए नए खँड वई । सावउ दीप दुनी सब नई ॥

—पदमावत पृ० ५

राजनैतिक स्थिति इस समय उतनी अव्यवस्थित नही थी कि जनता मे पहले जैसी आतक की भावना रही हो। मुसलमानो को हिन्दुओ के सम्पर्क मे आये काफी दिन हो गये थे और राज्य-व्यवस्था भी सुचारु रूप से संचालित थी। सामतशाही का दौर तो वह था ही, जिसमे हिन्दू तथा मुसलमान राजो के व्यवहार करीब-करीब एक से ही थे। शेरशाह का पदमावती के रूप पर रीझकर आक्रमण करने वाली बात बिल्कुल वैसी ही है जैसे किसी हिन्दू राजा द्वारा किसी दूसरे राजा पर उसकी कन्या को अपहरण करने के लिए आक्रमण कर देना।

वैसे देश और समाज का चित्रण कवि ने नही के बराबर ही किया है। कवि का यह ग्रन्थ भावना और कल्पना प्रधान ही है। उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक है जिसमें राजपूतो की वीरता और डटकर दुश्मन का सामना करने की क्षमता और साहस का आभास मिलता है। उनकी होशियारी और राजनैतिक दाव पेचो का वर्णन भी पालकियो मे लुहारो और राजपूतो को भेजकर अपने राजा को छुडा लाने से मिलता है और अन्त मे अपने पतियो को अपने देश की रक्षा मे मिटा हुआ देखकर जौहर की प्रथा द्वारा हँसते-हँसते जल जाने के इतिहास का भी विवरण है। इस प्रकार कुछ राजनैतिक और कुछ सामाजिक तत्त्व ग्रन्थ मे मिलते है। यही समय की राजनीति और समाज व्यवस्था का प्रभाव था।

जनता पर प्रभाव—सूफी ग्रन्थो का प्रभाव धार्मिक सामजस्य के रूप मे जनता पर कुछ बहुत अधिक नही हो सका। इन सम्प्रदायो को अपनाने वाले केवल मुसलमान लोग ही थे, हाँ उनमे वे मुसलमान अवश्य थे जिन्हे तलवार के जोर से मुसलमान बनाया गया था। और मुसलमान बनाकर फिर अपनी ऊँची कौमो के बराबर नही बिठलाया गया था। सूफी धर्म ने उन सबको एक साथ रखने का प्रयत्न किया और प्रेम साधना के क्षेत्र मे छोटे बडे के बन्धनो को ढीला कर दिया। सूफी धर्म मे वैष्णव भक्ति का रूप मिलता है। यह उसके काफी निकट है, कुछ मूल सिद्धान्तो को छोडकर। इसीलिए हिन्दू जनता को भी यह प्रभावित कर सकता था परन्तु उसके अन्दर इसकी पैठ इतनी अधिक न हो सकी। फिर इस मत के प्रचारको ने जिन ग्रन्थो की रचना की उनका महत्त्व साहित्य की दृष्टि से चाहे जितना भी हो परन्तु प्रचार और धार्मिक दृष्टिकोण के नाते उसे वह स्थान प्राप्त नही है। तुलसी की रामायण और 'सूर-सागर' की जो पैठ जनता मे हुई वह सूफी फकीरो के साहित्य की न हो सकी। सूफियो की प्रेम अभिव्यंजना जनता न समझ सकी और इसीलिए उसका कम प्रभाव रहा। □

३ | जायसी की रचनाएँ और उनकी भाषा

महाकवि जायसी के ग्रन्थो की उपलब्ध नामावली निम्नलिखित है :

१. पद्मावत	११. मुकहरा नामा
२. अखरावट	१२. मुखरा नामा
३. आखिरी कलाम	१३. पौस्ती नामा
४. सखरावत	१४. मुहरानामा (डोली नामा)
५. चम्पावत	१५. नैनावत
६. इतरावत	१६. स्फुट छन्द
७. मटकावत	१७. कहार नामा
८. चित्रावत	१८. मेखरावट नामा
९. खुर्वा नामा	१९ घनावत
१०. मोराई नामा	२०. सोरठ
	२१. परमार्थ जपजी ।

उक्त ग्रन्थों मे पद्मावत, अखरावट और आखिरी कलाम प्रकाशित हो चुके हैं। इनके स्वरूप, भाषा, विषय तथा अन्य जानकारी के विषय में ज्ञान प्राप्त करना कठिन नही । इन रचनाओ के अन्दर कवि का नाम अनेको स्थानो पर दोहराया गया है। यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि ये रचनाएँ जायसी कृत हैं। ग्रन्थ २ से १४ तथा १८ का उल्लेख बही मे मिलता है । ग्रन्थ १५ का उल्लेख आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जा० ग्र० के भूमिका भाग पृष्ठ १६ पर किया है। ग्रन्थ १६ का उल्लेख सैयद कल्बे मुस्तफा ने मलिक मुहम्मद जायसी' (१९४१) पृष्ठ १६४ मे किया है । ग्रन्थ १७ का उल्लेख ना० प्र० प० भाग १४ के ४१८ पृष्ठ पर मिलता है । अन्तिम तीन ग्रन्थो का उल्लेख तासी ने 'इस्तवाद दला लितैरात्यूर ऐंदूई ऐंदुस्तानी –भाग २ (१८७०) पृष्ठ ६८ पर किया है। तासी का कथन है कि सोरठ तथा जपजी की पाडुलिपियाँ 'बगाल एशियाटिक सोसाइटी' मे और धनावत की प्रति डा० स्प्रेंगर के पास है। इनके अतिरिक्त

अन्य ग्रन्थों के हमे केवल नाम मात्र ही उपलब्ध है और वे भी जन-श्रुतियो के आधार पर। पाडुलिपियाँ अभी तक उपलब्ध नही हो सकी। पोस्तीनामे के विषय मे एक किंवदन्ती प्रचलित है जिसका उल्लेख हम प्रथम अध्याय मे कर चुके है। इसकी दो पक्तियाँ भी मिलती है।

जब पुस्ती माँ लागे पात। पुस्ती बूदे नौ-नौ हात॥
जब पुस्ती माँ लागे फूल। तब पुस्ती मटकावै कूल॥[1]

इन पक्तियो को भी विश्वसनीय मान लेना भूल ही है। प्रथम अध्याय मे आई किंदवन्ती मे मुबारक शाह बोदले ने जायसी के चौदह ग्रन्थो की ओर सकेत किया है। ये चौदह ग्रन्थ उक्त २१ मे से प्रथम चौदह है।

इन पुस्तको के अतिरिक्त कुछ स्फुट पद भी मिलते है परन्तु उनकी भी मान्यता सदिग्ध ही है। स्फुट काव्य के कुछ नमूने कल्बे मुस्तफा ने उद्धरणो के रूप मे दिए है। ला० सीताराम ने जायसी के सात ग्रन्थ स्वीकार किए हैं। उनकी मान्यता का आधार अवध गजटियर है।

हम यहाँ जायसी के नाम के साथ केवल तीन रचनाओ को ही जोड़ते है जिनके विषय मे सदिग्धता का कोई कारण नही। ये ग्रन्थ पद्मावत, अखरावट और आखिरी कलाम है।

पद्मावत—नाम.—पद्मावत का नाम विद्वानो ने पद्मावत, पद्मावत, पद्मावति और पद्मावती करके लिखा है। यदि तत्समता के दृष्टिकोण से विचार करें तो यह नाम 'पद्मावती' होना चाहिए परन्तु जायसी ने पद्मावती शब्द का प्रयोग नही किया होगा क्योकि उनकी भाषा विशुद्ध अवधी है और उसमे तत्समता का अभाव है। फिर यदि अवधी के सामान्य नियमो को काम मे लाये तो इसका नाम पद्मावत के स्थान पर पद्मावति होना चाहिए परन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जायसी ग्रन्थावली मे इसका नामकरण 'पद्मावत' ही किया है। हम अब प्रचलित पद्मावत नाम को मान्यता देते हुए और इसमे कोई नई फेर बदल करना उचित नही समझते।

पद्मावत का रचना-काल '—पद्मावत की रचना अन्तर्साक्ष के अनुसार कवि ने हिजरी ९४७ ईसवी सन् १५४० मे की थी। इसी स्थान पर सामयिक राजा शेरशाह सूरी का भी कवि ने यश-गान किया है। शेरशाह लगभग १५४० ई० मे गद्दी पर बैठा था। इसलिये यह सन् ठीक प्रतीत होता है। कवि लिखता है :

सन् नौसै सैतालिस अहा।
कथा आरम्भ बैन कवि कहा॥[2]

---

१. डा० कमल कुलश्रेष्ठ कृत मलिक मुहम्मद जायसी, भाग १-पृष्ठ २२

२. यह पाठ ग्रियर्सन तथा सुधाकर द्विवेदी ने पदमावति पृष्ठ ३५ पर किया है।

उक्त पक्ति जा० ग्र० ६ पर इस प्रकार मिलती है

सन् नौ से सत्ताइस अहा।
कथा अरम्भ बैन कवि कहा ॥

हिजरी ६२७ सन् १५२० ई० के पास पडता है और इस समय भारत मे इब्राहीम लोदी राज्य करता था। शेरशाह का राज्य सन् १५४० से शुरू होता है। फिर कवि ने समसामयिक राजा के रूप मे शेरशाह का चित्रण क्यो किया ? इस विषय मे विद्वानो का मत है कि कवि ने उक्त पक्ति मे 'अहा' शब्द का प्रयोग इसीलिए किया है ! हो सकता है ग्रन्थ समाप्त होने पर भूमिका लिखते समय शेरशाह का राज्य आ गया हो और उसका वर्णन कवि ने किया हो।

६४७ हिजरी यो भी गलत जँचता है कि कवि ने आखिरी कलाम अर्थात् आखिरी रचना का रचनाकाल ६३६ हिजरी कहा है—

नौ सौ बरस छत्तिस जब भए।
तब एही कथा के आखर कहे ॥

जा० ग्र० पृष्ठ ३८८

जब कवि की आखिरी रचना ही ६३६ हिजरी मे लिखी गई तो भला पद्मावत ६४७ मे किस प्रकार लिखी जा सकती थी। पद्मावत का रचना काल इस प्रकार ६२७ हिजरी सन् १५२७ ई० ही ठीक ठहरता है। सन् १५२७ मे ही जायसी ने पद्मावत की रचना प्रारम्भ की होगी।

पद्मावत के अनुवाद और सस्करण—पद्मावत का अनुवाद अग्रेजी, बगला, उर्दू, फारसी, खड़ीबोली, फ्रेंच, पश्तो इत्यादि भाषाओ मे हो चुका है। इतनी भाषाओ मे इस ग्रन्थ का अनुवाद होना ही इसकी लोकप्रियता प्रमाणित करता है। मूल पद्मावती के कई सस्करण प्रकाशित हो चुके है·

(१) **पद्मावत**—पद्मावत का सबसे पहला सस्करण सन् १८८१ मे पद्मावत नाम से नवलकिशोर प्रेस लखनऊ ने प्रकाशित किया। इसका पाठ बहुत अशुद्ध है।

(२) **पद्मावत**—का एक सस्करण सन् १८६४ ई० मे चन्द्रप्रभा प्रेस काशी ने प्रकाशित किया। यह भी नवलकिशोर के संस्करण के ही समान है।

(३) **पद्मावत**—पण्डित सुधाकर द्विवेदी तथा ग्रियर्सन ने पद्मावत का पहला भाग सूली खण्डन का प्रकाशित कराया। इसका आधार बगाल रायल एशियाटिक सोसायटी मे मिलने वाली प्रति है। यह सस्करण टीका सहित है। वैज्ञानिक सम्पादन की दृष्टि से यह सस्करण सबसे अच्छा है।

(४) **पदमावत**—सन् १६२५ मे पद्मावत का एक सस्करण ला० भगवानदीन ने प्रयाग हिन्दी साहित्य सम्मेलन से प्रकाशित कराया। यह रत्नसेन पद्मावती भेंट खण्ड तक ही प्रकाशित किया गया है। किन पाडुलिपियों के आधार पर इसका सम्पादन हुआ यह पुस्तक मे नही दिया।

(५) **जायसी ग्रन्थावली**—पद्मावत के इस संस्करण का सम्पादन आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किया है। इसका प्रकाशन सन् १९२४ ई० मे नागरी प्रचारिणी सभा बनारस द्वारा हुआ। यह सस्करण विद्यार्थियो के दृष्टिकोण से सबसे अच्छा है। परन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने यह नही दिया कि इसका पाठ उन्होने किस पाडुलिपी के आधार पर किया।

(६) **पद्मावती** – डॉ० सूर्यकान्त शास्त्री ने सन् १९३४ मे पद्मावत का एक सस्करण पजाब विश्वविद्यालय, लाहौर से प्रकाशित करवाया। यह संस्करण भी सूलीखण्ड तक ही है और प० सुधाकर तथा ग्रियर्सन वाले सस्करण के पाठ की नकल है।

उक्त सस्करणो के अतिरिक्त पद्मावत के जो सस्करण प्रकाशित हुए है वे कोई विशेष महत्वपूर्ण नही है।

पद्मावत की कथा—पद्मावत की कथा को जायसी ने ५७ खण्डो मे वर्णित किया है। कथा का विवरण इस प्रकार है.

(१) **स्तुति खण्ड**—यह पद्मावत का प्रथम खण्ड है जिसमे कवि ने सृष्टि को बनाने वाले, पैगम्बर, जायसी के चार मित्र, गुरु-परम्परा का उल्लेख मिलता है। इन सभी की कवि ने स्तुति तथा प्रशसा की है। कवि ने अपना भी सक्षिप्त परिचय इस खण्ड मे दिया है। पद्मावत लिखने के समय का सकेत भी इसी खण्ड मे मिलता है। पूरी कथा की बहुत सक्षिप्त रूप रेखा इस खण्ड मे कवि ने प्रस्तुति की है।

(२) **सिंहलद्वीप वर्णन-खण्ड**—इस खण्ड मे कवि सात द्वीपो का उल्लेख करता है और फिर उन सातो द्वीपो मे कवि सिंहलद्वीप की श्रेष्ठता वर्णित करता है। सिहलद्वीप के राजा गन्धर्वसेन का कवि परिचय देता है। सिंहलद्वीप के प्राकृतिक सौदर्य की सराहना करता है। कुआ, बावडी, मोदक, पनिहारियाँ, ताल-तालाब, सिंहल नगर, ऊँचे मकान, बाजार, वेश्या, मालिन, पण्डित, नट, ठग, नाटक करने वाले, चिडियो का खेल दिखलाने वाले और इसी प्रकार अनेको चीजो का कवि वर्णन करके वहाँ का वातावरण पैदा करता है। सिंहलद्वीप की समृद्धि का वर्णन कवि खूब खुलकर प्रस्तुत करता है। द्वारो पर कोतवाल, सिंहलगढ, कचनवृक्ष, हाथी, घोडे, राजसभा, राजमहल सभी का कलात्मक वर्णन इस खण्ड मे मिलता है। यहो पर कवि गन्धर्वसेन की पटरानी चम्पावती का भी परिचय देता है। सिंहलद्वीप के अनुपम सौदर्य का कवि वर्णन करता है :

सब संसार परथ मै आए सातों दीप।
एक दीप नहिं उत्तिम सिघल दीप समीप ॥

जा० ग्र० पृष्ठ १०

कुँवरि बतीसो-लच्छनी अस सब माँह अनूप।
जावत सिघल दीप के सबैं बखाने रूप ।।

—जा० ग्र० पृ० १८

(३) **जन्म-खड** चम्पावती और गधर्वसेन के पद्मावती का जन्म होता है। पद्मावती बहुत सुन्दर थी। उसके सौन्दर्य का कवि ने अपूर्व वर्णन किया है।

इते रूप मैं कन्या तेहि सरि पूज न कोइ।
धनि देख रूपवता जहाँ जन्म अस होइ ।।

पद्मावती ने पाँच वर्ष की आयु मे विद्या पढना आरम्भ किया। पद्मावती के बारह वर्ष की होने पर गधर्वसेन ने सात खडवाले महल मे उसके अलग रहने की व्यवस्था की। यहाँ उसकी सखियाँ उसके पास आती थी। पद्मावती का एक प्रिय हीरामन तोता था। जो महापडित और वेद-शास्त्रो का ज्ञाता था। गधर्वसेन को अपने यश और वैभव पर अभिमान था इसीलिए वह पद्मावती का विवाह किसी से करना नही चाहता था, पद्मावती इस स्थिति मे एक बन्दिनी के समान थी। एक दिन जब उसे कामदेव ने सताया, तो वह हीरामन तोते से बोली

सुनु हीरामनि कहौं बुझाई। दिन-दिन मदन सतावै आई।
पिता हमार न चाले बाता। त्रासहि बोल सकै नहि माता ।।
देस के बर मोहि आवहि। पिता हमार न आँख लगावहि ।।
जोबन मोर भयऊ जस गंगा। देह देह हम्ह लाग अनंगा ।।

इस पर हीरामन ने समझाकर कहा

"आज्ञा देउ देखौ फिरि देसा। तोहिं जोग बरि मिलै नरेसा ।।"

तोते की यह बात किसी दुर्जन ने सुन ली। बात राजा के कानो तक पहुँच गई और राजा ने तुरन्त तोते को मरवाने की आज्ञा दे दी। परन्तु जब तक मारने वाले वहाँ आये, रानी ने तोते को छुपा दिया। इसके पश्चात् तोते ने यहाँ रहना उचित नही समझा और वह रानी से बोला कि जब राजा ही रूठ गये तो उसका वहाँ सुरक्षित रहना भला किस प्रकार सम्भव हो सकता है:

सुअटा रहै खुरुक जिउ, अबहिं काल सो आव।
सत्रु अहै जो करिया, कबहूँ सो बोरै नाव ।।

(४) **मानसरोदक-खंड** एक दिन पूर्णमासी को पद्मावती अपनी सखियो के साथ मानसरोवर पर गई। फिर सखियो के साथ खेल कूद के पश्चात् पानी मे जल क्रीडा के लिए उतरी। वहाँ एक सखी का हार पानी में गिर गया जिससे वह रोने लगी। फिर वह हार आप से आप पानी पर तिर आया और उसे पाकर सभी सखियाँ प्रसन्न हो गईं। वहाँ के सौदर्य का कवि ने सुन्दर वर्णन किया है:

नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हँस भा, दसन जोति नग हीर ।।

(५) **सुआ-खंड**—पद्मावती जब मानसरोवर पर क्रीडा कर रही थी तो उसी समय हीरामन तोता पिजडे से उड गया । हीरामन जगल मे पहुँचा तो वहाँ अन्य पक्षियो ने उसका सम्मान किया । वह उन्ही के साथ रहने लगा ।

एक दिन वहाँ व्याध ने आकर अपना जाल फैलाया और अन्य पक्षियो के साथ हीरामन भी उसमे फँस गया । व्याध उसे अपने झाबे मे रखकर बेचने के लिए ले गया ।

(६) **रत्नसेन जन्म-खंड** चित्तौड का राजा चित्रसेन था ! उसके रत्नसेन नामक पुत्र हुआ । रत्नसेन के सौभाग्य का वर्णन मुक्त कण्ठ से ज्योतिषियो ने किया । ज्योतिषियो ने यह भी बतलाया कि यह पद्मावती से विवाह करेगा और योग्य बनकर सिंघल द्वीप जाएगा

सिघलदीप जाइ यह पावै । सिद्ध होइ चित उर लेइ आवै ।।
भोग भोज जस माना, विक्रम साका कीन्ह ।
परखि सो रतन पारखी, सूबै लखन लिखि दीन्ह ।।

(७) **बनिजारा खड** चित्तौड का एक बनिजारा व्यापार करने के लिए सिंघल द्वीप गया । इस बनिजारे के साथ एक गरीब ब्राह्मण भी किसी से कुछ रुपया उधार लेकर गया । सिघलद्वीप के बाजारो मे उस ब्राह्मण को सभी चीजे ऊँचे दामो की मिली । वह निराश हो गया कि आखिर वहाँ से क्या खरीद करे । इसी समय व्याध हीरामन तोते को लेकर वहाँ पहुँच गया । ब्राह्मण तोते के स्वर्ण-वर्ण को देखकर उस पर लालायित हो उठा । पडित ने तोते से पूछा ।

"दहुँ-गुनवत, कि निरगुन छूछा ।"

इस पर तोते ने उत्तर दिया

"हौ बाम्हन और पडित, कछु आपत गुन सोइ ।
पढ़े के आगे जो पढ़ै, दून लाभ तेहि होइ ।।"

पडित ने तोते को खरीद लिया और फिर वह अपने साथियो के साथ मिल कर चितौड की ओर चल पडा । जब वह चित्तौड पहुँचा तो चित्रसेन का देहावसान हो चुका था और रत्नसेन गद्दी पर बैठ गया था । रत्नसेन ने सुना कि सिंघलद्वीप से बनजारे आये है और उनमे एक ब्राह्मण तोता लाया है, राजा की आज्ञा से ब्राह्मण तोते को लेकर राजा के सामने पेश हुआ । राजा ने तोते से उसका गुण पूछा तो वह बोला :

गुनी न कोई आप सबाहा, जो विकाइ, गुन कहा सो चाहा ।
जौ लगि गुन परगट नहि होई, तौ लहि मरम न जानै कोई ।।
चतुर वेद हौ पडित, हीरामन मोहि नावँ ।
पदमावती सौ, द्वेखौ सेव करौं तेहि ठावँ ।।

राजा रत्नसेन ने जब यह सुना तो उन्होने हीरामन तोते को मोल ले लिया ।

(८) **नागमती सुआ सवाद** . तोता राजा के पास रहकर उसे पद्मावती क

ओर आकर्षित करता था तो रत्नसेन की रानी नागमती के मन में उससे जलन पैदा होती थी। एक दिन जब राजा रत्नसेन शिकार खेलने गये थे तो नागमती हीरामन के सामने शृंगार करके आई और उससे पूछा :

बोलहु सुआ पियारे नाँहा। मोरे रूप कोइ है जग माँहा॥
हँसत सुआ पहँ आइ सो नारी। दीन्ह कसौटी ओपनिवारा॥
सुआ बानि कसि कछु कस सोना। सिंघल दीप तोर कस लोना॥
कौन रूप तोरी रूपमनी। दहुँ हौ लोनि कि वै पदमिनी॥

यह सुनकर तोता कितना स्पष्ट उत्तर देता है :

सुमरि रूप पद्मावति केरा। हँसा सुआ, रानी मुख हेरा॥
जेहि सरवर महँ-हँस न आवा। बगुला तेहि सर हँस कहावा॥
× × ×
का पूछहु सिंघल कै नारी। दिनहिं न पूजै निसि अँधियारी॥
पुहुप सुवास सो तिन्ह कै काया। जहाँ माथ का बरनौं पाया॥

तोते के ये शब्द नागमती के जखम पर नमक की तरह लगे। उसे चिन्ता हुई कि यदि इसने यही बात राजा से कही तो पद्मिनी को प्राप्त करने के लिए हो सकता है कि वह सिंहल की ओर रवाना हो जायँ। उसने चिढकर अपनी धाय से तोते को मार डालने के लिए कहा, धाय तोते को ले तो गई परन्तु, यह जानकर कि वह राजा का प्रिय है, उसे मारा नही। रत्नसेन ने शिकार से लौटने पर तोते की खोज की। नागमती ने पूरा वृत्तांत कह सुनाया। राजा को इस पर क्रोधित होते देखकर धाय तुरन्त तोते को ले आई और तोता राजा को दे दिया।

(९) **राजा-सुआ-सवाद खड** . इस खण्ड मे राजा रत्नसेन तोते से नागमती की सच्ची बात पूछता है और तोता बात बतलाकर गधर्वसेन का परिचय देता है। साथ ही उसकी अत्यन्त सुन्दरी पद्मावती के रूप का भी वर्णन करता है .

उअत सूर जस देखिय। चाँद छपै तेहि धूप।
ऐसे सबै जाहि छपि। पद्मावति के रूप॥

पद्मावती के रूप का वर्णन सुनकर राजा रत्नसेन के मन मे प्रेम जाग्रत हो जाता है और तोते को पद्मावती का नख-शिख वर्णन करने का आदेश देते है :

जस अनूप, तू बरनेसि, नख सिख बरनु सिगार॥
है मोहि आस मिलै कै, जौ मेरवै करतार॥

(१०) **नख-शिख खण्ड** ' इस खड मे तोता पद्मावती का नख-शिख वर्णन करता है। वर्णन प्रारम्भ करते ही कहता है :

का सिगार ओहि बरनौं, राजा, ओहिक सिंगार ओहि पे छाजा॥

इसी प्रकार पूरा नख शिख वर्णन कर देने के पश्चात् कहता है :

बरनि सिंगार न जानेऊँ नख सिख जैस अभोग।
तस जग किछुइ न पाएउँ उपमा देउँ ओहि जोग ॥

(११) **प्रेम-खण्ड** पद्मावति के रूप का वर्णन तोते से सुनकर राजा मुरझा कर प्रेम विह्वल हो गया। राजा अचेत हो गया और उसके मुख से 'त्राहि-त्राहि' शब्द निकलने लगे। राजा के सभी कुटुम्बी और प्रियजनो ने देखा परन्तु किसी की समझ काम न दे सकी। जब राजा सचेत हुआ तो उसके नेत्रो से अश्रु धारा बह रही थी। वह बोला "मैं तो अमरपुर मे था, मै यहाँ मरनपुर मे कहाँ से आ गया हूँ" तब हीरामन तोते ने उसे समझाया और कहा "राजन ! हृदय मे धैर्य धारण करो। प्रेम करना हँसी खेल नही है। प्रीत करना अत्यन्त कठिन है। सिंहल का पथ बडा दुर्लभ है। वहाँ तक जोगी और सन्यासी ही जा सकते है। तुम भोगी व्यक्ति हो, तुम्हारा पहुँचना कठिन है .

तुम राजा औ सुखिया, करहु राज सुख भोग।
एहि रे पथ सो पहुँचै, सहै जो दुःख वियोग ॥

राजा रत्नसेन यही से वैरागी हो जाते है। और राजपाट त्याग कर सिंघल की दिशा मे चलने के लिए दृढव्रत होते हे। उन पर अब किसी के कहने या समझाने का असर नही होता .

बंधु मीत बहुतै समझावा। मान न राजा कोउ भुलावा।

(१२) **जोगी-खण्ड** राजा रत्नसेन जोगी होकर चल पडा। राजसी वस्त्र को त्याग कर देह पर भस्म रमा ली। मेखला, सिंधी, चक्र इत्यादि धारण कर लिए। प्रेम-पथ पर इस प्रकार राजा चल दिया। और उसने ज्योतिषी की बात नही सुनी। चलते समय माता विलाप करती है। घर मे अन्धकार छा जाता है।

रोवत माय, नबहुरत न बारा। रतन चला, घर भा अँधियारा ॥

नागमति और सारा रविनास रो रहा है परन्तु रत्नसेन पर उसका कोई प्रभाव नही होता। वह सबको छोड कर चल देता है .

कहा न मानै राजा, तजी सवाईं भीर।
चाल छाड़ि कै रोवत, फिरि कै दई न धीर ॥

सुआ, राजा रत्नसेन और उसके साथी जोगियो का अगुआ था। जब ये चलते-चलते ऐसे स्थान पर पहुँचे कि जहाँ से मार्ग दो दिशाओ को फटता था, तो तोते ने मार्ग दिखाया। उसने बताया कि एक मार्ग लका के लिए है और दूसरा सिंघल द्वीप के लिए। राजा रत्नसेन के नेत्र अब उसी मार्ग पर लग गये जो सिंघल द्वीप को जाता था और जहाँ पद्मावती रहती थी .

नैन लाग तेहि मारग पदमावति जेहि दीप।
जैस सेवातिहि से बै बन चातक, जल सीप ॥

(१३) **राजा-गजपति-सवादखण्ड** एक महीने की यात्रा के पश्चात् रत्नसेन अपने साथियो के साथ समुद्र-तट पर पहुचा । वहाँ इनकी भेट राजा गजपति से हुई । जब उसे सूचना मिली कि योगी रत्नसेन उस ओर आ रहे है तो वह उनसे भेट करने के लिए पहुँच गया । गजपति ने कहा, "आपने दर्शन देकर मुझ पर बडा अनुग्रह किया । आप अब मेरे योग्य सेवा कहिए ।" इस पर राजा रत्नसेन बोले

है बहुत जौ बोहित पावौं । तुम्ह तें सिघल दी सिधावौं ।।

इस पर गजपति बोले, "योगिराज ! मै जहाजो का तो प्रबन्ध कर दूंगा परन्तु मार्ग बड़ा भयकर है । आप कैसे जा सकेगे ।"

रत्नसेन ने उत्तर दिया कि प्रेम मार्ग पर चलने वाले भयकरता से नही डरते । मै तो अपने लक्ष्य की ओर जा रहा हूँ यदि समुद्र मे किसी ने मुझे खा भी लिया तो तब भी मेरा निस्तार ही होगा । मेरी दशा तो आज ऐसी है

सरग सीस, घर धरती, हिया सो प्रेम-समुंद ।
नैन कोड़िय होइ हेर, लेइं लेइ उठहिं सो बुद ।।

(१४) **बोहित खण्ड** गजपति ने रत्नसेन के लिए जहाजो का प्रबन्ध कर दिया और वह उन पर बैठकर अपने साथियो के साथ सिघल द्वीप की ओर चल पड़ा । यह जहाजी बेडा इतना बड़ा था कि सारा समुद्र उनसे पट गया । ये जहाज एक पल भर म सहस्त्रा कास की रफ्तार से चलने वाले थे । चलते समय राजा रत्नसेन के सभी साथी दृढ़ प्रतिज्ञ थे .

गुरु हमार तुम राजा, हम चेला तुम नाथ ।
जहाँ पांव गुरु राखै, चेला राखै माथ ।।

(१५) **सात समुद्र खण्ड** रत्नसन का जहाजी बेड़ा पहले खार-समुद्र मे उतरा, इस समुद्र म लहर बहुत थी । फिर वह खीर-समुद्र मे घुसा तो उसमे हीरा मोती भरे पड़ थे । फिर ये दधि-समुद्र मे पहुँचे तो वह दही के समान जमा हुआ था । दधि-समुद्र स निकलकर उदधि-समुद्र प्रवेश किया । इस समुद्र मे आग की लपटे थी । यहाँ से निकल कर सुरा-समुद्र मे पहुँचे । जो कोई भी उसका जल पीता वही बेहोश हो जाता था । सुरा-समुद्र से निकल कर यह बेड़ा किल-किल समुद्र मे पहुँचा । इस समुद्र मे बड़ी उथल-पुथल थी और विकराल लहरे उठ रही थी । हीरामन तोते ने राजा को ज्ञान दिया और कहा कि इसी समुद्र मे आकर सत डोल जाता है :

हीरामन राजा सौं बोला । एही स अमुदाए सत डोला ।।
सिंहल दीप जो नाहि निबाहू । एही ठाँव साँकर सब काहू ।।

परन्तु राजा रत्नसेन का सत नही डोला और उन्होने दृढता पूर्वक धैर्य के साथ उत्तर दिया कि मैने तो अपना बेड़ा प्रेम-समुद्र मे डाल दिया है फिर किल-

किल समुद्र की मैं व ा चिंता करूँगा, क्योकि यह तो उसके सामने एक बूँद के समान है :

प्रेम-समुद्र महँ बांधा बेरा। यह सब समुद बूँद जेहि केरा ॥

रत्नसेन ने अपना बेडा निर्द्वन्द होकर उस समुद्र मे छोड दिया। जब जहाज एक दूसरे से पृथक-पृथक हो गए थे और सबको अपनी-अपनी पड गई

कान समुद धसि लीहेन्सि, भा पाछे सब कोइ।
कोइ काहू न सँभारै, आपनि आपनी होइ ॥

इसके पश्चात् मानसर समुद्र मे प्रवेश किया, जहाँ का जल बिल्कुल शाँत था। वहाँ जाकर बेडे के अन्य जहाज भी आगे पीछे मिल गये

कोइ दिन मिला सबेरे, कोइ आवा पछ-राति।
जाकर जस जस साजु हुत, सो उतरा तेहि भाँति ॥

(१६) **सिंहलद्वीप खण्ड** · मानसर समुद्र को पार कर बेडा सिंघलद्वीप के पास पहुँचा। वही तोते ने राजा रत्नसेन को सिंहल-गढ दिखलाया। वहाँ पद्मावती का निवास स्थान था। उसने बतलाया कि पद्मावती के पास न तो कोई भौंरा ही जा सकता है और न कोई पक्षी ही। तोता बोला :

तहाँ देखु पद्मावति रामा। भौंर न जाई, न पखी नामा ॥
अब तोहि देऊँ सिद्धि एक जोगु। पहिले दरस, होइ तब भोगू ॥

हीरामन ने फिर रत्नसेन को सोने का सुमेरु पर्वत दिखलाया और कहा कि वहाँ पर महादेव का मण्डप है। माघ मास की श्रीपचमी को वहाँ लोग पूजा के लिए आते हैं। उसी समय पद्मावती भी पूजा के लिए आयेगी। तभी तुम उसके दर्शन कर सकोगे। राजा महादेव के मण्डप मे चला गया और हीरामन तोता पद्मावती के पास पहुचा।

(१७) **मण्डप गमन खण्ड** राजा रत्नसेन अपने सोलह हजार चेलो को लेकर महादेव के मण्डप मे रहने लगा। वही पर उसने पद्मावती की प्राप्ति के लिए प्रार्थना की। यहाँ उसने सिंहछाला पर बैठकर पद्मावती का जाप किया :

बैठ सिंगहाला होइ तपा। 'पद्मावति पद्मावति' जपा।

(१८) **पद्मावती वियोग-खण्ड** राजा रत्नसेन ने जब यहाँ पद्मावती की प्राप्ति के लिए अखण्ड जाप किया तो उसका प्रभाव पद्मावती पर भी हुआ और उसके अन्दर भी प्रेमाँकुर उगने लगा। रात-दिन उसे रत्नसेन की याद आने लगी। अब वह अकेली नही रह सकती थी। उसने अपनी धाय से कहा

दहै, धाय! जोबन एहि जीऊ। जोनहु परा अगनि महँ घीऊ ॥
करबत सहौं होत दुइ आधा। स‍िहि न जाइ जोबन कै दाधा ॥
रोंव-रोंव जनु लागहिं चाँटे। सूत-सूत बेधहिं जनु काँटे।
दगधि कराहू जरै जस घीऊ। बेगि न आव मलयगिरि पीऊ ॥

(१९) **पद्मावती-सुआ भेट खण्ड :** इसी वियोगावस्था मे हीरामन तोता पद्मावती के पास आता है। हीरामन तोते को देखकर पद्मावती को प्रतीत हुआ कि मानो उसके जाते हुए प्राण लौट आए। रानी ने तोते को गले से लगाया और रोकर उसका कुशल पूछा। तोते ने अपनी पूरी कहानी पद्मावती को सुनाई, पिजडे से उडने के पश्चात् किस प्रकार वह अन्य जानवरो से मिला, फिर व्याध द्वारा पकडा जाकर एक चित्तौडगढ के ब्राह्मण के हाथ बिका, ब्राह्मण उसे जम्बू द्वीप ले गया। वहाँ चित्तौडगढ में वार राजा रत्नसेन राज्य करता था। फिर तोते ने जम्बूद्वीप तथा रत्नसेन का वर्णन किया। रत्नसेन द्वारा अपने मोल लिए जाने और पद्मावती के रूप वर्णन की भी फिर पूरी कथा कह सुनाई। और फिर बतलाया कि किस प्रकार पद्मावती का रूप वर्णन सुनकर रत्नसेन प्रेमभोगी बन गया। वह सोलह हजार चेलो के साथ सिहलद्वीप आया है। यह भी सूचना उसने पद्मावती को दी और महादेव के मण्डप मे उसी के लिए पूजा कर रहा है। यह सुनकर पद्मावती के मन मे अभिमान हुआ। उसने जोगी से प्रेम करना अपमान समझा। परन्तु हीरामन तोते ने रानी से फिर कहा, "रानी तुम्हारे विरह मे रत्नसेन ने अपने कचन जैसे शरीर को भस्म कर दिया" यह सुन रानी के मन मे प्रेम और शरीर मे काम उत्पन्न हुआ :

सुनि कै धनि, 'जारी अस काया,। मन भा मथन, हिये भै माया ॥
देखो जाइ जरै कस भानू। कचन जरै अधिक होइ बानू ॥
अब जौं मरे वह प्रेम-वियोगी। हत्या मोहि, जेहि कारण जोगी ॥
सुनि कै रतन पदारथ राता। हीरामन सौं कह यह बाता ॥
जौं वह जोग सँभारै छाला। पाइहि भुगति, देहुँ जयमाला ॥

(२०) **वसत खण्ड** बसन्त की श्रीपञ्चमी को पद्मावती महादेव की पूजा के लिए सखियो के साथ महादेव के मण्डप मे गई। महादेव की पूजा करते हुए पद्मावती ने कहा कि मेरी सब सखियो को वर मिल गये परन्तु मुझे अभी नही मिला। आप मेरी यह इच्छा पूर्ण करे.

बर सौं योग मोहि मेखहु, कलस जाति हौं मान।
जेहि दिन हीछा पूजै बेगि चढ़ावहुँ आनि ॥

इसी समय एक सखी आकर कहती है.

पूरब द्वार गढ़ जोगी छाए। न जनौ कौन देश तें आए ॥
उन महँ एक गुरु जो कहावा। जनु गुड़ देह काहू बौरावा ॥
कुँवर बतीसौं लच्छन राता। दसएँ लछन कहै एक बाता ॥
जानौं अह गोपीचंद जोगी। की सो आहि भरथरी बियोगी ॥

रानी यह सुनकर उधर जाती है परन्तु उसे देखते ही राजा अचेत हो जाता है। पद्मावती ने उसके शरीर पर चन्दन का लेप किया। राजा एक क्षण के

लिये जागा परन्तु फिर गहरी नीद मे सो गया । तब रानी ने उसके हृदय पर चन्दन से लिखा

जब चंदन आखर हिय लिखे । भीख लेइ तुइ जोग न सिखे ॥
घरी आइ तब गाँ तू सोई । कैसे भुगति परापति होई ॥

यह लिखकर पद्मावती चली आई । रात्रि मे उसने स्वप्न मे देखा चन्द्रमा पूर्व से उदय हुआ है और सूर्य पश्चिम से और फिर दोनो एक दूसरे के पास चले आये तथा दोनो का मेल हो गया । उसने देखा कि हनुमान ने लका लूट ली । जागने पर अपनी सखियो से उसने अपने स्वप्न का अर्थ पूछा । सखियो ने बतलाया इसका अर्थ यही है कि तुम्हे वर मिलने वाला है

सुख सुहाग जो तुम्ह कहँ पान फूल रस भोग ।
आज कालिह भा चाहै, अस सपने क सँजोग ।

(२१) **राजा रत्नसेन-सती खन्ड** : पद्मावती के चले जाने पर रत्नसेन की निद्रा टटी । पद्मावती को गया हुआ जान वह रोया और उसने निश्चय किया कि वह जल कर प्राण-त्याग कर दे .

आइ जो प्रीतम फिरिगा, मिला न आई बसंत ॥
अब तन होरी घालि कै, जारि करौं भसमत ॥

(२२) **पार्वती महेश-खण्ड**—जब रत्नसेन ने जल कर मरने का निश्चय किया तो उसी समय वहाँ पार्वती और महादेव जी पहुँचे । चिता बनी देखकर उन्होने रत्नसेन से आत्महत्या का कारण पूछा । रत्नसेन ने सक्षेप मे अपनी गाथा सुना दी । उसे सुनकर पार्वती का हृदय दया से पूर्ण हो गया । पार्वती अप्सरा जैसा रूप धारण कर बोली, "राजकुमार ! मेरे जैसी सुन्दरी अन्यत्र कही नही मिल सकती । पद्मावती गयी तो क्या हुआ । इन्द्र ने मुझे तुम्हारे पास भेजा है । तुम्हे तो अप्सरा मिल गई ।" इस पर रत्नसेन ने इकार कर दिया और अपना दृढ प्रेम केवल पद्मावती मे ही बतलाया । तब महादेव ने गौरी से कहा कि रत्नसेन का प्रेम बहुत गहरा है । और तुम इसकी रक्षा करो । रत्नसेन महादेव के असली रूप को पहचान कर रोने लगा तो महादेव ने उसे धैर्य बँधाया । महादेव बोले 'रोओ नही' । यह गढ तुम्हारे शरीर के समान ही दस पौडियो का है । दसवें द्वार तक इसमे चढना होगा । जो दृष्टि को उलट कर लगाता है वही वहाँ पहुँच पाता है ।

(२३) **राजा गढ छेंका खण्ड** महादेव से यह सिद्धि गुटका प्राप्त कर रत्नसेन अपने साथियो को लेकर महल मे घुस पडा । जब राजा गधर्वसेन को इसकी सूचना मिली तो उसने अपने नौकरो को भेजा । रत्नसेन ने नौकरो से कहा कि वह राजा की कन्या पद्मावती का भिखारी है । उसे पाकर वह तुरन्त लौट सकता है । नौकरो ने यही बात जाकर गधर्वसेन से कह सुनाई । यह सुनकर गधर्वसेन को बहुत क्रोध आया ।

रत्नसेन उत्तर की प्रतीक्षा मे था। उसने एक पत्र हीरामन तोते के हाथ भेजा पद्मावती ने अपने दृढ प्रेम का सदेश उत्तर मे दिया। यह सदेश पाकर रत्नसेन का हृदय प्रफुल्लित हो उठा।

(२४) **गधर्वसेन मंत्री खण्ड** गर्धवसेन नेअप ने मत्रियो से परामर्श किया। रत्न-सेन को सबने बन्दी कर लेने की सलाह दी और वह बन्दी बना लिया गया। यह सूचना पाकर पदमावती बहुत दु खी हुई। एक बार तो वह अचेत ही हो गई। हीरामन तोता वहाँ लाया गया। तोते की आवाज सुनकर उसे होश आया। तब पद्मावती ने एक सदेशा रत्नसेन के पास भेजा:

कहौ जाइ अब मोर सँदेसू। तजौ जोग अब होइ नरेसू॥
जिनि जानहु हौं तुम सौं दूरी। नैनन मांझ गड़ी वह सूरी॥

(२५) **रत्नसेन सूली खंड** रत्नसेन को बन्दी बनाकर गधर्वसेन के सामने लाया गया। गंधर्व सेन के पूछने पर भी रत्नसेन ने साफ-साफ वही बात कही, जो उसके मन मे थी। इसे सुनकर महादेव का आसन डगमगा उठा। भाट भाटि का रूप धारण कर महादेव पार्वती वहाँ आ पहुँचे। रत्नसेन आसन जमाए 'पदमावती पदमावती' का जाप कर रहा था। इसी समय हीरामन तोते ने पद्मावती का संदेश रत्नसेन को दिया। महादेव भी आगे बढे और उन्होने राजा गंधर्वसेन को समझाया तथा रत्नसेन का ठीक ठीक परिचय भी दिया। हीरामन ने इसकी साक्षी दी। तब विवाह का निश्चय कर रत्नसेन का तिलक किया गया।

(२६) **रत्नसेन-पद्मावती-विवाह-खड**: निश्चित होने पर लग्न रखी गई और विवाह की तैयारियाँ प्रारम्भ हुईं। रत्नसेन के लिए सुन्दर वस्त्रो का आयो-जन हुआ और बारात सजकर चली। पद्मावती ने महल पर खडे होकर बारात देखी इसे देखकर वह ऐसी प्रसन्न हुई कि प्रसन्नता मे मूर्छित होकर गिर पड़ी.

अंग अंग सब हुलसे, कोइ कतहू न समाइ।
ठावहि ठाँव बिमोही, गई मुरछा तनु आइ॥

मूर्छित अवस्था मे सखियो ने उसे सँभाला और थोडी देर मे वह होश मे आई। ठाट बाट के साथ दावत हुई और फिर पद्मावती का रत्नसेन से विवाह हुआ फिर और भाँति भाँति की दहेज दी गई···

भई भाँवरि, नेवछावरि, राज चार सब कीन्ह॥
दायज कहौं कहाँ लगि? लिखि न जाइ जत दीन्ह॥

(२७) **पद्मावती रत्नसेन भेंट-खंड** कवि भेंट का वर्णन करता है:

सात खंड ऊपर कबिलासू। तहवाँ नारि.सेज सुख बासू॥

रत्नसेन से पद्मावती को सखियाँ उसकी गाँठ खोल कर अलग ले गई। संध्या को एक सखी ने रत्नसेन के सामने आकर योग का मजाक उडाया परन्तु राजा ने परिहास का उत्तर परिहास में न दिया और वातावरण गम्भीर हो गया। इसी

बीच मे पद्मावती वहाँ आ गई। पद्मावती और रत्नसेन ने केलि-क्रीडा मे रात व्यतीत की।

पुहुप सिंगार सँवार सब जोबन नवल बसंत।
अरगज जिमि हिय लाइ कै मरगज कीन्हेउ कन्त।

पद्मिनी भोग विलास मे रत्नसेन से कहती है

जो तुम चाहौ सो करौ, ना जानौ भल मंद।
जो भावै सो होइ मोहिं तुम्ह, पिउ ! चाहौ आनन्द।।

(२८) **रत्नसेन साथी खण्ड** सवेरे रत्नसेन अपने साथियो से मिले। उन्हे उन्होने सोलह हजार पद्मिनी स्त्रियाँ दिखलाईं। वे सब भी उनके साथ सुख-भोग से रहने लगे

सोरह सहस पदमिनी माँगी, सबै दीन्हि, नहीं काहुहि खाँगी।
सबका मदिर सोने साजा। सब अपने-अपने घर राजा।।

(२९) **षट्-ऋतु-वर्णन खण्ड** इस खड मे यही वर्णित है कि पद्मावती ने किस प्रकार सुख से रत्नसेन के साथ छहो ऋतुएँ आनन्द और भोग विलास के साथ व्यतीत की :

हँसा केलि करहिं जिमि, खंदहिं कुरलहिं दोउ।
पीउ पुकारि कै पारमा, जस चकई क बिछोउ।।

(३०) **नागमती वियोग खण्ड** : रत्नसेन तो इधर पद्मावती के साथ भोग विलास मे दिन व्यतीत कर रहा था और उधर नागमती के दिन विरह मे बडी ही कठिनाई के साथ व्यतीत हो रहे थे। वह चित्तौड आने के रास्ते पर नजर गडाये बैठी थी परन्तु रत्नसेन कही आता हुआ दिखलाई नही दे रहा था। उसने रानी की तरह रहना छोडकर एक सामान्य स्त्री के समान रहना प्रारम्भ कर दिया था। रात दिन वह रोती ही रहती थी। रोते रोते ही उसने बारह महीने बिता दिए।

नागमती बिरहातुर होकर गाती है

बिरह-हस्ति तन सालै, धाय कर चित चूर।
बेगि आइ, पिउ ! बाजहु, गाजहु होई सदूर।।

× × × ×

जिन घर कता ते सुखी, तिन्ह गारौ औ गर्ब।
कंत पियारा बाहिरै, हम सुख भूला सर्ब।।

× × × ×

यह तन जारौं छार कै, कहौं कि 'पवन उडाव'।
मकु तेहि मारग उड़ि परै, कंत धरै जहँ पाव।।

नागमती का विरह इतना तीक्ष्ण था कि जिस पक्षी अथवा वृक्ष के पास भी जाकर वह अपनी विरह गाथा कहती थी वही जलने लगता था

जेहिं पंखी के निअर होइ, कहै बिरह कै बात।
सोइ पंखी जाई जरि, तरिवर होइ निपात॥

(३१) **नागमती-सन्देश-खन्ड :** नागमती अपने विरह मे रोती फिर रही थी। एक दिन एक पक्षी को उसकी दशा देखकर रहम आ गया। पक्षी ने नागमती से उसके रोने का कारण पूछा। नागमती ने उसे अपनी विरह-गाथा सुनाई और अपना सदेश रत्नसेन के पास ले जाने के लिए कहा। नागमती रत्नसेन के विशुद्ध प्रेम मे पक्षी से कहती है कि वह पद्मावती से जाकर कहे :

हमहुँ बियाही संग ओहि पीऊ। आपुहि पाइ जानु, पर-जाऊ॥
अबहुँ मया करु, करु जिउ फेरा। मोहि जियाउ कंत देइ फेरा।
मोहिं भोग सौं काज न बारी। सौंह दीठि के चाहन हारी॥
सवति न होहि तू बैरिनि, मोर कंत जेहि हत्थ॥
आनि मिलाव एक बेर, तोर पाँय मोर माथ॥

नागमती पक्षी से कहती है कि उसकी माता भी उसके वियोग मे बहुत दुखी हुई। उसके तुम ही 'श्रवणकुमार' थे। और तुम्हारी ही रट लगाकर उसने प्राण दे दिये।

पक्षी नागमती का यह सदेश लेकर उड चला। वह ज्यो ही सिंघलद्वीप मे पहुँचा वहाँ भी विरह की ज्वाला उठने लगी। इस ज्वाला के मारे सब पक्षी समुद्र-तीर के वृक्षो पर जा बैठे। यह पक्षी जिस पेड के ऊपर जाकर बैठा, रत्नसेन भी शिकार से लौटकर उसी के नीचे ठहर गया। इस पक्षी ने अन्य पक्षियो को अपना परिचय दिया और नागमती की विरह-कथा उन पक्षियों को सुनाई। रत्नसेन ने भी यह कथा सुनी और फिर पक्षी से सब बातें पूछी। पक्षी नागमती की कथा सुनाकर उड गया और फिर रत्नसेन के बुलाने पर भी नही लौटा।

इस प्रकार रत्नसेन को चित्तौड की याद आई। एक वर्ष तक वह चित्तौड को भूला ही रहा। उसी समय से रत्नसेन उदास रहने लगा। राजा गधर्वसेन ने उसकी उदासीनता देखकर प्यार से कहा .

मैं तुम्हही जिउ लावा, दीन्ह नैन महं बास।
जौ तुम होहु उदास तौ, यह काकर कबिलास॥

(३२) **रत्नसेन-बिदाई-खंड :** बिदा होते समय गधर्वसेन से रत्नसेन कहता है कि आपने मुझे कांच से कवन बना दिया। मैं आपका कृतज्ञ हूँ परन्तु अब मेरे लिये यहाँ ठहरना असम्भव है। परेवे ने पत्र दिया है कि मेरा भाई मेरा राज छीन लेना चाहता है और उधर दिल्ली नरेश भी आक्रमण करने की सोच रहा

है। इसीलिए आज मैं विदा चाहता हूँ। राजा गंधर्वसेन को रत्नसेन की बात माननी पडी और उसने शुभ मुहूर्त देखकर उसे विदा किया। चलते समय गंधर्वसेन ने रत्नसेन को बहुत सी दान दहेज दी और इस प्रकार रत्नसेन ने पद्मावती के साथ जम्बू द्वीप की ओर प्रस्थान किया।

रत्नसेन को गंधर्वसेन ने इतनी दहेज दी कि उसे अभिमान हो गया :

देखि दरब राजा गरबाना, दिस्टि माहँ कोई और न आना।
जो मैं होहुँ समुद के पारा, को है मोहि सरिस ससारा॥

(३३) देश-यात्रा खंड इस प्रकार पद्मावती और द्रव्य को लेकर रत्नसेन अपने देश की ओर चल दिया। अभी उसका जहाज आधा भी रास्ता तय नही कर पाया था कि एक बडा भारी तूफान आया। तूफान मे जहाज रास्ता खो बैठे। मछलियो का शिकार खेलते हुए वहाँ एक राक्षस आ पहुँचा, तो रत्नसेन ने उससे अपने जहाज को ठीक मार्ग पर लगा देने की प्रार्थना की परन्तु राक्षस कपट से रत्नसेन के जहाज को एक गहरे और भवरो वाले समुद्र में ले गया। इसी समय एक राज-पक्षी वहाँ उडकर आया और राक्षस की यह हरकत देखकर वह उस पर टूट पडा और उसे ले उडा। तब कही जाकर समुद्र के भंवर समाप्त हुए। परन्तु वहाँ जाकर रत्नसेन का जहाज टूट गया। राजा रत्नसेन और पद्मावती दोनों जहाज के दो टूटे हुए टुकडों पर बहकर एक दूसरे से पृथक हो गये :

बोहित टूक टूक सब भए। एहू न जाना कहँ चलि गए॥
भए राजा रानी दुइ पाटा। दूनौं बहे, चले दुइ बाटा॥
काया जिउ मिलाइ कै, मारि किए दुइ खड।
तन रोवै धरती परा, जीउ चला बरम्हड॥

(३४) पद्मावती जिस जहाज के टुकडे पर बैठी थी वह किनारे जाकर लगा। वहाँ समुद्र की बेटी लक्ष्मी खेल रही थी। पदमावती को देखकर वह उसके पास गई और उसे चेतन अवस्था मे लाई। चेतन अवस्था मे आकर उसने लक्ष्मी से पूछा कि वह कहाँ है और उसका पति रत्नसेन कहाँ है। लक्ष्मी रत्नसेन के विषय में कुछ न जानती थी परन्तु उसने पद्मावती को आश्वासन दिया कि वह रत्नसेन को ढुँढवा लेगी। लक्ष्मी फिर समुद्र के किनारे पर चली गई जहाँ रत्नसेन के भी जहाज का टुकडा आया। रत्नसेन के पूछने पर लक्ष्मी ने अपने को पद्मावती बतलाया। लक्ष्मी कहती है :

हौं रानी पद्मावति, रतनसेन तू पीउ।
आनि समुद्र मह छाँड़ेहु, अब रोवौं देइ जीउ॥

इस पर रत्नसेन कहता है :

हौं ओहि बास जीव बलि देउँ। और फूल कै बास न लेउँ।

× × × ×

लेइ सो आइ पद्मावति पासा । पानि पियावा मरत पियासा ।।

इस प्रकार रत्नसेन और पदमावती का लक्ष्मी ने दुबारा मेल कराया

पाय पीर धनि पीउ के, नैन्ह सौ रज मेट ।
अचरज भएउ सबन्ह कहँ, भइ ससि कवलहि भेंट ।।

यहाँ लक्ष्मी के घर रत्नसेन और पद्मावती दश दिन तक पाहुने बनकर रहे और लक्ष्मी ने पद्मावती को अपनी बेटी कहा

औ तेहि कहा मोर 'मोरि तू बेटी' ।।

यहाँ से फिर ये जगन्नाथ होते हुए अपनी राजधानी की तरफ लौटे ।

(३५) राजा रत्नसेन चित्तौड के पास पहुंचे और नागमती को जब इसकी सूचना मिली तो वह .

नागमती कहँ अगन जनावा । गई तपति बरसा जनु आवा ।।

× × × ×

पूछहि सखी सहेलरी, हिरदय देखि अनंद ।
आजु बदन तोर निरमल, अहै उवा जस चद ।।

परन्तु उसी क्षण पद्मावती का आना सुनकर नागमती की दशा बदल गई .

पद्मावति कर आव बेवानू । नागमती जिउ मे भा आनू ।।

जनहुँ छाँह महुँ धूप देखाई । तैसइ झार लागि जौ आई ।।
सही न जइ सवति के झारा । दुसरे मदिर दीन्ह उतारा ।।

पद्मावती को दूसरे महल मे उतारा गया । रत्नसेन दिन भर दान पुण्य करता रहा और रात्रि मे जाकर नागमती से मिला । नागमती का सूखा हुआ जीवन फिर एक बार लहलहा उठा । रत्नसेन ने :

कंठ लाइ कै नारि मनाई । जरी जो बेलि सींच पलुआई ।।

(३६) **नागमती पद्मावती-विवाह खड** यहाँ नागमती की प्रसन्नता से पद्मवाती के मन मे जलन पैदा हुई । एक दिन दोनो मे लड़ाई ठन गई और हाथा पाई तक की नौबत आ गई । राजा रत्नसेन यह सुनकर वहाँ पहुचे और दोनो को समझाया ·

गंग जमुन नारि दोउ, लिखा मुहम्मद जोग ।
सेव करहु मिलि दूनौं, तौ मानहुँ सुख भोग ।।
असि कहि दूनौ नारि मनाई । बिहँसि दोउ तब कंठ लगाई ।।

दोनो रानियाँ प्रसन्न हो गई ।

(३७) **रत्नसेन सन्तति खण्ड**—पद्मावती के पद्मसेन और नागमती के नागसेन पुत्रो की उत्पत्ति हुई । ज्योतिषियो ने बतलाया कि दोनो के ही पुत्र बड़े भाग्यवान है ।

(३८) **राघवचेतन देश निकाला खण्ड** रत्नसेन के दरबार मे राघव चेतन नाम का एक पण्डित था। इसे यक्षिणी इष्ट थी। एक दिन राजा ने उससे पूछा कि दूज किस दिन की है। पण्डित के मुख से निकला 'आज'। और पण्डितो ने इनका विरोध किया क्योकि उस दिन अमावस थी। रात्रि को तो पण्डित ने यक्षिण के प्रयोग से राजा को चन्द्रमा दिखला दिया परन्तु फिर दूसरे दिन दूज का चाँद देखकर राजा को पण्डित पर बडा क्रोध आया और उसने पण्डित को राज्य छोड जाने की आज्ञा दी।

राजा की इस आज्ञा का जब पद्मावती को पता चला तो उसे दु ख हुआ कि राजा ने ऐसे गुणी पण्डित को राज्य छोड जाने की आज्ञा दी। जब वह जाने लगा तो पद्मावती म ल के ऊपर झरोखे मे आई और उसने अपना कगन उतारकर पण्डित की ओर फेक दिया। पण्डित ने उस ओर देखा तो पद्मावती मुस्करा दी। पण्डित उसे देखकर बेहोश हो गया। सखियाँ उसे चेतन अवस्था मे लाईं और अन्त मे वह कगन लेकर विदा हो गया।

(३९) राचव चेतन यहाँ से दिल्ली पहुँचा। दिल्ली मे उसने अलाउद्दीन से भेंट की और पद्मिनी के रूप की चर्चा की। राघव चेतन ने बतलाया कि ऐसी स्त्रियाँ सिघलद्वीप मे मिलती है। साथ ही उसने बादशाह से कहा कि यदि उनकी आज्ञा हो तो वह स्त्रियो के भेदो का वर्णन करे।

(४०) **स्त्री-भेद-वर्णन-खण्ड** राघव चेतन ने तब काम शास्त्र के अनुसार हरियानी, शखिनी, चित्रणी तथा पद्मनी स्त्रियो का वर्णन किया।

(४१) **पद्मनी रूप-चर्चा-खण्ड :** स्त्रियो के भेद वर्णन करके राघव चेतन ने नख-शिख वर्णन किया तो उसे सुनकर शाह चेतना खो बैठा .

जौ राघव धनि बरनि सुनाई। सुना साह गई मुरझा आई।

जब राजा को चेतना हुई तो उसने राघव चेतन को बहुत-सा धन देकर सम्मानित किया और साथ ही रत्नसेन के पास एक पत्र लिखकर भेजा कि वह पद्मिनी को शीघ्र उसके पास भेज दे

(४२) **बादशाह चढ़ाई खण्ड** जब रत्नसेन ने यह पत्र पढा तो उसे बहुत क्रोध आया और उसने दूत को यो ही वापस कर दिया। दूत अलाउद्दीन के पास पहुँचा तो उसे भी क्रोध आया और उसने अपनी फौज को लेकर चित्तौड की ओर कूच कर दिया।

(४३) **राजा बादशाह युद्ध खण्ड :** अलाउद्दीन चित्तौड पहुँचा और बड़ा घमासान युद्ध हुआ। रत्नसेन के गढ पर सौ-सौ मन के गोले गिरे परन्तु वह अडिग रहा। उसने अपने भोग विलास को भी नही छोडा। कई वर्षों तक युद्ध होता रहा। इसी बीच मे अलाउद्दीन को पता चला कि दिल्ली पर कोई आक्रमण होने वाला है। इसलिए उसने सन्धि करना उचित समझा।

(४४) **राजा बादशाह मेलखण्ड** अलाउद्दीन ने रत्नसेन के पास अपना दूत भेजा। सन्धि मे निश्चय हुआ कि रत्नसेन पद्मिनी को न दे और चन्देरी भी ले ले परन्तु समुद्र से प्राप्त किये हुए पाँच रत्न अलाउद्दीन को दे दे। यह बात राजा ने स्वीकार कर ली। दूसरे दिन अलाउद्दीन राजा के यहाँ प्रीतिभोज पर गया।

(४५) **बादशाह भोज-खण्ड** राजा ने अलाउद्दीन की दावत मे बहुत अच्छे अच्छे व्यजन बनवाए और सुन्दर दावत की।

(४६) **चित्तौड़गढ़ वर्णन-खण्ड** : भोजन करने के पश्चात् अलाउद्दीन ने चित्तौड़गढ़ देखा। देखते-देखते वह रनिवास मे भी पहुँच गया। वहाँ उसने बहुत-सी रूपवान दासियो को देखकर समझा कि उन्ही मे कोई पद्मनी भी है। जब उसने राघवचेतन से पूछा तो उसने बतलाया कि वे सब दासियाँ है, पद्मनी उनमे नही है।

उधर भोज के बाद गोरा बादल ने रत्नसेन को अलाउद्दीन का विश्वास न करने की सलाह दी परन्तु उसकी बात रत्नसेन ने न मानी। राजा एक जगह बैठ कर बादशाह के साथ शतरज खेलने लगा। वही पर एक दर्पण रखा था जिसमे अलाउद्दीन पद्मावती के प्रतिबिम्ब देखकर अचेत हो गया।

(४७) **रत्नसेन बन्धन-खण्ड** · बादशाह को होश आने पर रत्नसेन उसे गढ़ के द्वार तक विदा करने गया। दरवाजे पर पहुँचते ही अलाउद्दीन ने रत्नसेन को बँधवा लिया और गिरफ्तार करके दिल्ली ले गया।

(४८) **रत्नसेन बन्धन खण्ड** रत्नसेन के बन्दी हो जाने पर पद्मावती और नागमती ने बहुत घना विलाप किया।

(४६) **देवपाल दूतीखण्ड** . कुम्भलनेर का राजा देवपाल रत्नसेन से शत्रुता रखता था। जब उसे सूचना मिली कि अलाउद्दीन रत्नसेन को बन्दी बना कर दिल्ली ले गया तो उसने अपनी एक दूती के द्वारा पद्मनी को फुसलाने का प्रयास किया। परन्तु पद्मावती रत्नसेन से अगाढ़ प्रेम करती थी इसलिए दूती को सफलता न मिली और उलटी अपमानित होकर वहाँ से जाना पडा।

(५०) **बादशाह दूती-खण्ड** . बादशाह ने भी पद्मावती फुसलाने के लिए दूती भेजी परन्तु वह भी असफल रही।

(५१) **पदमावती गोरा बादल-सवाद-खण्ड** पद्मावती ने इस कठिन समय मे अपने दो सरदारो गोरा, बादल से सलाह की और उन दोनो ने विश्वास दिलाया कि वे रत्नसेन को छुडा लायेंगे।

(५२) **गोरा बादल युद्ध-यात्रा-खण्ड** : बादल इसी दिन गौना करके लाया था। उसकी माँ और पत्नी ने उसे रोका परन्तु उसने एक न सुनी और वह रत्नसेन को छुडाने के लिये चल दिया।

(५३) **गोरा बादल युद्ध-यात्रा-खण्ड** रत्नसेन को छुडाने के लिए गोरा बादल और पद्मावती ने एक योजना बनाई। सोलह सौ पालकियाँ सँवारी गईं और उनमे हथियारो से सुसज्जित वीर राजपूत बैठ गए। उन्ही मे एक पालकी पद्मिनी की भी बनी जिसमे एक लुहार को बिठलाया गया। इन पालकियो के साथ गोरा बादल यह कहकर चले कि पद्मिनी अलाउद्दीन के पास जा रही है। जब वे दिल्ली पहुँचे तो अलाउद्दीन से प्रार्थना की कि पद्मावती कह रही है, "मै दिल्ली आ गई हूँ परन्तु मेरे पास चित्तौड की कुजियाँ है। यदि बादशाह की आज्ञा हो तो उन्हे वह राजा रत्नसेन को सौप दे?" पद्मावती की यह बात बादशाह ने स्वीकार कर ली और उसकी पालकी को रत्नसेन के पास ले जाने की आज्ञा दे दी। उस पालकी से लुहार ने निकल कर राजा रत्नसेन के बन्धन काट डाले और उन्हे मुक्त कर दिया। बादल रत्नसेन को साथ लेकर चित्तौड़ की ओर भाग लिया तथा दोनो सेनाओ मे घमासान युद्ध हुआ। गोरा इसी युद्ध मे खेत रहा।

(५४) **पदमावती मिलन खण्ड**: चित्तौड आकर रत्नसेन ने पद्मावति से भेंट की। पद्मावती ने देवपाल की बात रत्नसेन से कही।

(५५) **रत्नसेन देवपाल युद्ध-खण्ड**: देवपाल की दूती वाली बात सुनकर रत्नसेन आग बबूला हो गया और उसने देवपाल को युद्ध मे मार गिराया।

(५६) **राजा रत्नसेन-बैकुण्ठ-वास खण्ड**. इसी समय राजा रत्नसेन की मृत्यु हो गई और गढ की रक्षा का भार बादल के सिर पर आ गया।

(५७) **पद्मावती नागमती-सती-खण्ड**. राजा रत्नसेन के साथ पद्मावती और नागमती दोनो सती हो गईं। उनकी सती होने के पश्चात् अलाउद्दीन ने चित्तौड पर आक्रमण किया। बादल की युद्ध मे हार हुई। सभी वीर सग्राम मे खेत रहे और स्त्रियाँ जौहर मे करके समाप्त हो गईं। चित्तौड़ अलाउद्दीन के हाथो मे चला गया परन्तु पद्मावती को वह प्राप्त न कर सका।

अखरावट—अखरावट को अखरावती या अखरावटी नाम से भी पुकारा जाता है। यह 'पद्मावत' से बाद की रचना है। इनमे कवि का झुकाव आध्यात्मिकता की ओर विशेष दिखाई देता है। इसके दो सस्करण उपलब्ध है, एक जायसी ग्रन्थावली के साथ तथा दूसरा सुधाकर द्विवेदी द्वारा सम्पादित।

आखिरी कलाम—'आखिरी कलाम' का सम्भावित नाम 'आखिरी मत नामा' भी है। शायद इसका पहला नाम यही रहा हो जिसे बाद मे लोगो ने बिगाड़ कर 'आखिरी कलाम' कर दिया हो। जायसी ग्रन्थावली मे यह प्रकाशित है।

ग्रन्थ की सक्षिप्त कथा इस प्रकार है·

पुस्तक का प्रारम्भ भगवान् की स्तुति से होता है और फिर कवि आत्म

परिचय देता है। एक बड़े भूकम्प का वर्णन करता है। एक सूर्यग्रहण पड़ता है। फिर कवि मुहम्मद की स्तुति करता है, साथ ही अपने समय के शाह की प्रशसा करता है। काव्य का रचना-काल भी सन् ६३६ हिजरी बतलाता है।

कवि प्रलय का वर्णन करता है जिसमे सब जन्तु मर गए। इसका कर्त्ता मैकाइल है। फिर जिबराइल ने भी इन जीवो को नष्ट होने मे योग दिया। फिर मैकाइल ने परमात्मा की आज्ञा मे बारिश की। सारी दुनिया पानी मे डूब गई। फिर दूसराफील के बाजे की आवाज से पृथ्वी आकाश काँप उठे। चाँद सूरज तारे सब टूट कर गिर पडे फिर अजराइल को भगवान् ने आज्ञा दी कि वह सब जीवो को ले आये। इस पर मारने वाले फरिश्ते ने जिबराइल, मैकाइल और दूसराफील तीनो को मारा। तब भगवान् ने उससे पूछा "अब और कौन बचा है?" अजराइल ने कहा "अब मेरे आपके अतिरिक्त अन्य कोई नही बचा।" तब भगवान् ने उसे भी मार डाला।

एक दिन चालीस वर्षों के पश्चात् परमात्मा ने सोचा कि उसका नाम लेने वाला कोई नही। उसने फिर चार फरिश्ते जिबराइल, मैकाइल, दूसराफील और अजराइल जिन्दा किए। जिबराइल ने जमीन पर आकर मुहम्मद को पुकारा। इसके उत्तर मे लाखो स्वर प्रस्फुटित हुए। दूसराफील परेशान होकर फिर खुदा के पास गये और पूछा कि वह उसे कहाँ खोजे? जिबराइल सूँघकर चीजो को पहिचानने की शक्ति रखते थे तो उन्हे भेजा गया। उसने उन्हे खोज दिया और वह जाग्रत हो गए।

फिर भगवान ने सूर्य को चमकने का हुक्म दिया। फिर मुहम्मद साहब को हुक्म हुआ कि वह अपने अनुयाइयो के साथ खुदा के सामने पेश हो। मुहम्मद साहब ने धर्मी लोगो को पेश करने की आज्ञा माँगी, परन्तु परमात्मा ने दण्ड देने के लिए अधर्मी लोगो को बुलाया। इस पर रसूल ने आदम के पास जाकर अपने अनुयाइयों को खुदा से बचाने की सिफारिश की परन्तु आदम बोले कि वह तो स्वय गेहूँ खाकर परेशानी मे फँसे है। इस पर रसूल ईसा, इब्राहीम इत्यादि बहुतो के पास गये परन्तु कोई भी उनकी सहायता न कर सका। तब रसूल ने परमात्मा से ही बिनती की। इस पर खुदा नाराज होकर बोले, "बीबी फातिमा को खोजो। और हसन हुसैन को किसने मारा था। फतिया मुझसे झगडा कर रही थी।" फिर बीबी फातिमा को खोजने का प्रयास किया परन्तु उनका पता न लगा। बीबी फातिमा को खुदा ने अब अपनी आज्ञा से बुलाया। बीबी फातिमा हसन-हुसैन को सामने खडा करके बोली कि पहिले इनका न्याय होगा। संसार का न्याय फिर होता रहेगा। यदि इनका न्याय पहिले न हुआ तो वह शाप दे देंगी और सारा आसमान जलकर खाक हो जाएगा। इस पर खुदा ने रसूल से बीबी फतिमा को समझाने के लिए कहा, जिससे अनुयाइयो पर उनके

शाप की आफत न बरपा हो।

रसूल ने फातिमा को समझाया। खुदा ने हसन हुसैन को मारने वाले मजीद को दडित करके नर्क मे डाल दिया। इसके पश्चात् रसूल ने अपने अनुयाइयो को क्षमा करवाया और फिर खुदा ने सबको दावत दी।

फिर खुदा ने मुहम्मद तथा उनके अनुयाइयो को एक प्रकाश के रूप मे अपने दर्शन दिये। उस प्रकाश ने सबको बेसुध कर दिया और दो दिन तक सब अचेत रहे। तीसरे दिन जिबराइल ने सब को जगाया। फिर ये सब बहिश्त मे गये जहाँ इन्हे हूरें और परियाँ मिली। वहाँ मृत्यु, नीद, दु ख, शोक, सन्ताप कुछ नही था। सब भोग-विलास मे रत थे।

कथा यही समाप्त हो जाती है।

जायसी की भाषा जायसी ने अपने ग्रन्थो मे ठेठ अवधी भाषा का प्रयोग किया है। यह हिन्दी पूरबी प्रदेश थी जिसका नाम अवधी पडा। खड़ी बोली और ब्रज से इसमे भिन्नता पाई जाती है। महाकवि तुलसीदास ने भी अपने रामचरित मानस मे अवधी का ही प्रयोग किया है। परन्तु जायसी की अवधी और तुलसी की अवधी मे भेद है। जायसी की अवधी को समझने के लिए कुछ साधारण बाते समझ लेना आवश्यक है

क्रिया के रूप . १ भविष्य कालिक—(अ) पूर्वी बोलियो मे भूतकालिक कृदन्त नही होते, तिङ्त रूप ही रहता है। क्रिया का रूप कर्ता के पुरुषलिंग और वचन के अनुसार होता है।

(ब) **प्रथम पुरुष**—भूतकालिक क्रिया के स्त्रीलिग रूप 'एसि' और 'एनि' के स्थान पर 'इसि' और 'इनि हो जाते है।

(स) पश्चिमी हिन्दी की भूतकालिक सकर्मक क्रिया मे पुरुष-भेद नही होता।

(द) जायसी और तुलसी मे क्रिया के आकारान्त रूप समान रूप से मिलते है। इनका प्रयोग दोनो कवियो ने तीनो पुरुषो, दोनो वचनो तथा दोनो लिंगो मे किया है।

उत्तम पुरुष [१. का मैं **बोआ** जनम ओहि भूँजी ?
२. हम तो तोहि **देखावा** पीऊ।

मध्यम पुरुष [१. तुइ **सिरजा** यह समुद अगारा।
२. अब तुम आइ अँतरपट **साजा**

प्रथम पुरुष [१. भूलि चकोर दिस्टि तहँ **लावा**
२. तिन्ह **पावा** उत्तिम कैलासू।[1]

२. **वर्त्तमान कालिक** वर्त्तमान कालिक क्रिया के रूपों मे ब्रजभाषा से कोई विशेष भिन्नता नही होती। सिर्फ एक वचन मध्यम पुरुष के अन्त मे 'सि' होता है। जैसे करसि, जासि, खावसि, इत्यादि।

---

१. जायसी ग्रन्थावली भूमिका-भाग, पृ० १८८

आज्ञा और विधी मे भी 'सी' ही रूप रहता है परन्तु कही-कही 'ही' से समाप्त होने वाले रूप भी मिलते हैं। देहि, लेहि इत्यादि ।

३. **भविष्य कालिक** अवधी के भविष्य कालिक रूप अन्य बोलियो से कम सम्बन्ध रखते हैं। ये रूप अवधी के अपने ही होते है। उत्तम पुरुष के बहुवचनो का रूप सब पुरुषो मे मिलता है। जायसी और तुलसी दोनो ने सब पुरुषो के दोनो वचनो मे इसी रूप का प्रयोग किया है।

उत्तम पुरुष [१ **कौन उतर देबौं तेहि पूछे। (एक वचन) मैं।**
२. **कौन उतर पाउब पैसा रू। (बहुवचन) हम।**

प्रथम पुरुष [१. **होइहि नाप और जोखा। (एक वचन)।**
२. **देव-बार सब जैहै बारी। (बहुवचन)**[1]

'होइहि' का प्रयोग जायसी ने अधिकाश मे 'होइ' = होगा किया है।

कारक चिन्ह. अवधी मे कारक चिन्ह प्रथम पुरुष एक वचन की वर्त्तमान कालिक किया के रूप मे लगता है। जैसे .

अवधी = खाय माँ, आवै कहँ, बैठे कर इत्यादि ।

खड़ी, ब्रज = करने का, करन को, जाने को, जावन को इत्यादि ।

अवधी मे कही कही कारक चिन्ह का लोप भी हो जाता है।

(१) सबै सहेली देखै धाईं।[2]

सर्वनाम . पूर्वी अवधी मे सर्वनाम एकारान्त होते है। जैसे

केइ = किसने, जेई = जिसने, केहू = कोई

महाकवि जायसी ने ठेठ अवधी का तुलसी से अधिक प्रयोग किया है। कुछ प्रसाहित्यिक शब्द देखिए :

मोकाँ = मुझको, महूँ = मै भी, जहिया = जब। अधिकौ = अधिक।

खड़ी और ब्रज की प्रवृति दीर्घान्त है, परन्तु अवधी मे हमे लघ्वत प्रवृत्ति मिलती है।

'सिरता पाईं' फारसी 'सिर ता पा' अर्थात् सिर से पैर तक, का प्रयोग कवि ने किया है।

मिठास जायसी की भाषा मे काफी है और कर्णकटु शब्दो का प्रयोग नही किया गया। कही-कही कुछ गवारु और भौंडे शब्दों का प्रयोग कुछ खटकने वाला भी अवश्य है परन्तु वह उनकी सादगी के आवरण मे इस तरह ढक जाता है कि दृष्टि उससे अपने आप अलग हो जाती है। सस्कृत की कोमल कांत पदावली जायसी की भाषा मे खोजना दुर्लभ है। जनता की स्वाभाविक भाषा की लोच उसमे विद्यमान है। जायसी की भाषा मे लोक भाषा का जो सजीव स्वरूप मिलता है यह तुलसी की भापा मे भी मिलाना दुर्लभ है तुलसी भाषा के आचार्य

---

१. जायसी ग्रन्थावली—भूमिका भाग—पृष्ठ १८८
२. जायसी ग्रन्थावली—भूमिका भाग—पृष्ठ १८६

थे और जायसी लोक-भाषा के मर्मज्ञ। दोनो की भाषा का सौदर्य एकदम प्रथक-प्रथक है जायसी की भाषा का मिठास देखिए—

पिउ-बियोग अस बाउर जीउ। पपिहा नित बोलै 'पिउ पिऊ ॥
अधिक काम दाधै सो रामा। हरी लेइ सुबा गएउ पिउ नामा ॥
बिरस बास तस लाग न डोली। रकत पसीज भीज गइ चोली ॥
सूखा दिया, हार भा भारी। हरे-हरे प्रान तर्जाहि सब नारी ॥
खन एक आव पेट महँ साँसा। खनहिं जाइ जिउ होइ निरासा ॥
पवन डोलावहि, सीचहि चोला। पहर एक समुझहि मुख बोला ॥
प्रान पायन होत को राखा? को सुनाव पीतम कै भाखा? ॥

महाकवि जायसी ने भाषा का सरल-से-सरल प्रयोग किया है। शब्दो का रूप बिगाडने का दोष भी इनके अन्दर नही पाया जाता। चरणान्त मे दीर्घान्त की प्रणाली का अनुसरण आप मे अवश्य है।

खड़ी	ब्रज	अवधी
थोडा	थोरो	थोर
पतला	पातरो, पतरो	पातर
भला	भलो	भल
नीका	नीको	नीक
खोटा	खोटो	खोट
बडा	बडो	बड
तैसा	तैसो	तैस
जैसा	जैसो	जैस
ऐसा	ऐसो	ऐस, अस
वैसा	वैसो	वैस
तुम्हारा	तुम्हारो	तुम्हार
हमारा	हमारो	हमार
पीला	पीलो	पीयर
तेरा	तेरो	तोर
दूना	दूनो	दून
प्यारा	प्यारो	प्यार
साँवला	साँवरो	साँवर

चौपाई के अन्त वाला पद कवि लघ्वत भी है तब भी वह दीर्घांत कर लिया जाता है। यह प्रकृति जायसी तथा तुलसी दोनो मिलती है।

जायसी की भाषा सीधी बोलचाल का भाषा है। आपने समास पदो का प्रयोग नही के ही बराबर किया है। कही-कही पर आपने फारसी के पदो और वाक्या-

शो का भी प्रयोग कर दिया है। 'केस मेधावरि सिरता पाइं' मे मिलता है, उसके अतिरिक्त आपने शब्दो का जैसा का तैसा रूप ही अपनी भाषा मे रखा है।

गोस्वामी तुलसी का अधिकार लोक-भाषा तथा सुसस्कृत भाषा दोनो पर समान था परन्तु जायसी का अधिकार केवल लोक-भाषा पर ही था और उसका सरल, मधुर तथा आकर्षक रूप आपने अपनी रचनाओ मे प्रस्तुत किया है।

सार निरूपण जहाँ तक यत्र-तत्र ग्रन्थो मे उल्लेखो के आधार का सम्बन्ध है जायसी द्वारा लिखिति २१ ग्रन्थ कहे जाते है। परन्तु उक्त ग्रन्थो मे से अभी तक पदमावत, अखरावट और आखिरी कलाम तीन ग्रन्थ प्रकाशित हुए है। अन्य ग्रन्थो की पाँडुलिपियाँ भी उपलब्ध नही है, इसलिए प्रामाणिक रूप से यही तीन ग्रन्थ जायसी के है।

पद्मावत का रचना काल हिजरी ९४७ ईसवी सन् १५४० कवि ने लिखा है। पद्मावत के अनुवाद अग्रेजी, बगाला, उर्दू, फारसी, फ्रेंच, पश्तो इत्यादि मे भी हो चुके है। पद्मावत की पूरी कथा ५७ खडो मे वर्णित है इसका पूर्वार्ध काल्पनिक और उत्तरार्ध ऐतिहासिक है। कहानी लोक प्रचलित है।

'आखिरी कलाम' कवि की आखरी रचना है। इससे कवि के विषय मे काफी जानकारी प्राप्त होती है।

कवि की भाषा ठेठ अवधी है, ग्रामीणता को लिए हुए। उसमे कही-कही दूसरी भाषाओ के शब्दो का भी प्रयोग मिलता है। पाँडित्य भाषा से बिल्कुल नही झलकता। साधारण सरल भाषा है।

□

४ | जायसी की रचनाओं में साहित्यिक अभिव्यक्ति

साहित्यिक अभिव्यक्ति की जाँच करने के लिए हमे साहित्य की कुछ विशेष वस्तुएँ खोज निकालनी होती हैं। जिनसे साहित्य के गुणो की सज्ञा दी जा सकती है। ये ही कसौटियो हैं साहित्य को परखने की। पाश्चात्य-साहित्य के आचार्यों ने साहित्य मे चार प्रधान तत्त्व माने है। जिस रचना मे ये तत्त्व नही पाए जाते उसे वे लोग साहित्य की कोटि मे रखने को उद्यत नही। इन तत्वो के अनुपात तथा न्यूनाधिक होने से ही इसका स्थान भी साहित्य मे बनता है। बौद्धिकता, भावनात्मकता, कल्पना, और शैली ये चार तत्व है, जिनके आधार पर पाश्चात्य विद्वान अपनी रचनाओ का मूल्याँकन करते है। किसी रचना मे यदि ये चारो ही तत्व पर्याप्त मात्रा मे सुगठित और सुसज्जित तथा सुचयन किये हुए हो तो कहना ही क्या, परन्तु यदि कुछ न्यूनाधिक रूप मे भी मिलते है, तब भी वह रचना साहित्य की ही कोटि मे आएगी। कुछ रचनाएँ ऐसी भी रहती है जिनमे इनमे से एक दो या तीन तत्वो की प्रधानता रहती है, और चौथा तत्व होता ही नही। वह रचना भी साहित्य की ही कोटि मे आएगी। इन चारो ही तत्त्वो मे एक तत्व साहित्य के बहिरग से सम्बन्ध रखता है और तीन उसके अन्तरग से। विचार कल्पना और भावना का सम्बन्ध, अन्तरग से है और शैली का काव्य के बहिरग से। शैली मे अलकारिक प्रयोग भाषा के प्रयोग, तथा उसके गुण और दोषो पर ध्यान दिया जाता है।

भारतीय काव्य शास्त्र के आचार्यो ने भी साहित्य की कसौटी निर्धारित करने की दिशा मे प्रयास किया है। कुछ आचार्य काव्य मे ध्वनि को प्रधानता देने की ओर झुके और कुछ ने चमत्कार अर्थात् अलकार को ही काव्य का सर्वस्व मान लिया। यह एक पक्षीय प्रवृत्ति आज के स्वतन्त्र विचारक को मान्य नही हो सकती। अलकार और ध्वनि दोनो ही काव्य के गुण है, परन्तु एक सीमा मे रहकर। आवश्यकता के अनुसार साहित्य की प्रगति मे बढावा, सहयोग और सहारा देने के लिए, साहित्य पर छा जाने के लिए नही। यदि ये तत्व साहित्य की

मूल आत्मा पर छा गये तो आत्मा मर जायेगी, दब जायेगी। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार खेमखाप के वस्त्र और सुनहरा जेवर पहिन कर सुन्दर स्त्री तो सुन्दर लगती ही है परन्तु कुछ अवगुण वाली स्त्री के भी रूप मे कुछ अगुवण ढक जाते हैं। परन्तु यही कपडा और जेवर यदि भद्दे तरीके से किसी स्त्री पर केवल लाद दिये जायें तो ये सुन्दर स्त्री को भी असुन्दर बनाने मे सहायक हो सकते है।

भारतीय आचार्य अन्त मे आकर रस-सिद्धान्त पर ठहरते हैं। वे कहते हैं कि साहित्य वही है जो रस-परिपाक तक पहुंच सके। यदि पाठक को किसी रचना के पढने मे रस न आया, उसकी कल्पना के प्रांगण में आनन्द की सृष्टि नही हुई तो वह साहित्य नही, काव्य नही।

इस प्रकार हमने देखा कि किसी भी उच्च साहित्य को परखने के लिए उसकी बौद्धिकता, भावनात्मकता, कल्पना-शक्ति, शैली, रस-परिपाक इत्यादि को देखना चाहिए। साथ ही साहित्य का उद्देश्य देखना भी आवश्यक है। हम काव्य को वह आनन्ददायक रचना मानते हैं जो जीवन में उत्साह, स्फूर्ति और प्रेरणा प्रदान करे। काव्य ललित, सरल और सार्थक शब्दो तथा पदों से भरा-पूरा होना चाहिए। शब्द और अर्थ का सौष्ठव काव्य को उच्च कोटि का बनाता है। क्लिष्टता काव्य मे उतनी न आनी चाहिए कि पाठक उसे समझ ही न सके। रचना युक्ति से पूर्ण होनी चाहिए। उचित गुणों का उसमे समावेश हो और इस तरह उसमें विचार, भावना तथा कल्पना का सुन्दर सामजस्य स्थापित हो जाये।

बुद्धि-तत्व · महाकवि जायसी के साहित्य की आत्मा मे हमे बुद्धि-तत्व की एक हल्की-सी रेखा दिखलाई देती है और वह है उनके साहित्य में हिन्दू तथा मुस्लिम-संस्कृति का सामंजस्य। एक भारतीय कथा के आधार पर, भारतीय भाषा मे, और वह भी जन-साधारण की भाषा में, भारतीय छंदों में, फारसी की शैली पर सूफी सिद्धान्तो को लेकर प्रेम का प्रसार किया। उस युग के उस महान् लेखक ने इस प्रकार दो संस्कृतियों का सामंजस्य स्थापित करके दोनों के बीच प्रेम की सरिता बहाई। यह जायसी के साहित्य का बौद्धिक पहलू है। इस के अतिरिक्त जायसी-साहित्य भावना और कल्पना प्रधान काव्य है, प्रेम का आख्यान है, जो हिन्दी में अपने ढंग का एक ही है और महाकाव्य होने के नाते हिन्दी-साहित्य मे मानस के पश्चात् अपना एकाकी स्थान रखता है।

भावना-तत्व · महाकवि जायसी का मूल ग्रंथ पद्मावत है और उसी के आधार पर हम जायसी के साहित्य का अवलोकन कर रहे हैं। पद्मावत की कथा हम गत अध्याय मे दे चुके हैं यह एक प्रेमाख्यान है, जिसमें मानव-जीवन में आ सकने वाली परिस्थितियों को लाकर एकत्रित किया गया है। वे परिस्थितियाँ कही-कहीं कल्पना की उडानों में लिपटकर अस्वाभाविक भी हो जाती हैं, परन्तु स्वाभाविकता की भी काव्य में कमी नहीं है। किसी स्त्री का पति जब किसी

पर-स्त्री पर रीझकर परदेश चला जाये और वह स्त्री फिर भी पतिव्रत धर्म का पालन करे, तो उसकी क्या दशा हो सकती है इसकी साकार प्रतिमा नागमती, कवि ने हमारे सामने प्रकट की है। नाजुक खयालियाँ फारसी की दी गई है काव्य मे, और कही-कही तो वे ऐसी हिला देने वाली वेदना पाठक के हृदय मे उठाती है कि पढते-पढते आँखो मे आँसू आ जाते है। नागमती वियोग-खड की एक-एक पक्ति से मानो वियोग बहकर निकल रहा है। पत्थर-से-पत्थर कलेजा भी द्रवित हो उठता। नागमती कहती है।

बिरह-हस्ति तन सालै, धाय करै चित चूर।
वेगि आई पिउ ! बाजहु, गाजहु होइ सुदूर ॥

—पद्मावत नागमती वियोग-खंड पृष्ठ १५३

यह तन जारौं छार कै, कहौं कि 'पवन उडाव'।
मकु तेहि मारग उडि परै, कंत धरै जहँ पाँव ॥

—पद्मावत-पृष्ठ १५५

कवि प्रेम-भावना का पुजारी है। प्रेम को ही वह सर्वस्व समझता है और प्रेम द्वारा ही मनुष्य प्रत्येक ईष्ट की सिद्धि मानता है। परन्तु इस प्रेम की सबसे ऊँची सीढी पर चढने मे आपत्तियों का सामना करना होता है, अनेको प्रकार की बाधाएँ सामने आती हैं, परन्तु यदि मनुष्य दृढप्रतिज्ञ और प्राणो को हथेली पर लेकर चलने वाला साहसी होता है तो उसे अपने लक्ष्य मे सफलता मिलती है। रत्नसेन को उस लक्ष्य की प्राप्ति साहस से ही हुई। वह अपना भोग-विलास छोड कर तपस्या के लिए चल पडा, तभी तो उसे पद्मावती की प्राप्ति हुई। यहाँ पद्मावती के रूप मे कवि भगवान् की कल्पना कर रहा है, और प्रेम-भावना मे वही मान्यता उसे देता है।

पद्मावत मे जायसी ने हिन्दू पतिव्रत-धर्म और सती की प्रथा पर प्रकाश डाला है। हिन्दू-संस्कृति की भावना को कही पर भी काव्य से ठेस न लग जाये, इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया हैं। भावना काव्य मे आद्योपात वही प्रेम की प्रधान रूप से रहती है, जिसका सहारा लेकर कल्पना के सहारे कथा आगे बढती है। आत्मा और परमात्मा के मिलन का एक रूपक बाँधा है कवि ने। रूपक पूर्ण रूप से काल्पनिक ही है, परन्तु उसे इतिहास की डोर में बाँधकर कुछ ऐसा बना दिया है कि भावना क्षेत्र मे कल्पना को और बल मिल जाता है। कवि का ईश्वरोन्मुख प्रेम ही उसकी भावनाओ का मूल स्रोत है। सूफी ईश्वर की कल्पना प्रियतमा के रूप में करते हैं। ग्रन्थ के अन्त मे कवि ने पद्मावत की समस्त कहानी को स्वयं अन्योक्ति कह दिया है। कवि का वर्णन लौकिक से अलौकिक की तरफ चलता है। कवि ने सयोग और वियोग दोनो पक्षो की सृष्टि की है। "क्या सयोग क्या वियोग दोनो मे कवि प्रेम के उस आध्यात्मिक स्वरूप

का आभास देने लगता है, जगत् के समस्त व्यापार उसकी छाया से प्रतीत होते है। वियोग-पक्ष मे जब कवि लीन होता है तब सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र सब उसी परम विरह मे जलते और चक्कर लगाते दिखलाई देते हैं, प्राणियो का लौकिक वियोग जिसका आभास मात्र है

"बिरह के आगि सूर जरि काँपा। रातिउ दिवस जरै ओहि तापा॥"

—जायसी ग्रन्थावली-पृष्ठ ५५ भूमिका-भाग।

जायसी की प्रेम-भावना की खुलासा व्याख्या उनके सिद्धान्तो का स्पष्टीकरण करते समय की गई है। प्रेम वास्तव में कवि की कोई भावना मात्र ही नही थी, यह उसका दर्शन था और इसी दर्शन के स्पष्टीकरण के लिए कवि ने यह महाकाव्य लिखा है।

भावना के क्षेत्र मे कवि ने पात्रो द्वारा जिन स्थायी भावो को व्यजना-स्वरूप लिया है उनमें प्रधानतया रति, शोक और युद्धोत्साह है। क्रोध की व्यजना भी कही-कही पर पाई जाती है। समुद्र-वर्णन मे भय का आलम्बन मात्र है। युद्ध-वर्णन मे वीभत्स का भी आलम्बन ही है, स्थायी भाव नही। जायसी की भाव-व्यजना बहुत ही स्वाभाविक है, क्रम-बद्ध है। विभाव, अनुभाव और सचारी भावो के व्यर्थ और अनावश्यक प्रयोगो द्वारा भाव प्रदर्शित करने का प्रयास इस कवि मे नही मिलता। उनका प्रयोजन केवल भावोत्कर्ष तक ही रहता है और उसी के लिए वह उनका प्रयोग करते है।

कवि ने पद्मावत मे प्रधानता शृगार की ही रखी है। सभोग शृगार मे कवि केवल बाहरी वर्णन तक सीमित रहा है। उसकी दशा के चित्रण मे स्तम्भ, रोमाच, स्वेद यह कुछ भी वर्णित नही है। वास्तव मे कवि का वियोग-पक्ष जितना निखर कर सामने आया है उतना संयोग-पक्ष नही आ सका।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भावोत्कर्ष को मापने के दो माप-दड स्थापित किये है .

"१ कितने भावों और गूढ मानसिक विकारों तक कवि की दृष्टि पहुँची है।
२. कोई भाव कितने उत्कर्ष तक पहुँचता है।"

कसौटी ठीक ही है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इनमें पहिले स्थान पर जायसी को उतना ऊंचा नही पाते। वास्तव मे सच भी यही है कि यदि तुलनात्मक दृष्टि-कोण से हम गोस्वामी जी के साथ उन्हें रखें तो वह सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि नही मिलेगी जो उनमे पाई जाती हैं। भिन्न-भिन्न परिस्थितियो के बीच बनने वाली मानसिक परिस्थितियों का चित्रण जायसी कम सफलता के साथ कर सके है। भावना के हर कोने को झाँकना कवि की क्षमता में नही रहा है। मनुष्य के हृदय की बहुत सी अवस्थाओं तक जायसी की पहुंच नही हो पाई है।

हाँ, जहाँ तक किसी भाव को उत्कर्ष तक पहुँचाने की बात है, वहाँ कवि को

आशातीत सफलता मिली है। विशेष रूप से विप्रलम्ब शृंगार का उत्कर्ष दिखलाने मे तो कवि को चमत्कारिक सफलता प्राप्त है।

रति-भाव के अन्दर मानसिक दशाओ के चित्रण देखिए

बिनु जल मीन तलफ जस जीऊ। चातक भइऊँ कहत "पिऊ-पिऊ।"
जारऊँ बिरह जस दीपक बाती। पथ जोहत भइँ सीत सेवाती॥
भइउं बिरह दहि कोइल कारी। डारि-डारि जिमि कूकि पुकारी॥
कौस सो दिन जब पिउ मिलै, यह मन राता जासु।
वह दुख देखै मोर सब, हौं दुख देखौं तासु॥
× × + ×
अबहूँ मया दिस्टि करि, नाह निठुर ! घर आउ।
मदिर उजार होत है, नव कै आइ बसाउ॥
रोइ गंवाए बारह मासा। सहस-सहस दुख एक-एक साँसा॥
तिल-तिल बरख-बरख परि जाई। पहर-पहर युग-युग न सेधाई॥
सो नही आवै रूप मुरारी। जासौं पाव सुहाग सुनारी॥
साँझ भए झुरि-झरि पथ हेरा। कौनि सो घरी करै पिउ फेरा॥
दहि कोइला भई कंत सनेहा। तोला माँसु रहि नहि देहा॥
रकत न रहा, बिरह तन गरा। रती-रती होई नैनन्ह ढरा॥
पाय लागि जोरै धनि हाथा। जारा नेह जुडावहु नाथा॥
बरस दिवस धनि रोइ कै, हारि परी चित झंखि।
मानुष घर-घर रोइ कै, बूझै निसरी पंखि॥

पति से मिलने की अभिलाषा उक्त पक्तियो मे कितनी प्रखर रूप से झलक रही है ? वात्सल्य की भी एक झाँकी देखिए जहाँ 'सुख के अनिश्चय' से उत्पीडित माता कहती है

सब दिन रहेहु करत तुम भोगू। सो कैसे साधब तप जोगू ?
कैसे धूप सहब बिन छाहाँ ? कैसे नीद परिहि भुइ माहाँ॥
कैसे ओढ़ब काथरि कंथा ? कैसे पाँव चलब तुम पंथा॥
कैसे सहब खनहि खन भूखा ? कैसे खाव कुरकुटा रूखा॥

कवि ने वीर रस का भी अच्छा चित्रण किया है। गोरा बादल के प्रसग में उत्साह की व्यजना मिलती है। पदमती के दुःखी होने पर दोनो भाई प्रतिज्ञा करते हैं :

जौ लगि जियहि न भागहि दोऊ। स्वामि जियत कित योगिनी होऊ॥
उए अगस्त हस्ति जब गाजा। नीर घटे घर आइहि राजा॥

इस प्रकार कवि की भाव-व्यजना अधिक व्यापक क्षेत्र मे न होने पर भी जहाँ है वहाँ बहुत पूर्ण और प्रभावात्मक है। इससे रस-परिपाक मे विशेष सहयोग मिला है।

कल्पना तत्त्व जहाँ तक कल्पना-तत्व का सम्बन्ध है वहाँ तक तो कथा में यत्र-तत्र कुछ ऐतिहासिक संकेतो के अतिरिक्त सब कुछ काल्पनिक ही है। कल्पना का प्रयोग अलकारो मे ही नही है वरन् कथा-वस्तु के निर्माण और घटनाओ की सृष्टि मे भी किया गया है। पूरी-की-पूरी कथा कल्पना के ही आधार निर्मित की गई है।

कल्पना-चित्र अकित करने मे भी यदि देखा जाय तो आपकी उडानें कही-कही बिहारी से जा टकराती है। कवि की नाजुक खयालिया उसकी कल्पना-शक्ति की ही देन हैं। इतनी कल्पना कम हिन्दी काव्यो मे मिलेगी। सिंघलद्वी की कल्पना, वहाँ पद्मिनी नारी की कल्पना, सात समुद्रो की कल्पना, यात्रा करके सिंघलद्वीप मे जाकर हीरामन तोते को गुरु बनाकर प्रेम-तप द्वारा पद्मिनी को प्राप्त करने की कल्पना, नागमती का सदेश लेकर आने की कल्पना, देश लौटते समय समुद्र की बेटी से मिलने की कल्पना यह सब, कुछ कल्पना ही है। परन्तु यह काल्पनिक गठन भी बडा सुन्दर है, रोचक है और हृदय को आकर्षित करने की अपने मे क्षमता रखता है।

कल्पना और भावना का एक सुन्दर चित्र हम नीचे प्रस्तुत करते हैं, देखिये जायसी ने कितने सफल चित्र खींचे है·

पिउ सौं कहेह संदेसडा, हे भौंरा! हे काग!
सो धनि बिरहै जरि मई, तेहिक धुआं मेहि लाग।
पूस जाड थर-थर तन काँपा। सूरज जाइ लंका-दिसि चांपा॥
बिरह बाढ, दारुण भा सोऊ। कँपि-कँपि मरौं, लेइ हरि जीऊ॥
कंत कहां लागों ओहि हियरे। पंथ अपार सूझ नहीं नियरे॥
सौंर सपेती आवै जडी। जानह सेज हिवंचल बूढ़ी॥
चकई निसि बिछुरै दिन मिला। हौं दिन-रात बिरह कोकिला॥
रैनि अकेलि साथ नहिं सखी। कैसे जियै बिछौही पखी॥
बिरह सचान भएउ तन जाडा। जियत खाइ औ मुए न छांडा॥

जायसी-ग्रथावली को पढने पर उसमें काल्पनिक उडानों की कमी नही मिलेगी। कवि कल्पना का सागर है। पद्मावती की कथा ऐतिहासिक होते हुए भी प्रधान रूप से काल्पनिक ही है।

पद्मावत की कथा को दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है। प्रथम भाग में रत्नसेन की सिघलद्वीप-यात्रा आती है। उसके पश्चात् पद्मिनी को लेकर लौटने तक की गाथा है। इसे हम कथा का पूर्वार्ध कहेंगे। दूसरा भाग राघव के निकाले जाने से लेकर पद्मामती के सती होने तक की कथा, इसे हम उत्तरार्ध कहेंगे। इसका पूर्वार्ध एकदम काल्पनिक है और उत्तरार्ध ऐतिहासिक।

कल्पना के आधार पर कवि ने एकदम नया ससार ही रच कर आँखो के सामने खडा कर दिया है । सिंघलद्वीप और उसमे पद्मिनी की कल्पना । फिर हीरामन तोता, विविध प्रकार के समुद्र, समुद्र की बेटी और उनका जहाज टूट जाने पर मेल होना, ये घटनाएँ कवि-कल्पना से घनिष्ट सम्बन्ध रखती है ।

प्रबन्धात्मकता—महाकवि जायसी का मुख्य ग्रन्थ पद्मावत है । इसीलिए पद्मावत के आधार पर ही हम जायसी के काव्य की साहित्यिकता आकते है । पद्मावत एक प्रबन्ध काव्य है, कहाकाव्य है । प्रबन्ध-काव्य की परख करते समय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत है कि "किसीप्रबन्ध- कल्पना पर कुछ विचार करने के लिए यह देखना चाहिए कि कवि घटनाओ को किसी आदर्श परिणाम पर लेजाकर तोडना चाहता है अथवा यो ही स्वाभाविक गति पर छोडना चाहता है । यदि कवि का उद्देश्य सत् और असत् का परिणाम दिखाकर शिक्षा देना होगा तो वह प्रत्येक पात्र का परिणाम वैसा ही दिखायेगा जैसा न्याय-नीति की दृष्टि से उसे उचित प्रतीत होगा । ऐसे नपे-तुले परिणाम काव्य-कला की दृष्टि से कुछ कृत्रिम से जान पडते हैं । पद्मावत मे कवि कथा को किसी आदर्श की ओर नही ले जाता । कवि का लक्ष्य इस प्रकार आदर्श-स्थापना नही है । ससार जैसे चलता है, वैसे चलता है । कवि गति के प्रवाह मे कोई बाधा उपस्थित नही करता । अच्छे चरित्र वाले सर्वत्र सुखी ही नही रहते और बुरे चरित्र वाले कष्ट भोगते रहे, यह भी सम्भव नही । फिर भी जायसी ने काव्य की उन मान्यताओ का ध्यान रखा है जिन के आ जाने से पाठको के चित्त मे क्षोभ उत्पन्न हो और काव्यनन्द की प्राप्ति मे बाधा उपस्थित न हो । अर्थात् सत्पात्रो के भीषण परिणाम कवि ने प्रदर्शित नही किये । कवि ने कही भी कोई चित्रण ऐसा नही किया जिससे काव्य मे उदासीनता न झलकने लगे ।

प्रबन्ध काव्य मे मानव-जीवन की पूरी विवेचना रहती है । घटनाओ की सम्बन्ध-शृंखला का क्रम स्वाभाविक रूप से चलता है । नाना प्रकार के भावों की रसात्मक अभिव्यक्ति प्रबन्ध काव्य में रहती है । प्रबन्ध काव्य का चित्रण इतिवृत्तात्ककता नही होता क्योकि इस प्रकार का चित्रण रसानुभव नही कर सकता । श्रोता के हृदय मे रस सचारित करने वाली वस्तु और व्यापारो का चित्रण प्रबन्ध काव्य मे आवश्यक होता है ।

प्रबन्ध काव्य की घटनाओ के चित्रण मे इतिवृत्तात्मकता आजाने से रस-सचारित नही हो सकता । मानव जीवन के मर्मस्पर्शी स्थलो को पहिचान कर उनका कलात्मक चित्रण किया जाता है । पद्मावत मे ऐसे मर्मस्पर्शी स्थलो की कमी नही है । नागमती के शोक का चित्रण कवि ने जितना मर्मस्पर्शी किया है उतना कथा का अन्य भाग नही हो सका । रत्नसेन की सूली की कथा का चित्रण, प्रेम का चित्रण, इत्यादि स्थलो को कवि ने खूब उभारा है । नख-शिख वर्णन भी

कवि ने बहुत सुन्दर किया है। नागमती के सुआ को अपना सौन्दर्य दिखा कर यह पूछने पर कि '

सुआ बानि कसि कहु कस सोना। सिघल दीप तोर कस लोना ?
कौन रूप तोरी रूपमनी। दहुं हौं लोनि, कि वै पद्मनी ?
जो न कहसि सतसुअटा तोहि राजा कै आन।
है जोई एहि जगत महं मोरे रूप समान ॥

सुआ उत्तर देता है। कितना मार्मिक चित्रण कवि ने सुआ की स्पष्टवादिता के साथ किया है '

सुमरि रूप पद्मावति केरा। हसा सुआ, रानी मुख हेरा ॥
जेहि सरवर मह हस न आवा। बगुला तेहि सरु हस कहावा ॥
दई कीन्ह अस जगत अनूपा। एक-एक तें आगरि रूपा ॥
कै मन गरब न छाजा काहू। चाँद घटा औ लागेउ राहू ॥
का पूछहु सिघल कै नारी। दिनहि न पूजे निसि अंधियारी ॥
पुहुप सुवास सो तिन्ह कै काया। जहाँ माथ का बरनौं पाया ॥
गढ़ी सो सोने सोंधे, भरी सो रूपै भाग।
सनत रूखि भई रानी, सिये लोन अस लाग।

जायसी का मुख्य ग्रन्थ दोनों ही रूप से गति पाता है। उसकी प्रबन्धात्मकता में इतिवृत्तात्मकता और रसात्मकता दोनो मिलती हैं। दोनो का स्थानोपयुक्त प्रयोग कवि ने किया है। कथा का ढाँचा जहाँ इतिवृत्तात्मक रूप से बाँधा जाता है वहाँ उसकी सुन्दर लगने वाली माँस पेशियो का गठन रसात्मक चित्रणों द्वारा ही होता है। प्रबन्ध काव्य एक बगीचा है जिसकी सडके, क्यारियाँ, तालाब, घास, सभी सौदर्य-वर्धक और आवश्यक है, परन्तु उनके गठन से भी अधिक सुन्दर वे स्थल है जहाँ रग बिरगे फूल खिले हुए हैं। पूरे-के-पूरे बाग मे ऐसे फूलो के स्थान थोडे ही होते हैं। येही प्रबन्ध काव्य के रसात्मक स्थल हैं जिनके प्रति यदि कवि उदासीनता से काम लेता है तो काव्य मे रसात्मकता पैदा नही हो सकती और सम्पूर्ण काव्य एक कथा का ढाँचा मात्र रह जाता है।

पद्मावत मे एक प्रबन्ध काव्य के सभी गुण वर्तमान है। कथा-प्रवाह सरलता-पूर्वक पूर्ण क्रम-बद्धता के साथ आगे बढता है। इतिवृत्तात्मक तथा रसात्मक स्थलो का ऐसा सम्बन्ध स्थापित हुआ है कि समस्त काव्य रस मे सराबोर हो उठा है। अपने ढग का यह हिन्दी का एक ही प्रबन्ध काव्य है। पद्मावत की कहानी का घटना-चक्र ही ऐसा है कि मानव-जीवन की सुख दु ख पूर्ण दशाओं का चित्रण आ जाता है। प्रेम, विरह, मिलन, त्याग, तपस्या, यात्रा, ममता, विपत्ति, जय, पराजय, युद्ध, छल, बैर, द्वेष, पतिव्रतधर्म, वीरता, शृगार इत्यादि क्या है जो पद्मावत मे नही आ गया है। मानव-जीवन की सभी दिशाओ की

ओर कवि झाँका है। मानव के पारस्परिक सम्बन्धो का खूब चित्रण किया है और उसमे काफी सजीवता आई है। प्रेम-पथ का निरूपण कवि ने बहुत ही सफलता के साथ किया है।

सम्बन्ध-निर्वाह—प्रबन्ध काव्य मे सम्बन्ध का ठीक-ठीक निर्वाह होना नितान्त आवश्यक है। जायसी का सम्बन्ध-निर्वाह आदर्श है। प्रसगो की शृखला और कथा का प्रवाह ठीक-ठीक चलाने मे कवि को पूर्ण सफलता मिली है। कवि ने विवरण खूब किये हे, जिनके होने से कथा-प्रवाह खडित नही होता। कही-कही जहाँ कवि अनावश्यक चित्रणो की ओर झुक जाता है, वहाँ कुछ ऊबने और पन्ने पलट कर आगे खिसक जाने की बात अवश्य आ जाती है, परन्तु ऐसे स्थल काव्य मे वहुत ही कम आये है।

काव्य मे कथाएँ प्रासगिक और अधिकारिक, दो प्रकार की होती है। प्रास-गिक कथाओ का मेल आधिकारिक कथा के साथ मिलाना होता है। जैसे किसी ब्राह्मण का सिघल द्वीप जाकर तोता खरीद लाने और फिर उसे राजा रत्नसेन के हाथ बेचने की बात प्रासगिक है और उसका रत्नसेन के पद्मावती को लेने के लिए सिघल द्वीप जाने और वहाँ से पद्मावती को लाने वाली मूल कथा से सबध स्थापित हो जाता है। इस प्रकार के सम्बन्ध कवि ने कुशलतापूर्वक स्थापित किये है। कवि को इसमे कलात्मक सफतला मिली है। जायसी कीप्रासगिक और अधिकारिक कथाए दोनो ही गठकर चलती है।

पद्मावत मे पद्मावती का सती होना एक कार्य है। इस घटना की ओर कथा को अग्रसर करने मे जिस-जिस प्रासगिक कथा के जितने-जितने योग की आवश्यकता है, वह उतना ही आता है। कवि इस ओर काफी सतर्क रहा है। पद्मावत के जन्म से लेकर सिघल गढ घेरने तक कथा का प्रारम्भिक भाग है। मध्य भाग पद्मावती के विवाह से लेकर सिघलद्वीप से चल देने की कथा है और अतिम भाग मे राघव-चेतन के देश निकाने से पद्मावती के सती होने तक है। यह कार्य जहा पर जाकर कथा का अन्त होता है बहुत महत्त्वपूर्ण होने की आवश्यकता है। रामायण मे यह कार्य रावण का वध है। उसी प्रकार यहाँ पद्मावती का सती होना भी कुछ कम महत्वपूर्ण कार्य नही। यह प्राचीनो का मत है, जिनका कवि ने काव्य मे निर्वाह किया है।

जैसा हम ऊपर भी सकेत कर चुके है कवि की गति मे कही-कही कुछ अनावश्यक चित्रणो के कारण बाधा उपस्थित हो जाती है। कही-कही कवि व्यर्थ का ज्ञान छाँटने का भी प्रयास करता है और दर्शन को एक अपने अजीब ढग से सामने रखता है

तुम पँडित जानहु सब भेदू। पहिले नाद भयउ तब बेदू॥
आदि पिता जो बिधि अवतारा। नाद संग जिउ ज्ञान सचारा॥

नाद, वेद, मद पैंड जो चारी। काया महँ ते लेहु बिचारी ॥
नाद दिये, मद उपने काया। जहँ मद तहाँ पैंड़ नहि छाया ॥

इसी प्रकार के अन्य अनेकों चित्रण कवि ने किये है :

वर्णन-शैली—कवि की वर्णन-शैली काफी प्रभावात्मक है। जैसा परन्तु ऊपर कह चुके है उस प्रभावात्मक मे गति रुक जाने वाले स्थलो की भी कमी नही है। कवि जहाँ चित्रणो की झोंक मे आता है तो अतिशयोक्तियो की झडी लगा देता है। कवि ने सिंघलद्वीप का वर्णन किया है, यात्रा का वर्णन किया है, समुद्रो का वर्णन किया है, विवाह का वर्णन किया है, युद्ध का वर्णन किया है, चित्तौडगढ का वर्णन किया है बारह मासे का वर्णन किया है यहाँ तक आती है स्थानो तथा विविध कार्यों तथा घटनाओ के वर्णन की बात। इनके अतिरिक्त कवि ने परिस्थितियो और भावनाओ का चित्रण भी कल्पना के जोर से बहुत ही प्रभावात्मक किया है। वर्णनो मे कही-कही पर कवि अनावश्यक चीजे भी गिनाने लग जाता है। जिससे रस-प्रवाह मे बाधा उपस्थित होती है परन्तु ऐसे स्थल बहुत कम है। रूप और सौदर्य का चित्रण कवि ने बहुत अच्छा किया है और उसे पढ कर कवि के आदर्श नायक और नायिका का सौंदर्य साकार रूप मे नेत्रों के सम्मुख उपस्थिके हो जाता है। यही रूप सौदर्य कवि की कल्पना और कथा का आधार है पदमावती के रूप मे वह ईश्वर की कल्पना कर रहा हैं, जिससे सुन्दर उसकी दृष्टि मे और कुछ हो ही नही सकता। कवि ने यह सौंयर्य चित्रण परम्परागत किया है। इसमे कोई नवीनता खोजना नादानी है। वही पुराने प्रचलित उपमान कवि ने प्रयुक्त किये है परन्तु फिर भी कविता मे नयापन है। नाजुक खयाली उर्दू और फ़ारसी की आजाने से कल्पना और भावना का पैनापन तीखा हो जाता है।

कवि पद्मावती के रूप ब्रह्मा के सौदर्य को निरखता-परखता है। तभी तो वह कहता है

जग डोले डोलत नैनाहों। उलटि अड़ार जाहिं पल माहाँ ॥
जबहिं फिराहिं गगन गहि बोरा। अस वै भँवर चक्र कै जोरा ॥
पवन झकोरहिं देहि हिलोरा। सरग लाइ भुईं लाइ बहोरा ॥

× × ×

वर्णन शैली कवि जायसी की काफी प्रभावात्मक है क्योकि उसमें स्थान-स्थान पर भावना की तीखी पुट रहती है। फिर किसी चीज का चित्र खीच देने में भी यह कवि कुछ कम दक्ष नही है। सिंघल-द्वीप का वर्णन देखिए :

धन अमराउ लाग चहुँ पासा। उठा भूमि हुँत लागि अकासा ॥
तरिवर सबै मलयगिरि लाई। भइ जग छाँह, रेनि होइ आई ॥
मलय-समीर सोहावनि छाँहा। जेठ जाड़ लागै तेहि माहाँ ॥

ओहि छाँह रैनि होइ आवै। हरियर सबै अकास देखावै ।।
पथिक जो पहुँचै सहिके घामु। दुख बिसरै, सुखहोई बिसरामू ।।

सिंहलद्वीप जाते समय मार्ग में आने वाले सात समुद्रो का चित्रण भी कवि ने खूब किया है। इनमे कान समुद मे धसने पर बहुतों की क्या दशा हुई इसका वर्णन कवि करता है।

कोइ बोहित जस पौन उड़ाही। कोई चमकि बीजु अस जाहीं ।।
कोइ जस भल धाव तुखारू। कोई जैसे बैल गरिवारू ।।
कोइ जानहुँ हरुआ रथ हाँका। कोई गारुअ मार बहु थाका ।।
कोइ रेंगी जानहुँ चाँटी। कोइ टूटि होहिं तर माटी ।।
कोइ खोहिं पौन कर झोला। कोई करहिं पात अस डोला ।।
कोई परेहि भौर जल माँहा। फिरत रहहि, कोई दे दिल बाहाँ ।।
राजा का भा अगमन खेवा। खेवक आगे सुधा परेवा ।।

जायसी वास्तव मे प्रकृति का कवि न होकर मानव कवि है। मानव के दुख सुख का जैसा सजीव चित्र जायसी अंकित करता है वैसा कम कवि कर पाये है। विरह-चित्रण मे तो यह अपने ढग के एकाकी ही है। विवाह के समय का वर्णन देखिए कितना सुन्दर चित्रण है .

रचि-रचि मानिक माँडव छावा। औ भुइँ रात बिछावा बिछावा ।।
चदन खाँभ रचे बहु भाती। मानिक दिया बरहि दिन राती ।।
साजा राजा, बाजन बाजे। मदन सहादय दुवौ दर गाजे ।।
औ लीने राता रथ साजा। भए बरात-गोवहने सब राजा ।।
घर-घर बंदन रचे दुवारा। जावत नगर गीत झनकारा ।।

शीश के ऊपर माँग का ही वर्णन देखिए

बरनौ माँग सीस उपराही। सेंदुर अबहिं चढ़ा जेहि नाहीं ।।
बिन सदुर अस जानहु दीआ। उजियरा पथ रैनि महँ कीआ ।।
कचन रेख कसौटी कसी। जनु घन महँ दामिनि परगसी ।।
सुरुज-किरिन जनु गगन बिसेखी। जमुना माँह सुरसरी देखी ।।
खडै धार रुहिर जनु भरा! करवत लेइ बेनि पर धरा ।।
तेहि पर पूरि धरे जो मोती। जमुना माँझ गंग कै सोती ।।
करवत तपा लेहि होइ चूरू। मकु सो रुहिर लेइ देई सेंदूरू ।।
कनक दुवादस बानि होइ, चह सोहाग वह माँग।
सेवा करहि नखत सब, उवै गगन जल गांग ।।

वर्णनात्मकता कवि की अपनी विशेषता है। अनेको उपमाओ की झड़ी लगाकर जहाँ वह चित्रण करने बैठ जाता है वहाँ चित्र साकार हो जाता है। सिंहलद्वीप की यात्रा का चित्रण देखिए कितना वर्णनात्मक है।

करहु दीठि थिर होइ बताऊ। आगे देखि धरहु भूइं पाऊ।
जोरे उबट होइ परे भुलाने। गए मारि, पथ चलैं न जाने॥
पांयन पहिरि लेहु गव पौंरी। कांट धँसै न गड़ै अँकरौरी।
परे आइ बन परबत माहाँ। दंडा करन बीझ बन गाहाँ॥
सघन ढाक बन चहुँ दिसि फूला। बहु दुख पाव उहाँ कर भूला।
झाँखर जहाँ सो छाँड़हु पन्थ। हिलगि मकोय न फारहु कन्था॥

युद्ध-यात्रा का वर्णन देखिए :

हय गय सेन चलै जग पूरी। परबत टूटि मिलहिं होई धूरी।
रेनु रेनि होइ रबिहि गरासा। मानुख पखि लेहिं फिरि बासा॥
भुइं उडि अंतरिक्ख मृदु मंडा। खड-खंड धरती बरम्हंडा।
डोलै गगन, इन्द्र डरि काँपा। बासुकि जाइ पतरहि चाँपा॥
मेरु धस मसै, समुन्द्र सुखाई। बन खँड टूटि खेह मिलि जाई।
अगिलन्ह कहँ पानी लेई बाँटा। पछिलन्ह कहँ नहि काँदों आटा॥

चित्तौड पर अलाउद्दीन की चढाई का भी वर्णन इसी प्रकार है :

बादसाह हठि कीन्ह पयाना। इन्द्र-भँडार डोल भय नाना।
नब्बै लाख सवार जो चढ़ा। जो देखा सो सोने मढ़ा॥
बीस सहस धुम्मरहि निसाना। गलगजहि फेरहि असमाना।
बैरख ढाल गगन गा छाई। चला कटक धरती न समाई॥
सहस पाति गज मत्त चलावा। घुसत अकास, धँसत भुइं आवा।
बिरिछ उपारि पेडि स्यो लेहीं। मस्तक झारि तोरि मुख देही॥

कोउ काहू न संभारै; होत आव डर चाप।
धरति आपु कहँ काँपै, सुरज आपु कहँ झाँप॥

आवै डोलत सरग पतारू। काँपै-धरति, न अंगवै भारू।
टूटहि परबत मेरु पहारा। होइ होइ चूर उड़हि होइ छारा॥
सत खँड धरती भई षटा खडा। ऊपर अस्ट भए बरम्हडा॥
गगन छपान खह तस छाई। सूरज छपा, रैनि होइ आई।
दिनहि राति अस परी अचाका। भा रवि अस्त, चन्द रथ हाँका॥
मन्दिरन्ह जगत दीप परगसे। पन्थी चलत बसेरहि बसे।
दिन के पखि चरत उड़ि भागे। निसि के निसरि चरै सब लागे॥

इसी प्रकार कवि ने अनेको स्थलो, घटनाओ, भावनाओं और चरित्रो का वर्णन किया है। कवि की वर्णन शैली अधिकाश रोचक ही है। बारह मासे का वर्णन कवि ने बहुत कलात्मक ढग से किया है।

अन्द्रा लाग, लागि भुई। मोहि बिनु पिउ को आदर देई।
सावन बरस मेह अति पानी। भरनि परी हों बिरह झुरानी॥

भा-परगास कांस बन फूले। कन्त न फिरे, बिदेसहि भूले।
कातिक सरद चन्द उजियारी। जग सीतल सौं बिरहै जारी॥
टप टप बूँद परहि औ ओला। बिरह पवन होइ मारै झाला।
तरिवर झरहि, झरहि बन-ढाका। भई अनत फूलि-फरि साखा।
बौरै आम फेर अब लागे। अबहुँ आउ घर, कंत सभागे।

अलकारो का प्रयोग—जायसी ने अधिकतर पद्मावत मे सादृश्य-मूलक अलकारो का प्रयोग किया है। यह स्वरूप का बोध कराने और भाव मे भी तीव्रता लाने के लिए किया जाता है। स्वरूप बोध कराने के लिए भी कवि यदि उपयुक्त सादृश वस्तुएँ लाता है तो उसके काव्य का स्वरूप निखरता और प्रतिष्ठा पाता है। जायसी ने सन्त कवियो की भाँति ब्रह्म, आत्मा, परमात्मा, सृष्टि, माया इत्यादि की कल्पना की है और उनके सदृश कल्पना के प्रतीक छांटे है। ससार के माया-मोह के त्याग का सादृश साधक से लडको के ज्ञान से कवि ने किया। भावुक व्यक्ति दोनो मे बडी सुगमता से सादृश्य स्थापित कर सकता है।

पद्मावत के सम्पूर्ण कथानक मे एक व्यंग्य की छटा विद्यमान है। इस विषय मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते है, "अगोचरता का प्रस्तुत मानने पर अप्रस्तुत की योजना दोनो दृष्टियो से मिलती है, अगोचर बातो का गोचर स्वरूप देने की दृष्टि से भी और भावोत्तजन की दृष्टि से भी तथा भावानजना की दृष्टि से भी। साधक के मार्ग की कठिनाइयो की भावना उत्पन्न करने के लिए कवि विषम पहाड, अगम घाट तथा खाइ और नालो की ओर ध्यान ले जाता है। काम क्रोधादि की भीषणता दिखाने को वह ऐसे प्रबल चोरो को सामने करता है जिनका घर का कोना-कोना देखा हो, और जो दिन-रात चोरी की ताक मे रहते हो।

जायसी ने अपने काव्य के रसात्मक प्रसगो मे भाव के अनुरूप अनुरजनकारी अप्रस्तुत वस्तुओ को ला कर जुटाया है। प्राचीन परिपाटी मे आने वाली ही ये सादृश्य मूलक चीजे है जिनमे कुछ काल्पनिक ज्ञान की नवीनता कवि ने अवश्य पैदा की है, परन्तु वह जो कुछ भी है प्रभावात्मक है और रस-परिपाक तथा भावना को गति देने मे सहायक है। समय सिद्ध उपमानो को लेकर परम्परागत समय-सिद्ध अनुकरणो द्वारा ही कवि ने काव्य मे अलकारिक सौन्दर्य का समावेश किया है। जायसी ने उपमान प्रस्तुत करते समय कुछ ऐसे उपमान भी ले लिये है जिनकी कल्पना वास्तविक अभिप्राय के प्रतिकूल जा सकती है, या यो कहे कि रोचक तो बिलकुल लगती ही नही। जैसे किसी नायिका के साथ किसी उपमा मे सिंहनी और ततैये की भिड की कमर का लाना सत्य होने पर भी हास्यास्पद सा ही दीखता है। भारतीय काव्य-पद्धति मे इस प्रकार के उपमानो का प्रयोग नही के बराबर है। यौवन के मद मे पूर्ण स्त्री की चाल का हथिनी

की चाल से सादृश्य स्थापित किया गया है परन्तु वहाँ यौवन का वह विशाल रूप सामने होता है जिसका कोई मुकाबिला न कर सके ।

सादृश्य मूलक अलकारो उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा का व्यवहार है जायसी ने हेतुत्प्रेक्षा का बहुत ही कलात्मक प्रयोग किया है। हेतुत्प्रेक्षा में आपको कल्पना शक्ति को विकसित करने और उड़ाने भरने का अच्छा मौका मिला है। नीचे हम कुछ अलकारो के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। विद्यार्थियो के लिए ये लाभदायक सिद्ध होगे .

हेतुत्प्रेक्षा—सहस किरिन जो सुरुज दिखाई। देखि लिलार सोउ छपि जाई।

× × × +

बारिउँ सरि जो न कै सका, फाटेउ हिया दरक्कि।

—जायसी-ग्रन्थावली, पृ० १०६

वस्तूत्प्रेक्षा—बरुनी का बरनौं इमि बनी। साधे बान जान दुई अनी।
जुरी राम-रावन कै सेना। बीच समुद्र भए दुइ नैना॥

× × + +

कंचन देख कसौटी कसी। जनु घन दमिनी परगसी।
सूरज किरन जनु गगन बिसेखी। जमुना माँह सुरसती देखी॥

—जायसी-ग्रन्थावली, पृ १०८

फलोत्प्रेक्षा—पुहुप सुगध करहि एहि आसा। मकु हिरकाई लेइ हम पासा।

× + + ×

करवत तपा लेहि होइ चूरू। मकु सो रुहिर लेइ देइ सेंदरू।

—जायसी-ग्रन्थावली, पृ० १०६

व्यतरेक—का सरवरि तेहि देऊँ मयकू। चाँद कलकी, वह निकलंकू
औ चाँदहि पुनि राहु गरासा। बह बिनु राहु सदा परगासा॥
सुवा सो नाक कठोर पँवारी। वह कोमल तिल-पुहुप सँवारी।

—जायसी-ग्रन्थावली, १६०

रूपकाशितयोक्ति—राते कँवल करहि अलि भँवा। घूमहि माँति चहहि अपसवा।

× + × +

कँवल कली तू, पदमिनि! गइ निसि भयउ बिहानु।
अबहुँ न संपुट खोलसि जबरे उवा जग भानु॥

—जायसी-ग्रन्थावली, पृ० ११०

सादृश्यमूलक अलकारो के प्राय: सभी रूप हमे जायसी के काव्य में मिलते हैं कवि ने। अपने काव्य मे साग रूपको का भी प्रयोग किया है। जायसी ने अलकारो का प्रयोग केवल प्रयोग भर करने और भाषा-सौंदर्य वृद्धि के लिए ही

नही किया परन्तु अपनी अभिव्यजना शक्ति के आधार पर व्यग प्रधान कल्पनाएँ करने पर उन्हे कलात्मक साधन बनाया है। कवि को इस दिशा मे बहुत सफलता मिली है। जायसी-ग्रन्थावली के प्राक्कथन मे पृष्ठ ११५ पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जायसी द्वारा प्रयुक्त अन्य अलकारो के भी उदाहरण प्रस्तुत किये है। विद्यार्थी यदि इस विषय मे अधिक ज्ञान प्राप्त करना चाहे तो वहाँ देख सकते है।

अर्थ-विस्तार की सहायता के लिए जायसी ने अलकारो का सुन्दर विधान किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कवि द्वारा रस विरोधी वस्तुओ को उपमा स्वरूप प्रस्तुत करने की ओर सकेत किया है। बात वास्तव मे आचार्य जी ने मार्के की पकडी है। विद्यार्थी इसे ध्यान से देखे .

वीर रस की सामग्री में श्रृंगार रस की सामग्री का आरोप .

कहौं सिंगार जैसि वै नारी। दारू पियहि जैसे मतवारी ॥
सेंदुर आगि सीस उपराही। पहिया तरिवन चमकत जाहीं ॥
कुच गोला दुइ हिरदय लाई अचल धुजा रहे छिटकाई।
रसना लूक रहहि मुख खोले । लका जरै सो उनके बोले ॥
अलक जंजीर बहुत गिउ बाँधे । खीचहि हस्ती टूटहि काँधे।
बीर सिगार दोउ ऐके ठाऊँ। सत्रु-साल गढ़-भंजन नाऊँ ॥

यहाँ श्रृगार की सामग्री मे वीर रस का आरोद देखिए .

जौ तुम चहहु जूझि, प्रिय। कीन्ह सिगार जूझ मै साजा।
जोबन आइ सौह होइ रोपा। पिघला बिरह काल-दल कोपा ॥
भौंहे धनुष, नयन सर साँधे। बरुनि बीच काजर विष बाँधे।
अलक फाँस गिउ मेलि असूझा। अधर-अधर सो चाहहि जूझा ॥
कुभस्थल कुच दोउ मैमता। पैलो सौह, सँभारहु कन्ता ॥

ऊपर दोनो मे रस विरोधी सामग्री कवि ने रखी है। जहाँ तक शब्दालकारो की बात है कवि ने वृत्यानुप्रास, यमक तथा श्लेष का प्रयोग किया है .

अनुप्रास — **भूमि जो भीजि भएउ सब गेरू।**

यमक रसनहि रस नहि एकौ भावा।

अपनी वर्णन करने की शैली को जायसी ने अलकारो के प्रयोग से चमत्कृत किया है। अलकारो के प्रयोग पर उनका अधिकार रहा है और जिस भाव को व्यक्त करने के लिए उन्होने जिन अलकारिक प्रयोगो को चुना है उसमे उन्हे सफलता मिली है।

चरित्र-चित्रण—पद्मावत एक प्रेम-काव्य है जिसमें कवि ने कही-कही समय की परिस्थितियो का सकेत भर भले ही कर दिया हो, या वह उत्तरार्ध ऐतिहासिक होने के नाते आगये हो, पर कवि का लक्ष्य उस ओर नही रहा। किसी

पात्र विशेष की किसी विशेष विलक्षणता का चित्रण करना या जाति विशेष की विशेषताएँ दिखलाना भी कवि का उद्देश्य नही रहा। सिंघल की स्त्रियो के सौंदर्य का वर्णन काल्पनिक है। परन्तु फिर भी उनके पात्रो की अपनी-अपनी विशेषताएँ है जो कथा के साथ आप से आप कुछ निखर कर सामने आती हैं। यहाँ हमारा कहने का तात्पर्य केवल यही है कि हमारे प्राचीन ग्रन्थों मे जिन पात्रो को लिया गया है उनके प्रतीको द्वारा समाज का रूप कवियो ने चित्रित करने का प्रयास किया है। यह प्रयास हमे जायसी मे दिखलाई नहीं देता, परन्तु फिर भी मानवीय प्रकृति का चित्रण पद्मावत मे मिलता है और उसका जो रूप सामने आता है वह काफी आकर्षण के साथ, भावना के साथ और रसात्मकता के साथ आता है।

पद्मावत् के प्रधान पात्र पद्मावती, रत्नसेन और नागमती है। इनके चरित्रो को किसी विशेष-विशेषता से बाँध कर कवि नही चला है। जैसे रामायण मे राम का चरित्र मर्यादापुरुषोत्तम राम का है वह हर स्थान पर मर्यादा का ध्यान रखते है, लक्ष्मण का भाई-भक्ति का है तो वह उससे पीछे नही हटता, हनुमान का सेवक का है तो वह अपने कार्य मे हर समय दृढ रहता है। नागमती, रत्नसेन या पद्मावती के चरित्रो मे ऐसी कोई बात नही जिसे देखना पडे कि जीवन के अनेक स्थानो पर वह घटी अथवा नही। इनका जो साधारण रूप सामने आता है, वह प्रेमी और पति पत्नी का ही रूप है, सौंदर्य का आकर्षण है जिसे कवि ईश्वरीय सौंदर्य मान कर चल रहा है। इन पात्रो की अपनी कोई व्यक्तिगत विशेषता नही है।

रत्नसेन कष्ट सह सकता है, साहसी है, धीर है, यह सब लक्षण उसके अन्दर है। परन्तु यह लक्षण तो उस हर प्रतीक के अन्दर कवि को प्रदर्शित करने होगे जिसे वह प्रेमी नायक बनाना चाहेगा। यह कोई रत्नसेन की व्यक्तिगत विशेषता नही रही। इसीलिए इसे उसके चरित्र का अग मानकर उसका विश्लेषण करना व्यर्थ है। पद्मावती चित्तौड आने से पूर्व एक यौवन-मद से पूरित प्रेमिका है जिसे पुरुष की आवश्यकता है और वह उसी की खोज के लिए हीरामन तोते से कहती है। चित्तौड आने पर उसके अन्दर एक सती नारी के चरित्र का उदय होता है और अन्त मे वह एक आदर्श हिन्दू पतिव्रता नारी के समान जौहर मे अपना प्राणान्त कर देती है। नागमती एक साधारण स्त्री है पतिव्रता वह अवश्य है और पति-विरह मे जल-जल कर उसकी ढेरी हो जाती है। पद्मवती के प्रति उसके मन मे डाह है और उसके रूप को वह बर्दाश्त नही कर सकती। इसीलिए हीरामन तोते को मरवाना चाहती है।

चरित्र-चित्रण साधारणतः लेखक तीन प्रकार का करते हैं

१ आदर्श-चित्रण।

२. जाति-स्वभाव-चित्रण।

३. व्यक्ति-स्वभाव-चित्रण ।

एक चौथे प्रकार का भी सामान्य चित्रण होता है, परन्तु वह कोई विशेष बात नही है क्योकि उसके द्वारा किसी विशेष वस्तु का आभास न मिलने से, न तो कोई विशेष रोचकता दी आती है और न कोई आकर्षण ही पैदा होता है।

आदर्श-चित्रण · महाकवि जायसी ने जिन पात्रो को लिया है उनमे आदर्श की स्थापना की है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का विचार है कि जायसी ने एक देश व्यापी आदर्श की स्थापना की है, परन्तु हमारा मत इसके खिलाफ है। रत्नसेन के रूप मे जायसी ने एक आदर्श प्रेमी का चित्रण किया है और वह भी किसी स्त्री का प्रेमी नहो ईश्वर का प्रेमी। पद्मावती को कवि ने ईश्वर का प्रतीक माना है। रत्नसेन चित्तौड की मोह-माया को त्याग कर माता, स्त्री, धन, सम्पत्ति, राज, पाट सब छोड कर वियोगी हो जाता है। यह प्रेम-पथ पर चलने वाले की दशा है, विरक्त दशा है। पद्मावती को प्राप्त कर वह वही रम जाता है, लेकिन नागमती का सदेश पाकर उसमे फिर अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरूकता आती है। वह उसी समय चलने को उद्यत हो जाता है।

एक ईश्वर-प्रेमी का यह चरित्र है। मीरा भी तो इसी तरह की प्रेम-दीवानी थी जिसने अपने पति को छोडकर कृष्णकी भक्ति मे लौलीन होकर राज-पाट त्याग दिया। इस प्रकार के प्रेमियो की कथाएँ कम नही है। सूफी इतिहास देखने पर बहुत से ऐसे प्रेमी मिल जायेंगे। सूर, तुलसी इत्यादि भी इसी कोटि मे आते है। परिस्थितियाँ बदल सकती है, परन्तु मूल तत्त्व प्रेम और उसके पालन मे फर्क नही आता। रत्नसेन का यह प्रेमी चरित्र कवि ने आदर्श रूप मे ही प्रकट किया है और इसमे एक देशीयता की झलक देखना कवि के साथ अन्याय करना है।

यह सच है कि जायसी ने तुलसीदास की भाति अपने नायक को सर्वगुण सम्पन्न नही बनाया। उसने यदि प्रेम का प्रतीक रत्नसेन को प्रस्तुत किया है तो वीरता के प्रतीक स्वरूप वह गोरा बादल को लाया है। यहाँ भी मानव-प्रकृति का अध्ययन करके हम यही कहेगे कि जायसी ने कोई भूल न ही की। उसने चरित्र का एकागी विकास किया है परन्तु वह कितना व्यापक किया है यह देखते ही बनता है। रत्नसेन मे वीरता, धीरता, प्रेमपरायणता, भक्ति, दशा, क्षमा, शील, भावुकता, कलाप्रियता, पाडित्य, सौदर्य, विनय, परख यह सभी कुछ नही है परन्तु उसके अन्दर जो कुछ भी है वह आद्योपान्त है। प्रेम का वह पुजारी है और उसका सम्बन्ध उसके जीवन के अतिम काल तक उसके साथ चलता है। धीरता, सौदर्य, कलाप्रियता, शील, भावुकता, विनय, यह सभी कुछ रत्नसेन के चरित्र मे है। साधक के लिए अपने विशेष अभीप्ट की प्राप्ति मे जिन गुणो की आवश्यकता है वे सब रत्नसेन मे विद्यमान है। इससे बाहर के गुणो को व्यर्थ लाकर रत्नसेन के चरित्र से

चिपकाने की कवि में लालसा नही थी। रत्नसेन अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए केवल सुख-भोग ही त्यागने को उद्यत नही होता, वरन् अपने प्राणों को भी होम देने मे सकोच नही करता। लोभ उसे छू तक नही गया है। सिंहलद्वीप मे दहेज इत्यादि मे उसे चाहे जो मिला हो परन्तु उसकी भावना और इच्छा केवल पद्मावती तक ही सीमित है। समय पडने पर वह वीर भी है। अलाउद्दीन का पत्र उसे युद्ध के लिए उत्तेजित कर देना है परन्तु युद्ध को पारस्परिक समझौते से टालने का भी वह कम प्रयास नही करता। सरल स्वभाव का व्यक्ति है। छल-छिद्र नही जानता।

रत्नसेन रत्नसेन का चरित्र आदर्श प्रेम का प्रतीक है। उसमे जातिगत और व्यक्तिगत विशेषताएँ भी है परन्तु प्रधानता आदर्श प्रेम की ही है। वास्तव में यदि देखा जाये तो रत्नसेन के चरित्र के ये गुण प्रेम-जन्य है। कष्ट-सहन, नम्रता, दया, त्याग, तपस्या सब प्रेम की ही भावना के फलस्वरूप उदय होते हैं। ये उसके चरित्र के स्वतत्र गुण नही है ओर न ही परम्परागत, जातिगत या व्यक्तिगत ही हैं। सिहल से लौटते समय जो लोभ की भावना उसके अन्दर पैदा होती है वह व्यक्तिगत स्वभाव-जन्य है। उसका प्रेम या किसी अन्य भावना या वस्तु से कोई सम्बन्ध नही। धन के असाधारण चमत्कार पर रीझ उठना लोभ नही है। अपना सर्वस्व त्यागकर जोगी बन जाने वाले रत्नसेन मे इस घटना को लोभ मानकर आरोपित करना भूल होगी।

रत्नसेन एक सरल प्रकृति का प्रेमी है। राजा हो गया तो क्या, राजनीति बुद्धि सके पास नहीं है। गोरा बादल के समझाने पर भी वह अलाउद्दीन के छल को नही भाँप पाता। इससे राजा की अदूरदर्शिता भी झलकती है।

जहाँ रत्नसेन की जातिगत विशेषता की बात है वह प्रतिकार की भावना मे है। यह राजपूतो की जातिगत विशेषता है। यह रत्नसेन में भी पाई जाती है। पद्मनी से देवपाल की दुष्टता की बात सुनकर उस पर आक्रमण करके उसे मार डालना, इसी प्रकार की घटना है।

पद्मावती . पद्मावती एक सुन्दर यौवन से पूर्ण नायिका है, जिसके अन्दर कवि ने आदर्श प्रेम की स्थापना की है। चित्तौड़ मे आने से पहले वह एक आदर्श प्रेमिका है। रत्नसेन की सूली की बात सुनकर वह अपने भी प्राण त्यागने को उद्यत हो जाती है।

इसके पश्चात् पद्मावती में एक उत्तम गृहिणी के भी लक्षण मिलते हैं। पद्मावत रत्नसेन से अधिक दूरदर्शी है। वह राघव चेतन के निकाले जाने पर उसे नाखुश नही भेजना चाहती :

ज्ञान-दिष्ट धनि अगम विचारा। भल न कीन्ह अस गुनी निकारा॥

राजा रत्नसेन के वन्दी हो जाने पर रानी गोरा बादल के पास जाती है

और उनसे सहायता लेती है । यह उसकी बुद्धिमत्ता का दूसरा प्रमाण है । वह वीर है, चतुर है, गम्भीर है साहसी है । पति को मुक्त करा लेती है ।

पद्मावती मे जातिगत स्वभाव की भी कमी नही । वह नागमती के साथ राजा रत्नसेन को रगरलियाँ करते नही देख सकती । ईर्ष्या इसमे कम नही और यह स्त्री-जाति का सामान्य स्वभाव भी है ।

पद्मावती का सब से चमत्कृत रूप उसके सती के स्वरूप मे विद्यमान है। एक आदर्श भारतीय नारी का महान् आदर्श वह पालन करती है और अपने पति की मृत्यु पर जलकर स्वाहा हो जाती है । हिन्दू नारी का चरम उत्कर्ष सतीत्व मे ही है । लोकोत्तर दिव्य प्रेम की कसौटी पर वह खरी उतरती है ।

नागमती : नागमती एक रूपवती स्त्री है और उसे अपने रूप पर गर्व है । वह अपने रूप को पद्मावती से भी अधिक मानती है । यह स्त्रियो की जातिगत विशेषता है । हर स्त्री अपने को रूपवान समझती है । वह पतिव्रता स्त्री है; पतिपरायण है । अत मे पति के मरने पर आदर्श हिन्दू नारी के समान सती हो जाती है ।

राघव चेतन : यह तांत्रिक है, भूत, प्रेतो की पूजा करता है । कोमल वृत्ति इसके अन्दर है ही नही । पडित कवि उसे कहा अवश्य गया है परन्तु उसमे विवेक की भावना का नितान्त अभाव है । वह लोभी और कृतघ्न है । अहकार की भावना उसमे आवश्यकता से अधिक है । जिस रत्नसेन के यहाँ वह पला उसी के साथ विश्वासघात किया और अलाउद्दीन को उसके विपरीत उत्तेजित किया । जिस पद्मावती से अमूल्य वस्तु पुरस्कार स्वरूप लेकर गया उसी को बलात छीनने की उसने अलाउद्दीन को प्रेरणा दी । अलाउद्दीन जैसे लपट से जाकर मिलना उसकी हीन वृत्ति का ही
द्योतक है ।

राघवचेतन की नीच मनोवृत्ति की वह पराकाष्ठा है जब उसके द्वारा रत्नसेन को बन्दी बनाने का सकेत किया जाता है ।

गोरा-बादल ये दोनो क्षत्रियोचित वीरता के प्रतीक हैं। रत्नसेन से अच्छे सम्बन्ध होने पर भी पद्मावती के कहने पर अपने प्राणो को खतरे मे डालकर मैदान मे उत्तर पडना उनका जातिगत तथा व्यक्ति-गत गुण है। इनमे वीरता, दूरदर्शिता, सहृदयता तथा स्वाभिमान की भावना मिलती हैं ।

इनके अतिरिक्त जो अन्य पात्र है वे बहुत ही गौण रूप से आते है । उनके स्वभावो का एक-एक पहलू ही कवि ने कथा से सम्बन्ध रखने वाला लिया है । जैसा ऊपर भी हम स्पष्ट कर चुके है, कवि ने चरित्र-चित्रण की ओर बहुत ही कम ध्यान दिया है, यानी दिया ही नही । कथा का एक प्रवाह है और प्रेमाधीन भावनाओ का उद्रेक है, घटनाएँ हैं बस इन्ही की रगड से कही-कही चरित्र आप-से-आप निखरने लगते है । परन्तु फिर भी उन पर वह निखार नही आता जो

आना चाहिए । पाठक पर कथा का प्रभाव पडता है, उसके भावनात्मक स्थलों को पढकर वह झूम उठता है और यदि कोई व्यक्ति सूफी धर्म से प्रेरित है तो उस पर सिद्धान्तो का भी शायद कोई असर हो, पर उसके मस्तिष्क की विचार-धारा और कल्पना तथा अनुभूति मे पात्र सजग होकर सामने नही आते । आते हैं तो वही कथा, घटनाओं और भावनाओ के झमेलो मे लिपटे हुए ।

सार निरूपण—जायसी की रचना में भावना-तत्व की प्रधानता और बुद्धि-तत्व का अभाव है । भावना-तत्व के अन्तर्गत प्रेम का निरूपण कवि ने किया है । प्रेम मे कवि ने सयोग और वियोग दोनो पक्षो को निखारा है । सफलता कवि को दोनों पक्षों मे मिली है, परन्तु संयोग की अपेक्षा वियोग का चित्रण कवि अधिक कलात्मक ढंग से कर सका है । इसमें उसे असाधारण सफलता मिली है । विरह का तो कवि ने पद्मावत के अन्दर मानो सागर ही भर दिया है । शृगार का चित्रण कवि ने बहुत ही सफलता से किया है ।

कवि की कल्पना और अनुभूति, यह सच है कि कि, सभी जगह मानसिक विकारों के चरक उत्कर्ष तक नही पहुँचते और उसका क्षेत्र भी बहुत व्यापक नही है, परन्तु जिस क्षेत्र मे वह चित्रण करता है वहाँ भावपूर्ण उत्कर्ष तक पहुँच जाता है ।

कवि का कल्पना-तत्व काफी साफ और निखरा हुआ तथा लम्बी उडानें लेने वाला है । पद्मावत का पूर्वार्ध केवल कल्पना पर ही आधारित है । काल्पनिक चित्र अकित करने मे भी कवि ने अपनी वर्णन-शैली द्वारा काव्य में जान डाल दी है । समुन्द्रो का वर्णन, सिंहलद्वीप का वर्णन, समुद्र की बेटी का वर्णन, तोते का यहाँ आना और उसे गुरु के रूप मे प्रतिष्ठित करने का वर्णन, ये सब कल्पना की ही चीजें है, जिन्हे चित्रित करते समय कवि ने शृखला, क्रम, भावना और काव्य-सम्बन्धी अन्य सभी आवश्यक बातो का ध्यान रखा है ।

जायसी का प्रधान ग्रन्थ पद्मावत एक प्रबन्ध काव्य है । प्रबन्ध-काव्य में मानव-जीवन की पूर्ण विवेचना और घटनाओं की सम्बद्ध शृखला रहती है । अनेकों प्रकार के भावो की रसात्मक अभिव्यक्ति प्रबन्ध-काव्य में मिलती है । जायसी के ग्रन्थ मे यह सब कुछ वर्तमान है । उसका काव्य इति वृत्तात्मक तथा रसात्मक दोनो शैलियो का अनुकरण करता हुआ चलता है ।

जायसी के काव्य मे सम्बन्ध-निर्वहण भी बहुत कलात्मक और सुन्दर हुआ है । प्रसगों की शृंखला और कथा का प्रवाह कही पर भी नही टूटता । कवि की विवरण देने की शक्ति अपार है और बहुत ही सजीव चित्र अकित करती है ।

कवि की वर्णन-शैली प्रभावात्मक है । कुछ गति रुकने वाले भी स्थल आ जाते हैं, जहाँ कवि व्यर्थ की जानकारी कराने लगता है, परन्तु ऐसे स्थल बहुत कम है । अधिकाश स्थलो का वर्णन बडा ही रोचक और चित्ताकर्षक है । अलकारों के प्रयोगों द्वारा कवि ने वर्णन खूब किये हैं ।

कवि ने अपने काव्य मे सादृश्य मूलक अलकारो का ही अधिक प्रयोग किया है और उनमे भी विशेष रूप से उत्प्रेक्षा, उपमा और रूपक इत्यादि का। शब्दालकार भी काव्य मे आये है परन्तु उधर कवि का प्रयास प्रतीत नही होता।

कवि की शैली का आभास उक्त सभी बातो पर एक साथ विचार करने से हो जाता है। अन्त मे चरित्र-चित्रण पर भी एक दृष्टि डालने से पता चलता है कि कवि का काव्य लिखने का उद्देश्य आदर्श पात्र प्रस्तुत न करके आदर्श प्रेम की स्थापना करना ही है। कवि को इसमे सफलता मिली है। उसने प्रेम का जो स्वरूप खडा किया, वह रत्नसेन और पद्मावती के चरित्रो से स्पष्ट हो जाता है। चरित्र-चित्रण की ओर कवि का विशेष ध्यान न रहने पर भी वह सुन्दर बन पडा है। कवि को इस दिशा मे भी हम सफल ही कहेगे, भले ही वह गोस्वामी तुलसीदास की भाँति कोई महान् चरित्र हिन्दी साहित्य को न दे सके या सूर जैसा सखा प्रस्तुत न कर सके।

५ | जायसी का आध्यात्मिक तत्व-निरूपण

उपासना मलिक मुहम्मद जायसी निराकार ब्रह्म के माननेवाले थे। मुसलमान होने के नाते उनका मूर्ति-पूजा या द्वैतवाद मे विश्वास हो ही नही सकता था। फिर भी जायसी पर वैष्णव सहृदयता का प्रभाव था और उनका झुकाव साकारोपासना की ओर स्पष्ट दिखलाई देता था। जायसी परमात्मा को असीम सौदर्य, गुण और शक्ति का भण्डार मानते है। सूफियो का अद्वैतवाद मुसलमानी देशो मे एक क्राति का सन्देश था। पैगम्बरी एकेश्वरवाद से यह 'अनलहक' की भावना सर्वथा भिन्न थी। एकेश्वरवाद कुछ नही है, स्थूल देववाद का दूसरा नाम है। अद्वैत आत्मवाद या ब्रह्मवाद है और इसी का स्वरूप हमे सूफी मत मे देखने को मिलता है। एकेश्वरवाद और अद्वैतवाद की कल्पनाओ मे आकाश पाताल का अन्तर है। अद्वैतद्वैत की कल्पना एक चिन्तन का विषय है, यो ही कल्पना भर कर लेने का नही। अद्वैत की इस शक्ति को विचार और भावना दोनो से प्राप्त किया जा सकता है। जहाँ एक ओर कबीर ने विचार और भक्ति दोनो का आश्रय लिया, वहाँ जायसी ने केवल भावना तक ही उसे सीमित कर दिया और विशुद्ध प्रेम को उसका आधार बनाया। सूफी धर्म ने, मुसलमानी धर्म मे कुछ न मानी जाने वाली 'मैं ब्रह्म हूँ' की भावना का समर्थन किया। सूफी लोग कट्टर मुसलमानो द्वारा काफिर समझे जाते थे।

सूफी धर्म मे कोई किसी किस्म का आडम्बर नही था। बिना पैगम्बर की सहायता के मोक्ष नही मिल सकता, इस बात का भी सूफी लोगो ने खण्डन किया। कर्म-काण्ड मे इन्हे विश्वास नही था। सस्कारो को ये मानते नही थे। सूफी लोग अपनी इन मान्यताओ का जनता मे प्रचार कथाएँ कह-कह कर करते थे। इस तरह की विरोधी विचारधारा रखने पर सूफी फकीर मसूर को सूली पर लटकना पडा।

सूफी धर्म का आदिकाल : सूफी लोग आरम्भ मे फकीर ही थे, जो बहुत सादा जीवन व्यतीत करते थे और टूटी दशा मे रहते थे। ईश्वर के प्रेम मे

लीन, भूख-प्यास सहते हुए ये कम्बल ओढे देश-विदेश घूमा करते थे। दीनता, नम्रता और प्रेम इनके जीवन के प्रधान गुण थे। धीरे-धीरे इनका ध्यान साधना के मानसिक पक्षो की ओर अग्रसर हुआ और वहाँ पहुँचकर इन्होने देखा कि इस्लाम वास्तव में आत्मा की शुद्धि की ओर अग्रसर न होकर बाह्य विधानो की ओर बढता जा रहा है। यह स्थिति उन्हे चिन्ताजनक दिखलाई दी। धीरे-धीरे उनमे उन धार्मिक मान्यताओ के प्रति उदासीनता आने लगी जिनका आत्मिक उत्थान से कोई सम्बन्ध न होकर केवल धार्मिक बाह्याडम्बर से ही सम्बन्ध था। अन्त करण की पवित्रता का राग इन लोगो ने जनता मे अलापना शुरू किया और प्रेम के मधुर वातावरण से जनता पर जादू करने लगे। इस चिन्तन-पद्धति का विकास मुहम्मद साहब के लगभग ढाई हजार वर्ष बाद हुआ। इस चिन्तन ने विचारको को एकेश्वरवाद के सकुचित दायरे से उठाकर अद्वैतवाद के विस्तृत दायिरे मे ले जाकर खडा कर दिया। कुरान शरीफ की व्याख्या इन लोगो ने अपने ढंग से की। कुरान की कुछ आयतो मे इन्हे अद्वैतवाद की झलक दिखलाई दी।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल सूफी धर्म के अद्वैतवाद के मूल मे भारतीय सिद्धान्तो को पाते है। वह लिखते हैं, "सूफियो को अद्वैतवाद पर लाने वाले प्रभाव अधिकतर बाहर के थे। खलीफा लोगो के जमाने मे कई देशो के विद्वान बगदाद और बसरे मे आते जाते थे। आयुर्वेद, दर्शन, ज्योतिष, विज्ञान आदि के अनेक ग्रन्थो का अरबी मे भाषान्तर भी हुआ। यूनानी भाषा के किसी ग्रन्थ का अनुवाद अरस्तू के सिद्धान्त के नाम से अरबी भाषा मे हुआ, जिसमे अद्वैतवाद का दार्शनिक रीति पर प्रतिपादन था। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष के वेदान्त-केसरी का गर्जन भी दूर-दूर तक गूंज गया था। मुहम्मद बिन कासिम के साथ आये हुए कुछ अरब सिंध मे रह गये थे। इतिहासो मे लिखा है कि वे और उनकी सन्तति ब्राह्मणो के साथ बहुत मेल जोल से रही। इन अरबो मे कुछ सूफी भी थे, जिन्होने अद्वैतवाद का ज्ञान प्राप्त किया और साधना की बातें भी सीखी। सिंध मे अबूअली प्राणायाम की विधि (पास ए-अन-फास) जानते थे। उन्होने बायजीद को 'फना' (गुजर जाना यानी अहभाव का सर्वथा त्याग और विषय वासना की निवृति) का सिद्धान्त बताया। कहने की आवश्यकता नही कि इस 'फना' में बौद्धो के निर्वाण की प्रतिध्वनि थी। बलख और तुर्किस्तान आदि देशो मे बौद्ध सिद्धान्तो की गूंज तब तक कुछ बनी हुई थी। बहुत से शक और तुरूक उस समय तक बौद्ध बने हुए थे और पीछे भी कुछ दिनो तक रहे। चगेज खाँ बौद्ध ही था। अलाउद्दीन के समय मे कुछ ऐसे मगोल भारतवर्ष मे भी आकर बसे जो 'नये बने हुए मुसलमान' कहे गये है।"

उल्लेखनीय मान्यताएँ सूफी सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य को चार भागो में बाँटा जाता है :

१. नफ्स (इन्द्रिय सम्बन्धी), २. रूह (चित् या आत्मा), ३. कल्ब (हृदय), ४. अक्ल (बुद्धि)

एक सूफी साधक को अपने पहिले भाग, अर्थात् नफ्स से हर समय युद्ध करते हुए जीवन मे आगे बढना है। नफ्स का प्रभाव इन्सान पर गालिब नही आ जाना चाहिए, बल्कि उसके दमन मे ही उसका उत्थान निहित है। भारतीय आदर्शों मे इसे हम इन्द्रियो का दमन कहेगे अर्थात् इन्द्रिय जन्य सुखो के वशीभूत होकर मनुष्य को अपने जीवन के वास्तविक सुखो को नही खराब कर देना चाहिए और उन्नति के रास्ते से नही हट जाना चाहिए।

सूफी साधक अपनी साधना के पथ पर रूह अर्थात् आत्मा और कल्ब यानी हृदय की सहायता से ही आगे बढता है। विशुद्ध हृदय लेकर जब शुद्ध आत्मा इद्रियो पर काबू करके परब्रह्म की शक्ति को पहचानती है तो उसे अपने कल्ब मे ही उसके दर्शन हो जाते है। हृदय की भीतरी तल 'सिर्र' को भी कुछ सूफी साधक मानते हैं। सूफी कल्ब को भूतातीत पदार्थ मानते है। वह एक दर्पण है, जिस पर ससार की सब चीजो का अक्म पडता है और वे चीजे उसमे प्रतिबिम्बित हो उठती है। सूफी मत के अनुसार आत्मा ज्ञान है और कल्ब वह दर्पण है जिस पर आत्मा के भाव-चित्र चित्रित हो उठते है। यही बिंब-सम्बन्ध आत्मा और परमात्मा का है।

शाहजहाँ के पुत्र दाराशिकोह ने अपनी 'रिसालए हकनुमा मे चार दुनियाओ का वर्णन किया है।

१ आलमे नासूत (भौतिक जगत)

२. आलमे मलकूत (आत्म जगत् या चित्त-जगत्)

३. आलमे जबरूत (आनन्द जगत्। वह जगत जहाँ सुख दुख कुछ नहीं। ब्रह्म का जहाँ मिलन हो जाता है।)

४. आलमे लाहूत (ब्रह्म)

दाराशिकोह लिखता है, "दृश्य जगत् मे जो नाना रूप दिखाई पडते है वे तो अनित्य हैं पर उन रूपो की जो भावनाएँ होती है वे अनित्य नही है। वे भाव-चित्र नित्य हैं। उसी भावचित्र जगत् (आलमे मिसाल) से हम आत्मजगत् को जान सकते हैं जिसे 'आलमे बै' और आलमे ख्वाब' भी कहते है। आँख मूँदने पर जो रूप दिखलाई पडता है वही उस रूप का आत्मा या सार सत्ता है। अत. यह स्पष्ट है कि मनुष्य की आत्मा उन्ही रूपो की है जो रूप बाहर दिखाई पड़ते है, भेद इतना ही है कि अपनी सार-सत्ता मे स्थित रूप-पिंड या शरीर से मुक्त होते हैं। साराश यह है कि आत्मा और बाह्य रूपो का बिम्ब-प्रतिबिम्ब सम्बन्ध है। स्वप्न की अवस्था मे आत्मा का यही सूक्ष्म रूप दिखलाई पड़ता है जिसमे आँख, कान, नाक आदि सबकी वृत्तियाँ रहती हैं, पर स्थूल-रूप नही रहते।"

जायसी-ग्रन्थावली—पृष्ठ १३८, भूमिका-भाग।

उक्त चारो जगतो मे प्रथम ससार है और दूसरे तीन सच्चिदानन्द के रूपान्तर है। सूफी 'सत्' को चरम परमार्थिव सच्चा मानते है।

इस तरह साधक का कल्ब, यह दर्पण, जितना स्वच्छ और निर्मल होगा, उस पर उतना ही स्पष्ट और साफ चित्र अकित होगा।

सूफीमत का स्वरूप हमारी भक्ति की परम्परा से बहुत अधिक मेल खाता है। जहाँ तक साधना का सम्बन्ध है, वहाँ तक ब्रह्म और जगत् ये दो प्रथक वस्तुएँ है। महाकवि जायसी पर वेदान्त के 'प्रतिबिबवाद' का प्रभाव है। इसी के सिद्धान्तो के आधार पर वह ससार को दर्पण मानता है और इस दर्पण पर भगवान् परब्रह्म का अक्स पडता है। परमात्मा के नित्य स्वरूप के अतर्भूत करने के लिए जायसी ने कल्ब को भी आत्मा के ही समान अभौतिक कहा है। यही प्रेम या भक्ति-भावना का आधार है। जब हृदय भौतिक भावनाओ का स्थान न रहकर अभौतिक भावनाओ और कल्पनाओ का गढ बन जाता है तो उसके अन्दर सासारिक आकर्षण या प्रलोभन घुस ही नही पाते। भक्ति की साधना ने हृदय को स्वच्छ बनाकर भगवान् के रहने का स्थान बना दिया है। अब यह सासारिक मनुष्य का हृदय न रहकर परमात्मा का हृदय हो गया और इस प्रकार मनुष्य की सत्ता को परोक्ष का सहारा मिला, बल मिला।

प्रेम और भक्ति की यह कल्पना प्रारम्भ मे ईसाई धर्म से उद्भूत मानी गई, ऐसा पश्चिमी विद्वान् काफी दिन तक मानते रहे, परन्तु वास्तव मे इसका मूल स्रोत भारतीय 'भागवत'-प्रभाव है, जिसके आधार पर यहाँ कई सम्प्रदाय बने और स्रोत प्रवाहित हुआ। इस भावना के आधार पर मानव-हृदय भगवान् को समर्पित कर दिया गया और दोनो मे तादात्म्य स्थापित हो गया। यहाँ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं, 'परन्तु व्यक्तिगत साधना के क्षेत्र से बाहर उस हृदय की खोज नही की गई। केवल इतने ही से सतोष कर लिया गया कि ईश्वर शरणागत भक्तो के पापो को क्षमा करता है और सब प्राणियो से प्रेम रखता है। इतने से ईश्वर और मनुष्य के व्यवहार के बीच के व्यवहार मे अभिव्यक्त होने वाले तथा लोक-रक्षा और लोक-रजन करने वाले हृदय की ओर ध्यान न गया। लोक मे जिस हृदय से दीन दुखियो की रक्षा की जाती है, गुरुजनो का आदर सम्मान किया जाता है, भारी-भारी अपराध क्षमा किये जाते है, अत्यन्त प्रबल और असाध्य अत्याचारियो का ध्वस करने मे अद्भुत पराक्रम दिखाया जाता है, नाना कर्त्तव्यो और स्नेह-सम्बन्धो का अत्यन्त भव्य निर्वाह किया जाता है, साराश यह कि जिससे लोक का सुखद परिचालन होता है, वह भी उसी एक 'परम-हृदय' की अभिव्यक्ति है, इसकी अभिव्यक्ति भारतीय पद्धति मे ही हुई।"

निर्गुण-पथी जनता को इस लोक-रक्षा की भावना से प्रथक करते जा रहे थे। सूफी सिद्धान्तो के मूल मे भी हमे यह भावना नही मिलती, परन्तु जायसी

ने अपने को जिस साँचे मे ढाला है, वह पूर्ण रूप से भारतीय भक्ति-पद्धति से मेल खाता है। अलाउद्दीन की कल्पना चाहे उतनी भारी न हो जितनी रावण की और पद्मावती तथा रत्नसेन की है, चाहे वे तत्व न मिलते हो जो राम और सीता मे मिलते हैं, लेकिन ढाँचा बिलकुल वही है, भावना भी वही है। अन्त मे अन्तर अवश्य है क्योकि कथा का उत्तरार्ध ऐतिहासिक है, इसलिए कवि इतिहास-विमुख होकर काव्य की स्वाभाविकता नष्ट नही कर सकता था।

ऊपर कही गई बाते सिद्धान्तो से सम्बन्ध रखती है और उन मान्यताओ से जिनके आधार पर सूफी सिद्धान्त पनपा और जिनकी नीबो पर वह मजबूत इमारत बनाकर खडी हुई। अब रही उसके ढाचे की बात। सूफी धर्म के ढाचे के भी विद्वानो ने चार विभाजन किये है। इन्हे हम परमानन्द-प्राप्ति के मार्ग की चार सीढियाँ या पड़ाव भी कह सकते है। अतिम पडाव भगवान् के पास है·

१. **शरी** : (कर्म-काण्ड।)
२. **तरीकत** : (हृदय की शुद्धता द्वारा भगवान् का ध्यान।)
३. **हकीकत** (सत्य का सम्यक् बोध, अर्थात् त्रियकालज्ञ हो जाना।)
४. **मारिफत** : (सिद्धावस्था, जहाँ आत्मा परमात्मा मे लीन हो जाती है।)

अखरावट मे जायसी इनका उल्लेख इस प्रकार करते है

कही सरीअत चिस्ती पीरू। उधरित, असरफ औ जहाँगीरू॥
राह हकीकत परै न चूकी। पैठि मारफत मार बुडूकी॥

जायसी का शरीअत मे विश्वास था। वह समझते थे कि वह धर्म की पहिली सीढी है और उस पर पैर रखे बिना कोई भी व्यक्ति दूसरी सीढी तक पहुँच ही नही सकता।

"साँची राह 'सरीअत' जेहि विसवास न होई॥
पाँव रखै तेहि सीढ़ी, निभरम पहुँचे सोई॥

इस प्रकार जायसी के मतानुसार पहिले 'शरी' का पायबन्द होना इन्सान के लिये आवश्यक है। परमात्मा से मिलन की इच्छा रखने वाले इन्सान के लिए यह पहिली आवश्यकता है, पहिली मजिल है, पहिली सीढी है। दूसरी स्थिति 'तरीकत' की है, यहाँ प्रेमी अपना सम्बन्ध बहिर जगत् से कम करके अन्तर की साधना की ओर झुकता है।

इसके बाद उसे चाहिए कि वह हकीकत को पहिचाने, अर्थात् वह क्या है, ससार क्या है, वह कहाँ से आया है, उसे कहाँ जाना है, सुख क्या है, दु ख क्या है, शाति कहाँ है, आनद क्या है और कैसे प्राप्त हो सकता है। परमात्मा का ज्ञान होना और उससे तादात्म्य होना भी इसी सीढ़ी पर आवश्यक है। अन्तिम

स्टेज 'मारफत' की है जहाँ आत्मा तथा परमात्मा मे कोई भेद नही रहता, दोनो मिलकर एक हो जाते है। आत्मा परमात्मा और परमात्मा आत्मा हो जाती है। यही सिद्धावस्था है, जिसे कबीर ने प्राप्त किया, परन्तु ज्ञान से, सूर, मीरा और रसखान ने प्राप्त किया भक्ति से, मसूर ने पाया प्रेम से

किया दावा अनलहक का, हुआ सरदार आलम का।
अगर चढ़ता न सूली पर, तो वह मंसूर क्यो होता॥

ये चारो स्थितियाँ नफ्स के साथ जिहाद बोलकर यानी उससे युद्ध करके प्राप्त की जाती है। इन्द्रयो का दमन तो भारतीय भक्ति मे भी आवश्यक माना है। ज्ञानमार्गी तो इस पर बहुत ही बल देते है और हठयोगी इन्द्रियो को मदारी की तरह अपने सकेत पर नचाते है। इन्सान नफ्सो से टक्कर लेता हुआ परमात्मा की ओर बढता है। यही 'तरीका' है उस ओर चलने का। इसमे उसे कष्ट-सहन, एकातवास, मौन आदि का सहारा लेना होता है। इस मार्ग मे कुछ कठिनाइयाँ आती हैं। उन्हे पर्वत के रूप मे कवि चित्रित करता है। ये 'मुकामात' है, जिन्हे पार करने के लिए धर्म से काम लेना होता है। परमात्मा के अनुग्रह से ये पहाड भी पार कर लिए जाते है। रत्नसेन के मार्ग मे इस प्रकार की अवस्थाएँ आती है। पहाड ही नही, भयकर समुद्र को पार करना भी इसी प्रकार की रुकावटें है।

सूफी सिद्धान्ताचार्यों ने प्रेम मे ब्रह्म की स्थिति मानी है या यो कहे कि ब्रह्म प्रेम ही है। हृदय मे प्रेम का साम्राज्य स्थापित हो जाने पर फिर परमात्मा से तादात्म्य न हो, यह सम्भव नही। सृष्टि के आदि मे अद्वैत ब्रह्म एक था और जब उसे अपने प्रेम की सृष्टि देखने की इच्छा हुई तो उसने 'आदम' को बनाया। आदम ब्रह्म का शून्य से बनाया हुआ उसका अपना प्रतिरूप था, या विश्व मे एक प्रतिबिम्ब भी उसे कह सकते है। इस तरह आदम ब्रह्म का प्रतिनिधि बनकर विश्व मे आया और इस सृष्टि की रचना हुई। अब ईश्वर-तत्व से मनुष्य-तत्व प्रथक हो गया, परन्तु इन दोनो मे सूफी आचार्यों ने भेद माना है। दोनो मिल कर एक तो हो जाते है, परन्तु ऐसे नही जैसे समुद्र मे बूँद, बल्कि इस तरह जैसे शराब मे पानी। ईश्वर-तत्व 'लाहूत' है और मनुष्य-तत्व 'नासूत' है। यहाँ सूफी दर्शन फिर भारतीय भक्ति-दर्शन से थोडा पीछे रह जाता है। लेकिन 'अनलहक' की बात यहा भी आ जाती है, इसका अर्थ है कि मै ही परमात्मा हूँ। आत्मा परमात्मा मे विलीन हो जाती है और दोनो का मिल जाना 'हुलूल' कहलाता है। यहाँ फिर सूफी दर्शन भारतीय बहुद्वैवतवाद के निकट आ जाता है, क्योकि जिस प्रकार आत्मा परमात्मा मे विलीन हो जाती है उसी प्रकार ससार मे रहती हुई विशुद्ध आत्मा के अन्दर परमात्मा भी उतर आता है, दोनो का अन्तर समाप्त हो जाता है और फिर उन दोनो के एक होने पर, वह आत्मा अन्य सांसारिक व्यक्तियो से ऊपर उठ जाती है, उसमे ससार की जड़ता नही रहती,

संकुचित भावनाएँ नष्ट हो जाती है, स्वार्थ से वह ऊपर उठ जाती है और भौतिक आनन्द और सुख की ओर से उसकी आखे बन्द होकर आत्मिक सुख तथा शाति के क्षेत्र मे खुलनी प्रारम्भ हो जाती है। इब्न अरबी ने 'लाहूत' और 'नासूत' की व्याख्या की है और दोनो को एक ही परम सत्ता के दो रूप माना है। निर्गुण और सगुण से ऊपर परब्रह्म की वेदान्तिक विचारधारा का ही यह दूसरा रूप है।

सूफी मत का अद्वैतवाद इस प्रकार भारतीय दर्शन से भिन्नता रखता हुआ भी बहुत कुछ उसके निकट है। सूफी परम सत्ता को चित्तस्वरूप मानते है और जगत् अभ्यास मात्र है। महाकवि जायसी पर केवल सूफी अद्वैतवाद का ही प्रभाव नही है बल्कि उन पर भारतीय वेदान्त का भी पूर्ण प्रभाव है। भारतीय मत-मतान्तरो का आभास उनमे मिलता है। निर्गुण ब्रह्म की भावना मुसलमानी कल्पनाओ मे भी नही मिलती। कयामत के दिन जीवो, मुहम्मद साहब वगैरह के बीच परमात्मा का आना ही साकार कल्पना है और यही पर उसका मूर्त्त रूप स्थापित हो जाता है। सच तो यह है कि निर्गुण कल्पना विचार के क्षेत्र मे चाहे भले ही पूर्ण मालूम होती हो, परन्तु भक्ति और प्रेम के क्षेत्र मे तो वह अपूर्ण है ही। सूफियो ने ब्रह्म-वर्णन पूर्ण रूप से लौकिक उपकरणो को लेकर किया है। मुसलमानी धर्म ने प्रतीकोपासना और प्रतिमा-पूजन का खडन और घोर विरोध किया है। इस प्रकार भारतीय पूजा-सिद्धान्तो का मुसलमानी पैगम्बरवादी लोगो द्वारा मुकाबिला किया गया। परन्तु सूफी धर्मालम्बियो ने उसका इस प्रकार विरोध नही किया। उदार वृत्ति वाले सूफियो को यह विरोध निस्सार ही जचा और उन्होने उस कट्टरपथी मार्ग को नही अपनाया। बुत-परस्ती के खिलाफ उठने वाले जिहाद को सूफी विचारको ने रोका। फारसी की शायरी मे इस प्रकार के अनेको उदाहरण मिल जायेंगे। इन विचारको ने अपने प्रियतम का खयाली बुत बनाया और उसकी पूजा की, उससे इश्क किया। हुस्नेबुताँ खुदा का नूर था, जिसका सूफियो ने चित्रण किया है। इस बुत के सामने सिजदा होने लगी और शायरी मे शराब का भी दौर चला। खुदा को मयखाने तक ले जाया गया और मस्जिदो मे मुल्लाओ द्वारा धर्म के बनाये हुए रूढिवादी बधनो का खडन हुआ। शायरो ने इस दिशा मे काफी काम किया। उर्दू के मशहूर शायर गालिब का यह कलाम इस दिशा मे देखिए

जाहिद शराब पीने दे मस्जिद में बैठ कर।
या वह जगह बता दे जहाँ पर खुदा न हो॥

ब्रह्म और जगत् : जायसी ने ब्रह्म और जगत् पर भी प्रकाश डाला है। यह विचार वेदान्त से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। जायसी जगत् की अलग सत्ता को छाया स्वरूप में मानते हैं। सृष्टि की उत्पत्ति ब्रह्म द्वारा की गई है। पद्मवात के स्तुति-खड मे इसका साधारण क्रम-सा प्रतीत होता है, परन्तु वह सूक्ष्म दृष्टि

से देखने पर कोई क्रम नही है। कवि यो ही भावना मे बह कर गिनाता चला गया है। सृष्टि का ब्रह्म से अप्राथक्य वह इस प्रकार वर्णन करता है

जब चीन्हा तब और न कोई। तन मन, जिउ जीवन सब कोई ।।
'हौ हौ' कहत धोख इतराही। जब भा सिद्ध, कहाँ परछाही ? ।।

सृष्टि केवल भ्राति ज्ञान है। उसकी प्रथक से कोई सत्ता नही है। जो कभी न मिटने वाला तत्व है वह ब्रह्म ही है। वेदान्त मे प्रतिबिम्बवाद, सृष्टिवाद, अवच्छेदवाद और अज्ञातवाद इत्यादि कई वाद चलते है जिन पर विचारको ने विस्तार के साथ विचार किया है और उनका विवेचन भी। जायसी पर वेदान्त के प्रतिबिम्बवाद का प्रभाव पडा है। प्रतिबिम्बवाद का अर्थ यह है कि जगत् ब्रह्म का ही प्रतिबिम्ब है। अलाउद्दीन पद्मिनी के रूप को देखकर कहता है

देखि एक कौतुक हौं रहा। रहा अन्तरपट पै नाहिं अहा ।।
सरबर देखि एक मै सोई। रहा पानि औ यान न होई ।।
सरग आई धरती मँह छावा। रहा धरनि पै रहत न आवा ।।

प्रकृति की दो शक्तियाँ आवरण और विक्षेप होती है। आवरण ब्रह्म और जगत् के बीच एक पर्दा है जिसे चीरकर ही सासारिक दृष्टि ब्रह्म के दर्शन कर सकती है। प्रकृति की दूसरी शक्ति विक्षेप है जिसके द्वारा वह ब्रह्म के अनेको प्रतिबिम्ब जगत् मे प्रस्तुत करती है। इस प्रकार सृष्टि अपना प्रथक अस्तित्व कायम करती है, जिसे पहिचानना और उससे ऊपर उठकर ब्रह्म तक पहुँचना ही साधक का कार्य है। जायसी ने प्रेम द्वारा ही इस आवरण को चीरने का मार्ग सुझाया है और उसी के द्वारा सृष्टि की बुदबुद स्वरूप दिखलाई देने वाली चीजो की निस्सारता की ओर भी सकेत किया है। आवरण के विषय मे कवि लिखता है :

आपुहि आपु जो देखै चहा। आपनि प्रभुत आपु से कहा ।।
सबै जगत् दरपन कै लेखा। आपुहि दरपन, आपुहि देखा ।।
आपुहि बन औ आप पखेरू। आपुहि सौजा, आप अहेरू ।।
आपुहि पुहुप फूलिबन फूलै। आपुहि भंवर बास रस भूलै ।।
आपुहि घट-घट मँह मुख चाहै। आपुहि आपन रूप सराहै ।।
दरपन बालक हाथ, मुख देखै, दूसरा गनै ।।
तस भा दुई एक साथ, मुहमद एकै जानिए ।।

उक्त पक्तियो मे यह स्पष्ट हो जाता है कि जायसी दृष्टा और 'दृश्य' मे कोई भेद नही मानते, अर्थात् अद्वैत की भावना की पुष्टि करते है।

जायसी समस्त ससार को नाशवान मानते है। उनकी दृष्टि मे केवल ब्रह्म ही नाश न होने वाला है।

सबै नास्ति वह अह थिर, ऐस साज जेहि केर।
एक साजै औ भाँजै, चहै सँवारै फेर ।।

अलख अरूप अबरन सो कर्ता, वह सब सौं, सब ओहि सौं बर्त्ता ॥
परगट गुपुत सो सरब बियापी। धरमी चीन्ह, न चीन्हे पापी ॥
ना ओहि पूत न पिता न माता। ना ओहि कुटुम्ब न कोई सग नाता ॥
जना न काहु, न कोई ओहि जना। जहँ लगि सब ताकर सिरजना ॥
वै सब कीन्ह जहँ लगि कोई। वह नहिं कीन्ह काहुकर ोई ॥
हुत पहिले अरु अब है सोई। पुनि सो रहै रहै नहिं कोई ॥
और जो होई सो बाउर अंधा। दिन दुई चारि मरै करि धंधा ॥

जो चाहा सो कीन्हेसि, करै जो चाहै कीन्ह।
बरजनहार न कोई। सबै चाहि जिउ दीन्ह ॥

इस प्रकार ब्रह्म की स्वतन्त्र, सर्वव्यापक और सर्व सम्पन्न तथा सर्वशक्तिमान सत्ता का कवि वर्णन करता है। ब्रह्म की अखड सत्ता के ही प्रथक-प्रथक प्रतिबिम्ब दिखलाई देते है।

गागरी सहस पचास, जो कोउ पानी भरि धरै ॥
सूरुज दिपै अकास, मुहमद सब मँह देखिए ॥

जायसी ने माया को भी माना है। ब्रह्म अपनी माया को फैलाकर सृष्टि की रचना करता है और फिर उसमे अपना प्रतिबिम्ब देखता है। ब्रह्म और जीव को लेकर ब्रह्माड और पिंड के अन्दर अर्थात् हर जीव के अन्दर ब्रह्म की वही स्थिति मानी गई है जो उसकी ब्रह्माड मे है। इसी भावना को लेकर रसस्यवाद के मूल सिद्धान्तो का निर्माण हुआ है। इस साधन द्वारा आत्मा और परमात्मा की प्राप्ति के योग और भक्ति दो साधन बने है। बहुत-सी बातो मे दोनो का भेद होने पर भी सभ्यता को नही भुलाया जा सकता। जायसी का जिस काल मे प्रादुर्भाव हुआ, उस समय भारतीय वातावरण मे योग तथा भक्ति दोनो की ही विचारधारा फैली हुई थी। जायसी पर दोनो का प्रभाव पडा। यह रहस्य की भावना जायसी के ग्रन्थो मे भरी पडी है। आगे एक प्रथक अध्याय मे हम जायसी के रसस्यवाद को ही लेकर विद्यार्थियोपयुक्त सामग्री प्रस्तुत करेंगे।

सातों दीप नवौं खंड, आठौं दिसा जो आहि ॥
जो बरह्माड सो पिंड है। हेरत अन्त न जाहि ॥

पिंड का ब्रह्मांड के रूप मे रूपक देखिए

टा टुक झाँकुहुँ सातौं खंडा। खडै खंड लखहु बरम्हंडा ॥
पहिल खंड जो सनीचर नाऊ। लखि न अंटकु पौरी मँह ठांऊँ ॥
दूसर खंड वृहस्पति तहँवा। काम दुवार भोग-घर जहँवा ॥
तीसरा खंड जो मगल मानहु। नाभि कँवल मँह ओहि अस्थानहु ॥
चौथ खंड जो आदित अहिई। बांई दिसी अस्तन महँ रहई ॥

पाँचव खंड सुक्र उपराहीं । कंठ माँह औ जीभ तराहीं ॥
छठएँ खंड बुद्धिकर बासा । दुई मौंहन्ह के बीच निवासा ॥
सातवँ सोमकपार मँह कहा जो दसवँ दुवार ।
जो वह पँवरि उधारै सो बड़ सिद्ध अपार ॥

इस प्रकार के वर्णन कबीर की कविता मे न जाने कितने भरे पडे है। यहाँ हमे जायसी पर योग-रूढियो का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई देता है।

इस वर्णन से ज्योतिष का भी ज्ञान झलकता है, क्योकि इसमे जो ग्रहो की स्थिति दी गई है वह सूर्य-सिद्धात के ज्योतिष-ग्रन्थो के अनुकूल है। पिंड और ब्रह्माड की एकता साधना के मार्ग मे योग-शास्त्र का विषय बन जाती है। कवि सृष्टि की उत्पत्ति के विषय मे और उससे पूर्व की स्थिति के विषय मे लिखता है कि पहिले ब्रह्म मे ही सब कुछ समाया हुआ था। फिर उसके अन्दर से दो पत्ते निकले चित्त तत्व और पार्थिव तत्व। फिर इन्ही दो से चराचर सृष्टि बनी

बजर-बीज बीरौ अस, ओहिन रग न भेस।

× × ×

होतै बिरवा भए दुई पाता, पिता सरग औ धरती माता ॥

× × ×

बिरिछ एक लागी दुई डारा। एकहिं ते नाना परकारा ॥
मातु के रक्त पिता के बिन्दू। उपजे दुवौ तुरूक औ हिन्दू ॥
रक्त हुतें तन भए चौरंगा। बिंदु हुतें जिउ पाँचौं संगा ॥
जस ए चारिउ धरति बिलाहीं। तस वै पाँचहुँ सरगहिं जाँहीं ॥

जीवात्मा और देह ये एक ही वृक्ष की दो डालियाँ है, अर्थात् जड और चेतन। रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद की यहाँ स्पष्ट झलक मिलती है। पद्मावत के शुरू मे जो सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है वह नैयायिको, पौराणिको इत्यादि के मतानुसार किया गया है। हिन्दू तथा मुसलमान, दोनो की मान्ययाओ का सामजस्य उसमे प्रस्तुत है। पौराणिको के सप्तदीप नवखड भी उसमे विद्यमान हैं और 'हिशद हजार आलम' भी। अखरावट मे पद्मावत की अपेक्षा सृष्टि की उत्पत्ति और जीवात्माओ के फल-भोग की गाथा काफी व्याख्या के साथ दी गई है। जायसी ने आदम, हौवा, नूर, मुहम्मद, मूसा इत्यादि सभी को मान्यता दी है और सृष्टि के आदि सृजन मे उनका उल्लेख किया है। पद्मावत मे सृष्टि-उत्पन्न करने का क्रम देखिए

सुमिरौं आदि एक करतारू। जेहि जिउ दीन्ह, कीन्ह ससारू ॥
कीन्हेसि प्रथम जोति परकासू। कीन्हेसि तेहि पिरीत कैलासू ॥
कीन्हेसि अगिनि, पवन, जल, खेहा। कीन्हेसि बहुतै रग उरेहा ॥
कीन्हेसि धरती, सरग, पतारू। कीन्हेसि बरन बरन अवतारू ॥

कीन्हेसि दिन, दिनअर, ससि, राती। कीन्हेसि नखत, तराइन-पाँती ।।
कीन्हेसि धूप, सीउ औ छाँहा। कीन्हेसि मेघ, बीजु तेहि माँहा ।।
कीन्हेसि सप्त मही बरम्हडा। कीन्हेसि भुवन चौरहौं खडा ।।

इसके पश्चात् कवि समुद्र, पर्वत, नदी, झरना, सीप, मोती, मगर-मच्छ, वृक्ष, वन, पक्षी, पान, फूल, औषधि, अमृत, विष, मधु, भूत, परेत, देव और फिर मनुष्य का जन्म दिखलाता है। फिर अन्न की उत्पत्ति मानता है। फिर राजा भोज की उत्पत्ति कह कर हाथी, घोडे इत्यादि का वर्णन करता है। इसी प्रकार ससार की अन्य वस्तुओ के नाम कवि गिनाता है और सृष्टि का वर्णन करता है।

सृष्टि का यह वर्णन इस्लामी तथा भारतीय दोनो की मान्यताओ से भरा पूरा है। सब चीजे जो दोनो को मान्य है कवि ने गिनाई है। कवि इस्लामी 'नूर' की ज्योति का भी वर्णन करता है .

कीन्हेसि प्रथम जोति परगासू। कीन्हेसि तेहि पिरीति कविलासू ।।

—अखरावट

कविलास अर्थात् कैलाश पर्वत, परन्तु जायसी ने इसका प्रयोग स्वर्ग के लिए किया है। गेहूँ खाने के अपराध मे आदम और हौवा को स्वर्ग से निकाले जाने का भी कवि ने चित्रण किया है

खाएनि गेहूँ कुमति भुलाने। परे आइ जग मँह, पछिताने ।।

यहाँ हम यह स्पष्ट कर दे कि कवि की उक्त सृष्टि-उत्पत्ति का वर्णन किसी विशेष मान्यता की क्रमबद्धता को लेकर नही चलता। जो कवि के मन मे आया है गिनाता चला गया है। बस प्रारम्भ मे 'ज्योति' प्रकट करने के पश्चात् उसने ससार मे मिलने वाली चीजो का सिलसिला बाँध दिया है।

जायसी का झुकाव अद्वैत भावना की ओर अवश्य रहा है, परन्तु उस मे सूक्ष्म और स्थूल-विवेचन की आकाक्षा भी बराबर रही है और उसका विश्लेषण करने का प्रयास भी उसने निरन्तर किया है। उपनिषदो के विचार से कही-कही तो उसके कथन की मान्यता बिलकुल ऐसी प्रतीत होती है कि मानो कबि उनका ही अनुसरण कर रहा है, परन्तु थोडी ही दूर पर चल कर वह फिर बहक जाता है और इधर-उधर के तत्वो का समावेश उसमे आ जाता है। ईशोपनिषद के अनुसार कवि आत्मा के सम्बन्ध मे अपने विचार प्रकट करता है :

पवन चाहि मन बहुत उतराइल। तेहिते परम आसु सुढि पाइल ।।
मन एक खड न पहुँचै पावै। आसु भुवन चौवह फिरि आवै ।।

× × ×

पवनहि मँह जो आपु समाना। सब भा बरन जो आपु अमाना ।।
जेत डोलाए बे ना डोलै। पवन सबद होई किछइ न बोलै ।।

यहाँ कवि ने आत्मा का वेग अचल मन से अति तीव्र बतलाया है। वह

६ जायसी का रहस्यवाद

जायसी पैगम्बरी मत के प्रतिपादक थे, जिसके अन्दर ज्ञान-कांड का दखल नही के बराबर था। उनके लिए अद्वैत की कल्पना एक रहस्य था, क्योकि उनके तत्व-चिन्तको ने कभी उस पर विचार नही किया था और जो कुछ भी प्रकाश उन्हे इस दिशा मे मिला, वह भारतीय दर्शन की देन थी। मनुष्य की स्वभाविक अक्ल अद्वैत-चिन्तन जैसे गूढ विषय पर काम नही कर सकती थी। इसलिए सूफी प्रचारको ने जब दार्शनिक तत्व के दर्शन अद्वैतवाद को अपने विचारो मे व्यक्त करने का प्रयास किया तो उसका जो रूप बना, उसमे एक रहस्यात्मकता आ गयी। यह उनके लिए एक रहस्य था और उसे रहस्य मानकर ही उन लोगो ने प्रतिपादित भी किया। इसको रहस्य के रूप मे अपनाने और मान्यता देने का दूसरा कारण यह भी था कि जिससे यह मुसलमानी धार्मिक विश्वासो और मान्यताओ के मार्ग मे कोई प्रतिबन्ध न उपस्थित करें, परन्तु यह सब होने पर भी प्रतिबन्ध तो उपस्थित हुआ ही और इस विचार-धारा को कुफ़ भी करार दिया गया, और मसूर जैसे फकीरो को फाँसी पर भी लटकना पड़ा।

सूफी मतावलम्बी प्रचारको ने अपने धर्म का प्रचार माधुर्य-भावना को लेकर किया। रोमनकेथोलिक पादरियो मे भी यह माधुर्य-भावना मिलती थी। जब यह अद्वैत का विचार उनके मस्तिष्क से टकराया तो उन्हे यह एक रहस्य प्रतीत हुआ। सूफी लोगों ने ईश्वर की कल्पना स्त्री के रूप मे की। अद्वैतवाद मे आत्मा और परमात्मा को एक माना है, उसी प्रकार ब्रह्म और जगत् को एक कहा है। सूफी सैद्धान्तिक फकीरों और विचारकों तथा साधको ने प्रकृति की विभिन्न वस्तुओं मे ब्रह्म की ही झलक देखने का प्रयास किया है।

योरोप में रहस्यावादी कविता का पुनुरुस्थान १९वी शताब्दी मे हुआ। इसमे सर्ववाद की भावना मिलती थी, जिसके आधार पर ईश्वर और प्राकृति सब एक थे, दोनो में कोई अन्तर नही था। शैली और इट्स की कविताओ मे इस स्वतन्त्र विचारधारा की झाँकी देखने को मिलती है, परन्तु ये कविताएँ कवि-कल्पना और लौकिक स्वातन्त्र्य से ही सम्बन्ध रखती थी। इनका सम्बन्ध

दार्शनिक चिन्तन से स्थापित करना भूल होगी। अद्वैत एक दर्शन है, साधारण विचार नही। इसका सम्बन्ध ज्ञान के सूक्ष्म निवेदन से है। कबीर के चिन्तन मे जहाँ भावना और विचार का सामजस्य हुआ है, वहाँ भी रहस्य की भावना आई है और वह दर्शन का विषय रहा है। उस रहस्यवाद मे शैली और ईट्स वाला रहस्यवाद नही हैं। वह विचार और ज्ञान के सूक्ष्मतम पहलुओ को छूता है। अद्वैतवाद मनुष्य के तत्व-चिन्तन के फलस्वरूप प्राप्त एक ज्ञान है, दर्शन है। अद्वैतवाद के इसी ज्ञान-तत्व को लेकर जब भावना अपनी कल्पनाओ के साथ उडानें भरने लगती है तो वही पर रहस्यवाद की स्थापना होती है। कबीर मे यही से रहस्यवाद का आरम्भ होता है और जायसी की भी स्थिति ठीक उसी प्रकार की है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रहस्यवाद को दो प्रकार का माना है.

१. **भावात्मक।**

२. **साधनात्मक।**

दोनो को समझ लेना यहाँ स्पष्ट ही है कि जिस रहस्यवाद का आधार योग है, वह साधनात्मक रहस्यवाद है और जिसका आधार भक्ति या सूफी प्रेम-सिद्धान्त है, वह भावनात्मक है। साधनात्मक रहस्यवाद के क्षेत्र मे योग के जटिल आसन इत्यादि आते है, कर्म-काड की विशेषता, तप और काया-कष्ट अधिक है, जबरदस्ती इन्द्रियो का दमन किया जाता है और इस प्रकार साधक अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त करके भगवान् के निकट पहुँचने का प्रयास करता है। तन्त्र और रसायन इत्यादि का भी आश्रय साधनात्मक रहस्यवाद मे लेना होता है।

दूसरे प्रकार का रहस्यवाद भावनात्मक है। इसमे मधुर तथा सरल भाव से आत्मसमर्पण करके परमात्मा का सामीप्य प्राप्त करने काप्रयास किया जाता है। परमात्मा की अनुकम्पा प्राप्त करने की ओर साधक का लक्ष्य रहता है। इस भावना के अन्तर्गत अद्वैत ब्रह्म की ही कल्पना होती है। एक विश्वास रहता साधक के मन मे और उसी को आधार मानकर भक्त की भावना तथा कल्पना चलती है। कबीर के रहस्यवाद मे हमे साधनात्मक तथा भावनात्मक दोनो स्वरूप मिलते है, परन्तु जायसी का रहस्यवाद कोरा भावनात्मक है, उसमे साधना की ओर कही-कही कवि ने सकेत भर भले ही कर दिया हो, परन्तु वह वास्तव मे न तो कवि की साधना का ही विषय है और न भावना का ही, केवल परम्परा और परिपाटी के नाते कुछ शब्दावली का प्रयोग मात्र ही है। अद्वैत की भावना का सर्वप्रथम स्पष्टीकरण या प्रतिपादन उपनिषदो मे मिलता है। इस ज्ञान का प्रारम्भिक उदय बुद्धि द्वारा हुआ, इल्हाम या प्रेमोन्माद द्वारा नही। अद्वैतवाद वास्तव मे रहस्यमयी भावना की वस्तु नही है, चिन्तन की वस्तु है। ब्रह्म, प्रकृति, आत्मा के रहस्यो को समझने के पश्चात् प्रकट करने के जो साधन विद्वानो ने उपस्थित किये, उनमे भावना को स्थान मिला और शैलियाँ बनाई गईं। रहस्यवादी भी एक शैली बनी, जिसके द्वारा उन गूढ रहस्यो का प्रतिपादन

हुआ। जब तक कोई विचार मानसिक स्थल पर स्थित नही हो जाता तब तक उसका भाव-जगत मे प्रविष्ट होना असम्भव है, ठीक उसी प्रकार अद्वैत की भावना का भी है। भावनात्मक शैली का आलम्बन इस प्रकार रहस्यवादी कविता का आदि स्वरूप और आदि विचार बना। फिर उसके स्पष्टीकरण मे साहित्यिक उपकरणो का सहारा लेकर काव्य की रचना की गई और गम्भीर तथ्यो के विवेचन मे कभी-कभी भावना-प्रधान विचारको तथा भक्तो मे भावोन्मेष भी हो जाता है।

ईश्वर-प्रेम की यही रहस्यवादी भावना कृष्ण-भक्ति मे भी सामने आई। अधिक प्रचार तो इसका इसलिए न हो सका क्योकि भारतीय-भक्ति का जो सामान्य स्वरूप है वह रहस्यात्मक नही है। उसमें भावना की अपेक्षा विचार का प्राधान्य है। फिर भी रहस्यात्मकता का लोप भी हम उसमें नही मान सकते। सूफी रहस्यात्मक प्रवृत्तियो और उनकी रूढियो का प्रभाव इस समय के कृष्ण-भक्तों पर भी पड रहा था। माधुर्य-भाव की व्यंजना के साथ-साथ भक्त मंडलियो में इसका प्रत्यक्ष रूप भी देखने को मिल रहा था। देवदासियो की प्रथा इसी रहस्य को लेकर चलती थी। ये मदिरों में रहकर कृष्ण की उपासना, नृत्य और कृष्ण की प्रण्य-लीलाओं को निभाती थी। इनकी प्रवृत्तियाँ सूफी रुढियो से भी प्रभावित होती जा रही थी। नृत्य करते-करते मूर्छना इत्यादि चीजें सूफी फकीरों की देन हैं। चैतन्य महाप्रभु की मडली, कहते है, सूफियो की भाँति ही कीर्तन करते-करते मूर्छित हो जाती थी। मीरा के पदो मे भी इसी प्रकार की रहस्यमयी-मधुर-भाव-प्रेरित विचारधारा पाई जाती है। मीरा तो अपना हर प्रकार का सम्बन्ध कृष्ण भगवान से ही जोडती थी।

जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई।

और अन्त में उसकी भावना यह हो जाती है कि ब्रह्मांड मे जितनी भी आत्माएँ हैं उन सभी का पति कृष्ण है। स्त्री-पुरुष जो विश्व मे दिखलाई देते हैं, ये सब भौतिक भ्रम हैं। इस विषय में सूफी विचार-धारा भी भक्ति की इस भावना से मेल खाती है। कल्पना में इतना अन्तर अवश्य है कि भारतीय विचार-धारा के अंतर्गत भगवान् की कल्पना पति-रूप मे मिलती है और सूफी धर्म में यह स्त्री के रूप में पाई जाती है। वास्तव में यदि कल्पना की दृष्टि से देखा जाये और माधुर्य भावना को प्रधानता दी जाय तो भगवान् को स्त्री-रूप मे देखना ही अधिक मधुर, सरल और कोमल दिखलाई देता है। वैष्णव धर्म पर सूफी धर्म के इस प्रभाव के विषय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं, "सूफियों की देखा-देखी रहस्यवादी भाव की ओर कृष्ण भक्ति-शाखा के भक्त प्रवृत्त हुए। इनमें मुख्य मीराबाई हैं।

......सूफियों का असर कुछ और कृष्ण-भक्तों पर भी पूरा-पूरा पाया जाता है। चैतन्य महाप्रभु में सूफियों की प्रवृत्तियाँ झलकती हैं। जैसे सूफी

कव्वाल गाते-गाते हाल की दशा मे हो जाते है वैसे ही महाप्रभु जी की मडली भी नाचते-नाचते मूर्छित हो जाती थी। यह मूर्छना रहस्यवादी सूफियो की रुचि है। इसी प्रकार मद, प्याला, उन्माद तथा प्रियतम ईश्वर के विरह की पूरी रूढ व्यजना भी सूफियो की बँधी हुई परम्परा है। इस परम्परा का अनुसरण भी कुछ पिछले कृष्ण-भक्तो ने किया। नागरीदास जी इश्क का प्याला पीकर बराबर झूमा करते थे। कृष्ण की मधुर मूर्ति ने कुछ आजाद सूफी फकीरो को भी आकर्षित किया। नजीर अकबराबादी ने खडी बोली के बहुत से अपने पदो मे श्री कृष्ण का स्मरण प्रेमालम्बन के रूप मे किया है।

निर्गुण शाखा के कबीर, दादू आदि सतो की परम्परा मे ज्ञान का जो थोडा बहुत अवयव है वह भारतीय वेदान्त का है, परन्तु प्रेम-तत्व बिल्कुल सूफियो का है। इनमे से दादू, दरियासाहब आदि तो खालिस सूफी ही जान पडते है। कबीर मे भी 'माधुर्य भाव बहुत से स्थानो पर पाया जाता है।' जब-जब वह अपने को राम की बहुरिया कहते हैं तो उनका भावना-जगत् माधुर्य से भर उठता है।

इस प्रकार भावनात्मक रहस्यवाद का प्रभाव कबीर-परम्परा के सत कवियो पर, तथा कृष्ण-भक्ति-धारा के भक्तिमार्गी वैष्णव कवियो पर था। इन के साथ-ही-साथ मुसलमानो की सूफी धारा भी देश मे प्रवाहित हो रही थी, जिनकी विचार-धाराओ मे कुछ मतभेदो के साथ मूल तत्वो मे समान भाव ही चलता है।

साधनात्मक रहस्यवाद का सम्बन्ध ज्ञान मिश्रित हठयोगी भावना और ब्रह्म की कल्पना से है। हठयोग, तत्र, रसायन इत्यादि की बाते भी साधारण मस्तिष्क के लिए रहस्य की बातें हैं। साधक अपनी साधना के चमत्कार से कुछ विशेष बाते प्रदर्शित करता है, तो वह जनता के लिए रहस्य का विषय है। इन सब का वर्णन और फिर कल्पनात्मक वर्णन, बस यही साधनात्मक रहस्यवाद का विषय है। कबीर ने भारतीय ज्ञान-विचारावलि अर्थात् वेदात और सूफी प्रेम का सम्मिश्रण करके जिस रहस्यवाद की सृष्टि की उसे हम अधिक बल के साथ साधनात्मक रहस्यवाद ही कहेगे। इग्ला, पिंगला, सुषमना नाडी और शरीर के भीतरी चक्रो की चर्चा इस रहस्यवादी धारा मे मिलती है। इस विचारधारा मे ईश्वर को केवल मन के अन्दर खोजने की भावना रहती है।

भारतीय भक्त इस काल मे ईश्वर की खोज अपने मन मे नही करता था। भारत मे अवतारवाद का प्रचार था और भक्त अपने उपास्य को दिल के एकात कोने मे प्रतिष्ठित न करके उसे बहिर लोक मे प्रतिष्ठित करता था। इसी मे भगवान् का लोकरजक स्वरूप निहित था। फारस मे भावनात्मक रहस्यवाद तेजी से फैल रहा था। इसमे अद्वैत की झलक थी। वहाँ शायरी का तो प्रथम विषय ही यह बन गया। खलीफाओ की कडी धार्मिक शासन-प्रणाली की कडियाँ सूफी फकीरो की मधुर वाणी ने छिन्न-भिन्न कर डाली। जनता सूफियो के प्रेममय सगीत मे बह निकली और प्राचीन रूढियाँ आप-से-आप टूटकर गिर पड़ी।

जब सूफी मुसलमान भारत मे आये तो उन्होने भारत के वेदाती लोगो से भेंट की। दोनो का विचार-विमर्श हुआ और उसके फलस्वरूप वे सभी प्रभावित हुए। हिन्दू धर्म और मुसलमान-धर्म दोनो अपनी विभिन्न शाखाओ मे बह निकले। इन शाखाओ की मान्यताओ मे कही मेल था और कही नही। विचित्र बात जो सामने आई वह यह थी कि बहुत सी मुसलमानी शाखाओ की अपनी मान्यताएँ और हिन्दू धर्म की शाखाओ की अपनी मान्यताएँ ऐसी मेल खा गई जितना मेल उन शाखाओ का अपने धर्म की अन्य शाखाओ से नही था। इसके फलस्वरूप एक सामान्य भावना ने जन्म लिया। यह मान्यता अकबर के 'दीने-इलाही' मजहब की मान्यताएँ नही थी, वरन् ईश्वर-भक्तो की भावनाएँ थी, जिनमे सरलता-मधुरता और कोमलता से सच्चाई को परखने की जिज्ञासा थी, यह भक्ति-भावना थी। इसी सामान्य विचारधारा का प्रभाव हमे कबीर, जायसी, मीरा इत्यादि की कविता पर मिलता है। इस सामान्य विचारधारा मे वेदान्त और सूफी मत का सामजस्य था। अद्वैती रहस्यवाद का मूल सिद्धान्त जहाँ से रस पाता है, खुराक पाता है, यह वह स्थान था।

इस सामान्य भक्ति-मार्ग को लेकर सर्वप्रथम जनता का महाकवि कबीर आया। उसने निर्गुण सत-धारा को प्रवाहित किया और हिन्दू तथा मुसलमानो को एक मार्ग पर लाकर राम-रहीम की एकता स्थापित करने के लिए रहस्यमयी वाणी मे कविता की। जनता उससे प्रभावित हुई, परन्तु देश मे उच्चवर्गीय लोगो का पाँडित्य और बल इतना अधिक था कि कबीर की विचारधारा उनके स्वार्थी गढ को न तोड़ सकी, परन्तु निम्न जाति के लोगो पर इसका काफी प्रभाव पडा।

इस निर्गुण रहस्यवादी भावना मे भगवान् से व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित करने की बात थी, सामाजिक दृष्टिकोण नही। इसीलिए यह जनता के बीच अधिक प्रसार न पा सका। यह दृष्टिकोण का दूसरा कारण है। इस दृष्टिकोण का भारतीय दृष्टिकोण से निर्गुण रहस्यवाद की भावना का मेल न होने के कारण भी जनता मे उसका प्रसार उतना न हो सका जितना सगुण भक्ति का।

तीसरा कारण प्राचीन भारतीय परम्परा और उसका स्वभावगत प्रभाव था, जिसमे बेहोशी के साथ जनता बहती ही रहती है। उससे बाहर निकालने की बात तो झखझोर कर किसी को नदी से बाहर निकाल कर खड़ा कर देने की बात है।

रहस्यवाद का इस प्रकार यह साधनात्मक स्वरूप जनता मे अधिक सफलता के साथ प्रसारित न हो सका। महाकवि जायसी का भावनात्मक रहस्यवाद सूफी मत से उद्धृत होकर आया, यह हम ऊपर कह चुके है। कबीर की रहस्यवादी भावना का मूल स्रोत भी सूफी विचार-धारा ही है। कबीर मे इस्लामी एकेश्वर-

वाद और वेदांती मायावाद पाया जाता था। विचार और चातुर्य की उसमे कमी नही थी, परन्तु भावना का वह उद्रेक कहाँ जो जायसी की मधुर वाणी मे स्वाभाविक प्रवाह के साथ रस की धारा बनकर बहता है। कबीर ने अपनी रहस्यवादी कल्पनाओ मे वेदांती रूपको का प्रयोग किया है, कबीर के रहस्यवाद मे भावना न होकर विचार का ही प्राधान्य रहता है, परन्तु जायसी मे विशुद्ध भावनात्मक रहस्यवादी झलक मिलती है।

महाकवि जायसी की भावुकता बहुत ऊँचे दर्जे की भावुकता है। पद्मावत मे जायसी ने परमात्मा को प्रियतमा पद्मावती के रूप मे चित्रित किया है। उससे मिलने के लिए रत्नसेन रूपी आत्मा की तपस्या और प्रेमासक्त होना बहुत ही भावुकता के साथ चित्रित किया गया है। जायसी जगत् के नाना रूपो मे ब्रह्म के सौन्दर्य की झलक देखते है। समागम के लिए शृंगार, उत्कण्ठा और विरहाकुलता का जितना सुन्दर चित्रण जायसी ने किया है, उतना सूर की झाँकियो के अतिरिक्त और कही प्राप्त नही होता।

महाकवि जायसी से पूर्व भी इस रहस्यवादी भावना से प्रेरित होकर कुछ कविताएँ लिखी गई है। मृगावती और मधुमालती इत्यादि रचनाएँ इसी प्रकार की है, परन्तु भावनात्मक रहस्यवाद का जो साकार रूप पद्मावत मे जायसी ने प्रस्तुत किया है वह उनकी अद्भुत कला का प्रमाण तो है ही, साथ ही भावना का सजीव चित्रण भी इसमे बहुत निखर कर सामने आया है। जायसी एक भारतीय कवि थे और इसीलिए उन्होने अपने काव्य मे प्रकृति को स्थान देकर उसमे परब्रह्म की छटा का अवलोकन किया है। कवि प्रकृति के बीच दिखलाई देने वाली दीप्ति को ही ब्रह्म की ज्योति मानता है।

रवि, ससि, नखत दिपहि ओहि जोती। रतन, पदारथ, मानिक मोती।
जहँ-तहँ बिहँसि सुभावहि हँसी। तँह-तँह जोति छिटक परगती॥

आचार्य शुक्ल जी ने कुछ रहस्यमयी स्थितियो के पद पद्मावत से खोजे हैं। उन्हे पढने पर कवि की विचार और भावना-स्थिति का सुन्दर ज्ञान प्राप्त हो जाता है :

प्रियतम के सामीप्य से प्राप्त आनन्द की झलक देखिए

देखि मानसक रूप सोहावा। हिय-हुलास पुरइनि होई छावा॥
गा अधियार रैन-मसि छूटी। भा भिनसार किरिन रबि फूटी॥
कँवल बिगस यस विहसी देही। भंवर दसन होइकै रस लेही॥

प्रेम-बद्ध प्रकृति का चित्रण

उन्ह बानन्ह अस को जो न मारा ? बेधि रहा सगरौ ससार॥
गगन नखत जो जाहि न गने। वै सब बान ओहि के हने॥
धरती बान बेधि सब राखी। साखी ठाढ़ देहि सब साखी॥
रोंव रोंव मानुस तन ठाढ़े। सूतहि सूत बेध अस गाढ़े॥

बरुनि-चाप अस ओपह बेधे रन बन-ढाँक ।
सौजहि तन सब रौवाँ, पंखहि तन सब पाँख ।।

सृष्टि मे फैले वियोग का चित्रण देखिए :

सूरूज बूड़ि उठा होई ताता । औ मजीठ टेसू बन राता ।।
भा बसंत, राती बनस्पती । औ राते सब जोगी जती ।।
भूमि जो भीजि भएउ सब गेरू । और राते सब पखि पखेरु ।
राती राती अगिनि सब काया । गगन मेघ राते तेहि छाया ।।

जायसी का रहस्यवाद ऊँचे दर्जे का भावनात्मक रहस्यवाद है, जिसमे अद्वैती ब्रह्म की प्रेममयी भूति का सुन्दरतम रूप दिखलाई देता है ।

सार-निरुपण--रहस्यवाद की कल्पना वेदाती अद्वैतवाद और सूफी-प्रेम-भावना के सम्मिश्रण से पैदा हुई है । इसके दो रूप भारत मे पनपे, एक साधनात्मक रहस्यवाद और दूसरा भावनात्मक रहस्यवाद । महाकवि कबीर को साधनात्मक रहस्यवाद का प्रवर्त्तक मानना चाहिए । महाकवि जायसी को हम भावनात्मक रहस्यवाद का प्रवर्त्तक तो इसलिए नही मान सकते क्योंकि पद्मावत से पूर्व भी भावनात्मक रहस्यवाद के ग्रन्थ लिखे जा चुके थे, परन्तु यह तो मानना ही होगा कि इस विचारधारा का सब से प्रबल समर्थन करने वाला और इस भावना का सबसे सफल चितेरा कवि जायसी ही था । जायसी के इस रहस्यवाद मे पद्मावती ब्रह्म का साकार रूप है और उसी को प्राप्त करने के लिए रत्नसेन आत्मा के रूप मे जीवन की विविध परिस्थितियो से होकर जाता है । कवि ने इस सबकी बहुत ही मधुर कल्पना की है और फिर उसका चित्रण तो और भी हृदय-ग्राही तथा सरल हुआ है । भावुक पाठको के लिए यह भावनात्मक रहस्यवाद कल्पना और भावना का सुन्दरतम स्वरूप है ।

७ जायसी की धार्मिक और सामाजिक विचारधारा

मनु और कणाद इत्यादि स्मृतिकार, "कुछ विशेष प्रकार के नैतिक नियमो के पालन तथा कुछ सामाजिक व्यवस्थाओ के अनुसरण" को धर्म मानते है।

मीमासक धर्म की परिभाषा देते समय कहते है कि धर्म प्रेरणा-प्रधान है। वे धर्म को, "विविध प्रवृत्तियो पर उचित अर्गला देने वाला तत्व" मानते है।

वेदव्यास महाभारत के समय मे लिखते है, "समाज की व्यवस्था करने वाले समस्त तत्वो को धर्म कहा जाता है।"

कणाद धर्म की इस प्रकार परिभाषा देते है, "धर्म लौकिक एव पारलौकिक समृद्धि एव शाति का विधान करने वाला है।"

इस प्रकार धर्म की व्याख्या करने वाली चार विचारधाराएँ या प्रणालियाँ सामने आईं। वास्तव मे यदि देखा जाय तो ये सभी अपने मे पूर्ण है और सभी अपूर्ण भी है। धर्म नाम बदिश का है, यह साधारण अर्थ मे समझना चाहिए और ये बदिशे ही हैं जिन्हे विद्वान लोग समाज की उच्छृ खल प्रवृत्तियो पर लगा-लगाकर बराबर उन्हें नियत्रित करते रहे, सामाजिक अहित की ओर से रोकते रहे और मानव-सभ्यता के विकसित होने मे सहयोग देते रहे। ये बदिशे जब बनाई या बाँधी गईं तब अपने-अपने युग के काफी क्रातिकारी लोगो द्वारा बाँधी गईं, परन्तु ज्यो-ज्यो समय बीता त्यो-त्यो उनकी सचाई मे कमजोरी आई, दिखावा आगे बढा, रूढियो का बोलबाला हुआ, तभी फिर नई क्राति की आवश्यकता हुई, मनुष्य इस प्रकार अपने आदिकाल से नियमो मे बँधता और समाज के ढाँचे को आगे घसीटता तथा उसमे अपने जीवन का योग देता चला आ रहा है। सृष्टि के आदिकाल से ज्यो-ज्यो मानव सभ्यता आगे चली है त्यो-त्यो उसकी समस्याए भी बढी है और उन्ही के आधार पर धर्म अर्थात् मान्यताएँ, यानी पाबन्दियाँ भी सामने आई हैं। स्वतत्र समाज के प्रारम्भिक युगो मे राज्य-सत्ता की अपेक्षा धर्म-सत्ताओ का अधिक बल रहा है। फौज और दल-बल राजाओ के ही पास होता था, परन्तु जनता धर्म के साथ चलती थी और यह धर्म निस्वार्थ धर्माचार्य के

हाथो में होता था, अर्थात् वही सबसे बडा धर्म का ठेकेदार समझा जाता था। धर्म की यह ठेकेदारी अच्छे हाथो मे आकर जनता का हित, और गलत हाथो मे पडकर उसका अहित करती रही। जब-जब अहित हुआ तो जनता का उन पर से विश्वास उठा और नये विद्वान् को देश ने अपनाया और उसने धर्म के नियमो मे क्राँति की। इस प्रकार धर्म के नियमो का क्रम बराबर आगे बढता जा रहा है।

धर्म की ये मान्यताएँ या नियम समय-समय पर बदले और उसकी नई-नई परिभाषाएँ गढी गई, परन्तु यह सच है कि ये सब परिभाषाएँ अपने पूर्ण रूप को इस परिवर्तनशील विश्व मे नही पहुँच सकती।

हर युग की अपनी-अपनी समस्याएँ रही हैं। अनार्य लोगो के बीच आर्य आये तो नई समस्याएँ सामने आई और धर्म के नियमो का रूप बदला। ठीक उसी प्रकार जब अन्य जातियो के आक्रमण हुए और उन जातियो के लोग भारत में आकर बसे तो उनके पारस्परिक रहन-सहन से नई समस्याओ ने जन्म लिया और उसका प्रभाव धर्म की मान्यताओ पर भी पडा।

मुसलमान-युग मे मुसलमानो की सभ्यता का असर भारत मे आया और उसने यहा की धार्मिक मान्यताओ को भी छुआ। जिस समय तक मुसलमान हमलावर कौम के रूप मे रहे, उनका भारतीय जनता पर कोई प्रभाव नही पड़ा, परन्तु किसी भी जाति का यह रूप बना नही रह सकता यदि वह स्थायी रूप से कही बसना चाहती है। मुसलमान भारत मे बसे तो उन्हे यहा के रहने वालो मे रप्त-जप्त बनाना पडा, क्योकि उसके बिना सामाजिक जीवन चल ही नही सकता था। घर के चौके मे आदमी हो सकता है किसी को न घुसने दे, परन्तु सडक पर चलने से कोई नही रोक सकता। समाज के और व्यवहारो मे भी पारस्परिक सम्पर्क रखना ही पडा। दो जातियो के जीवन मे कुछ साम्यता की चीजें थी और कुछ विभिन्नताएँ। साम्यताओ मे सम्बन्ध स्थापित हुआ और विभिन्नताएँ-विभिन्नताए ही रही। इन विभिन्नताओ के फलस्वरूप और अपने को एक ओर अधिक सुसस्कृत तथा दूसरी ओर हकूमत करने वाली कौम मे से समझ कर जो विषमताएँ पैदा होती थी उनका निवारण करने का प्रयत्न इस काल के कुछ विचारको, संतो और भक्तों ने किया है।

महाकवि कबीर की विचारधारा इस दिशा मे उल्लेखनीय है, जिसने दोनो जातियो की धार्मिक विषमताओ को सामने रखकर एक सामान्य मार्ग स्थापित किया था। यह सामान्य मार्ग सामान्य जनता के लिए था। तत्वदृष्टा विद्वानो और ऊँची जाति के लोगो मे इसके प्रति रुचि नही हो सकती थी। कबीर ने दोनो धर्मों की अच्छी तथा आसानी से समझ मे आने वाली बातो को ही अपनाया।

मलिक मुहम्मद जायसी का नाम इसी युग के उन भावनात्मक धर्मनिष्ठ

प्रेमियों में है जिनके मन और विचारों में सहिष्णुता थी और जो मानव को धार्मिक रूढियो की अपेक्षा अधिक निकट से देखना चाहते थे ।

जहां तक धर्म की रूढियो का सम्बन्ध था ये पूरे मुसलमान थे । मुसलमानी दर्शन ही इन्हे मान्य था और उसी मे अद्वैत की कल्पना करके भारतीय भक्ति का अपने ढग का प्रेम स्वरूप खडा करके मानव के और निकट आना चाहते थे । इनके मत-प्रचार का साधन शक्ति-बल न होकर प्रेम-बल था, जोर जबर-दस्ती का सौदा नहीं था ।

महाकवि जायसी का सम्पर्क हिन्दू तथा मुसलमान दोनो ही विद्वानो से हुआ और सभी का सत्सग भी उन्होने किया । जहा तक मानव जीवन से सबध रखने वाली धर्म की मान्यताएँ थी उन्हे जायसी ने सामान्य-सत्य पर ही तौलने का प्रयास किया, परन्तु जहाँ धर्म की रूढिवादी स्थूल मान्यताओ का सम्बन्ध था, वहाँ जायसी अपने को समाज के दायरे से ऊपर उठाकर नही ले जा सके । कबीर का विचार इससे बहुत ऊपर था और उनकी भावनाओ तथा विचारो मे कोई भी ऐसा धर्म नही आ सकता था जो समय, स्थान और पुरानी मान्यताओ की रूढियों की पाबन्दी करे । जायसी इस मायने मे कबीर के स्थान तक नही पहुँचा सकते ।

महाकवि जायसी एक प्रेमी भगवान-भक्त के नाते इस ससार-वाटिका मे भ्रमण कर रहे हैं । इसके फूलो और काँटो मे उन्हे अपने प्रियतम की ही मधुर मूर्ति दिखलाई देती है । वह उसमे लिप्त नही है । न तो उस वाटिका का कटक ही उनका शरीर छेद सकता है और न उसका कोई पुष्प ही उन्हे मोहित कर सकता है । वह एक ही ब्रह्म की प्राप्ति को अपना लक्ष्य समझकर चलते है । नागमती रत्नसेन की स्त्री है, परन्तु पद्मावती अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति की लगन के सामने लौकिक व्यवहार सब समाप्त हो जाते हैं । सूर ने जहाँ गोपियो को मुरली की तान सुनकर अपने बच्चो और पतियो को खाना परोसते छोडकर भाग जाने की बात कही है वहाँ भी यही भावना है । चीरहरण इत्यादि की लीलाएँ भी भौतिक आवरण को चीर कर ब्रह्म की ओर लौ लगाने की ही बाते है । मीरा का परिवार को त्याग कर कृष्ण की भक्ति मे दीवानी हो जाना भी यही विचारधारा है । अन्तर बहुत झीना है और वह ऊपरी भी है । तथ्य की वास्तविक मान्यता मे कही कोई अन्तर दिखलाई नही देता ।

जायसी ने इस प्रकार धार्मिक मान्यता के नाते चाहे यो कहे कि सूफी विचारधारा का प्रचार किया, परन्तु सच यही है कि भारतीय जनता मे फैली उस विचारधारा को ही लेकर यह आगे बढ़े हैं जिसे सूर और मीरा ने भी अपनाया । धर्म के इस स्वरूप मे महाकवि तुलसीदास का लोक मर्यादावादी स्वरूप नही था । इसीलिए व्यवस्था के नाते, बन्दिशे कम होने से, यह समाज

के बाहरी रूप पर उस तरह नही छा सका, जिस प्रकार 'तुलसीकृत' रामायण का स्वरूप छा गया। जहाँ एक ओर साहित्य के क्षेत्र मे रामायण अपना स्थान रखती है वहाँ दूसरी ओर धर्म के क्षेत्र मे उसे और भी अधिक अपनाया गया है।

जायसी की धर्म-प्रणाली भारतीय समाज मे, यह सच है कि सूफी विचार-धारा होने के नाते प्रेम द्वारा ही जनता मे पैठी, परन्तु उसका अधिक प्रसार न हो सका। इसका प्रभाव हिन्दू जनता पर बहुत कम हुआ। यह विचारधारा कबीर की विचारधारा से बहुत पीछे रह गई।

जायसी ऊँच-नीच की भावना से परे थे। वह मानव मात्र को एक ही स्तर पर रखकर देखते थे। मुसलमान होने के नाते उनके सामने कोई बडा या सम्मानित व्यक्ति नही बन सकता था। नेक काम करने वाला, दयावान, प्रेमी, सरल प्रकृति का मनुष्य ही उनकी श्रद्धा का पात्र बन सकता था। बस यही उनके धर्म के साधारण सामाजिक नियम भी थे। इन्ही के आधार पर उनकी धार्मिक मान्यताओ का जनता पर प्रभाव भी पडता था। इनका अपना जीवन इनके धर्म और इनकी मान्यताओ का प्रतीक था। जो यह कहते थे, वह करते भी थे और वैसा ही इनका जीवन भी बनता गया। उसमे न कही पर राजनीति थी, न छल-छिद्र था, न दुराव था, न बहकाव था, जो था वह सरल, स्पष्ट, सीधा और मधुर था। किसी के दिल को ठेस लगाने वाला तो उसमे कुछ था ही नही। सब व्यक्तिगत था। उनके अपने जीवन से सम्बन्ध रखने वाला था। उनके अपने जीवन को प्रेममय बनाने का साधन था, मार्ग था, सीख थी आत्मा की स्वच्छता और परमानन्द की ओर प्रगति का सरल, सीधा और प्रेममय मार्ग था।

जायसी एक प्रेमी जीव था, जिनके जीवन मे भौतिक सुख की झलक दिखलाई ही नही देती और उसकी तरफ उसने कभी प्रयास भी किया हो, ऐसा भी नही लगता। वह अपने जीवन से सन्तुष्ट था। उसे किसी राजसी आश्रय की आवश्यकता नही थी।

यही था जायसी का धर्म और उसकी मान्यताएँ, जिनके निकट हर इन्सान खडा होकर देख सकता था, उसकी अच्छाइयो को ग्रहण कर सकता था, अपने जीवन में उन्हे घटा सकता था और सुख शान्ति की प्राप्ति कर सकता था, जिस सन्देश को लेकर कवि चल रहा था।

जायसी वास्तव मे एक सहृदय कवि था और उसकी धार्मिक प्रवृत्तियो की झलक उसकी कृतियो में प्रयास स्वरूप नही आई। किसी विशेष धर्म का प्रचार करना भी कभी सम्भवत. उसका लक्ष्य नही रहा। धर्म का जहाँ तक सम्बन्ध था, वह उसकी आत्मा तक ही सीमित था। कोई मुसलमान रहे या हिन्दू, इस दिशा मे भी कवि अधिक प्रयत्नशील नही था और न ही उसे इसकी चिन्ता

थी। वह अपने मन से इस्लाम धर्म को अच्छा समझता था और अपने को उसी सस्कृति का एक अश मानता था। मे कबीर जैसी विश्वव्यापी भावना का हर कवि मे होना आवश्यक भी नही है।

जायसी हिन्दू और मुसलमान, दोनो समाजो को प्रथक-प्रथक मानते थे और दोनो की धार्मिक पाबदियो को भी अलग-अलग गृहण करते थे। जहाँ तक उन के रीति रस्म और रिवाजो, त्यौहारो को मानने की बात थी वह पूरे मुसलमान थे, परन्तु यह मुसलमानियत इन्सानियत के रास्ते मे रोडा बनकर आने वाली नही थी। वह धर्म का स्थान व्यक्तिगत जीवन के अन्दर ही बन्द मानते थे और आत्मा की शुद्धि तक ही वह सीमित था। दैनिक व्यवहारो मे धर्म को बीच मे लाकर बवडर पैदा करने वाली बाते उनके प्रेम सिद्धान्त के आगे आकर आप-से-आप चकनाचूर हो जाती थी।

यही कारण था कि अमैठी के हिन्दू राजा इनके इतने भक्त हो गये। यदि इनके जीवन मे धार्मिक सहिष्णुता और सरल स्वच्छता न होती तो कभी भी हिन्दू राजा का झुकाव इनकी तरफ नही हो सकता था। जायसी किसी की भावना को ठेस पहुचाना पाप समझते थे।

सार-निरूपण—महाकवि जायसी धर्म के क्षेत्र मे प्राचीन रूढियो के अनुसार हर प्रकार से मुसलमान थे। मुसलमानी सभ्यता का उन पर असर था और उसी की सन्तान वह अपने को समझते थे। उस दायिरे से बाहर निकलना उनके लिए कठिन था। उनका रहन-सहन, खान-पान, बोल-चाल, पहिनावा, रिवाज, नैतिक कर्मकाण्ड सब मुसलमानो जैसा ही था। उसमे कही पर भी हिन्दुत्व की छाप नहीं दिखलाई देती।

परन्तु जहाँ मानवता की बात आती है तो उनका प्रेम-सिद्धान्त हिन्दू और मुसलमान पर एकसा ही लागू होता है। यहाँ आकर कोई जाति या धर्म-व्यवस्था उनके सम-विचार मे बाधा उपस्थित नही कर सकती।

जायसी का धर्म उनका अपना जीवन था, जिसमे सरलता, भावुकता तथा प्रेम के अतिरिक्त और कुछ था ही नही। वह मानव मात्र का हितैषी था और उसकी प्रेम-धारा मे प्रवाहित होने का हर इन्सान चाहे वह किसी भी धर्म का क्यो न हो, पूरी तरह से अधिकारी था। उसने जिस साहित्य की रचना की, उसमे धार्मिक सामजस्य स्थापित करके भावना को विश्वव्यपी बनाने का सफल प्रयास किया है।

जहाँ तक समाज का सम्बन्ध है, जायसी ने हिन्दू और मुसलमान दोनो ही समाजो की प्रथक्-प्रथक मान्यता स्थापित की है।

८ | जायसी की जानकारी

साहित्यिक जानकारी—महाकवि जायसी के जीवन, आध्यात्मिक दृष्टिकोण, साहित्यिक प्रवृत्तियो इत्यादि के विषय मे हम पीछे सक्षेप मे प्रकाश डाल चुके हैं। यहाँ हम 'जायसी की जानकारी' शीर्षक के अतर्गत उनके शास्त्र-ज्ञान के सम्बन्ध मे साधारण चर्चा करेंगे। जायसी, जैसा कि हम पहिले कह चुके हैं, निरभिमानी व्यक्ति थे और अपने को पण्डितों का पिछलगा मानते थे। उन्हे विद्वान् होने का अभिमान नही था और न ही इस बात का गर्व था कि वह इतने महान् कलाकार और सिद्ध फकीर हैं कि जिनकी साधना के आगे बडे-बड़े आदमी झुक जाते है।

जायसी ने अपने काव्य मे सुन्दर अलंकारों की योजना की है, काव्य-प्रसिद्ध उक्तियाँ भी उनके काव्य मे उपलब्ध है, जैसे नख-शिख वर्णन, इत्यादि। प्रबन्ध-काव्य की रूढिवादी मान्यताएँ भी हैं जैसे समुद्र-वर्णन, जल-क्रीड़ा इत्यादि। जायसी ने यह ज्ञान बहुत से विद्वानो के सम्पर्क मे आकर प्राप्त किया था। जायसी ने ये चीजें काव्य और रीति-ग्रथो का अध्ययन करके प्राप्त की थी, यह मानना सदिग्ध है। डा० ग्रियर्सन लिखते है कि जायसी ने जायस मे रीति-ग्रन्थों का अध्ययन सस्कृत-आचार्यों से किया था, परन्तु इसका उन्होने कोई प्रमाण प्रस्तुत नही किया। जायमी की भाषा, छद-प्रयोग तथा अन्य काव्य-सम्बन्धी योजनाओ के आधार पर भी यह मानना कि उन्होने रीति-ग्रन्थों का सस्कृत आचार्यों से अध्ययन किया होगा, समझ मे नही आता। जायसी ने यदि संस्कृत-रीति-ग्रन्थों का अध्ययन किया होता तो कोई कारण न था कि उसका प्रभाव उनकी भाषा और उनके अन्दर की शब्द-योजना पर न पड़ा होता। जहाँ तक पर्यायवाची शब्दो के प्रयोगो का सबन्ध है, जायसी ने बहुत ही सक्षेप में रहकर शब्द-चयन किया है। यह जायसी की जानकारी की कमी का ही द्योतक है। कोई भी विद्वान् सुन्दर शब्द-योजना पर अधिकार रखने के बावजूद उसका प्रयोग न करे, यह कभी सम्भव ही नही हो सकता।

सर्व प्रथम हम पद्मावत की कथा को ही लेते हैं। जिस प्रकार की कथा पद्मावत की है वैसी कथाओ का प्रयोग सस्कृत-काव्य मे न मिलकर जायसी के पहिले प्रेम-काव्यो के ही लेखको की रचनाओ मे मिलता है। अपभ्रंश काव्य मे भी हमे इस प्रकारके उदाहरण मिलते है। जायसी पर हमे इन्ही काव्यो का प्रभाव दिखलाई देता है।

जहाँ तक काव्य मे प्रयुक्त छदो का सम्बन्ध है वहाँ तक भी हमे जायसी के काव्य पर प्राकृत-ग्रन्थो का हा प्रभाव दिखलाई देता है। जायसी ने अपने काव्य मे जिन सस्कृत शब्दो का प्रयोग किया है, वह सीधा प्रयोग न मिलकर, अपभ्र श द्वारा आया हुआ ही प्रतीत होता है। जैसे 'ससहर', 'दिनिअर', 'अछुट', 'बिसहर', 'भुवाल इत्यादि शब्द इसी प्रकार के हैं। जायसी की कविता मे कही-कही सस्कृत-काव्यो के कुछ पद्याशो के भाव भी मिलते है, परन्तु वे भी सीधे सस्कृत से न लिये जाकर अपभ्र श से ही लिये गये है। जायसी ने अपने काव्य मे जिन छन्दो का प्रयोग किया है उनसे यह पता नही चलता कि उन्हें छन्द-शास्त्र का ज्ञान था। चौपाई जैसे सरल छद के प्रयोग मे भी मात्राओ की कवि ने गलतियाँ की हैं। दोहे के चरणो मे तो आम तौर पर कवि ने गलती की है।

जहाँ तक अलकारो मे उपमानो का प्रयोग कवि ने किया है वह सभी काव्य-प्रसिद्ध हैं, उसमे किसी प्रकार की नवीनता का समाबेश नही मिलता है। प्राचीन उपमाओ और उक्तियो का प्रयोग कवि ने कलात्मक किया है, इसमे कोई सदेह नही। उपमाओ का यह प्रयोग और उक्तियो का यह चुनाव कवि ने सस्कृत-काव्यो से न करके भाषा-काव्यो से ही किया है।

इस प्रकार जायसी का काव्य-शैली, भाषा, वर्णन, अलकार, छद इत्यादि का ज्ञान सस्कृत से न लिया जाकर देशज तथा प्राकृत भाषा की ही रचनाओ से पढकर नही, सुनकर लिया गया है और यही कारण है कि उनमे वह पूर्णता नही आ पाई जो एक पडित की काव्य-रचना मे आनी चाहिए थी।

स्थान विषयक जानकारी अब हम जायसी की अन्य जानकारियो के विषय मे भी थोडा विचार करलें। कवि की पद्मावन की कथा चित्तौड से आरम्भ होती है। चित्तौड़ का वर्णन कवि ने कही पर भी विस्तार के साथ नही किया और न ही यहाँ के प्राकृतिक सौंदर्य की ओर ही उसकी दृष्टि गई है। वहाँ के प्राचीन इतिहाम पर भी कवि ने प्रकाश नही डाला। इसके पश्चात् सिंघल द्वीप से ब्राह्मण के हीरामन तोता लाने की बात काल्पनिक ही है, परन्तु फिर रत्नसेन की यात्रा के समय कवि ने मार्ग और समुद्र-तट का वर्णन किया है। यह वर्णन सक्षिप्त होने पर भी कवि की जानकारी का द्योतक अवश्य है। वर्तमान मध्य प्रदेश की इससे जानकारी मिलती है। कवि लिखता है :

दहिने बिदर, चंदेरी बाँए ॥

पद्मावत—पृष्ठ १७९ (भूमिका) भाग

यहाँ कवि यात्रा की चाल पर प्रकाश डालता है। समुद्र-तट के विषय मे लिखता है :

आगे पाव उड़ैसा, बॉए दिये सो बाट। दहिनावरत देइकै,उतरू समुद्र के घाट ।।

कवि का यह चित्रण भारतीय प्राचीन यात्राओ मे वर्णित कलिग-घाट की स्मृति को जाग्रत करता है। यह जानकारी कवि को किवदतियो से प्राप्त मालूम देती है।

दक्षिण मे बीजानगर और विजयगढ राज्य का भी कवि-वर्णन के अतर्गत जिक्र करते है

सुन मत, काज चहसि जो साजा। बीजानगर, विजयगढ़ राजा ।।

सात समुद्रो की बात बहुत प्राचीन है, परन्तु उनके नाम कवि ने अपनी कल्पना के आधार पर गढ लिये है। उनसे प्रेम-योगी के मार्ग मे आने वाली दिक्कतो का आभास मिलता है, जिसका प्रदर्शित करना कवि का मुख्य लक्ष्य रहा है।

पहुँचहुँ जहाँ गोड़ औ कोला। तजि बाएँ अधियार खहोला ।।

जहाँ तक नामो का सम्बन्ध है, जायसी की जानकारी काफी विस्तृत थी। बहुत से तीर्थों के नाम उन्हे याद थे और उनके नाम कवि ने गिनाये भी है।

ऐतिहासिक जानकारी व्यवस्थित रूप से जायसी ने चाहे इतिहास का अध्ययन न किया हो, परन्तु ऐतिहासिक जानकारी उन्हे कम नही थी। पद्मावत की कथा के विषय मे हम पीछे कह आये है कि इसका पूर्वार्ध काल्पनिक और उत्तरार्ध ऐतिहासिक है। कवि ने ऐतिहासिक तथ्यो को काल्पनिक तथ्यो के साथ गूँथकर ही एक साहित्य की माला तय्यार की है। पद्मावती और अलाउद्दीन की कथा लोक-प्रसिद्ध है। अलाउद्दीन पद्मावती, गोरा-बादल इत्यादि नाम इतिहास मे भी आते है। ये केवल कवि-कल्पना से पद्मावत मे नही आये। अलाउद्दीन की चढाई, देवगिरि और रणथम्भौर चढ़ाई इत्यादि से जायसी अपरिचित नही थे।

जिस समय की यह कथा है उस समय की घटनाओ तथा परिस्थितियो का भी उन्हे ज्ञान था। मगोलो की चढाई का भी जायसी ने वर्णन किया है। जब अलाउद्दीन चित्तौड़गढ का घेरा डाले होता है तभी उसके पास पत्र आता है कि मगोलो ने आक्रमण कर दिया .

एहि विधि ढील दीन्ह तब ताईं। दिल्ली से अरदासै आई ।।
पछिऊँ हरेव दीन्ह जो पीठी। सो अब चाढ़ा सौंह कै दीठी ।।
जिन्ह भुइँ माथ गगन तेहि लागा। थाने उठे आव सब भागा ।।
उहां साह चिउर गढ़ छावा। इहां देश अब होई परावा ।।

गोरा बादल की कथा ऐतिहासिक है। किस प्रकार वे रत्नसेन को दिल्ली

से छुडाकर ले गये। यह ऐतिहासिक तथ्य है और बहुत से इतिहासकारो ने इसे मान्यता दी है।

ज्योतिष-ज्ञान : जायसी के काव्य मे ज्योतिष की भी झलक मिलती है, परन्तु इसका यह अर्थ नही कि इनका ज्योतिष पर अधिकार था या इन्होने व्यवस्थित रूप से ज्योतिष-शास्त्र का अध्ययन किया था। विद्वान् लोगो को उनके विषय के अतिरिक्त भी कुछ-न-कुछ जानकारी रहती ही है। उसका सही प्रयोग भी वे उपमा उत्प्रेक्षाओ के रूप मे कर ही सकते हैं, परन्तु इसका अर्थ ज्योतिष का पाडित्य लगा लेना नादानी है। इसी प्रकार का प्रयोग हमे जायसी के काव्य मे ज्योतिष का भी मिलता है। पडित पद्मसिंह जी ने इसी प्रकार के आधारो पर कवि बिहारी को सर्वगुण सम्पन्न और सर्वकला तथा विद्याविद साबित करने का प्रयत्न किया है। हम ऐसा नही मानते। जायसी एक व्यवहारकुशल विद्वानो की मंडलियो में बैठकर सत्सग करने वाले व्यक्ति थे। वही से उन्हे अनेको प्रकार की साधारण जानकारी प्राप्त हुई, जिसका प्रयोग उन्होने अपने काव्य मे किया। इसके फलस्वरूप काव्य मे चमत्कार उत्पन्न हुआ, इसमे कोई सदेह नही। जायसी के काव्य मे यत्र-तत्र-ज्योतिष की जानकारी के सूत्र बिखरे पडे हैं। रत्नसेन की सिंघल द्वीप से यात्रा का चित्रण करते समय आपकी इस विशेष जानकारी का परिचय मिलता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'आपको ज्योतिष का अच्छा ज्ञान था', ऐसा मानते हैं, परन्तु हमारा इससे मतभेद है।

योग सम्बन्धी जानकारी · योग सम्बन्धी जानकारी भी ज्योतिष के ही समान थी। योग-सम्बन्धी जानकारी आपकी सुनी और सत्सगी बातो पर ही आधारित थी। सत कवियो की वाणा का भी आप पर प्रभाव था और जो कुछ शब्दावली आपकी रचनाओ में योग-सम्बन्धी मिलती है, वह वही से ली गई है। गढ इत्यादि छेकने की बातें कबीर-कालीन ही हैं और उनका प्रयोग आपने अपने काव्य मे समय तथा विषय के उपयुक्त किया है। तप का एक चित्रण देखिए।

> **राजा इहाँ ऐस तप झूरा। भा जरि बिरह छार कर कूरा॥**
> **नैन लाइ सो गएउ बिमोही। भा बिनु जिउ दीन्हेसि जिउओहि॥**
> **कहाँ पिंघला सुखमन नारी। सूनि समाधि लागि गई तारी॥**
> **बूद समुद्र जैस होइ मेरा। गा हेराइ अस मिलै न हेरा॥**
> **रगहि पान मिला जस होई। आपहि खोहि रहा होई सोई॥**
> **सुए जाइ जब देखा तासू। नैन रकत भरि आए आंसू॥**
> **सदा पिरीतम गाढ़ करेई। ओहि न भुलाइ, भूलि जिउ देई॥**
> **भूरि सजीवन आनि कै, औ मुख मेला नीर।**
> **गरुढ़ पंख जस झारै, अमृत बरसा कीर॥**

इस प्रकार योग की पिंगला और सुषम्ना नाडी का भी ऊपर कवि ने जिक्र कर दिया है। परन्तु इससे यह पता नही चलता कि कवि को योग को पूरी क्रिया-ओ का ज्ञान था। आपका सम्बन्ध केवल प्रेम-योग से था और उसी के अनुसार जहाँ कही भी आत्मा को कष्ट की कसौटी पर कसने की बात आती है तो आप कुछ योग सम्बन्धी शब्दो का प्रयोग करके उस परिस्थिति को लाने का प्रयास करते हैं।

इस्लाम धर्म की जानकारी जायसी को इस्लाम धर्म तथा उनकी मान्यता-ओ का पूरा-पूरा ज्ञान था। पद्मावत मे आपके इस्लामी ज्ञान की पूरी-पूरी झलक मिलती है। कुरान शरीफ की आयतो का सार आपने कई स्थानो पर दिया है।

१. सबै नास्ति वह अहथिर ऐस साज जेहि केर।

२. कीन्हेसि प्रथम जोति परगासू। कीन्हेसि तेहि पिरीत कैलासू॥

कयामत के दिन का भी कवि ने उल्लेख किया है कि जब खुदा के सामने अच्छे और बुरे लोग पेश किये जायेंगे, उस समय जो लोग मुहम्मद साहब के मजहब मे ईमान रखने वाले होगे उनकी तरफ से मुहम्मद साहब स्वय प्रार्थना करेंगे :

गुन-अवगुन बिधि पूछब, होइहि लेख औ जोख।
वै बिनउब आगे होई, करब जगत कर मोख॥

पैगम्बर मूसा की किताब मे एक फल विशेष के खाने के कारण आदम के स्वर्ग से निकाले जाने का वृतान्त है। मुसलमान इस फल को गेहूँ मानते है। इस बात का अखरावट और पद्मावत, दोनो मे जिक्र आता है। एक और भी वृतान्त एक पुल का आता है जो स्वर्ग के मार्ग मे पडता है। यह 'पुले सरात' कहलाता है। इस पुल के नीचे नर्क का अँधेरा है। यह पुल नेक आदमियो के लिए फैल जाता है और जब पापी आदमी उधर से गुजरते है तो वह तलवार की धार के समान सिकुड़ जाता है। इस पुल का भी उल्लेख पद्मावद तथा अखरावट, दोनो मे है। गेहूँ वाली कथा का उल्लेख देखिए :

आदि अन्त जो पिता हमारा। ओहु न यह दिन दिए विचारा॥
छोह न कीन्ह निछोही ओहू। का हम्ह दोष लाभ एक गोहूँ॥

फारसी की शायरी की जानकारी—जायसी की कविता पर फारसी की शायरी का काफी प्रभाव है। आज उर्दू की शायरी पर जो नाजुक ख़याली का प्रभाव है वह फारसी का ही है। फारसी की बहुत सी उक्तियाँ पद्मावत मे मिलती हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने फिरदौसी के शाहनामे की एक पक्ति का जायसी की पक्ति से साम्य दिखलाया है, जिस का अर्थ हू बहू एक है।

सत खण्ड धरती भई षट खण्डा। ऊपर अस्ट भएं बरम्हंडा।

—पद्मावत :

जे सम्मे सितौरां दरा पह्न दश्त। जमीं शश शुदो आस्मां गश्त हश्त :
—शाहनामा।

इसी प्रकार के और भी अनेको प्रयोग कवि ने किये हैं। फारसी की शायरी का जायसी को अच्छा ज्ञान था और उसकी भावनाओ का ज्यो-का-त्यो उनकी कविता मे आ जाना स्वाभाविक भी था।

पौराणिक जानकारी—जायसी ने पद्मावत मे बहुत से पौराणिक प्रसगो को भी लिया है। उनमे शिव, पारवती, नारद इत्यादि का उल्लेख है। नारक को कामो मे विघ्न डालने वाले के रूप मे ही आपने चित्रित किया है। उसका यही पौराणिक स्वरूप स्थापित करने मे जायसी असमर्थ रहे है। इसी प्रकार शिव और पार्वती का उल्लेख करते समय भी पौराणिक मान्यताओ को निभाना उनके लिए कठिन हो गया है। इस प्रकार पौराणिक प्रयोगो मे जायसी भूलें कर गये हैं। जायसी की ये भूले इसी कारण है कि उनका पौराणिक साहित्य पर आधारित न होकर मौखिक वार्ताओ और फिर उनका अपने ढग से विवेचन करने पर आधारित रहा है।

सार-निरूपण—महाकवि जायसी की साहित्यिक जानकारी सस्कृत-काव्य और रीति-ग्रन्थो पर आधारित न होकर समकालीन साहित्य तथा अपभ्रंश-साहित्य पर आधारित थी। उनकी भाषा, कथा-प्रयोग अलकार तथा छन्दो के देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन पर सस्कृत-साहित्य का प्रभाव नही है। जायसी की वर्णन-शैली पर भी सस्कृत प्रभाव न होकर अपभ्र श का ही प्रभाव अधिक है।

देश के स्थानो की जानकारी जायसी को काफी थी। इस सम्बन्ध मे आपकी जानकारी समकालीन तो थी ही वरन् प्राचीन प्रसिद्धियो का भी आपको काफी ज्ञान था। देश के विभिन्न शहरो, प्रदेशो, समुद्रो उनके किनारो इत्यादि, सभी का इन्हे ज्ञान था।

जायसी की ऐतिहासिक जानकारी भी कम नही थी। पद्मावत का उत्तरार्द्ध इतिहास के बहुत निकट है। उनकी कथा मे इतिहास-तत्व की अवहेलना नही मिलती, वरन् उसकी मान्यता को स्थापित ही किया गया है।

जायसी को ज्योतिष का भी ज्ञान था और जो उदाहरण उन्होंने स्थान-स्थान पर दिये हैं वे ज्योतिषाचार्यो ने गलग साबित नही किये, परन्तु फिर भी उन सकेतो के आधार पर आपको ज्योतिषाचार्य घोषित कर देना हम युक्ति-सगत नही समझते।

जायसी को योग-सम्बन्धी भी जानकारी थी। योग-सम्बन्धी शब्दो का भी आपने प्रयीग किया है, परन्तु अव्यवस्थित रूप से। कबीर जैसा-योग-सम्बन्धी ज्ञान आपको नही था। फिर भी शाब्दिक प्रयोग आपका गलत नही है।

जायसी का इस्लाम-धर्म सम्बन्धी ज्ञान काफी व्यापक था और कुरान शरीफ की बहुत सी मान्यताओ का उल्लेख आपने सिद्धान्त रूप से पद्‌मावत मे किया है। जीव, प्रकृति, ब्रह्म इत्यादि का वर्णन आपने उसी आधार पर किया है।

जायसी का फारसी शायरी का भी अच्छा अध्ययन था। आपकी कविता पर फारसी-शायरी का काफी प्रभाव है। नाजुक खयालियाँ तो हैं ही फारसी कविता की देन। फारसी की बहुत सी उक्तियो का कवि ने पद्‌मावत मे समावेश किया है।

जायसी ने पद्‌मावत मे बहुत सी पौराणिक बाते भी देने का प्रयास किया है, परन्तु उसमे आप भूलें कर गये है क्योकि आपकी पौराणिक जानकारी पौराणिक ग्रन्थो पर आधारित नही थी। आपकी यह जानकारी सुनी-सुनाई बातो पर आधारित थी।

९ | जायसी का मूल्यांकन

धार्मिक प्रवक्ता के नाते—महाकवि जायसी एक सूफी फकीर थे, जैसा कि हम पीछे कह चुके है। धार्मिक क्षेत्र मे आप एक सीधे सच्चे मुसलमान थे। इन्सानियत के नाते आप हिन्दू तथा मुसलमान मे कोई भेद नही समझते थे और अपने ज्ञान की वृद्धि के लिए हिन्दू साधू-सन्तो का सत्संग भी करते थे, परन्तु उनकी पूर्ण आस्था मुसलमान-धर्म मे ही थी। यह कट्टर पन्थी नही थे और जोर-जुलुम से मत-परिवर्तन का पक्षपात ये नहीं कर सकते थे। इस प्रकार के धर्म-परिवर्तन को बुरा समझते थे। यह प्रेम के पुजारी थे और प्रेम तथा मुहब्बत से ही अपने धार्मिक विश्वासों की छाप अन्य लोगो पर डालना पसन्द करते थे।

मुसलमानी धर्म की सभी मान्यताएँ इन्हे मान्य थी। मुसलमान-सस्कृति का उनके जीवन पर पूर्ण प्रधाव था और मुहम्मद साहब को यह आदर्श धर्म प्रवक्ता के रूप मे ग्रहण करते थे। सृष्टि का विकास भी आपने मुसलमानी धर्म-ग्रन्थो के आधार पर ही माना है।

सूफी-धर्म का प्रचार यह करते थे और उसी के सिद्धान्तो की पुष्टि मे आपने जनभाषा मे काव्य-रचना की। जायसी ने अपने साहित्य मे हिन्दू-कथाओ को लेकर उनमे सूफी सिद्धान्तो को इस तरह गूँथा है कि जिससे हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ही पाठक उसमे रस ले सकें। काव्य-शैली इत्यादि मे भी भारतीय कविता-काव्य और मसनवियो के ढग का सामजस्य स्थापित किया है। इस प्रकार आपने मुसलमान होने पर भी कट्टर पन्थी न होने के नाते, हिन्दू तथा मुसलमान-धर्म को पास लाने का प्रयास किया है। पारस्परिक घृणा, वैर, भेद, और जलन पर आपने सूफी प्रेम का मरहम लगाया है और दो धर्मों को पृथक-पृथक मानते हुए भी सिद्धान्त रूप से प्रेम तत्व की ओर सम्मान पैदा करने का प्रयास किया है। पारस्परिक प्रेम और सद्भावना ही ईश्वरीय प्रेम और आकर्षण है. यही मूल-मत्र कवि ने अपने साहित्य द्वारा प्रचारित किया है। जनता के विचार की रूढियो के उखाड़-पछाड़ मे कवि ने समय नष्ट नही किया और न ही उस ओर कभी ध्यान

दिया। जिन तत्वो को आपने लिया है, उनके मूल रूप को ही ग्रहण किया है। ब्रह्म, माया, प्रकृति, जीव इत्यादि के विवेचन भी आपने प्राचीन मान्यताओ के आधार पर ज्यो-के-त्यो कर दिये हैं। उनमे आपकी ओर से किसी नवीनता का आविष्कार नही किया गया।

जायसी ने वास्तव मे विचार के क्षेत्र मे कदम रखने का प्रयास ही नही किया और साथ ही कही पर अपने को आचार्य समझने का दावा भी नही किया।

मानवतावादी भावनात्मक व्यक्ति के नाते—भावना 'जायसी' के जीवन की प्रधानता है। मस्तिष्क-बल की अपेक्षा हमे कवि मे हृदय-बल ही अधिक दिखलाई देता है। जायसी ने धर्म और साहित्य के विचार-पक्ष को न छूकर केवल भावना-पक्ष को ही छुआ है और उसी के आधार पर अपनी सब धार्मिक तथा बौद्धिक-मान्यताओ को प्रतिपादित किया है। जायसी ने जीवन के जिस पहलू को भी देखा है, बहुत ही सहृदयता के साथ देखा है।

जायसी एक मानववादी व्यक्ति थे। मानव के सामने उनके सभी धर्म पीछे रह जाते थे। मानवीय सिद्धान्तो के बीच कभी भी उनका धर्म बाधा स्वरूप नही आता था। महाकवि जायसी ने अपने साहित्य मे हिन्दू तथा मुसलमानी विचार-धाराओं के सामान्य रूप मे सामजस्य स्थापित करने का प्रयास किया है। आध्यात्मिक तत्वो के जटिल विवेचनो द्वारा दोनो धर्मों मे सामजस्य स्थापित करना उनके लिए कठिन था, परन्तु मानवीय जीवन की सरल आवश्यकताओ के क्षेत्र मे उनका भावनात्मक साम्य स्थापित करना कठिन नही था। वही महाकवि जायसी ने किया। उन्होने मानवीय क्षेत्र मे दोनो को एक स्तर पर रखकर अपने साहित्य मे समान रूप से दोनो को अपनाया और यहाँ तक कि अपने प्रधान पात्रो को हिन्दुओ मे से ही चुना, मुसलमानो मे से नही। फिर उनकी धार्मिक मान्यताओ को भी महाकवि कबीर की भाँति नश्तर लेकर छीलने वाली प्रवृत्ति उनकी नही रही। उन्होने सभी मान्यताओ को सहृदयता के साथ परखा और जनता के सामने रखा।

महाकवि जायसी मुसलमान-धर्म के उन सन्त फ़कीरो मे से थे जो जुबान से धर्म-परिवर्तन की बात करना पसन्द नही करते थे। वह अपने जीवन मे अपने सिद्धान्तो को घटाते थे, अपने आचरण अपने सिद्धान्तो के अनुकूल बनाते थे, अपने सम्पर्क मे आने वाले लोगो से प्रेम, मोहब्बत, सचाई, सद्भावना और सहिष्णुता से बातें और व्यवहार करते थे। उनके दुख दर्द को समझते और उसे अपनी शक्ति के अनुसार दूर करने का प्रयास करते थे। उनके इस आचरण का प्रभाव जनता और राजे-महाराजो तक पर पडता था और वे सभी उनका आदर करते थे। इच्छाएँ इनकी कुछ होती ही नही थी। इनका यही चरित्र इनके सिद्धान्तो का प्रचार करता था और लोगो को इनका मुरीद बना कर इनकी मान्यताओं का प्रचार करता था। जायसी के सिद्धान्तवाद की अपेक्षा इनका जीवन ही उन

की मान्यताओं का आदर्श था, वही उनका धर्म-ग्रंथ था और वही उनकी उपदेश तथा प्रचार-प्रणाली। जायसी की मान्यताओ को अपनाने की प्रेरणा उनके भक्तो और मुरीदो को व्यवहार से ही मिलती थी, उसका उनके जीवन पर चमत्कारात्मक प्रभाव भी पडता था।

विचारक के नाते —जायसी कबीर की भाँति विचारक नही थे। वह तो सूर तथा मीरा की भाँति स्वय भी एक साधक ही थे और प्रेम-साधना के मार्ग पर चलकर उन्हे जो सिद्धि मिली थी वह विचार की अपेक्षा भावना के अधिक निकट थी। धर्म की परिभाषाये ऊपरी रूप से मुसलमानी मान्यताओ को ही लेकर चलती थी, परन्तु उनकी विचारधारा मे सामान्य भक्ति और प्रेम का ही रूप अधिक स्पष्ट रूप से मुखरित होता था। प्रेम की साधना मे जीवन व्यतीत करने वाले इस प्रेमी का जीवन आध्यात्मिक तत्त्वो की जटिलताओ के विवेचन की ओर उतना झुका हुआ नही था जितना सूफी सिद्धान्तो के आधार पर भगवान् के प्रेम मे महव होकर उसमे लीन हो जाने की ओर था। जायसी ने अपने धर्म या उसकी मान्यताओं को लेकर कोई नये सिद्धान्तो या विचारो को नही गढा और न ही उन की कुछ नये ढग से विवेचना ही की। पुरानी चली आती हुई मान्यताओ को ही लेकर अपने जीवन मे ढाला और अपने साहित्य मे उनका प्रतिपादन किया, तथा उनके अच्छे और सरल तत्त्वो को अपनाने का प्रयास किया।

जायसी कोमल भावनाओ का चितेरा है, जिसने मानव-जीवन के भावनात्मक पहलुओ को समझने और अपने साहित्य मे स्पष्ट करने के अन्दर कमाल किया है। प्रेमी आत्माओ की तडप का जैसा सजीव चित्रण महाकवि जायसी ने किया है वैसा हिन्दी-साहित्य मे सूर और मीरा के अतिरिक्त अन्य किसी भी कवि के अन्दर नही मिलता। जहाँ जायसी मानव-जीवन की प्रेममयी भावना के अन्दर घुसता है, वहाँ उसकी नजर से उसकी कल्पना, उसकी भावना के दायरे से धर्म और आध्यात्मिक तत्व-विवेचन दूर जाकर खडे हो जाते हैं। महाकवि जायसी ने अपने पात्रो के हृदयों से अपने हृदय को मिलाकर देखा है और उनकी भावनाओ को अपने हृदयो में भरकर साहित्य मे सन्निहित कर दिया है।

जायसी भावनाओ का चितेरा है, जिसने स्त्री और पुरुष के पारस्परिक सम्बन्धों और उनकी कोमल भावनाओ को बहुत ही महृदयता से अकित किया है। कवि ने सूफी सिद्धान्तों के अनुसार परमात्मा को माशूक के रूप मे स्त्री स्वरूप मे देखा है और पद्मावती का चित्रण कवि ने परमात्मा के रूप मे किया है। आत्मा रत्नसेन परमात्मा पद्मावती के रूप का वर्णन तोते गुरू से प्राप्त करके उससे मिलने के लिए प्रेम-विह्वल हो उठता है। कवि क्योकि प्रेम का भावनात्मक चितेरा है, इसलिए रूप-सौंदर्य ही उसके लिए सब कुछ है और उसी के लिए वह व्याकुल है। लौकिक जगत की सुन्दर-से-सुन्दर वस्तु का स्त्री-रूप मे कवि चित्रण करता है और वही स्त्री उसकी प्रेमिका है जिसके रूप मे परमात्मा

का अपार सौंदर्य विद्यमान है। इस अलौकिक सौदर्य की प्रतिमा के ऊपर ससार की सब सुख समृद्धियाँ न्यौछावर है। जिस तरह गोकुल की गोपिया कृष्ण की मुरली की पुकार सुनकर लोक-लाज का परित्याग कर कृष्ण के पास पहुच जाती थी, उसी प्रकार जायसी का रत्नसेन भी नागमती और अपने राज्य तथा सब सुख-वैभव का परित्याग करके पद्मावती को प्राप्त करने के लिए निकल जाता है, परन्तु यहाँ परमात्मा का मिलना उतना सुलभ नही जितना गोपियो तथा राधा को कृष्ण का मिलन था। यहाँ जायसी की मिलन-पद्धति पर कबीर की हठयोगी मान्यताओ का प्रभाव है। उसके मिलन-मार्ग मे अनेको सकट और कठिनाइयाँ आती हैं और उन्हे पार करके अन्त मे पद्मावती के पास तक पहुचा जाता है। उसका मार्ग-प्रदर्शन करने वाला तोता-गुरू उसके साथ है। गुरू की भावना मे भी कबीर की मान्यता का प्रभाव हमे स्पष्ट दिखलाई देता है।

प्रेम-पद्धति मे मिलन और बिछोह दोनो ही परिस्थितियो के जीवन मे आने वाले प्रभावो का जायसी ने कल्पनातीत चित्रण किया है। जीवन की विविध परिस्थितियो मे कैसी-कैसी भावनाएँ उभरकर आती हैं और विशेष रूप से प्रेम-व्यवहारो मे चित्त और मन की क्या दशा होती है, उसका शरीर और जीवन के कार्य-कलापो पर क्या-क्या प्रभाव पडता है, इसका जायसी से अधिक सजीव चित्रण अन्य कोई कवि नही कर पाया।

महाकवि जायसी ने भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनो प्रकार के प्रेम का पद्मावत मे सामजस्य स्थापित किया है और दोनो की ही परिस्थितियो का खूब उभार कर चित्रण किया है। जायसी प्रेम-काव्य का हिन्दी मे सबसे कुशल कलाकार है।

एक साहित्यकार के नाते—साहित्य के क्षेत्र मे जायसी का जहाँ तक भाषा से सम्बन्ध है, वह उसने जन-भाषा को अपनाया है, परन्तु जन-भाषा होने का यह तात्पर्य नही कि वह उनकी भावनाओ और विचारो को पूर्ण रूप से व्यक्त ही न कर सकी हो। जायसी की भाषा उनके भावो को व्यक्त करने मे पूर्णरूप से सफल है और कही-कही तो वह सादगी मे साकार अलकार बन गई है।

भाषा मे अलकारो का जहा तक सम्बन्ध है कवि ने शब्दालकारो की अपेक्षा अर्थालकारो का ही अधिक प्रयोग किया है और वह भी सादृश्य मूलक अलकारो का। अलकारो की भरमार करके उनके नीचे भाव, विचार और कथा को दबा देना उसका उद्देश्य नही रहा बल्कि इनके सहायक तथा पोषक साधनो के रूप में ही उसने अलकारो का प्रयोग किया है।

भाषा और अलकारिक सौंदर्य के पश्चात् साहित्य मे कथा, चरित्र-चित्रण, विचार तथा भावनाएं आती है। जहाँ तक विचार और भावना का सम्बन्ध है वह हम ऊपर सकेत कर चुके हैं। कथा-तत्त्व का निर्वाह जायसी ने बहुत सुन्दर

किया है। कल्पना और इतिहास का सुन्दर सामंजस्य हमे जायसी के काव्य मे देखने को मिलता है। कथा के अन्दर उप-कथाएँ आती है, जो प्रधान कथा की पोषक होती हैं। उनसे कही भी प्रधान कथा के फैलाव मे बाधा उपस्थित नही होती। कथा के क्रमिक विकास मे जायसी को पूर्ण सफलता मिली है।

चरित्र-चित्रण के क्षेत्र मे कवि ने विशेष रूप से किसी पात्र के चरित्र पर प्रकाश नही डाला। कथा-प्रवाह और विषय के स्पष्टीकरण मे पात्र स्वय निखरते है और उनका चरित्र सामने आता है। काव्य के विकास के साथ-साथ पात्रो के नैतिक, सामाजिक और राजनैतिक जीवन का विकास होता है। प्रत्येक पात्र अपनी-अपनी जीवन-स्थिति के अनुसार निखर कर सामने आता है।

जायसी का प्रधान काव्य पद्मावत है। यह प्रेम-काव्य है, और इसके अन्दर जीवन की प्रेम-परिस्थितियो का चित्रण कवि ने बहुत ही कलात्मक ढग से किया है। कवि का किसी भी बात को कहने का ढग बहुत सरल और सादा है, परन्तु क्योकि वह जीवन की गहराई को सचाई के साथ अपने मे सजोकर चलता है इसलिए उसमे हृदय को छू लेने की शक्ति विद्यमान रहती है।

महाकवि जायसी का साहित्य सरल तथा स्पष्ट है। उनमे न तो पाडित्य-प्रदर्शन की ठनक ही है और न बातो को घुमा फिराकर कहने की ही प्रणाली को अपनाया गया है। जीवन के मार्मिक स्थलो के सरल भाषा और सरल प्रणाली मे किये गये चित्रण इतने प्रभावात्मक हो उठे हैं कि पाठक उन्हे पढकर द्रवित न हो, यह असम्भव है।

जायसी के साहित्य मे शृगार और करुण रस का प्रवाह बहुत ही स्वाभाविक ढग से हुआ है। नागमती का विरह-वर्णन कवि की अनूठी कला का द्योतक है। उसमे भावना के साकार चित्र उपस्थित किये गए है

जिन्ह घर कता ते सुखी, तिन्ह गारौ औ गर्ब।
कंत पियारा बाहरै, हम सुख भूला सर्ब॥
सावन बरस मेह अति पानी। भरनि परी, हौं बिरह झुरानी।
लाग पुनरबसु पीउ न देखा। भई बाउरि, कहँ कन्त सरेखा॥
रकत कै आँसु परहिं भुइँ टूटी। रेंगि चली जस बीर बहूटी।
सखिन्ह रचा पिउ संग हिंडोला। हरियरि भूमि, कुसुम्भी चोला॥
हिय हिंडोल अस डोलै मोरा। बिरह झुलाइ देउ झकझोरा।
बाट असूझ अथाह गँभीरी। जिउ बाउर, भा फिरै भँभीरी॥
जग जल बूढ़ जहां लगि ताकी। मोरि नाव खेवक बिन थाकी।
परबत समुद आगम बिच बीहड़ घन वन ढांख।
किमिकै भेटौं कंत तुम्ह ? ना मोहि पांव न पांख॥

इस प्रकार हमने देखा कि महाकवि जायसी भावनाओ के वह सरल चितेरे

है कि जिनके काव्य मे जीवन की कोमल तथा सरल और मधुर भावनाएँ रगीन कल्पनाओ के साथ खिल उठी है। जो कुछ भी कवि ने कहा है वह बहुत ही सरल तथा स्वाभाविक ढग से कहा है और इसीलिए वह बहुत प्रभावात्मक भी हो गया है। सरल प्रेम के पुजारी जायसी ने पद्मावती मे अलौकिक रूप सौदर्य की प्रतिष्ठा की है और इसीलिए, उसकी प्राप्ति रत्नसेन को इतनी कठिनाइयो का सामना करके, वन जगलो तथा सात समुद्रो को पार करके करनी होती है। कवि ने पद्मावती की लोक-प्रसिद्ध कथा को, जिसके लिए हिन्दुओ मे एक विशेष आस्था और सम्मान पैदा हो चुका था, अपनी कल्पना की चाशनी मे पाग कर और भी आकर्षक तथा मधुर बना दिया है।

महाकवि जायसी का स्थान हिन्दी मे एक साहित्यिक के नाते बहुत ऊँचा है। प्रेम-काव्य का वह महानतम कलाकार है और अपना सानी भी नही रखता। प्रबन्ध-काव्य की दृष्टि से भी गोस्वामी तुलसीदास के मानस के पश्चात् पद्मावत का ही नम्बर आता है। विरह और श्रृगार के चित्रण मे महाकवि सूर और मीरा के कुछ पद् को ही इनकी समानता मे रखा जा सकता है। नागमती का विरह और गोपियो का विरह मूलरूप से एकसा ही है। जायसी का चित्रण बहुत ही मर्मस्पर्शी और प्रभावशाली हुआ है। उर्दू की नाजुक खयाली कही-कही पर आजाने से उसमे भारतीय सस्कृति की सात्विकता को ठेस सी लगती प्रतीत होती है, परन्तु वास्तव में यदि उसे हमे सूफी मान्यताओ की रोशनी मे रखकर विचार करते है तो वह कमी कमी नही रह जाती, बल्कि उत्कर्षात्मक प्रवृत्ति के रूप मे सामने आती है।

सार निरूपण—महाकवि जायसी मुसलमानी आस्थाओ मे विश्वास रखने वाले सूफी मुसलमान थे और अपनी ही मान्यता का प्रचार उन्होने किया है। मुसलमान धर्म के प्रवर्तको मे उनका पूर्ण विश्वास था और उनकी मान्यताओ तथा पाबदियो की रूढियो का उन पर असर था। वह एक सूफी मुसलमान थे और मुसलमानी दर्शन के प्रति ही उनकी मान्यता थी।

मुसलमान होते हुए भी जायसी मानवतावादी थे। इनके इन्सानियत के उसूलो के बीच मे धर्म नही आता था। सरल सहृदय और दयालु व्यक्ति होने के नाते वह इन्सानियत के स्तर पर हिन्दू और मुसलमान मे भेद नही समझते थे। इसीलिए हिन्दू और मुसलमान दोनो उनके मुरीद थे। अमैठी के हिन्दू राजा इनका बडा सम्मान करते थे। यह धर्म का प्रचार व्याख्यान इत्यादि देकर नही करते थे, वरन् इन्होने अपने जीवन को अपने सिद्धातो के ढाँचे मे इस प्रकार ढाला था कि उसका इनके सम्पर्क मे आने वालो पर प्रभाव पडता था और वे इनके उसूलों से आकर्षित होकर इन पर ईमान ले आते थे।

जायसी भावुक कवि थे, विचारक नही। जहाँ तक उनकी आध्यात्मिक

मान्यताओं का सम्बन्ध था, यह उन्ही मान्यताओ को मानते थे जो मुसलमान धर्म और विशेष रूप से सूफी धर्म-प्रवर्तको द्वारा मानी जाती थी ।

जायसी भावना का कलात्मक चितेरा था और मानव-जीवन के पारस्परिक सम्बन्धो तथा व्यवहारो का विशेष रूप से प्रेम के क्षेत्र मे कवि ने बहुत ही सरल तथा सरस चित्रण किया है। एक साहित्यिक के नाते जायसी का हिन्दी साहित्य मे अमिट स्थान है । साहित्य के आवश्यक पहलुओ का आपने एक सफल साहित्यकार के नाते चित्रण किया है । प्रेम-काव्य की रचना मे जायसी को पूर्ण सफलता मिली है । पद्मावत हिन्दी का सर्व श्रेष्ठ प्रेम-काव्य और ऊँचे दर्जे का प्रबन्ध-काव्य है ।

१० प्रेम-साहित्य की परम्परा

हिन्दी साहित्य के इतिहास मे वीरगाथा-काल के पश्चात् भक्ति-काल आता है। इस काल का नाम भक्ति-काल इसलिए पडा कि इसमे अधिकाश कवि भक्ति विषयक रचनाओ को लेकर साहित्य मे अवतीर्ण हुए। भक्ति-काल मे भक्ति की दो प्रथक्-प्रथक् धाराएँ प्रवाहित हुई,—एक निर्गुण मार्गी धारा तथा दूसरी सगुण भक्ति-धारा। निर्गुण भक्ति-धारा के प्रवर्तक स्वरूप महाकवि कबीर साहित्य मे आये। निर्गुण भक्ति की भी दो शाखाएँ एक दूसरी से भिन्न आदर्शों तथा मान्यताओ को लेकर सामने आई। इनमे प्रथम ज्ञानाश्रयी शाखा रही तथा दूसरी ने प्रेमाश्रयी रूप धारण किया।

निर्गुणोपासक भक्तो की यह दूसरी शाखा सूफी फकीरो की थी जिन्होने प्रेम-ग्रन्थो के द्वारा प्रेम-तत्व का वर्णन किया। लौकिक प्रेम मे पारलौकिक प्रेम की झाँकी दिखला कर इन लोगो ने प्रेमगाथाओ का चित्रण किया। सूफी फकीरो की इसी शाखा ने हिन्दी को प्रेम-रस पूर्ण साहित्य की अपूर्ण निधि प्रदान की। इस धारा के अन्तर्गत बहुत से कवि आये, परन्तु इनमे सर्वश्रेष्ठ स्थान मलिक मुहम्मद जायसी का है। इस अध्याय मे हम इस परम्परा के लेखको तथा उनकी रचनाओ का उलेल्ख करेंगे।

कुतबन : कुतबन शेख बुरहान के शिष्य थे। शेख बुरहान चिश्ती वश से सम्बन्ध रखते थे। विक्रम की सोलहवी शताब्दी के मध्यकाल (संवत् १५५०) मे इनका जीवन-समय आता है। आपने सवत् १५५८ मे मृगावती नाम की एक प्रेम-कहानी दोहे तथा चौपाइयो में लिखी। इसमे चन्द्रनगर के राजा गणपतिदेव के राजकुमार और कचनपुर के राजा रूपमुरारि की मृगावती कन्या की प्रेम-कहानी का कवि ने चित्रण किया है। इस कहानी मे कवि ने प्रेम के लिए किये गये त्याग और प्रेमिका की प्राप्ति मे उठाये गये कष्ट का वर्णन किय है। एक साधक भगवान् की भक्ति मे किस प्रकार कष्ट उठाता है। इसकी झलक हमें इस ग्रन्थ मे मिलती है। कथा-प्रवाह के बीच सूफी शैली के आधार पर स्थान-स्थान

पर रहस्यात्मक चित्रण भी मिल जाता है। कहानी इस प्रकार है कि चन्द्रगिरि के राजा गणपतिदेव का पुत्र कचन नगर के राजा रूपमुरारि की राजकुमारी मृगावती पर मोहित हो जाता है। यह राजकुमारी बडी अनोखी और सुन्दर है तथा यह उड़ने की विद्या मे भी निपुण है। राजकुमार अनेको कष्ट सहन करके उसके पास तक पहुचता है, लेकिन राजकुमारी एक दिन राजकुमार को धोखा देकर कही उड जाती है। राजकुमार उसकी खोज मे योगी बनकर निकल पडता है। मार्ग मे समुद्र के बीच एक पहाडी पर रुकमनी नामक एक सुन्दरी को वह एक राक्षस से बचाता है। उस युवती का पिता राजकुमार से उसका विवाह कर देता है। फिर भी राजकुमार मृगावती की खोज नही छोडता और उस देश मे पहुच ही जाता है जहाँ वह अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् राज करती हुई मिलती है। वहाँ वह बारह वर्ष रहता है। राजकुमार का पिता उसका पता लगाने पर वहा अपना दूत भेजता है। पिया का सदेश पाकर वह मृगावती को साथ लेकर वहाँ से चल पडता है। मार्ग मे से वह रुक्मनी को भी ले लेता है। राजकुमार काफी दिन तक आनन्द-सुख भोगता है और उसकी मृत्यु एक दिन आखेट मे हाथी से गिरकर होती है। उसकी दोनो रानियाँ सती हो जाती है।

सती की प्रथा का प्रभाव प्रेम-काव्यकारो की रचनाओ पर मिलता है। प्रेमी के बिरह मे जल मरने की बात सम्भवत हिन्दू धर्म की मान्यता के रूप मे न अपनाकर उन्होने प्रेम-मार्गीय मान्यता के रूप मे अपनाई है।

मझन : कवि मझन के जीवन-सम्बन्धी कोई जानकारी प्राप्त नही है। उनकी रचना मधुमालती की एक खडित प्रति मिलती है। मधुमालती की रचना भी कवि ने दोहे और चौपाइयो मे की है। पॉच-पाँच चौपाइयो के पश्चात् एक दोहा आता है। मृगावती की अपेक्षा मधुमालती की कल्पना अधिक सजीव और मधुर है। इस रचना को देखने से कवि की स्निग्ध सहृदयता और सजीव कल्पना का पता चलता है। इस काव्य मे कवि-कल्पना बहुत ही विशद है। वर्णन भी बहुत व्यापक और सजीव तथा साकार है। मझन ने आध्यात्मिक तत्वो का निरूपण प्राकृतिक दृश्यो के चित्रण द्वारा ही किया है।

मधुमालती की कथा इस प्रकार है कि कनेसर नगर के राजकुमार मनोहर को सुप्तावस्था मे ही उठाकर कुछ अप्सराये महारस नगर की राजकुमारी मधुमालती की चित्रसारी मे रख आती हे। राजकुमार की आँखें खुली तो वह मधुमालती के दर्शन करता है। दोनो एक दूसरे को देखकर मोहित हो जाते हैं। मनोहर पूछने पर अपना परिचय देता है। बाते करते-करते दोनो सो जाते हैं। सोने पर अप्सराये मनोहर को वहाँ से उठाकर फिर उसी देश मे छोड आती है। जब दोनो की आँखें खुलती है तो दोनो एक दूसरे के प्रेम मे व्याकुल हो उठते है। राजकुमार वियोगाकुल होकर घर से निकल पडता है और समुद्र-मार्ग से यात्रा करता हुआ दूर परदेश मे निकल जाता है। समुद्र मे तूफान आता है

और जहाज डूब जाता है तथा साथी सब बिछुड जाते है। राजकुमार एक टूटे पटरे पर बैठा हुआ एक जगल मे जा पहुँचता है। वहाँ एक स्थान पर एक पलग के ऊपर उसे एक सुन्दरी लेटी हुई मिलती है। पूछने पर ज्ञात होता है कि वह चितबिसरामपुर की राजकुमारी प्रेमा है और वहाँ उसे एक राक्षस उठा लाया है। मनोहर उस राक्षस को मार कर प्रेमा का उद्धार करता है।

प्रेमा यहाँ मधुमालती को अपनी सखी बतलाती है और मनोहर को आश्वासन देती है कि वह उससे मनोहर को मिला देगी। मनोहर और प्रेमा यहाँ से प्रेमा के पिता के राज्य मे पहुँचते है। वहाँ प्रेमा का पिता प्रेमा के उद्धार की गाथा सुनकर उसका विवाह मनोहर से करना चाहता है, परन्तु प्रेमा उसे भाई स्वरूप ग्रहण करती है और कहती है कि उसने उसकी प्रेम पात्री मधुमालती से मिलाने का उसे वचन दिया है। दूसरे दिन मधुमालती अपनी माता रूपमजरी के साथ प्रेमा के घर आती है और वही पर मनोहर राजकुमार से उनका साक्षातकार होता है। दूसरे दिन प्रेममजरी ने मधुमालती और मनोहर को साथ-साथ पाया। यह बात प्रेममजरी को पसन्द नही आई और जब दूसरे सवेरे मनोहर उठा तो उसने सुना कि प्रेममजरी अपनी पुत्री मधुमालती को बुरा-भला कह रही थी कि मनोहर को छोड दे। जब मधुमालती ने अपनी माता की यह बात न मानी तो उसकी माता ने उसे पक्षी बन जाने का श्राप दे दिया। मधुमालती चिडिया बनकर उडती-उडती बहुत दूर निकल गई। इस चिडिया पर कुँवर ताराचन्द नामक राजकुमार की दृष्टि पडी और उन्हे यह बहुत पसन्द आई। ताराचन्द ने उसे पकडना चाहा। चिडिया को ताराचन्द का रूप कुछ-कुछ मनोहर जैसा लगा। वह ठिठकी और पकडी गई। ताराचन्द ने उसके लिए सोने का पिंजड़ा बनवा दिया। एक दिन इस चिडिया ने ताराचन्द से अपने प्रेम की कहानी कह सुनाई। उसे सुनकर ताराचन्द बहुत द्रवित हुआ और उसने वचन दिया कि वह उसे मनोहर से अवश्य मिलायेगा। ताराचन्द उस पिजड़े को लेकर महारसनगर मे पहुँचा। वहाँ मधुमालती की माता, जो उसके चले जाने पर बहुत दुखी हो रही थी, उसे पाकर प्रसन्न हुई और उस पर जल छिडक कर उसे फिर उसी रूप मे बदल दिया। मधुमालती के माता-पिता ने ताराचन्द के साथ मधुमालती का विवाह करने का विचार किया, परन्तु ताराचन्द ने मधुमालती को अपनी भगिनि-स्वरूप ग्रहण न किया और विवाह करने से इकार कर दिया। उसने कहा, 'मधुमालती मेरी बहिन है और मैंने उससे प्रतिज्ञा की है कि मैं जैसे भी होगा उसकी भेट मनोहर से कराऊँगा।" मधुमालती की माता ने फिर यह वृतान्त प्रेमा के पास लिख भेजा। इसी समय मधुमालती की एक सखी आकर सूचना देती है कि मनोहर योगी के रूप मे उनके द्वार पर आ पहुँचा है।

मधुमालती और मनोहर का विवाह हो जाता है। मनोहर, मधुमालती और ताराचन्द बहुत दिन तक प्रेमा के यहाँ रहते हैं। यहाँ ताराचन्द प्रेमा पर मोहित

होकर मूर्छित हो जाता है।

इससे आगे की पाडुलिपि फट गई है, परन्तु हुआ यही होगा कि ताराचन्द और प्रेमा का विवाह हो गया होगा। मधुमालती पर भारतीय आदर्शों का प्रभाव बहुत अधिक है। भग्नि की भावना का जो रूप इसमे सामने आता है वह हिन्दू धर्म की अपनी विशेषता है। प्रेमा का मनोहर को भ्राता स्वरूप ग्रहण करना और ताराचन्द का उसी प्रकार मधुमालती को बहिन स्वरूप ही ग्रहण करना, इस काव्य की सैद्धान्तिक विशेषताएँ है।

इस ग्रन्थ मे नायक और नायिका के अतिरिक्त कवि ने उपनायक और उप-नायिका की भी सृष्टि की है। सच्ची सहानुभूति और मानव का मानव के प्रति भावनात्मक आकर्षण होना प्रदर्शित किया गया है। प्रेम-तत्व की अखडता को कवि ने प्रतिपादित किया है। ईश्वर के विरह का कवि ने सुन्दर चित्रण किया है

बिरह अवधि अवगाह अपारा। कोटि माँहि एक परै न पारा॥
बिरह की जगत अँविरथा जही। बिरह रूप यह सृष्टि सबाही॥
नैन बिरह-अजन जिन सारा। बिरह रूप दरपन ससारा॥
कोटि माँहि बिरला जग कोई। जाहि सरीर बिरह-दुख होई॥
रतन की सागर सागर्राह? गज मोती गज कोई।
चंदन कि बनी बन उपजै, बिरह कि तन-तन होई।
हिन्दी साहित्य का इतिहास-रामचन्द्र शुक्ल-पृष्ठ ६७

विरह का चित्रण कवि ने बहुत ही मार्मिक ढग से किया है। सूफी प्रेममार्गीय कवियो ने अपनी कथाओ के बीच-बीच मे ईश्वरीय प्रेम की झाँकी दिखलाई है और जहाँ भी उन्हे सौदर्य के दर्शन होते है, वहाँ ईश्वर की ज्योति दिखलाई देती है

देखत ही पहिचानेउ तोहीं. एही रूप जेहि छंदरयो मोही॥
एही रूप बत अहै छपाना। एही रूप रब सृष्टि समाना॥
एही रूप सकती और सीऊ। एही रूप त्रिभुवन कर जीऊ॥
एही रूप प्रगटे बहु भेसा। एही रूप जग रंक नरेसा॥
—हिन्दी-साहित्य का इतिहास-रामचन्द्र शुक्ल-पृष्ठ ६७

कविवर मझन का रचना-काल ठीक-ठीक ज्ञात नही है, परन्तु यह सम्वत: १५५० और १५९५ के बीच मे ही रहा होगा। महाकवि जायसी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ पद्मावत मे अपने से पूर्व लिखे गये ग्रन्थो का इस प्रकार उल्लेख किया है:

विक्रम धँसा प्रेम के बारा। सपनावति कहँ गयेउ पतारा॥
मधूपाछ मुगधावती लागी। गगनपूर होइगा बैरागी॥
राज कुँवर कचनपुर गयऊ। मिरगावति कहँ जोगी भयऊ॥

साधे कुवर खडावत जोगू । मधुमालति कर कीन्ह बियोगू ।।
प्रेमावति कह सुरबर साधा । उषा लागि अनिरुध-वर बाँधा ।।

अपने से पूर्व लिखे गये इस प्रकार चार काव्यो का कवि जायसी ने उल्लेख किया है—मुग्धावती, मृगावती, मधुमालती और प्रेमावती । इनमे मधुमालती और मृगावती की खोज हो सकी है और शेष दो के विषय मे कुछ ज्ञात नही हो सका ।

मलिक मुहम्मद जायसी जायसी के विषय मे यहा अधिक लिखना उचित नही क्योकि उनके प्राय सभी पहलुओ पर हम पीछे प्रकाश डाल चुके है। जायसी का प्रधान ग्रन्थ पद्मावत है। पद्मावत की रचना के पूर्व मधुमालती की ख्याति बहुत अधिक थी और इस धारा का यही प्रधान ग्रन्थ समझा जाता था। महा-कवि जायसी इस धारा के प्रधान कवि है और प्रेम-काव्य पद्मावत इसका प्रधान ग्रन्थ ।

उसमान : कविवर उसमान का रचना-काल जहाँगीर के समय मे था। यह गाजीपुर के रहने वाले थे। इनके पिता का नाम शेख हुसैन था और ये पाँच भाई थे। इनके चार भाइयो के नाम शेख अजीज, शेख मानुल्लाह, शेख फैजुल्लाह और शेख हसन थे। कविवर उसमान अपना उपनाम 'मान' लिखते थे। यह निजामु-द्दीन चिश्ती की शिष्य-परम्परा मे आने वाले बाबा हाजी के शिष्य थे। उसमान कवि ने १०२२ हिजरी अर्थात् सन् १६१३ ईस्वी मे 'चित्रावली' नामक पुस्तक लिखी। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ मे कवि ने चार खलीफा, बादशाह जहाँगीर, शाह निजामुद्दीन और बाबा हाजी की मुक्त कठ से प्रशसा की है। फिर अपने गाजीपुर नगर का वर्णन किया है। इसी स्थान पर अपने विषय मे भी लिखा है :

आदि हुता बिधि माथे लिखा । अच्छर चारि पढ़ै हम सिखा ।
देखत जगत चला सब जाई । एक बचन पै अमर रहाई ।।
बचन समान सुधा जग नाही । जेहि पाए कवि अमर रहाई ।।
मोहूं चाउ उठा पुनि हीए । होउँ अमर यह अमरित पीए ।।

चित्रावली मे कवि ने महाकवि जायसी का पूरा-पूरा अनुकरण किया है। जायसी के प्राय सभी विषयो को थोड़ा-बहुत उसमान ने भी छुआ है। शब्द और वाक्य-विन्यासो मे भी अनुकरण मिलता है। चित्रावली की कहानी बिल्कुल काल्पनिक है। उसमे लेश मात्र भी कही पर किसी इतिहास इत्यादि का आधार नही लिया गया। 'जोगी ढूँढन खड' मे बदख्शाँ, काबुल, रूम, खुरासान, मिश्र, सिहल द्वीप इत्यादि का भी उल्लेख कवि ने किया है। जोगियो को आपने अंग्रेजों के द्वीप मे भी पहुचाया है :

वलं दीप देखा अंगरेजा । तहाँ जाइ जेहि कठिन करेजा ।।
ऊँच-नीच धन संपति हेरा । मद बराह भोजन जिन्ह केरा ।।

कवि अपनी कल्पना के विषय मे लिखते हैं :

कथा एक मैं हिए उपजाई । कहत मीठ औ सुनत सुहाई ।।

कथा इस प्रकार चलती है कि नेपाल के राजा धरन्नी धर पँवार ने पुत्र के लिये कठिन व्रत पालन करके शिव-पार्वती के प्रसाद-स्वरूप 'सुजान' नामक पुत्र पाया। सुजान एक दिन शिकार खेलने निकला तो मार्ग भूल गया। रात्रि हो गई और वह एक देव की मढी मे जाकर सो रहा। देव ने 'सुजान' को अपने यहाँ सुरक्षित रखा। एक दिन जब देव रूपनगर की राजकुमारी चित्रावली की वर्ष-गाँठ का उत्सव देखने गया तो सुजान को भी साथ लेता गया। राजकुमार को देव-राजकुमारी की चित्रसारी मे छोडकर स्वय उत्सव देखने चले गये। यहाँ राजकुमार राजकुमारी का चित्र देखकर उस पर आसक्त हो गया। राजकुमार ने तुरन्त अपना भी एक चित्र बनाया और उसे राजकुमारी के चित्र के बराबर टांगकर स्वय वही एक ओर सो रहा। देव लोग उत्सव देखकर लौटे तो उसे सोता हुआ ही उठाकर अपनी मढी मे ले गये। जब राजकुमार की नीद खुली तो उसे लगा कि मानो वह कोई स्वप्न देख रहा था, परन्तु जब उसकी दृष्टि अपने रगे हुए हाथ की ओर गई तो उसने घटना की सत्यता को समझा और वह राजकुमारी के प्रेम मे विकल हो उठा। इसी बीच राजकुमार के पिता के आदमी भी उसे खोजते हुए देव की मढी मे आ पहुँचे और उसे अपने साथ राजधानी को ले गये। इसके पश्चात् वह फिर अपने साथी सुबुद्धि के साथ उसी मढ़ी मे गया और वहाँ एक अन्न सत्र खोल दिया।

उधर चित्रावली ने जब अपने चित्र के पास राजकुमार का चित्र देखा तो वह भी प्रेम मे विह्वल हो उठी। उसने अपने नपुंसक भृत्यो को जोगियो का भेष बनाकर राजकुमार की खोज करने के लिए भेजा। राजकुमारी की माता से एक कुटीचर ने इस घटना को कह सुनाया और अवसर पाकर उस चित्र को धोकर साफ कर दिया। जब राजकुमारी को इस घटना की सूचना मिली तो वह आग-बगूला हो उठी और उसने उस कुटीचर का सिर मुँडवाकर उसे निकाल दिया। राजकुमारी के भेजे हुए जोगियो मे से एक सुजान के अन्न सत्र मे पहुँच गया। वह राजकुमार को अपने साथ लेकर रूपनगर गया और वहाँ शिव-मदिर मे उसकी राजकुमारी से भेट हुई। इसी समय कुटीचर ने राजकुमार को अधा बना दिया और उसे एक गुफा मे डाल दिया। वहाँ उसे एक अजगर साँप ने निगल लिया, परन्तु उसके अन्दर तो विरह की ज्वाला धधक रही थी जिसे अजगर सहन न कर सका और उसे उलटा उगलना पडा। इसी जगह एक वनमानुष ने उसे अजन दिया, जिससे उसकी ज्योति फिर लौट आई। यहाँ जगल मे वह घूम ही रहा था कि उसे एक हाथी ने पकड लिया। इसी समय एक पक्षिराज आया और वह हाथी को ले उडा। ज्योही वह उसे लेकर उडा, उसने घबराकर राजकुमार को छोड़ दिया। राजकुमार समुद्र तट पर जा गिरा। राज-

कुमार वहाँ घूमता-फिरता सागरगढ नामक नगर में पहुचा और राजकुमारी कँवलावती की फुलवारी मे विश्राम के लिए लेट गया। जब राजकुमारी वहाँ आई तो वह उसे देखकर उस पर मोहित हो गई। राजकुमारी ने उसे अपने घर पर भोजन का निमन्त्रण दिया और जब वह उसके यहाँ गया तो भोजन के साथ अपना हार रखवाकर उसे चोरी के अपराध मे कैद करवा लिया। इसी समय सोहिल नामक कोई राजकुमार कँवलावती पर मोहित होकर उसे विजय करने के लिए उसके पिता के राज पर चढ आया। इस कठिन समय मे राजकुमार सुजान ने राज्य और कँवलावती की रक्षा की और सोहिल को मार भगाया। कँवलावती ने सुजान से अपने साथ विवाह का आग्रह किया तो सुजान ने उसे स्वीकार तो कर लिया, परन्तु यह प्रतिज्ञा की कि जब तक उसकी चित्रावली से भेंट नही हो जायेगी तब तक वह उसके साथ समागम नही करेगा। सुजान यहाँ से कँवलावती को साथ लेकर गिरनगर की यात्रा को चल दिया।

गिरनार में चित्रावली के भेजे हुए योगी उसकी खोज मे घूम रहे थे। उनमे से एक ने सुजान को पहिचान लिया। उसे पहिचानकर उन्होने चित्रावली को सूचना पहुचा दी। चित्रावली का पत्र लेकर एक जोगी आया और सागरगढ मे धूनी रमाकर बैठ गया। उस योगी की सिद्धि का सदेश पाकर सुजान उसके पास गया और फिर उसी के साथ रूपनगर पहुँचा। योगी सुजान को एक जगह बिठलाकर चित्रावली को सदेश देने चला। एक दासी ने यह समाचार रानी तक पहुचा दिया, जिसके फलस्वरूप राजकुमारी का योगी दूत मार्ग मे ही कैद कर लिया गया। जब दूत न लौटा तो राजकुमार सुजान पागल होकर चित्रावली-चित्रावली पुकारने लगा। राजा ने सुजान को मारने के लिए मतवाला हाथी छोडा परन्तु सुजान ने उसे मार डाला। राजा ने उस पर चढाई करने का विचार किया कि इतने में सुजानगढ से चित्रकार सोहिल को परास्त करने वाला वीर सुजान का चित्र लेकर आ पहुँचा। जब राजा ने देखा कि वह चित्राबली का प्रेमी वही सुजान कुमार है तो उसने उसके साथ चित्रावली का विवाह कर दिया।

उधर कँवलावती सुजान के विरह में व्याकुल हो रही थी। उसने अपने हस मिश्र को दूत स्वरूप सुजान के पास भेजा और उन्होने सुजान को भ्रमर की अन्योक्ति द्वारा कँवलावती की याद दिलाई।

सुजान को कँवलावती का स्मरण हो आया और वह चित्रावली को साथ लेकर अपने देश की ओर रवाना हुआ। मार्ग मे से उसने कँवलावती को भी अपने साथ ले लिया। रास्ते में समुद्री तूफान इत्यादि आये और अत मे वह दोनो रानियों को लेकर नेपाल पहुँच गया। वहाँ फिर उसने काफी दिन तक राज्य किया।

उसमान कवि ने जायसी का अनुकरण किया है, इसका संकेत हम पीछे दे

चुके हैं। जायसी की ही भाँति आपने काव्य में सात-सात चौपाई के पश्चात् एक दोहा रखा है। चित्रावली की कहानी काल्पनिक ही है और अपने समय की प्रचलित कहानियो के जैसी है। इसमे आध्यात्मिक पुट स्थान-स्थान पर कवि ने दी है। चित्रावली के प्राप्त न कर लेने तक कँवलावती के साथ समागम न करने की बात इसीलिए कथा मे ऊपर आई है। जायसी की ही भाँति आपने भी सागर, पर्वत, जगल, सरोवर, यात्रा, दान-महिमा, तूफान इत्यादि का वर्णन किया है। पद्मावत की तरह चित्रावली भी सरोवर मे छुप जाती है और उसकी सखियाँ उसे नही खोज पाती। इसमे आध्यात्मिक विचार धारा ही है

सरवर ढूँढ़ि सबै पचि रहीं। चित्रिन खोज न पावा कहीं॥
निकसी तरि भईं बैरागी। धरे ध्यान सब बिनवै लागीं॥
गुपुत तोहि पावहिं का जानी। परगट महँ जो रहै छपानी॥
चतुरानन पढ़ि चारौं बेदू। रहा खोजि पै पाव न भेदू॥
हम अंधी जेहि आप न सूझा। भेद तुम्हार कहाँ लौं बूझा॥
कौन सो ठाऊँ जहाँ तुम नाहीं। हम चख जोति न देखहिं काही॥
खोज तुम्हार सो, जेहि दिखराहु पंथ। कहा होइ जोगी भए, और बहु पढ़े ग्रन्थ

हिन्दी-साहित्य का इतिहास-रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ११०

षटऋतु वर्णन देखिए :

ऋतु बसन्त नौतन बन फूला। जहँ-तहँ भौंर कुसुम रंग भूला।
आहि कहै सो भँवर हमारा। जेहि बिनु बसत बसन्त उजारा॥
रात बरन पुनि देखि न जाई। मानहुँ दवा दहूँ दिसि लाई॥
रति-पति दुरद ऋतुपती बलो। कानन देह आइ दल भली॥

प्रेम काव्य-लेखको ने विरह को अपने काव्यो मे विशेष स्थान दिया है, क्योकि आत्मा की शुद्धि और तपस्या की परख विरह मे ही होती है। इसीलिए वे ऐसी परिस्थिति पैदा करते है कि जिससे विरह अनिवार्य हो उठे। अधिकाश लेखको ने अपने नायको की दो-दो पत्नियो का उल्लेख किया है। इनमे उनकी एक सासारिक पत्नी के रूप मे आती है और दूसरी आध्यात्मिक पत्नी, अर्थात् ब्रह्म के रूप मे। उसी के सौदर्य मे वे ईश्वर की झलक देखते है। जिस प्रकार महाकवि जायसी ने पद्मावती के साथ नागमती का उल्लेख किया है, ठीक उसी प्रकार उसमान कवि ने चित्रावली के साथ कँवलावती का समावेश करके अपने ग्रन्थ के आध्यात्मिक पहलू को निखारा है।

शेख नबी शेख नबी जिला जौनपुर के रहने वाले थे। यह सवत् १५७६ मे जहाँगीर के समय मे वर्तमान थे। यही इनका रचना-काल भी माना जाता है। आपका लिखा ग्रन्थ 'ज्ञान-दीप' है। यह आख्यान काव्य है, जिसमे राजा ज्ञानदीप और रानी देवजानी की कथा वर्णित है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस रचना

को प्रेमाश्रयी धारा की अतिम रचना माना है। उनका मत है कि इसके पश्चात् जो इस प्रकार की रचनाएँ लिखी गईं और उपलब्ध हैं, वे केवल शैली को लेकर ही इस धारा मे रखी जा सकती है, विचार और भावना को लेकर नही। यह प्रणाली सभी विचारधाराओ मे मिलती है। सत-काव्य, राम काव्य और कृष्ण-काव्य मे भी इसी प्रकार बाद मे केवल शैली के आधार पर रचनाएँ आती चली गई हैं। कवियो ने मान्यता के नाते चाहे उन सिद्धातो का प्रतिपादन नही किया वरन् विषय, शैली, भाषा, अलकार, छद-योजना इत्यादि के क्षेत्र मे उन्ही का अनुसरण करते चले गये है।

शेख नबी के पश्चात् आने वाले कवियो का भी यहाँ हम सक्षेप मे उल्लेख करते है।

कासिमशाह · कासिमशाह जिला बाराबकी मे दरियाबाद के रहने वाले थे। इनका वर्तमान रहने का समय सवत् १७८८ माना जाता है। इनकी 'हस-जवाहिर' नामक कहानी मिलती है। इस कहानी का नायक राजाहस और नायिका जवाहिर है। इस रचना को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने निम्न कोटि की माना है। उनका कथन है कि कवि ने जगह-जगह पर जायसी की पदावली ज्यो-की-त्यो ही उठा ली है, परन्तु इसमे प्रौढता नही आई है। शाहेवक्त का उल्लेख कवि ने इस प्रकार किया है :

मुहमदसाह दिली सुलतानू। का मन गुन ओहि को बखानू॥
छाजै पाट छत्र सिरताजू। नार्वाहि सीस जगत के राजू॥
रूपवन्त दरसन मुहराता। भागवन्त ओहि कीन्ह बिधाता॥
दरबवंत, धरम महँ पूरा। ज्ञानवंत खड़ग महं सूरा॥

—इतिहास रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १११

उनके द्वारा दिया गया उनका अपना परिचय भी देखिए :

दरियाबाद माँझ मम ठाऊँ। अमातुल्ला पिता कर नाउँ॥
तहवाँ मोहि जनम बिधि दीन्हा। कासिम नावँ जाति कर हीना॥
तेहूँ बीच बिधि कीन कमीना। ऊँच सभा बैठे चित दीना॥
ऊँच सग ऊँच मन भावा। तब भा ऊँच ज्ञन-बुधि पावा॥
ऊँचा पंथ प्रेम का होई। तेहि महं ऊँच भए सब कोई॥

कवि की कथा का सार भी देखिए ·

कथा जो एक गुपुत महँ रहा। सो परगट उधारि मै कहा॥
हंस जवाहिर बिधि औतारा। निरमल रूप सो दई सँवारा॥
बलख नगर बुरहान सुलतानू। तेहि घर हंस भये जस भानू॥
आलमशाह चीन-पति भारी। तेहि घर जनमी जवाहिर बारी॥
तेहि कारन वह भएउ बियोगी। गएउ सो छांड़ि देश होइ जोगी॥

अंत जवाहिर हस घर आनी । सो जग महं यह गयउ बखानी ।।
सो सुनि ज्ञान-कथा मै कीन्हा । लिखेउँ सो प्रेम, रहै जग चीन्हा ।।

नूरमुहम्मद नूरमुहम्मद 'सबरहद' नामक स्थान के रहने वाले थे। यह स्थान जौनपुर जिले मे जौनपुर-आजमगढ की सडक पर स्थित है। यह दिल्ली-शाह मुहम्मदशाह के जमाने मे वर्तमान थे। बाद मे यह अपने गाँव से अपनी ससुराल जिला आजमगढ मे मादो नामक ग्राम मे चले गये थे। इनके श्वसुर शमसुद्दीन ने अपना कोई वारिस न होने के कारण इन्हे वही पर बुला लिया था। नूरमुहम्मद के दो पुत्र हुए, गुलामहसनैन और नसीरुद्दीन।

नूरमुहम्मद फारसी के विद्वान थे। इन्हे हिन्दी भाषा और काव्य का भी अच्छा ज्ञान था। फारसी मे आपने एक दीवान और अन्य कई पुस्तको की रचना की है। सवत् १८०१ मे आपने 'इन्द्रावती' नामक सुन्दर आख्यान-काव्य की रचना की। इसमे कालिजर के राजकुमार और आगमपुर की राजकुमारी इन्द्रावती की प्रेम कहानी वर्णित है। काव्य प्रणाली के आधार पर आपने भी शाहे-वक्त मुहम्मदशाह की प्रशसा ही की है

करौं मुहम्मद शाह बखानू । है सूरज देहली सुलतानू ।।
धरम पंथ जग बीच चलावा । निबर न सबरे सो दुःख पावा ।।
बहुतै सलातीन जग केरे । आइ सहास बने है चेरे ।।
सब काहू पर धरई । धरम सहित सुलतानी करई ।।

कहानी की भूमिका भी देखिए :

मन दृग सों इकराति मझारा । सूझि परा मोहि सब संसारा ।।
देखेउँ एक नीक फुलवारी । देखेउँ तहाँ पुरुष औ नारी ।।
दोउ मुख लोभा बरनि न जाई । चंद सुरुज उतरे भुईं आई ।।
तपी एक देखेउँ तेहि ठाऊँ । पूछेउँ तासौं तिन्ह कर नाऊँ ।।
कहा अहै राजा औ रानी । इन्द्रावति औ कुँवर गियानी ।।
आगमपुर इन्द्रावती कुवर कालिजर राय ।
प्रेम हुँते दोउन्ह कह दीन्हा अलख मिलाय ।।

नूर मुहम्मद ने दोहे और चौपाइयो के क्रम मे जायसी का अनुसरण न करके उनके पूर्ववर्ती कवियो की भाँति पाँच-पाँच चौपाइयो के पश्चात् दोहा रखा हैं। सूफी-पद्धति का यह अतिम ग्रन्थ है। 'अनुराग-बाँसुरी' इनका एक दूसरा ग्रथ भी फारसी-लिपि मे लिखा हुआ मिलता है। इस ग्रंथ की भाषा सस्कृत-गर्भित है और अन्य किसी भी सूफी-ग्रथ की भाषा से अधिक प्राजल है। यहाँ हम शुक्ल जी के इतिहास से एक उद्धरण देते हैं जिसमे उन्होने लिखा है कि किस प्रकार मुसलमान हिन्दी को त्यागने और फारसी को अपनाने की प्रवृत्ति अपनाने लगे थे :

इन्द्रावती की रचना करने पर शायद नूरमुहम्मद को समय-समय पर यह उपालम्भ सुनने को मिलता था कि 'तुम मुसलमान होकर हिन्दी-भाषा मे रचना करने क्यो गये ?' इसी से 'अनुराग-बाँसुरी' के आरम्भ मे उन्हे यह सफाई देने की जरूरत पडी .

जानत है यह सिरजनहारा। जो किछु है मन मरम हमारा ॥
हिन्दू-मग पर पाँव न राखेउँ। का जौ बहुतै हिन्दी भाखेउँ ॥
मन इसलाम मिरिक़लै माँजेउँ। दीन जेवरी करकस भाँजेउँ ॥
जहँ रसूल अल्लाह पियारा। उम्मत को मुक्तावन हारा ॥
तहाँ दूसरो कैसे भावै। जच्छ असुर सुर काज न आवै ॥

इसका तात्पर्य यह है कि सवत् १८०० तक आते-आते मुसलमान हिन्दी से किनारा करने लगे थे। हिन्दी हिन्दुओ के लिए छोड़ कर अपने लिखने-पढने की भाषा वे विदेशी अर्थात् फारसी ही रखना चाहते थे। जिसे उर्दू कहते हैं, उसका उस समय तक साहित्य मे कोई स्थान न था। इसका स्पष्ट आभास नूर-मुहम्मद के इस कथन से मिलता है।

कामयाब कह कौन जगावा। फिर हिन्दी भाखै पर आवा ॥
छाँड़ि फारसी कंद नवातै। अरुझाना हिन्दी रस-बातै ॥

'अनुराग बाँसुरी' सवत् १८२१ मे लिखी गई थी। इसमे शरीर, जीवात्मा, मनोवृत्तियो इत्यादि का कवि ने स्पष्टीकरण किया है। अध्यवसित रूपक (Allegory) के रूप मे कवि ने इसकी रचना की है। इसकी सारी कहानी और सारे पात्र रूपक के रूप मे ही व्यजित होते है। इसकी भाषा मे कही-कही ब्रज भाषा की भी झलक आ जाती है। भाषा, जैसा हम पहिले कह चुके है, इसकी अन्य सभी सूफी-ग्रन्थ की अपेक्षा अधिक सुसस्कृत है। इन की रचना का एक नमूना हम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास से लेकर यहाँ पेश करते है :

नगर एक मूरतिपुर नाऊँ। राजा जीव रहै तेहि ठाऊँ ॥
का बरनौं वह नगर सुहावन। नगर सुहावन, सब मन भावन ॥
इहै सरीर सुहावन मूरतिपूर।
इहै जीव राजा, जिव जाहु न दूर ॥
तनुज एक राजा के रहा। अंतःकरन नाम सब कहा ॥
सौम्यशील सुकुमार सयाना। सो सावित्री स्वांत समाना ॥
सरल सरनि जौ सो पग धरै। नगर लोग सूधै पग परै ॥
वक्र पंथ जो राखै पाउँ। वहै अध्व सब होइ बटाऊ ॥
रहे सघाती ताके पत्तन ठाँव।
एक सकल्प, विकल्प सो दूसर नाँव ॥
बुद्धि चित्त दुइ सखा सरेखे। जगत बीच गुन अवगुन देखे ॥
अंतःकरन सदन एक रानी। महा मोहनी नाम, सयानी ॥

मदन सतक · इसमें नीति सम्बन्धी ११३ दोहे लिखे गये हैं। इन दोनों में मदनकुमार और चम्पकमाल की प्रेम-कथा वर्णित है।

ढोला मारू रा दूहा यह रचना सोलहवी शताब्दी की है। इसके लेखक कुशललाभ है। इसमे ढोला और मारू की प्रेम-कथा वर्णित है। 'राजस्थान मे हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थो की खोज' भाग १ मे 'ढोलामारू री चौपाई' की तीन प्रतियाँ मिली हैं।

पद्मावती : इसमे पद्मावती की प्रेम-कहानी वर्णित है। यह औरगजेब के शासन-काल मे लिखी गई।

नलदमन इसमे नल दमयन्ती की कथा वर्णित है। इसकी रचना सूरदास ने की है। पर यह सूरदास पुष्टिमार्गीय सूरदास से भिन्न हैं।

इसी प्रकार के अन्य दस बीस ग्रन्थ और भी मिलते है, जिनका उल्लेख करना पाठको के लिए विशेष लाभकर नही है, इसीलिए छोड दे रहे है। इन पद्यात्मक काव्यो के अतिरिक्त गद्यात्मक ग्रन्थ भी मिलते है। गद्यात्मक ग्रन्थो मे बात-सग्रह, मोमल री बात, रावल लखणसेनरी बात, राशौ खेतैरी बात, देवरै नायक दे री बात, वीझरै अहीर री बात, अमादे भटियाणी री बात, सोहणी री बात, पँमै घोरान्धार री बात इत्यादि के नाम उल्लेखनीय है।

सार निरूपण—प्रेम-काव्य-परम्परा, जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं, महाकवि जायसी से पहिले से चली आ रही थी, परन्तु जायसी के पद्मावत की समानता मे इस धारा का अन्य कोई ग्रन्थ नही आता। इस धारा मे निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन प्रेम-पद्धति द्वारा किया गया है। आत्मा मे परमात्मा की झांकी दिखलाई गई है। ईश्वर को नारी के रूप मे प्रेम कवियो ने देखा है और उसके सौंदर्य को लौकिक प्रेम-गाथाओ मे उतारने का प्रयास किया है।

इस धारा के प्राय सभी कवि सूफी फकीर थे, जो पूर्ण रूप से मुसलमान थे, परन्तु मानवता के नाते वे हिन्दू और मुसलमान मे भेद नही समझते थे। इसी लिए इन लोगो ने आध्यात्मिक तत्त्वो के रूप मे मुसलमानी मान्यताओ को ग्रहण करते हुए भी अपने काव्य-ग्रन्थो के नायक और नायिका के रूप मे हिन्दू पात्रो को ही चुना है। इस प्रकार इन कवियो ने हिन्दू तथा मुसलमान-जीवन को पास-पास लाने तथा दोनो मे सामजस्य स्थापित करने का प्रयास किया है।

प्रारम्भ मे इस धारा के जितने भी ग्रन्थ लिखे गये वे सब केवल साहित्य-रचना के लिए नही लिखे गये, बल्कि उनके द्वारा अपनी मान्यताओ का प्रतिपादन करना उनके लेखकों का मुख्य लक्ष्य रहा है, यही बात हम सत-धारा, कृष्ण-भक्ति-धारा राम-भक्ति-धारा इत्यादि मे भी पाते हैं। परन्तु कुछ दिन पश्चात् ही इसे साहित्यिक प्रणाली के रूप मे अपना लिया गया और कवियो ने उसे शैली मान कर काव्य-रचना की। इस शैली का धारा मे गद्य तथा पद्य दोनो ही प्रकार की रचनायें मिलती है।

तुलसीदास

१ | तुलसीदास की जीवनी

महाकवि तुलसीदास के जीवन-चरित्र पर विचार करने से पूर्व यह जान लेना चाहिए कि इस काल के अन्य कवियो की भाँति गोस्वामी तुलसीदास का भी कोई विश्वस्त जीवन-चरित्र उपलब्ध नही है। किम दिन और किस घडी उनका आविर्भाव हुआ, यह भी निश्चयात्मक रूप से कहना कठिन है, परन्तु फिर भी जो साक्ष उपलब्ध हैं, उन्ही के आधार पर हम तुलमीदामजी के जीवन पर प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे।

जन्म· गोस्वामीजी के जन्म के विषय मे लिखते ममय तुलसी-काव्य-मर्मज्ञ पंडित रामगुलाम द्विवेदी उनका जन्म सवत् १५८९ मानते है, परन्तु शिवसिंह सरोज के लेखक शिवसिंह सेगर ने इसे संवत् १५८३ लिखा है। यह सवत् दोनों विद्वानों ने जन-श्रुति के आधार पर निश्चित् किया है। कोई प्रमाण प्रस्तुत नही किया। वैणीमाधवदास, जो कि गोस्वामी तुलसीदासजी के शिष्य कहे जाते है और जो बहुत दिन तक गोस्वामी तुलसीदास के साथ रहे भी थे, लिखित गोसाँई चरित्र के सक्षिप्त मूलगोसाँईचरित की बातों मे जन-श्रुति की प्रचलित बातो का समर्थन होता है। परन्तु इसमे मिलने वाली तिथियो में से कुछ तो गणना के आधार पर ठीक उतरती हैं, और कुछ ठीक नही उतरती। उसकी बहुत-सी बातो से तो उसकी प्राचीनता साबित होती है, परन्तु बहुत सी बातें ऐसी भी हैं कि जिनके आधार पर कुछ विद्वान् उसे उतनी प्राचीन मानने से इकार करते हैं। इनके आधार पर तुलसीदासजी का जन्म सवत् १५५४ में श्रावण शुक्ला सप्तमी को ठहरता है। गणना के आधार पर यह तिथि बिलकुल ठीक उतरती है। हाथरस के एक सत स्वरचित घट-रामायण में अपने को तुलसी का अवतार मान कर उनका जन्म-काल भाद्रपद शुक्ला ११ सवत १५८९ बतलाते है जिसका मेल रामगुलाम द्विवेदी की निश्चित की हुई तिथि से होता है। रामचरित मानस की मानस मयंक के टीकाकार वन्दन पाठक गोस्वामीजी का जन्म संवत् १५५४ ही मानते हैं। आज के विद्वान् अधिकाश में इसी सवत् को ठीक मानते है। इस प्रकार

हम भी इसी पर अपनी आस्था रखते हुए गोस्वामीजी का जन्म सवत् १५५४ ही ठीक समझते है।

परिवार आमतौर पर गोस्वामी तुलसीदासजी की माता का नाम हुलसी कहा जाता है। इस नाम की प्रमाणिकता अत साक्ष के आधार पर तो कुछ नही मिलती, परन्तु कवि के समकालीन खानखाना का प्रसिद्ध दोहा इसकी पुष्टि मे प्रस्तुत किया जाता है

सुर तिय नर तिय नाग तिय, सब चाहति अस होय।
गोद लिये हुलसी फिरे, तुलसी सो सुत होय॥

यो तो मानस मे भी बहुत से स्थानो पर 'हुलसी' शब्द का प्रयोग मिलता है और यह प्रयोग ऊपर भी है, परन्तु इससे गोस्वामी तुलसीदास की माता के नाम की स्पष्ट ध्वनि नही निकलती। हुलसी शब्द का साधारण अर्थ 'उत्साहित' होना है और वह अर्थ इस दोहे मे भी ठीक बैठ जाता है। राम-कथा की महिमा के वर्णन मे मानस के प्रथम सोपान मे कवि लिखता है .

रामहि प्रिय पावन तुलसी सी, तुलसीदास हित हिय हुलसी सी॥
—तुलसी-रामबहोरी शुक्ल-पृष्ठ ७।

उक्त पक्ति में हुलसी शब्द से तुलसी की माता का नाम निकालना एक खीचा-तानी का प्रयास है, जिसे हम मान्यता नही देते। जनश्रुति के आधार पर इनकी माता का नाम हुलसी ही प्रसिद्ध है।

पिता · तुलसीदासजी के दो नाम कहे जाते हैं। एक आत्माराम दुबे और दूसरा परशुराम मिश्र। श्री गुरूसहायलालजी **बृहद्रामायण महात्म्य** के आधार पर तुलसीदासजी के पिता का नाम अम्बादत्त लिखते हैं। इस प्रकार कवि के पिता का नाम माता के नाम की अपेक्षा अधिक भ्रमात्मक स्थिति मे है और उसके विषय मे निश्चयात्मक रूप से कुछ नही कहा जा सकता।

पत्नी गोस्वामीजी की पत्नी का नाम रत्नावली बतलाया जाता है। स्त्री का नाम रत्नावली ही अधिक प्रसिद्ध है। एक दूसरे नाम 'ममता' का भी एक सत द्वारा उल्लेख मिलता है, परन्तु हम इसे ठीक नही समझते।

गुरु गोस्वामी तुलसीदास के गुरु नरहरिदास थे और परम्परा से इनका ही नाम आता है। अत. साक्ष से उसकी पुष्टि मानस के प्रारम्भ मे वन्दनात्मक एक सोरठे से की जाती है :

बादउँ गुरु पद कज कृपासिधु नर रूप हरि।

इस 'नर रूप हरि' को 'नरहरि' करके नरहरिदास माना गया है। भविष्य-पुराण के आधार पर उनके गुरु का नाम राघवानन्द ठहरता है। इस विषय मे भी कोई निश्चित् मत यहां पर स्थिर नही किया जा सकता।

जातिवर्ण · गोस्वामी तुलसीदास ब्राह्मण-कुल मे जन्मे थे। इस विषय मे विद्वानों मे दो मत नही है, मतैक्य है। परन्तु कुछ इन्हें सनाढ्य, कुछ कान्यकुब्ज,

कुछ सारस्वत और कुछ सरयूपारीण ब्राह्मण मानते है। अधिकांश विद्वानो का मत है कि यह सरयूपारीण ब्राह्मण थे। मूल गोसाई चरित मे इन्हे पाराशर गोत्री पत्यौजा के दुबे लिखा है, 'तुलसी परासर गोत दुबे पत्यौजा के।'[१] हम इन्हे सरयूपारीण ब्राह्मण ही मानते हैं। अत साक्ष मे जो कुछ मिलता है, उससे इनकी जाति का स्पष्टीकरण नही होता।'

जन्मस्थान तुलसीदासजी के जन्मस्थान के विषय मे भी अभी तक विद्वानो का मतैक्य नही हो पाया है। सर्व-सम्मत रूप से इस विषय मे कुछ नही कहा जा सकता। एक मत के अनुसार चित्रकूट के पास हाजीपुर ग्राम मे उनका जन्म हुआ था। अग्रेज विद्वान विल्सन तथा फ्रासीसी लेखक तासी इस कथन का प्रवर्तन करते हैं। रामबहोरी शुक्ल का कथन है कि चित्रकूट के पास हाजीपुर नामक कोई ग्राम नही है। हो सकता है कि वहाँ के एक गाँव राजपुर का नाम ही गलती से हाजीपुर लिखा गया हो। लाला सीताराम और महात्मा रूपकलाजी उनका जन्मस्थान तारी बतलाते है। हस्तिनापुर को भी कुछ लोग तुलसीदास का जन्म-स्थान मानते है। एक और मत के आधार पर एटा जिले का सोरो नामक ग्राम भी उनका जन्मस्थान माना जाता है। सोरो के विषय मे बहुत-सी प्राचीन जन-श्रुतिया उपलब्ध हैं और मानस के प्रथम सोपान का यह दोहा भी प्रस्तुत किया जाता है:

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकर खेत।

इस 'सूकर खेत' शब्द से सोरों शब्द का निकालना भाषा-विज्ञान के आधार पर उचित नही ठहरता। यह अर्थ निकालना भ्रामक ही है। आज के विद्वान् अधिक मतैक्य के आधार पर बाँदा जिले के राजपुर ग्राम को ही गोस्वामी तुलसी-दास का जन्मस्थान मानते है। हमारा विश्वास भी यही है कि राजपुर ही उनका जन्मस्थान रहा होगा।

बालकाल · ऊपर कवि की माता, पिता, जाति तथा जन्मस्थान के विषय मे साधारण जानकारी देने का हमने प्रयास किया। आवश्यक सामग्री उपलब्ध न

---

१. (अ) मेरे जाति पाँति न चहौ कहू की जाति पाँति,
मेरे कोऊ काम को न हौ काहू के काम को।
—'तुलसी ग्रन्थावली', दूसरा खण्ड (कवितावली) पृष्ठ २२८

(आ) जायो कुल मगन बधावनो सुनि,
भयो परिताप पाप जननी जनम को।
—'तुलसी ग्रन्थावली', दूसरा खण्ड (कवितावली) पृष्ठ २१९

(इ) धूत कहौ अवधूत कहौ रजपूत कहौ जुलहा कहौ कोऊ।
—'तुलसी ग्रन्थावली', दूसरा खण्ड (कवितावली) पृष्ठ २२७

होने के कारण हम इसे पूर्ण नही कह सकते परन्तु जो कुछ भी सामग्री उपलब्ध है, उसके आधार पर ज्ञातव्य बातो पर प्रकाश डाला गया है। भारत मे पुराने जमाने के लोगो ने इस दिशा मे प्रकाश डालना आवश्यक नही समझा, इसलिए आज के पाठको की जानकारी अधूरी ही बनी हुई है।

गोस्वामी तुलसीदास का जन्म अभुक्त मूल नक्षत्र मे माना जाता है। ऐसे बच्चे का मुँह देखने वाले की मृत्यु हो जाती है। इसी भय से इनके पिता ने इन्हे जन्म लेते ही त्याग दिया था। कवितावली मे कवि लिखता है

जायो कुल मगन बधायो न बजायो सुनि,
भयो परिताप पाप जननी जनक को।

कवितावली मे ही एक दूसरे स्थान पर कवि लिखता है

मातु पिता जग जाइ तज्यो, बिधिहू न लिख्यो कछु भाल भलाई।

—तुलसी-रामबहोरी शुक्ल-पृ० ९

विनय पत्रिका मे कवि लिखता है ·

जननि जनक तज्यो जनमि, करम बिनु बिधिहू सृज्यो अवडेरे।

× × × ×

तनु तज्यो कुटिल कीट ज्यों, तज्यो मात पिता हू।

उक्त पंक्तियो के आधार पर यह सिद्ध होता है कि कवि को उनके माता-पिता ने जन्म लेते ही त्याग दिया था। इनसे सभी लोक प्रसिद्ध श्रुतियो की पुष्टि होती है।

तुलसीदासजी का प्रारम्भिक नाम रामबोला[1] था और जब यह घर से निकले तो इनकी दशा बहुत ही दयनीय थी। यदि इन्हे कोई थोडा-बहुत भी अन्न दे देता था तो उसे यह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के बराबर समझते थे। कवि की इस बाल-काल की दशा का अत साक्ष से काफी ज्ञान प्राप्त हो जाता है।[2]

---

१. राम को गुलाम नाम राम बोला राख्यो राम,
काम यहै नाम द्वै हौ कबहुँ कहत हौं।
—'तुलसी ग्रन्थावली', दूसरा खण्ड (विनय पत्रिका) पृ०५०४

२ (अ) जाति के सुजाति के कुजाति के पेटागि बस,
खाए टूक सबके विदित बात दुनी सो।
—'तुलसी ग्रन्थावली', दूसरा खण्ड (कवितावली) पृ० २२६-२२७

(आ) द्वार-द्वार दीनता कही काढि रद परि पाहूँ।
—'तुलसी ग्रन्थावली', दूसरा खण्ड, (विनय पत्रिका) पृ०-५५९

(इ) खायो खोची माँगि मैं तेरा नाम लिया रे।
तेरे बल बलि आजु लौं जग जागि जिया रे॥
—'तुलसी ग्रन्थावली', दूसरा खण्ड (विनय पत्रिका) पृ०-४४७

ऐसी दयनीय दशा में घर से निकल कर तुलसीदास जी साधु-सतो के सत्सग से कुछ ज्ञान तथा कुछ विद्या प्राप्त करते हुए 'सूकर क्षेत्र' तक पहुचे और वहाँ गुरु से इन्होने राम कथा सुनी ·

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत ।

परन्तु इस समय तक न तो उनका मस्तिष्क ही इतना विकसित हो पाया था कि वह उस गूढ कथा को समझ पाते और न उनकी विद्या का स्तर ही उतना ऊँचा हो पाया था । इसलिए वह लिखते है

समुझी नहिं तस बालपन,
तब अति रहेऊँ अचेत ।

परन्तु गुरु सुनाते ही रहे और बार-बार सुनाया .

तदपि कही गुरु बारहिंबारा ॥

इस प्रकार यह कथा उनकी समझ मे आने लगी और उन्होने बाल-काल से ही राम कथा के मर्म को पहिचानने का प्रयास किया । उनके जीवन मे राम-चरित की महिमा का समावेश यही से आरम्भ हो गया और वह बराबर बढ़ता ही गया । वह निरन्तर राम की चर्चा सुनते और सुनाते रहे और उसी मे निमग्न रहना प्रारम्भ कर दिया । राम की भक्ति मे विलीन होकर यह बालक सीता-राम मे ही सारे विश्व का अवलोकन करने लगा और सारा विश्व उसे राम की ही कला-कृति के समान दिखलाई दिया

सीय राम मय सब जग जानी ।

यही पर रहकर गोस्वामी तुलसीदास ने गुरु से शास्त्र, पुराण तथा अन्य रामायण काव्य इत्यादि का अध्ययन किया । मूलगोसाई चरित मे लिखा है कि तुलसीदासजी अपने गुरु के साथ काशी मे पंचगगा घाट पर स्वामी रामानन्द के स्थान पर रहने लगे थे । यही पर शेष सनातन भी रहते थे । यह वेद, शास्त्र, इतिहास इत्यादि के मर्मज्ञ विद्वान थे । तुलसीदासजी ने बड़े मनोयोग से उनके पास रहकर अध्ययन किया । उनका यह अध्ययन पन्द्रह वर्ष तक निरन्तर चलता रहा । यही पर विद्या अध्यय्न कर गोस्वामी तुलसीदासजी पारगत विद्वान हुए ।

वैवाहिक जीवन गोस्वामीजी वैरागी गुरु द्वारा दीक्षित अवश्य हुए परन्तु वह स्वय वैरागी नही बने थे । एक बार बैरागी होकर फिर गृहस्थ मे वापिस आना उन्हे शोभा नही दे सकता था । तुलसीदासजी का विवाह अवश्य हुआ था । इसके विषय मे दो मत नही हो सकते । कवितावली मे उन्होने लिखा है :

बालेपन सूधेमन राम सनमुख गयो,
राम नाम लेत माँगि खात टूक टाक हौं ।
पर्‌यो लोक रीति में पुनीति प्रीति राम राम,
मोह बस बैठो तोरि तरक तराक हौं ॥

उक्त पक्तियो से यही आभास मिलता है कि बचपन मे घर से निकाल दिए जाने पर तो उनका सीधा रुख राम-भक्ति की ओर ही हुआ परन्तु युवावस्था आने पर उनकी आसक्ति स्त्री की तरफ हो गई और इस आसक्ति ने राम की ओर से उन्हे कुछ दिन के लिए विमुख कर दिया। इस विषय मे लोक प्रसिद्ध कथा यही है कि वह अपनी स्त्री के सौदर्य-जाल मे इस कदर फँस गए थे कि उनका उसके बिना एक क्षण भी रहना असम्भव हो गया था। परन्तु यह सम्बन्ध अधिक दिनो तक उनकी राम-भक्ति मे बाधक न बन सका। एक दिन उनकी स्त्री अपने भाई के साथ उनसे बिना कहे ही अपने मायके चली गई। तुलसीदास जी इस वियोग को सहन न कर सके। वह भी उसके पीछे-पीछे ही अपनी सुस-राल पहुच गए। जब उनकी स्त्री ने तुलसीदास को अपने पीछे-पीछे ही आते देखा तो उसे बहुत लज्जा आई और अकस्मात उसने कहा .

लाज न लागत आपको, दौरे आयेहु साथ।
धिक-धिक ऐसे प्रेम को, कहा कहौ मै नाथ ॥
अस्ति चर्म मय देह मम, तामें जैसी प्रीत।
तैसी जौ श्रीराम महँ, होति न तो भवभूति ॥

स्त्री की यह फटकार सुनकर तुलसीदासजी के ज्ञान-चक्षु खुल गए। चाहे उनकी स्त्री ने यह बात साधारण विचार से ही कही हो परन्तु तुलसीदास पर इसका स्थायी प्रभाव पडा और वह उलटे ही पाँव वहाँ से लौट लिए तथा प्रयाग जाकर साधू हो गए। गोस्वामीजी का इस जीवन-घटना का समर्थन भविष्य पुराण मे आए 'नारी शिक्षा समादाय' से भी होता है। प्रियदास की भक्तमाल की टीका द्वारा भी इस घटना का समर्थन होता है। गोस्वामी तुलसीदासजी भी लिखते हैं :

हम तौ चाख्या प्रेम-रस, पत्नी के उपदेश।

गोस्वामीजी के जीवन की इस घटना का समर्थन सभी विद्वानो ने किया है और इस विषय मे मतैक्य-सा ही है। वैसे अत साक्ष से कुछ पद ऐसे भी मिलते है कि जिनमे कवि ने अपने विवाहित न होने का सकेत किया है[1] परन्तु वैरागी होने के बाद महीनो गृहस्थ रहा हुआ व्यक्ति भी यह सब लिख सकता है।

देशाटन : इस प्रकार जीवन परिवर्तित होने पर गोस्वामीजी के जीवन मे दबी हुई राम भक्ति की ज्वाला फिर से सुलग उठी और वह अपने इष्ट-देव की खोज मे देशाटन के लिए निकल पडे। सर्व प्रथम वह राम के लीला-धाम अयोध्या

---

१. काहू की बेटी सों बेटा न व्याहब,
जाहू की जाति बिगार न सोहू।
—'तुलसी ग्रन्थावली' दूसरा खण्ड (कवितावली), पृ० २२७

नगरी मे पहुँचे । वहाँ कुछ दिन तक रहे और यही से आपने चारो धामो की यात्रा करने का निश्चय किया । इस प्रकार वह जगन्नाथ पुरी, रामेश्वरम, द्वारावती होकर जगनाथपुरी गए और वहाँ से आगे मानसरोवर की यात्रा की । तुलसीदासजी ने समस्त भारतवर्ष का भ्रमण किया और अपनी आँखो मे राम-लीला के क्षेत्रो को देखा तथा देश की व्यापक स्थिति का भी परिचय प्राप्त किया । देश की राजनैतिक तथा सामाजिक स्थिति का भी ज्ञान प्राप्त किया और समाज की दुर्दशा के चित्र अपने हृदय मे उतार कर साहित्य मे उनकी झाँकी भी प्रस्तुत की । देश की आर्थिक तथा राजनैतिक दशा पर भी उनका ध्यान गया ।

देशाटन के पश्चात् तुलसीदासजी चित्रकूट पहुँचे और वही रहकर कुछ दिन अपने इष्ट देव की स्थापना की । वही रहकर आप राम-कथा कहते और वहाँ के रहने वालो को राम-रस पिलाते रहे । जनश्रुति के आधार पर यही उन्हे हनुमानजी ने एक कोढी के रूप मे दर्शन दिये । कोढी के रूप मे वह नित्य राम-कथा सुनने आया करते थे । इन्ही की कृपा से तुलसीदास को भगवान राम का साक्षात्कार हुआ । इसका उल्लेख इस प्रकार है :—

चित्रकूट के घाट पर, भई सन्तन की भीर ।
तुलसी दास चन्दन घिसें, तिलक देत रघुवीर ।।

इस प्रकार चित्रकूट पर तुलसीदासजी ने राम-दर्शन किए । राम-दर्शन के पश्चात् तुलसीदासजी फिर देशाटन के लिए निकल पडे । इस बार की यात्रा मे उन्होने काशी, जनकपुर, नैमिषारण्य, अयोध्या, मलीहाबाद, बिठूर, वृ दावन इत्यादि स्थानो का भ्रमण किया । धर्म के प्रधान केन्द्रो की स्थिति को उन्होने अपनी आँखो से देखा और देश के विभिन्न स्थानो का भ्रमण किया । इस विषय मे अतः साक्ष से भी कुछ प्रकाश पडता है ।[1]

जीवन का उत्तरार्द्ध : तुलसीदासजी चित्रकूट और अयोध्या मे काफी दिन तक रहे परन्तु उनके जीवन का उत्तरार्द्ध काशी मे व्यतीत हुआ । काशी मे तुलसीदासजी कई स्थानो पर रहे । हनुमान फाटक, गोपाल मन्दिर, प्रह्लादघाट और सकट मोचन उनके प्रधान निवास-स्थान कहे जाते है । जीवन के अतिम दिनो मे उन्होने अस्सीघाट पर रहना प्रारम्भ कर दिया था । आजकल यह घाट

---

१. (अ) अब चित चेत चित्रकूटहिं चलु ।
—'तुलसी ग्रन्थावली' दूसरा खण्ड (विनय पत्रिका), पृ० ४७२

(आ) नौमी भौमवार मधुमासा, अवधपुरी यह चरित प्रकासा ।
—'तुलसी ग्रन्थावली' पहला खण्ड (मानस), पृ० २०

(इ) देव सरि सेवौ वामदेव गाँव रावरे ही,
रास नाम ही के माँगि, उदर भरत हौ ।
—'तुलसी ग्रन्थावली', दूसरा खण्ड (कवितावली), पृ० २४३

तुलसीघाट के नाम से प्रसिद्ध है। यह घाट दक्षिण दिशा मे लगभग गंगा का अंतिम घाट है और उस समय मे तो बिलकुल ही एकान्त स्थान मे रहा होगा। सम्भवत इसीलिए कवि ने इसे पसद किया हो। इस घाट पर गोस्वामीजी की सकटमोचन की स्थापित की हुई मूर्ति आज भी मौजूद है। उर्स। मन्दिर मे वह गुफा भी है जिसमे कभी कवि निवास करता था। वहाँ कवि की खडाऊँ के अतिरिक्त एक काष्ठ का टुकडा भी है जिसे कहा जाता है कि वह उस नाव का काठ है जिसपर बैठकर कवि गगा पार शौचादि से निवृत होने जाया करता था।

हनुमान फाटक का स्थान उन्होने वहाँ के उपद्रवी मुसलमानो के कारण छोड दिया था। गोपाल मदिर मे उन्होने विनय पत्रिका का कुछ अश लिखा था। अपने मित्र गगाराम ज्योतिषी की सहायता से सकटमोचन हनुमानजी की मूर्ति आपने नगवा पर स्थापित की।

जीवन के कुछ सपर्क गोस्वामी तुलसीदासजी ने देश भर का भ्रमण किया था और वह अनेको आदमियो के सम्पर्क मे आये थे। अद्वितीय विद्वान और असाधारण प्रतिभा सम्पन्न होने के कारण कवि ने अपने जीवन-काल मे अनेको लोगो को प्रभावित किया। अनेको व्यक्ति उनके सम्पर्क मे आये परन्तु उनमे से जो विशेष उल्लेखनीय है उन्ही की यहाँ हम साधारण चर्चा करेगे। काशी मे गगारामजी ज्योतिषी तुलसीदासजी के विशेष मित्र थे और उन्ही के लिए उन्होने **रामाज्ञा प्रश्न** की रचना की। **रामाज्ञा प्रश्न** की पाडुँलिपि कहते है कि बहुत दिन तक ज्योतिषीजी के वशजो के पास रही। गोस्वामीजी का एक चित्र अब भी उनके वशजो के पास है। कहा जाता है कि इस चित्र को जहाँगीरकालीन किसी चित्रकार ने बनाया था।

काशी मे तुलसीदास के एक भक्त टोडर भी रहते थे। इनकी कवि मे बहुत श्रद्धा भक्ति थी। भदैनी, नगवा, इत्यादि ग्राम उन्ही के थे। जब उनकी मृत्यु हुई तो गोस्वामीजी ने स्वय उनकी जायदाद का उनके पुत्रो मे बँटवारा कराया। इस बँटवारे के पचनामे का कुछ अश गोस्वामीजी ने स्वय लिखा था। यह पचनामा सवत् १६६९ मे लिखा गया था और उसकी प्रति काशी राज्य के सग्रहालय में अभी तक सुरक्षित है। गोस्वामीजी के मित्र टोडर राम-भक्त थे और इसी नाते वह तुलसीदास के सम्पर्क मे आये थे। गोस्वामीजी ने नर-काव्य न रचने का व्रत किया हुआ था परन्तु अपने मित्र टोडर के लिए उन्होने अपना यह व्रत भी तोड़ दिया। टोडर की मृत्यु पर कवि ने लिखा :

चार गाँव को ठाकुरो, मनको महा महीप।
तुलसी या कलिकाल में, अथये टोडर दीप॥
तुलसी राम सनेह को, सिर पर भारी भार।
टोडर कांधा न दियो, सब कहि रहे उतार॥

तुलसी उर-थाला बिमल, टोडर गुन-गन बाग।
ये दोउ नैनन सीचिहौं, समुझि-समुझि अनुराग ॥

शिव-उपासना की नगरी काशी मे राम भक्त तुलसी का टोडर एक सबल और अभिन्न मित्र रहा होगा। उसकी मृत्यु पर कवि के नेत्र छलछला आये और करुण स्वर प्रवाहित हो उठा।

अकबर के प्रमुख सेनाध्यक्ष रहीम भी, कहा जाता है कि, तुलसीदासजी के अभिन्न मित्र थे। रहीम ने कवि के प्रति श्रद्धा प्रकट करते हुए यह दोहा लिखा था, जिसका हम पीछे तुलसी की माता के विषय मे बतलाते समय भी उल्लेख कर चुके है :

सुर तिय नर तिय नाग तिय, अस चाहत सब कोय।
गोद लिए हुलसी फिरें तुलसी से सुत होय ॥

यह भी किवदती के आधार पर प्रसिद्ध है कि महाराज मानसिह भी कभी कभी गोस्वामीजी के दर्शनार्थ आया करते थे। अकबर की भी उनसे भेट हुई थी, यह भी किवदती प्रचलित है। राजापुर मे गोस्वामी के शिष्य गणपति के वशजो के पास जो भूमि है और जो घाट की उतराई इत्यादि का एकाधिकार है, कहा जाता है कि यह सब अकबर बादशाह की ही कृपा का फल था। अकबर की साधु और सतो मे श्रद्धा थी और हो सकता है कि रहीम खानखाना और मानसिह इत्यादि से तुलसीदासजी की प्रशसा सुनकर अकबर उनके दर्शनार्थ आये हो। राजपुर यमुनातट पर आगरा और इलाहाबाद के बीच पडता है। हो सकता है कि अकबर ने आगरा से इलाहाबाद की यात्रा के दौरान मे राजपुर में ठहर कर गोस्वामीजी से भेट की हो।

गोस्वामी तुलसीदास एक विद्वान और उदार हृदय व्यक्ति होने के नाते अपने विपरीत विचार रखने वाले व्यक्तियो से भी उसी प्रेम के साथ मिलते और सत्सग करते थे जैसे कि वह राम भक्तो से करते थे। शकराचार्य के अनुयायी मधूसूदन सरस्वती से उनकी अभिन्नता थी और वह भी गोस्वामी मे बडी श्रद्धा भक्ति रखते थे। सिद्धातो मे मतैक्य न होने पर भी उनमे एक-दूसरे के प्रति श्रद्धा का भाव था। मधुसूदनजी कवि के विषय मे लिखते है :

आनन्द कानने कश्चिज्जंगमस्तुलसी तरु: ।
कविता मंजरी यस्य राम भ्रमरभूषिता ॥

इस पद का काशिराज ईश्वरीप्रसाद नारायणसिह ने हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत किया है :

तुलसी जंगम तरु लसै, आनंदकानन खेत।
विकता जाकी मजरी, राम भ्रमर रस लेत ॥

अर्थात् काशी रूपी आनन्दवन मे तुलसीदास एक चलता-फिरता तरु है। उस तुलसी रूपी तरु की मजरी उसकी कविता है। उस कविता रूपी मजरी पर

राम-रूपी भ्रमर सर्वदा गूँजता फिरता है। इस प्रकार अपने से विपरीत सिद्धान्तो वाले विद्वान मधुसूदन सरस्वती ने तुलसी को बहुत निकट से देखा था और साथ ही उनकी कविता का रसास्वादन भी किया था।

गोस्वामी तुलसीदासजी जिन और व्यक्तियो के अधिक निकट सम्पर्क मे आये उनमे रामचद्रिका के लेखक कवि केशव का भी नाम उल्लेखनीय है। कहते है कि कवि केशव जब उनसे मिलने आये तो गोस्वामीजी किसी ध्यान मे मग्न थे और उनको समुचित आदर न दे सके। इसे अपना अपमान समझकर उन्होने तुलसीदासजी का अभिमान भग करने के लिए एक दिन-रात मे राम-चद्रिका की रचना की।

भक्तमाल के लेखक नाभादासजी का नाम भी तुलसीदासजी के सम्पर्क मे आने वाले व्यक्तियो मे उल्लेखनीय है। नाभादासजी ने भक्तमाल मे गोस्वामीजी का परिचय दिया है—

त्रेता काव्य निबन्ध करी, सत कोटि रमायन।
इक अच्छर उद्धरै, ब्रह्म इत्यादि परायन॥
अब भक्तनि सुख दैन, बहुरि लीला बिस्तारी।
रामचरन रस मत्त, रहत अह निसि ब्रतधारी॥
ससार अपार के पार को, सुगम रूप नौका लयौ।
कलि कुटिल जीव निस्तार हित बाल्मीकि तुलसी भयौ॥

नाभादासजी के इस पद से पता चलता हे कि उस समय तक कवि काफी ख्याति प्राप्त कर चुका था। भक्तो मे उनकी ख्याति यहा तक बढ चुकी थी कि मीरा ने भी उस समय जब उसके परिवार ने उसके भक्ति-मार्ग मे बाधाएँ उप-स्थित की तो गोस्वामीजी को ही आदेश के लिए लिखा

श्री तुलसी सब सुख निधान, दु.ख हरन गुसाँई।
बारहिं बार प्रनाम करूँ अब हरो शोक समुदाई॥
घर के स्वजन हमारे जेते, सबन उपधि बढ़ाई।
साधु संग अरु भजन करत मोहि देत कलेश महाई॥
बालपने तै मीरॉ कीन्ही गिरधर लाल मिताई।
सौ तौं अब छूटत नहिं क्योहू लगी लगन बरियाई॥
मेरे मात पिता के सम हो, हरिभक्तन सुखदाई।
हमको कहा उचित करिबो है सो लिखियो समुझाई॥

मीरा के इस पत्र का तुलसीदासजी इस प्रकार उत्तर देते है:

जाके प्रिय न राम वैदेही।
तजिये ताहि कोटि वैरी सम यद्यपि परम सनेही॥
तज्यो पिता प्रहलाद, विभीषन बन्धु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो, कान्त ब्रज-बनिता, भये सब मंगलकारी॥

नातो नेह राम सों मनियत, सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँख जौ फूटै, बहुतक कहौं कहाँ लौ॥
तुलसी सो सब भाँति परम हित, पूज्य प्रान तें प्यारो।
जासों होय सनेह राम-पद् एतो मतो हमारो॥

जीवन मे ख्याति इस प्रकार तुलसीदासजी अपने समय के बहुत से व्यक्तियो के सम्पर्क मे आये और सभी ने उन्हे आदर और सम्मान के साथ देखा। जीवन के उत्तरार्द्ध-काल मे गोस्वामीजी की ख्याति बहुत व्यापक हो गई थी। ऊपर दिये गये मधुसूदन सरस्वती के पद से भी यह झलकता है और इसका आभास उनकी रचनाओ मे भी कई स्थानो पर आया है:

(१) **छार तें सँवारि कै पहार हूँ तें भारी कियो,**
गारो भयो पच में पुनीत पच्छ पाइ कै।[1]

(२) **हौं तो सदा खर को असवार,**
तिहारोइ नाम गयद रुढ़ायो।[2]

(३) **घर-घर माँगे टूक पुनि भूपति पूजे पाय।**
जे तुलसी तब राम बिन ते अब राम सहाय॥[3]

गोस्वामी तुलसीदास इस यश को राम-भक्ति का ही फल और प्रताप मानते थे। दोहावली मे एक जगह उन्होने लिखा है

माँगि मधुकरी खात ते, सोवत गोड़ पसारि।
पाय प्रतिष्ठा बढ़ि परी, ताते बाढ़ी रारि॥

समाज मे गोस्वामीजी ने राम-भक्ति के नाते ख्याति प्राप्त की थी और लोग उनके दर्शनो के लिए उत्सुक रहा करते थे। उनका आदर भी समाज मे बहुत होने लगा था। उन्हे लोक सम्मान इतना अधिक मिलना आरम्भ हो गया था कि उनके मन मे उसके प्रति ग्लानि उत्पन्न होने लगी। इसीलिए उन्होने लिखा:

लोकमान्यता अनल सम, कर तप कानन दाह।

वह इसे राम-भक्ति मे बाधक समझने लगे थे।

तुलसी का विरोध जहाँ तुलसी को एक ओर आदर तथा सम्मान देने वालो की कमी नही थी, वहाँ दूसरी ओर उनका विरोधी अखाडा भी तैयार हो रहा था। ये लोग फूटी आँखो भी तुलसी की ख्याति को बढता हुआ नही देख सकते थे। बिना किसी मतलब के इधर-उधर की बाते करना उनका काम था.

बिन काज दाहिने बाँये

तुलसीदास का यह विरोध कट्टरपथी रूढिवादियो की ओर से होता था।

---

१. 'तुलसी-ग्रन्थावली', दूसरा खण्ड (कवितावली) पृ० २१५
२. 'तुलसी-ग्रन्थावली', दूसरा खण्ड (कवितावली) पृ० २१५
३. 'तुलसी-ग्रन्थावली', दूसरा खण्ड (दोहावली, पृ० ११४

गोस्वामीजी की उदार धार्मिक भावना उन्हे खलती थी और उसके कारण समाज मे फैली हुई उनके पाखण्ड की भ्राति दूर होती थी जिसका प्रभाव उनकी आय और जनता पर उनके प्रभाव, दोनो पर समान रूप से पडता था। यहाँ तक कि वैरागी-वेश मे रहने से जब तुलसी की जाति तक पर आक्षेप किया गया तो उन्होने साफ कह दिया .

धूत कहौ अवधूत कहौ रजपूत कहौ जुलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी सो बेटा न ब्याहब काहू की जाति बिगार न कोऊ॥

तथा ·

मेरे जाति पाँति न चहौ काहू की जाति पाँति,
मेरे कोहु काम को न हौं कोहु के काम कौ।
साधु कै आसाधु कै भलौ कै पोच सोच कहा,
का काहू के द्वार परौ, जो हौं सो हौं राम को।

(कवितावली)

परन्तु इस विरोध की उन्हे चिन्ता नही थी .

जो पै कृपा रघुपति कृपालु की बैर और के कहा सरै।
तुलसीदास रघुबीर बाहु बल सदा अभय काहू न डरै।

(विनय पत्रिका)

'अभय होय जो तुमहि डेराई' के आधार पर भय उनके पास तक फटक ही नही सकता था। उनके रक्षक राम हर समय उनके साथ रहते थे तो फिर भला उन्हे डर किसका।

अलौकिक घटनाएँ गोस्वामीजी के जीवन-काल की कुछ अलौकिक घटनाएँ भी प्रसिद्ध हैं। हनुमानजी और भगवान राम के दर्शन का उल्लेख हम ऊपर कर चुके है। कहा जाता है कि हिरण के पीछे दौडते हुए धनुर्धर राम और लक्ष्मण के भी स्वामीजी को चित्रकूट मे दर्शन हुए हुए थे।

एक कथा प्रसिद्ध है कि एक दिन बादशाह ने गोस्वामीजी से कुछ चमत्कार दिखलाने को कहा। तुलसीदासजी ने इसका उत्तर दिया कि मैं इस प्रकार की करामाते नही जानता। इस पर बादशाह ने उन्हे बन्दी कर लिया। तब तुलसीदासजी ने हनुमानजी का स्मरण किया। हनुमानजी का स्मरण करते ही बन्दीगृह को बन्दरो ने घेर लिया और उन्होने इतना उत्पात मचाया कि बादशाह व्याकुल हो उठा और उसे तुलसीदास की शरण मे जाना पडा। तब तुलसीदासजी ने कहा कि अब तो यह स्थान बन्दरो का ही हो चुका। इसे अब इन्ही के लिए छोड़ देना होगा। बादशाह ने तुलसीदासजी की बात मान ली। प्रियदास ने भक्तमाल की टीका मे इस घटना का उल्लेख किया है और पदप्रसग माला मे भी इसकी चर्चा है। इस बादशाह का नाम जहाँगीर बतलाया गया है। इसी प्रकार की अन्य बहुत-सी घटनाओ का सम्बन्ध भी गोस्वामीजी के जीवन से जोड़ा

जाता है। इन घटनाओं मे कोई सचाई हो या नही परन्तु इतना सत्य अवश्य है कि गोस्वामीजी अपने काल मे एक प्रसिद्ध धर्मनिष्ठ महात्मा समझे जाते थे।

वृद्धावस्था : कवि ने अपनी कविता मे वृद्धावस्था का भी वर्णन किया है। वास्तव मे कवि लेखक अपने जीवन पर घटने वाली किसी भी बात को अपने साहित्य मे किसी-न-किसी रूप मे न दे, यह असम्भव सी ही बात है। कही-न-कही, किसी-न-किसी रूप मे, वह घटना या बात तो आ ही जाती है। गोस्वामीजी लिखते है :

> **१. चेरो राम राय को सुजस सुनि तेरो हर,**
> **पाई तर आइ रह्यौ सुरसरि तीर हौं ॥**[1]

यह वृद्धकाल की बात है क्योंकि काशी मे मरने वाले को स्वर्ग की प्राप्ति होती है। इसीलिए हर का सुयश सुनकर गोस्वामीजी वृद्धकाल व्यतीत करने काशी पहुँच गये थे। परन्तु उनका विश्वास फिर भी राम मे ही था और वही उनके इष्टदेव थे।

रोग वर्णन कवि ने, अपनी रोग-स्थिति का भी चित्रण किया है

> **१. रोग भयो भूत सो, कुसूत भयो तुलसी को,**
> **भूतनाथ पाहि पद पंकज गहतु हौं ॥**[2]
> **२. साहसी सरीर के दुलारे रघुबीर जी के**
> **बाँह पीर महाबीर बेगि ही निवारिये ॥**[3]
> **३. घेरि लियो रोगनि कुलोगनि कुजोगनि ज्यों,**
> **बासर जलद घनघटा धुकि धाई है॥**[4]

तत्कालीन परिस्थिति कवि ने अपनी कविता मे यत्र-तत्र देश दशा और तत्कालीन परिस्थितियो पर भी प्रकाश डाला है। ये सभी परिस्थितियाँ उनके जीवन मे आईं और उनसे उनका जीवन किसी-न-किसी रूप मे प्रभावित हुआ। तभी कवि ने उन्हे अपनी रचनाओ मे स्थान दिया

> **१. ऊँचे नीचे करम धरम अधरम करि,**
> **पेट ही को पचत बेचत बेटा बैटकी।**[5]
> **२. खेती न किसान को भिखारी को न भीख बलि**
> **बनिज को बनिज नचा कर को चाकरी।**

१. तुलसी ग्रन्थावली, दूसरा खण्ड (कवितावली) पृ० २४३
२. तुलसी ग्रन्थावली, दूसरा खण्ड (कवितावली) पृ० २२४
३. तुलसी ग्रन्थावली, दूसरा खण्ड (कवितावली) पृ० २५७
४. तुलसी ग्रन्थावली, दूसरा खण्ड (कवितावली) पृ० २६१-२६२
५. तुलसी ग्रन्थावली, दूसरा खण्ड (कवितावली) पृ० २२५

इसी प्रकार कवि ने देश मे फैली गरीबी और बेकारी का अनेकों जगह सकेत किया है।

अन्तिम अवस्था कवि ने, जैसा कि ऊपर कह आये हैं, वृद्धावस्था मे रोग और पीडा का चित्रण किया है। साथ ही काशी की महामारी का भी वर्णन है।

सकर-सहर सर नर नारि वारिचर,
विकल सकल महामारी मांजा भई है।[1]

परन्तु इन सब का सम्बन्ध कवि की अपने शरीर की बीमारियो से केवल आनुमानिक ढग से ही जोडा जा सकता है, कुछ निश्चयात्मक रूप से नही कहा जा सकता। कवि का जीवनान्त किस बीमारी मे या किस प्रकार हुआ, इस विषय मे निश्चयात्मक ढग से कुछ नही कहा जा सकता। तुलसीदासजी ने अपने जीवन के अन्तिम समय मे क्षेमकरी चिडिया को देखकर यह सवैया कहा था :

ककुम रग सुअग जितो मुखचन्द सों चन्दन होड़ परी है।
बोलत बोल समृद्ध चवै अवलोकत सोच विषाद हरी है।।
गौरी कि गंग विहगिनि बेष कि मजुल मूरति मोद भरी है।
पेषु सप्रेम पयान समै सब सोच विमोचन छेमकरी है।।

तुलसीदासजी ने अपने मरते समय जो अन्तिम शब्द कहे वे इस प्रकार है।

राम नाम जस बरनि कै, भयो अहत अब मौन।
तुलसी के मुख दीजिये, अबही तुलसी-सोन।।

गोस्वामीजी की मृत्यु-तिथि के विषय मे एक दोहा बहुत ही प्रसिद्ध है। उसे हम यहाँ उद्धृत करते हैं।

सवत सोलह सै असी, असी गग के तीर।
सावन शुक्ला सप्तमी, तुलसी तजै शरीर ।।

यही दोहा मूल गोसाई चरित्र मे कुछ दूसरे प्रकार से है :

संवत् सोलह सै असी, असी गग के तीर ।
सावन स्यामा तीज शनि, तुलसी तजे सरीर।।

गणना के आधार पर पहली की अपेक्षा यह दूसरी तिथि ही अधिक ठीक निकलती है। गोस्वामीजी का देहावसान इस प्रकार श्रावण कृष्णा तृतीया सवत् १६८० को हुआ। परन्तु यह तिथि भी निश्चित् रूप से सत्य नही मानी जा सकती क्योकि इसके निर्णय पर अभी तक विद्वानो मे मतैक्य नही हो पाया है।

तुलसी की प्रकृति . गोस्वामीजी के जीवन चरित्र पर सक्षेप में हम ऊपर विचार कर चुके है। उसीके आधार पर अब हम उनकी प्रकृति के विषय मे भी साधारण ज्ञान प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं। बालकाल से ही घर त्यागने पर गोस्वामी साधु सन्तो की सगति मे रहने लगे थे। यह वैष्णव सत थे,

---

१. तुलसी ग्रन्थावली, दूसरा खण्ड (कवितावली) पृ० २४७

इस पर भी अधिक प्रकाश डालने की आवश्यकता नही है। गोस्वामीजी का जीवन आडम्बरविहीन था और उनकी प्रकृति बहुत ही सरल थी। इस सरलता के आधार पर उन्होने रामायण को भाषा मे लाकर सरल ढग से सरल जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया और आचार्य लोगो की दृष्टि मे स्वय को एक कटक बना लिया। भगवान की भक्ति के क्षेत्र मे आपने जाति पाँति के बन्धनो को नही माना। तुलसीदासजी निरभिमानी व्यक्ति थे और उन्हे अपने जीवन की हर परिस्थिति पर सन्तोष रहता था। वह सभी से प्रेम-भाव प्रदर्शित करते थे, चाहे उसकी उनकी मान्यताओ और विचार मे आस्था हो या नही। उनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य ही भगवान की चर्चा था और उसीमे वह हर समय लीन रहते थे। उन्होने लिखा :

सूधे मन सूधे बचन, सूधी सब करतूति।
तुलसी सूधी सकल बिधि, रघुबर प्रेम प्रसूति ॥

(दोहावली)

नम्रता उनके जीवन में कूट-कूटकर भरी थी। सरल जीवन लेकर ही यह कवि दास्य-भावना से इतना ऊपर उठ सका। कवि स्वय भी कहता है।

१. **संत सरल चित जगत हित जानि सुभाउ सनेहु।**
   बाल विनय सुनि करि कृपा, राम चरन रति देहु ॥[1]

२. **भाषा भनति मोर मति। हँसिबे जोग हँसे नही खोरी ॥**[2]

३. **वंचक भगत कहाइ राम के। किंकर कचन कोह काम के ॥**[3]

आत्म विश्वास · गोस्वामी तुलसीदास मे जबरदस्त आत्मविश्वास था। दास को अपने भगवान राम पर हर समय विश्वास था और उनकी भावना थी कि उनके लोकरजक, लोकपालक और लोकरक्षक इष्टदेव हर समय उनके साथ रहते हैं। उनका रक्षा-कर सिर पर लेकर ही भक्त तुलसीदास लोक मे विचरण करते हैं, फिर भला उन्हे भय किस बात का ? कवि कहता है।

१. **कौन की त्रास करै तुलसी जो राखि है राम तौ मारि है कोरे ॥**[4]

२. **राखि हैं राम कृपालु तहाँ, हनुमान से सेवक हैं जेहि केरे।**[5]
   नाक रसातल भूतल में रघुनायक एक सहायक मेरे ॥

---

१. तुलसी ग्रन्थावली, पहला खण्ड (मानस) पृ० ४
२. तुलसी ग्रन्थावली, पहला खण्ड (मानस) पृ० ७
३. तुलसी ग्रन्थावली, पहला खण्ड (मानस) पृ० ६
४. तुलसीग्रन्थावली, दूसरा खण्ड (कवितावली) पृ० २१३
५. तुलसी-ग्रन्थावली, दूसरा खण्ड (कवितावली) पृ० २१३

इस प्रकार राम के भरोसे तुलसी को किसी प्रकार की भी चिन्ता नही है और वह निश्चिन्त हो पैर फैलाकर सोता है।

सारांश उक्त विवरण के आधार पर यह निश्चित होता है कि महाकवि तुलसीदासजी हुलसी माता के पुत्र थे। इनका जन्म किसी उच्च वर्ण में हुआ था। आत्म-ग्लानि से अपने कुल को कवि ने 'मगन कुल' ही कहा है। यह ब्राह्मण कुल हो सकता है। इनका बालकपन का नाम रामबोला था, जो बाद मे तुलसीदास के रूप में परिणित हो गया। माता-पिता के प्यार तथा सरक्षण से वह बाल्यावस्था से ही वचित हो गये थे। इसके कारण इनका बाल-जीवन भी माँगते-खाते ही कष्टमय परिस्थितियो मे व्यतीत हुआ। रोटियो तक के लिए कभी-कभी इन्हे तरसना पड जाता था। द्वार-द्वार पर भिक्षा माँगकर यह जीवन-यापन करते रहे। भ्रमण करते हुए यह नरहरि गुरू के पास पहुँचे और उन्होने शूकर-क्षेत्र मे उन्हे राम-कथा सुनाई। परन्तु इस समय यह बालक ही थे और गम्भीर बातो को समझना इनके लिए कठिन था।

बड़े होने पर इन्होने अपना विवाह किया। 'मेरे ब्याह न बरेखी' पक्ति के आधार पर कुछ विद्वान् यह भी मानते हैं कि इनका विवाह हुआ ही नही, परन्तु हमारा मत इसके विपरीत है। इस पक्ति का अर्थ हम यही लगाते हैं कि 'हमें किसी का विवाह इत्यादि नही करना है क्योकि हमारे कोई सन्तान इत्यादि नही है और हम गृहस्थ से सम्बन्ध-विच्छेद कर चुके है। बाह्य-साक्ष्य और जनश्रुति के आधार पर तुलसीदासजी का विवाह होना ही प्रमाणित होता है।

कवि ने अपने वैराग्य से पूर्व की कथा पर प्रकाश नही डाला। वैराग्य की दशा और पर्यटन का आपने अच्छा-खासा वर्णन किया है। शूकर-क्षेत्र से आपने राम-कथा सुनी और तभी से उसे अपने मन तथा हृदय मे स्थान देकर साहित्य की पृष्ठ-भूमि बनाया। यात्रा के दौरान मे यह चित्रकूट, काशी, वारिपुर, दिगपुर, अयोध्या आदि स्थानों को गये।

गोस्वामीजी के जीवन का पूर्वार्ध जहाँ माँगते-खाते कष्ट मे व्यतीत हुआ, वहा इनका उत्तरार्ध काफी सुख-चैन से कटा। जीवन के अन्तिम दिनो मे इन्हे बाहु-पीर हुई और उसके शमन के लिए आपने शिव, पार्वती, राम और हनुमान की स्तुति की।

गोस्वामीजी ने अपनी समकालीन परिस्थितियो पर भी प्रकाश डाला है। लोग धर्म-विमुख होते जा रहे थे। देश मे बेकारी थी। जीविका बडी ही कठिनाई से प्राप्त होती थी। किसान को खेती करना कठिन था और भिखारी को भीख नही मिलती थी। अनेको पन्थ और पाखण्डो का जोर था। काशी मे माहमारी फैली थी, उसका भी कवि ने चित्रण किया है।

रामचरित मानस की रचना आपने सवत् १६३१ मे की। सवत् १६४२ मे आपने 'पार्वती-मगल' की रचना की। शेष ग्रन्थो की रचना के समय के विषय मे सकेत नही मिलता।

जीवन के अन्तिम काल मे गोस्वामीजी का यश काफी दूर-दूर तक फैल चुका था। इनकी ख्याति काफी बढ चुकी थी। समकालीन राजे महाराजे और मुगल बादशाहो मे भी इनका सम्मान होने लगा था।

गोस्वामीजी आत्माभिमानी, नम्र-स्वभाव के व्यक्ति थे। अपने लिए कवि ने कूर, काहली दगाबाज कूकर इत्यादि शब्दो का प्रयोग किया है। यह आत्म-ग्लानि कवि मे अपने पूर्ववर्ती जीवन के कारण पैदा हुई मालूम देती है।

गोस्वामीजी की मृत्यु-तिथि अनिश्चित है। महाप्रयाण के समय आपने क्षेम-करी पक्षी को देखा था। जीवन के अत समय मे भी राम-नाम इनके मुख पर था-जो निश्चित तिथि आज इनकी मृत्यु के सम्बन्ध मे मानी जाती है, वह श्रावण कृष्ण तृतीया सवत् १६८० है।

□

२ | तुलसीकालीन परिस्थितियाँ तथा विचारधाराएँ

राजनैतिक स्थिति बाबर ने जिस समय भारत पर आक्रमण किया तो भारत मे कोई भी बडी सगठित सत्ता नही थी। देश बहुत से छोटे-छोटे राज्यो मे विभक्त था। उसे राजपूतो से टक्कर लेनी पडी, जिसमे उसे आँशिक सफलता मिली। उसके पश्चात् हुमायू के जमाने मे स्थिति और भी खराब रही। हुमायू के बाद अकबर का शासन-काल आया जिसमे आकर देश की स्थिति कुछ सुधरी। अकबर ने बीस वर्ष तक अपनी पूरी शक्ति देश को सगठित करने मे खर्च की।

अकबर का शासन-काल मुगल जमाने का स्वर्ण-युग कहलाता है। अकबर के जमाने मे कितने ही हिन्दू राजाओ ने उसका आधिपत्य स्वीकार कर लिया। सन् १५६२ मे वर्तमान् जयपुर महाराज के पूर्वज आमेर के राजा बिहारीमल ने अकबर के दरबार मे भेट की थी। इन्होने अपनी लडकी मुगल-सम्राट को दी। अकबर के हरम मे और भी हिन्दू ललनाए थी। अकबर के बाद जहाँगीर के हरम मे भी हिन्दू रानियाँ थी।

इससे स्पष्ट है कि इस समय मे हिन्दुओ की स्थिति काफी खराब थी और राजे-महाराजे विवश होकर मुगल बादशाहो की आधीनता स्वीकार करते चले जा रहे थे।

हिन्दू राजाओं की गिरावट क्षत्रियो का आत्माभिमान धीरे-धीरे विलुप्त होता जा रहा था। मुगलो का आधिपत्य स्वीकार करते ही इनके जीवन मे सघर्ष का लोप होने लगा और इनका जीवन धीरे-धीरे विलासिता की ओर अग्रसर हुआ। नाच-रग मे जीवन व्यतीत होने लगा और वह सब होता था जनता की छाती पर, जनता के शोषण से। इन राजाओ के दरबारो मे इस काल के अन्दर जो साहित्य पनपा वह इनकी अपनी प्रशसा का रीतिकाव्य था, जिसका प्रधान लक्ष्य, राजाओ का मनोरजन और राधा-कृष्ण का नाम लेकर उन राजे और उनकी प्रेमिकाओ का चित्रण करना होता था। इन राजाओ के जीवन से उनका कर्तव्य धीरे-धीरे विलुप्त होता जा रहा था। उन्हे बाहर से किसी के हमले का भय नही था। अपनी फौज की ताकत से वे जनता पर मनमाना अत्याचार कर

सकते थे। उनका जीवन उनके रनिवासो तक ही सीमित होता चला जा रहा था।

समाज पर प्रभाव : इस राजनैतिक परिस्थिति का समाज पर भी प्रभाव पडना शुरू हो गया था। 'यथा राजा तथा प्रजा' की कहावत पूर्ण रूप से चरितार्थ होती जा रही थी। हिन्दू जनता पतनोन्मुख थी। दास्य वृत्ति जनता मे घर करती जा रही थी। स्वाभिमान का लोप और शासको के रग मे अपने को रगने की प्रणाली प्रतिलक्षित होने लगी थी।

"प्रत्येक सामन्त की मृत्यु पर उसकी सम्पत्ति हडप लेने की (एसचीट सिस्टम) प्रथा के कारण न जाने कितने हिन्दू राज्यो का उन्मूलन हो रहा था। सरदार के मरते ही उसकी भूमि राजा की हो जाती थी और उसका फल यह होता था कि अनेकानेक परिवार अनाथ होते जाते थे। उन्हे भीख माँगने के अतिरिक्त और मार्ग न सूझता था। सरदार के जीवन काल मे भी भूमि अपहरण प्रणाली का समाज-घातक परिणाम होता था। सरदार लोग गुलछर्रे उडाते थे और नैतिक पतन के गर्त मे गिरते जाते थे। वे सोचते थे कि जब मेरे परिवार को हमारे न रहने पर कुछ भी न मिलेगा तो क्यो न हम अपने जीवन-काल मे ही उसे उडा डाले। परिणामत इस प्रथा ने देश के कितने ही परिवारो की आर्थिक उन्नति एव सामाजिक प्रतिष्ठा पर भारी कुठाराघात किया।"[1]

देश के कृषको की दशा भी खराब थी। उनकी आवश्यकताओ की उपेक्षा करके लगान वसूल किया जाता था। कर्मचारी लोग अपनी लूट-खसोट अलहदा लगाये रहते थे। कई प्रकार के अबवाबो को देते-देते किसान लोग परेशान थे। दुर्भिक्ष इत्यादि की आफते भी प्रजा पर आती रहती थी और सरकार की ओर से उसे दूर करने का कोई उपाय नही होता था। यातायात की कठिनाई के कारण उसका वैसे दूर भी होना कठिन था। दुर्भिक्षो के साथ-साथ महामारी भी कभी-कभी फैल जाती थी, जिनमे लोग तडप-तडप कर जान देते थे और उसको रोकने का कोई उपाय नही होता था। सन् १६१६ से सन् १६२४ तक जहाँगीर के शासन-काल मे एक भयानक महामारी फैली जिसका प्रकोप लाहौर, सरहिन्द, दिल्ली इत्यादि होता हुआ भारत के अन्य नगरो मे भी पहुँचा। इस महामारी मे अगणित प्राणियो को अपनी जाने गँवानी पडी।

तीर्थ-स्थानों और देवालयों की स्थिति इस काल मे सिद्धो और ब्राह्मणो का पाखण्ड और जनता का धार्मिक अन्धविश्वास बहुत जोर पर था। धर्म के नाम पर अनाचार पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ था। शाहजहाँ के प्रारम्भिक शासन-काल में फ्रेंको बरनियर नामक यात्री भारत आया था। बरनियर ने आठ नौ दिन जगन्नाथपुरी मे रहकर रथ-यात्रा के मेले को देखा। उसका वर्णन करते

---

१. सर यदुनाथ सरकार, 'मुगल एडमिनिस्ट्रेशन', पृ० १६५।

हुए वह लिखता है कि वहाँ पर जनता की भीड लगभग डेढ लाख के करीब थी। इस अवसर पर एक विमान बनाया जाता था। उसे चौदह या सोलह पहियो के रथ पर अधिष्ठित करके उसमे अलकृत जगन्नाथजी की प्रतिमा को एक मन्दिर से दूसरे मदिर तक ले जाया जाता था। इस रथ को आदमी ही खीचकर ले जाते थे।

इस भीड मे जो लोग पिसकर मर जाते थे वे सीधे स्वर्ग प्राप्त करते थे, ऐसी जनता की धारणा थी। बल्कि कुछ अन्ध-विश्वासी लोग तो अपने आप आगे आकर रथ के पहियो के नीचे गिरकर मर जाते थे। ब्राह्मणो ने उस अन्ध-विश्वास को जनता मे फैलाया हुआ था।

ब्राह्मणो का पाखड और अनाचार पराकाष्ठा को पहुचा हुआ था। ये लोग भोली जनता द्वारा धर्म के मर्मज्ञ होने के नाते आदर की दृष्टि से देखे जाते थे। इनकी काली करतूतो को समझना भोली जनता के लिए कठिन था। "इनके पाखड के कई मार्ग थे, जैसे, ये ब्राह्मण किसी लावण्यवती युवती को चुन लेते और अन्ध-विश्वासियो के मन मे यह विश्वास जमा देते कि वह रमणी जिस मन्दिर में जगन्नाथ जी पधराये जाएँगे उसी मे उनकी पत्नी बनेगी। रात्रि मे जगन्नाथजी उसके पास अवश्य आएँगे। रमणी को आज्ञा देते कि जिस समय जगन्नाथजी आएँ, उनसे पूछना कि वर्ष किस प्रकार बीतेगा, कैसी धूमधाम रहेगी, कैसी प्रार्थनाएँ होगी और उनकी अर्चना के लिए कितने दान की आवश्यकता पडेगी। रात्रि के दूसरे प्रहर मे मन्दिर के किसी छोटे पक्ष-द्वार से इन्ही ब्राह्मणो का सरदार प्रवेश करता और उसके द्वारा पूछे गये प्रश्नो का आवश्यक उत्तर देकर उसका पूर्ण विश्वास बनाये हुए चला जाता। साथ ही यह धूर्त ब्राह्मण उस सीधी-सादी स्त्री का सतीत्व भी अपहरण करता। दूसरे दिन वह रमणी भी जगन्नाथजी की पत्नी के रूप मे उनकी प्रतिमा के साथ रथ मे दूसरे मन्दिर की ओर ले जाई जाती थी। वहाँ ब्राह्मण लोग भीड के सामने चिल्लाकर पूछते कि जगन्नाथजी ने रात्रि मे तुम से क्या-क्या बाते की?"[1]

इस प्रकार की घटनाओ के अतिरिक्त रथ के सामने वेश्याओ का नृत्य होता था। यात्री लिखता है कि "उसने और भी बहुत-सी रमणियो को देखा, जो सामान्य विभाग मे रखी गई थी। वे किसी बाहरी आगन्तुक, हिन्दू, मुसलमान या ईसाई यात्रियो के उपहार को उपेक्षणीय समझी जाती थी। उनका विश्वास था कि वे देवल के पुजारी अथवा देवल के चारो ओर भस्म रमाकर बैठे हुए बडे-बडे जटाधारी सिद्धों को अर्पित हैं।"[2]

---

१. तुलसीदास और उनका युग, पृ० ६-७।
२. तुलसीदास और उनका युग, पृ० ३०६

यह दशा थी देवालयो की और उनके अन्दर पलने वाले ब्राह्मण-वर्ग की। पाखण्डी योगियो की तो कुछ पूछो ही नही। वे लोग अपना अलग ही रग जमाए भोली जनता को उल्लू बनाने मे लगे थे। तमाम शरीर मे भस्म लगाकर बेधडक नगे घूमते थे, या लम्बी-लम्बी जटाएँ बाँधे विचित्र मुद्रा मे आसीन नग्न काले कराल से खौफनाक बने किन्ही पेडो के नीचे तालाबो के किनारे पडे रहते थे और अपने पास आने वाले गृहस्थो को ठगना इनका पेशा था।

वर्णाश्रम-धर्म की स्थिति वर्ण-व्यवस्था का पतन हो रहा था। मुसलमानो के आने से पहिले बुद्ध और जैन धर्म का आघात हो चुका था। इस प्रभाव से टक्कर लेने के लिए सायण, मध्व, उव्वट, दुर्ग, आनन्दतीर्थ, भट्ट भास्कर इत्यादि अपने भाष्य लेकर सामने आये और वैदिक धर्म की गिरावट को सम्भालने का प्रयास किया। वेदो के भाष्यकारो के अतिरिक्त कुछ धर्म-सुधारको ने स्मृतियो के भाष्य किये और उन पर निबन्ध लिखकर हिन्दू धर्म की रक्षा की। इन विद्वानो ने निष्प्राण शरीर मे दुबारा प्राणो की प्रतिष्ठा की। प्राचीन सामाजिक नियमो का एक बार फिर से पुनरुद्धार किया। मेधा-तिथि, कुल्लूक भट्ट, विज्ञानेश्वर, हेमाद्रि, रघुनन्दन आदि ने बडे परिश्रम के साथ हिन्दू धर्म-व्यवस्था को सम्भाला। इसी समय कुछ दर्शन-शास्त्र के आचार्यों ने भी जन्म लिया। इनमे जगत् गुरु शकराचार्य का नाम विशेष उल्लेखनीय है। आपने एक बार फिर से भूली-भटकी जनता को उद्बोधित किया और इन्ही के प्रभाव से बुद्ध-धर्म का पतन हुआ। शकराचार्य ने चार मठ स्थापित किए और उन्ही मठो से अपने धर्म तथा अपनी मान्यताओ का प्रचार प्रारम्भ किया। षट्-दर्शन के सम्प्रदायो की फिर से स्थापना हुई और जनता को समझाने के लिए उनके अनेको भाष्य हुए।

हिन्दू-धर्म के पुनरुत्थान मे जहाँ एक ओर तत्वदृष्टा शकराचार्य के दर्शन का प्रभाव हुआ वहाँ दूसरी ओर भक्ति-सम्प्रदायो के आचार्यों का योग भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नही है। श्री रामानुजाचार्य, विष्णुस्वामी, बल्लभाचार्य, विट्ठल-नाथजी, हितहरिवश इत्यादि ने हिन्दू-धर्म को सर्वनाश की ओर जाते हुए रोका। मुसलमानी शासन का जोर-जब्र सिर पर होने पर भी हिन्दू-धर्म की जड़ो को पानी देना इन्ही महानुभावो का काम था।

जब मुसलमान पूरी तरह से भारत मे जम गये, तो दोनो धर्मों मे सामजस्य स्थापित करने वाली प्रवृत्ति ने जन्म लिया और ऐसे सुधारक सामने आये जिन्होंने इस दिशा मे प्रयास किया। दोनो धर्मों के मतभेदो को मिटाने की ओर इन विचारक-सतो और भक्तो का ध्यान गया और बहुत कुछ हद तक जनता की भावना उनकी विचार-धारा से प्रभावित भी हुई। धार्मिक रूढियाँ उनके मार्ग मे बाधाएँ बनकर आई। इस दिशा मे कबीर-पथ और सूफी-पथ उल्लेखनीय हैं।

मुगल शासकों का प्रभाव : मुगल-शासन-प्रणाली पूर्णरूपेण एक सैनिक शासन प्रणाली थी जिसका समाज की नैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति से बहुत

कम सम्बन्ध था। जैसा कि ऊपर दिए गए विवरणो से पता चलता है, राज्य-सत्ता न बीमारियो को रोक सकती थी, न कर्मचारियो की घूसखोरी को रोक सकती थी, न कृषको की दशा को सुधार सकती थी, न मन्दिरो और तीर्थ-स्थानो मे फैले व्यभिचारो को रोक सकती थी, बस उसका काम तो राजा-महाराजो को परास्त करना भर ही था। ऐसी दशा मे शासन और जनता का पारस्परिक सम्पर्क कुछ भी नही था। यह शासन-प्रणाली अरब और फारस के बादशाहो के आदर्श को मानने वाली शासन-प्रणाली थी, पूर्ण रूप से सैनिक शासन-प्रणाली। यह एकतत्रीय सत्ता थी, जिसका सूत्र व्यक्ति-विशेष के हाथो मे रहता था।

इस प्रकार प्रजा से शासक का सम्बन्ध ना के बराबर ही था। शासक की इस उदासीनता के फलस्वरूप प्रजा मे खुशहाली आ ही नही सकती थी। समाज के सामने जहाँगीर और अकबर के रूप मे विलासी सम्राट थे, जिनका प्रभाव सामंतो, सरदारो और छोटे कर्मचारियो पर क्रमश पडता था।

देश की दशा और धर्माचार्य देश की ऐसी स्थिति मे समाज गिर रहा था, धर्म के क्षेत्रो मे पाखड फैल रहा था, राजकीय सत्ता अपना सम्बन्ध समाज की गिरावट से और अनीति से नही रखती थी। इन परिस्थितियो मे समाज गिर रहा था। लोगो का आचरण बराबर पतनोन्मुख था। देश मे निराशा का साम्राज्य छाया हुआ था। धर्म की शृंखलाएँ ढीली पडती जा रही थी। धर्म के नाम पर पाखड का बोलबाला था। जनता की भाषा सस्कृत न होने से टूटे-फूटे श्लोको को रटकर पाखडी ब्राह्मण जनता मे खूब लूटमार मचाये रहते थे।

इस समय तक आते-आते समाज मे उच्च और सामान्य वर्गों की व्यवस्था हो चुकी थी। इनमे पारस्परिक भेद पैदा हो चुका था और उसमे कटुता भी आने लगी थी। उच्च वर्ग के लोगो ने निम्न वर्ग के लोगो को मानवीय अधि-कारो से भी वचित कर देना प्रारम्भ कर दिया था। इन उच्च और सामान्य वर्गो मे ईश्वर के मूर्त्त और अमूर्त्त रूप को लेकर अनेको प्रकार के बखेडे खडे हो गये थे। आस्तिक और नास्तिक स्वरूप को लेकर भी सामान्य जनता मे कई प्रकार की विचारधाराएँ पैदा हो चुकी थी।

यहाँ तक समझ लेना चाहिए कि ईसा की छठी शताब्दी से लेकर ग्यारहवी शताब्दी तक भारत की जनता विचार-धारा के विचार से एक प्रकार पूर्ण रूप से नास्तिको के हाथो मे जा चुकी थी। बौद्ध-धर्म के प्रचार से सहजयान, बज्रयान, निरजन-पथ-धारी इत्यादि धाराओ का वेग देश मे बढ रहा था। इस वेग को रोकने और एक बार फिर से भारत मे ब्राह्मण-धर्म का पुनरुद्धार करने का कार्य जगत्गुरु शकराचार्य ने किया, परन्तु शकराचार्य द्वारा प्रवाहित धारा पूर्ण रूप से आचार्यो की धारा मात्र थी और उसका किसी भी प्रकार का प्रभाव सामान्य वर्गों पर नही हुआ। उच्चवर्गो पर उसका प्रभाव हुआ और जहाँ तक विद्वानो

मे सैद्धान्तिक आधार का प्रश्न था, उन्होने बौद्ध-धर्म का खोखलापन उन पर पूर्ण रूप से जाहिर कर दिया ।

शंकराचार्य के पश्चात् जो आचार्य आए और जिनके मतो का प्रभाव उच्च तथा सामान्य वर्गों पर समान रूप से हुआ, उनके मत शकराचार्य के मत के समर्थन मे न होकर प्रतिक्रिया मात्र थे । इन सभी आचार्यो के दार्शनिक वादो मे मतभेद था, परन्तु सभी ने साधना के क्षेत्र मे भक्ति को प्रधानता दी । रामानुजाचार्य ने साधना मे ज्ञान को प्रधानता दी ।

बौद्ध-धर्म की विशृंखल धाराओ के प्रति यवनो के भारत मे बढने वाले प्रभाव के फलस्वरूप बहुत बडी प्रतिक्रिया देखने को मिलती है । इसका प्रभाव जनता तथा विचारको, दोनो पर समान रूप से दिखलाई देता है । उत्तर भारत मे नाथ-पथ और दक्षिण-भारत मे लिंगयात आदि धर्मो का उदय इसी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप माना जाना चाहिए ।

शकराचार्य शकराचार्य ने अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है । मायावाद का प्रवर्तक और आचार्य भी इन्हे ही माना जाता है । आपने जगत् को मिथ्या कहा है और ब्रह्म तथा जीव मे कोई भी तात्विक भेद नही माना । आपने माया का आवरण और विक्षेप दो रूप मे चित्रण किया है । आवरण माया की वह शक्ति है जो जीवात्मा की दृष्टि से ईश्वर को छुपा देती है । यह ब्रह्म को एक प्रकार से ढक्कर जीव की भौतिक दृष्टि से ओझल कर देती है । विक्षेप माया की वह शक्ति है जिसका सहारा लेकर ब्रह्म जगत् का निर्माण करता है । जहाँ तक जीवात्मा का सम्बन्ध है उसे शकराचार्य ने नित्य माना है । ब्रह्म से जीवात्मा का सर्वदा एक्य रहता है । आत्मा चैतन्यस्वरूप है । जीव शरीर का अध्यक्ष है और कर्म-फल के अनुसार शरीर मे प्रवेश करता है, तथा उसका त्याग करता है । जीव की दो प्रकार की प्रवृत्ति होती हैं, अतर्मुखी तथा बहिर्मुखी । जब जीव अर्तमुखी प्रवृत्तियो के आधीन कार्य करता है तो उसका झुकाव ब्रह्म की ओर होता है और जब वह बहिर्मुखी प्रवृत्तियो के आधीन आचरण करने लगता है तो उस पर आवरण अर्थात् माया का प्रभाव बढने लगता है और वह ब्रह्म से विमुख होकर दुनिया मे फँसने लगता है । शकराचार्य ने ब्रह्म-प्राप्ति के साधनो मे कर्म, भक्ति और ज्ञान के क्षेत्र मे ज्ञान को प्रधानता दी है ।

रामानुजाचार्य रामानुजाचार्य का जन्म सवत् १०७४ मे श्रीपरमवट्टूर मे हुआ था । मद्रास से २६ मील की दूरी पर पश्चिम की ओर यह स्थान स्थित है । इन्हे शेष का अवतार माना जाता है । कजीवरम मे शकरमतानुयायी श्री यादव-प्रकाश को आपने अपना गुरु बनाया और उन्ही से शिक्षा प्राप्त की, परन्तु अन्त मे यह उनके मतानुयायी न बन सके । इनकी सहमति उनके सिद्धातो मे न हुई । यामुनाचार्य के पश्चात् अपने सम्प्रदाय के यह आचार्य हुए । इनके तीन प्रसिद्ध ग्रन्थ वेदार्थ-सग्रह, श्री-भाष्य और गीता-भाष्य है । इन्होने दो बार

भारत की यात्राएँ की । अपने जीवन के अतिम दिन आपने श्री रगम (त्रिचना-पल्ली) मे बिताए । इनकी मृत्यु स० ११६४ मे हुई ।

सिद्धान्त . रामानुजाचार्य की मान्यता श्रुति-प्रमाण मे अवश्य है, परन्तु दर्शन के क्षेत्र मे इनका शकराचार्य से मतभेद है । यह चित, अचित और ईश्वर अर्थात्—जीव, प्रकृति और ब्रह्म तीनो को अनादि मानते है । आपके मतानुसार ईश्वर सर्वान्तरयामी है, परन्तु उसके साथ-ही-साथ जीव तथा प्रकृति भी नाशवान नही है, ये नित्य और स्वतत्र हैं । यह अवश्य है कि स्वतत्र होने पर भी ये ईश्वराधीन है । कर्म करने के लिए जीव स्वतत्र है, परन्तु अपने कर्मो का फल भोगने के लिए स्वतत्र नही । आपके मतानुसार उपनिषद-प्रतिपाद्य ब्रह्म सगुण ब्रह्म ही है । जहाँ ईश्वर चिद्-चिद् के सम्बन्ध का प्रश्न है, वहाँ श्री-भाष्य[1] मे चिद्-चिद् को विशेषण और ईश्वर को विशेष्य माना है । यही कारण है कि रामानुजाचार्य के मत का नामकरण भी विशिष्टाद्वैत के रूप मे प्रतिपादित तथा प्रतिष्ठित हुआ । इनके मतानुसार ईश्वर स्वेच्छा से जगत् का उत्पादन करता है । प्रलय के समय जीव और प्रकृति सूक्ष्म रूप धारण करके परब्रह्म मे विलीन हो जाते है । इस प्रकार सूक्ष्म रूप को 'कार्यावस्थ' ब्रह्म कहते है ।

शकराचार्य के ही समान रामानुजाचार्य ने भी मनुष्य का मुख्य लक्ष्य मुक्ति-प्राप्ति माना है, परन्तु मुक्ति प्राप्त करने के साधनो मे जहाँ शकराचार्य ने ज्ञान को प्रधानता दी है वहाँ रामानुजाचार्य ने भक्ति को अपनाया है । कबीर-कालीन सत तथा महात्माओ की धार्मिक विचार-धारा को जितना रामानुजाचार्य की भक्ति तथा प्रपत्ति प्रभावित कर सकी, उतना प्रभाव शकराचार्य की ज्ञानाश्रयी धारा का नही हुआ । कबीरदास जी ज्ञान-मार्गी होने पर भी भक्ति-भावना से प्रभावित हुए बिना न रह सके ।

मध्वाचार्य . मध्वाचार्य का जन्म सवत् १३१४ (सन् १२४७) मे मगलौर से ६० मील उत्तर की ओर उदीपी मे हुआ था । यह द्वैतवाद के प्रतिपादक थे । उन्होने अपने सिद्धान्त अधिकतर भागवत-पुराण से लिए थे । यह वायु के अवतार माने जाते है ।

सिद्धान्त आपने द्वैतवाद के आधार पर ब्रह्म-सम्प्रदाय की नीव डाली और उस सम्प्रदाय का आरम्भ आपकी ही विचारधारा से हुआ । विष्णु को आप साक्षात् ब्रह्म मानते थे । अनन्त गुणो का भडार आपने विष्णु को ही कहा है । विष्णु मे सजातीय और विजातीय सभी गुण विद्यमान है । वह ससार के जीवो से विलक्षण है और नाना रूप धारण करता रहता है । लक्ष्मी परमात्मा की शक्ति है, उसके आधीन है, परन्तु उससे सर्वथा भिन्न है । वह जीव को सासा-

---

१. **'श्री-भाष्य'—१।१।३**

रिक मानते है और मुक्ति प्राप्त करना जीव का परम लक्ष्य है। मुक्ति होने पर जीव ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। रामानुजाचार्य के ही समान यह भी भक्ति को ही ब्रह्म-प्राप्ति का मुख्य साधन मानते है। मध्यकालीन आध्यात्मिक विचार-धारा पर आपका काफी प्रभाव पडा। कृष्ण-साहित्य को इस विचारधारा ने प्रभावित किया, परन्तु इसमे राधा को वह स्थान प्राप्त नही था जो उसे बाद मे जाकर हुआ। मध्वाचार्य के दो प्रधान ग्रन्थ वेदान्त-सूत्र पर भाष्य और अनुभाष्य हैं।

विष्णु स्वामी विष्णु स्वामी के जीवन के विषय मे अधिक सामग्री उपलब्ध नही है। सभवत यह भी दक्षिण के ही निवासी थे। महाराष्ट्र-भक्त ज्ञानेश्वरी के रचयिता ज्ञानेश्वर महाराज से आप तीन वर्ष आयु मे बडे थे[१]। और ज्ञाने-श्वर महाराज का आविर्भाव-काल सन् १३२० के लगभग माना जाता है।[२] इस प्रकार विष्णुस्वामी का समय भी सन् १३२० के लगभग ही ठहरता है। यह समय लगभग सवत् १३७७ के आसपास का था। कहा जाता है कि यह ज्ञानेश्वर महाराज के गुरू थे, परन्तु इसका कोई पुष्ट-प्रमाण उपलब्ध नही है।

सिद्धान्त : विष्णुस्वामी मध्वाचार्य के ही मतावलम्बी थे। आपने अद्वैतवाद से शकर के मायावाद को पृथक करने का प्रयास किया है। विशेष रूप से आपने राधा और कृष्ण की ही भक्ति को महत्त्व दिया है। विष्णुस्वामी का प्रभाव विद्यापति तथा चण्डीदास की कविता पर स्पष्ट रूप से पडा। इन्होने गीता, वेदान्त-सूत्र और भागवत-पुराण पर भाष्य लिखे। आपने सर्वप्रथम कृष्ण के साथ राधा की स्थापना की।

निम्बार्काचार्य . निम्बार्काचार्य का जन्म बारहवी शताब्दी मे हुआ। यह तेलगू प्रदेश से आकर वृन्दावन मे बस गए थे। यह सूर्य के अवतार माने जाते हैं। जयदेव, गीत गोविंद के रचयिता, इनके शिष्य थे। कहा जाता है कि इन्होने सूर्य की गति को रोककर, उसे आकाश से हटाकर, एक नीम के वृक्ष के पीछे कुछ समय तक के लिए छिपा दिया था। यह उन्होने इसलिए किया था कि सूर्यास्त से पूर्व उन्हे किसी सत को भोजन कराना था। निम्बार्क सम्प्रदायी जैनियो की ही भाँति सूर्यास्त के पश्चात् भोजन नही करते। वह राधा-कृष्ण के उपासक और अद्वैत के प्रवर्त्तक है। रामानुजाचार्य का आप पर विशेष प्रभाव था।

सिद्धान्त : निम्बार्काचार्य ने द्वैताद्वैत मत का प्रतिपादन किया है। ब्रह्म के द्वैत और अद्वैत दोनो ही रूपो को आपने माना है। जीव को आपने कर्तव्य के

---

१. Out-line of the Religious Literature of India—J. N. Farkhar—Page 235.

२. वही, पृ० २३४।

क्षेत्र मे मुक्त और भोग के क्षेत्र मे परतंत्र माना है। जीव नियम्य है और ईश्वर नियन्ता। जीव ईश्वर का अश होने पर भी बहुत प्रकार का है। आपने अचित के प्राकृत, अप्राकृत और काल तीन रूप माने है। निम्बार्क-मत मे ईश्वर के सगुण रूप का ही प्रतिपादन किया गया है। आपके विचार से जीवात्मा सासारिक क्लेशों से केवल भक्ति-द्वारा ही मुक्ति प्राप्त कर सकता है। प्रपत्ति-मूलक भक्ति के द्वारा ही जीव को भगवानानुग्रह प्राप्त हो सकता है।

इस प्रकार हमने देखा कि देश मे द्वैत और अद्वैत को लेकर दर्शन और धर्म के क्षेत्र मे अनेकानेक उलझन पैदा हो रही थी। आचार्यो की दिमागी कलाबाजियाँ चल रही थी और उनके फलस्वरूप बहुत सी विचारधाराएँ और बहुत से मत-मतान्तरो का जन्म हो रहा था। हिन्दू-धर्म का एक नया ही रूप होता जा रहा था, जिसमे वैदिक समय से काफी परिवर्तन दिखलाई देने लगा था। यह वह समय था जब देश के वातावरण मे ज्ञान और भक्ति का समन्वय होना चाहता था। यह देश की मुख्य विचारधारा थी जिससे जनता प्रभावित हो रही थी और इसी का प्रभाव साहित्य पर भी पड रहा था। भक्ति-काल का सम्पूर्ण साहित्य भक्ति और ज्ञान के इसी सैद्धान्तिक वातावरण से अनुप्राणित हुआ है। विचार मे भक्ति और भक्ति मे विचार का अभिन्न सम्मिश्रण इस काल मे देखने को मिलता है। निर्गुण मे सगुण और सगुण मे निर्गुण विचारो का सम्मिश्रण इसी काल मे आकर हुआ। ब्रह्म के सूक्ष्म रूप को परखने मे जब आचार्यो ने देखा कि जनता को कठिनाई होती है तो उसका स्थूल मूर्त रूप उसके सामने प्रस्तुत कर दिया।

इन सिद्धान्तो के आधार पर चार सम्प्रदायो की स्थापना हुई :

१. **श्री-सम्प्रदाय** . रामानन्दी वैष्णव इस सम्प्रदाय के अनुयायी बने।
२ **ब्रह्म-सम्प्रदाय** . इस सम्प्रदाय के अनुयायी माधव वैष्णव थे।
३ **रुद्र-सम्प्रदाय** इस सम्प्रदाय के अनुयायी विष्णुस्वामी मत के थे।
४ **सनकादि सम्प्रदाय** . इस सम्प्रदायावलम्बी निम्बार्क मत के थे।

रामानन्द . रामानुजाचार्य के श्री-सम्प्रदाय को लोकप्रिय बनाने और व्यापक रूप देने का श्रेय रामानन्द जी को ही पहुँचता है। रामानन्द जी के पिता का नाम पुष्पसदन था और माता का नाम सुशीला। इन्होने अपना विद्याभ्यास काशी के स्वामी राघवानन्द के आश्रम मे किया। इनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर श्रीराघवानन्द ने अपना आचार्य-पद इन्हे प्रदान कर दिया। रामानन्दजी ने सारे भारत का पर्यटन किया।

सिद्धान्त : रामानन्दजी ने भक्ति के क्षेत्र मे विष्णु या नारायण के स्थान पर अवतार राम को प्रतिपादित किया। आपने रामानुजाचार्य के कर्म-काण्ड (समुच्चय) की उपेक्षा की और एक मात्र भक्ति को अपनाया। आपने भक्ति को ही सर्वश्रेष्ठता दी। अपने मत को लोकप्रिय और व्यापक बनाने के लिए

आपने दो बातो की तबदीली की,—एक तो धर्म-भाषा सस्कृत से बदल कर जनता की भाषा कर दी और दूसरे भक्ति के क्षेत्र मे जाति और वर्ण के बन्धनो को खोल दिया। इससे शूद्रो को भी भक्ति-द्वारा भगवान् के पास तक पहुँचने का अवसर मिल गया। यह अपने युग की एक महान् क्रान्ति थी। रामानन्द जी ने राम और सीता की मर्यादापूर्ण भक्ति की। उत्तर-भारत मे वैष्णव-धर्म की नीव जमाने का श्रेय एक प्रकार से रामानन्दजी को ही जाता है। विष्णु अथवा नारायण के अवतार राम को जनता-जनार्दन ने अपनाया और अपने मन-मदिर के देवता-स्वरूप स्थापित कर लिया। अवतारो के रूप मे विष्णु की प्रतिष्ठा दिन-प्रतिदिन बढने लगी। विष्णु अथवा नारायण का महत्त्व अवतारो के रूप मे प्रकट हुआ। विष्णु के अवतारो ने विश्व मे आकर 'धर्म की ग्लानि' को दूर किया। अवतारो की सख्या दस है, परन्तु भागवत्-पुराण मे बाईस अवतारो का वर्णन है। यो तो सभी अवतारो का महत्त्व काफी है पर सप्तम और अष्टम अवतार राम और कृष्ण का महत्त्व सबसे अधिक है।

चैतन्य चैतन्य का नाम विश्वम्भर मिश्र था। इनका जन्म नदिया (बगाल) मे सवत् १५४२ मे हुआ था। न्याय और व्याकरण मे प्रारम्भ से इनकी प्रतिभा अधिक विकसित होने लगी थी। २२ वर्ष की आयु मे यह ब्रह्म-सम्प्रदाय मे दीक्षित हो गए, किन्तु इन्हे द्वैतवाद अधिक पसद नही आया। रुद्र और सनकादि सम्प्रदायो का भी इन पर प्रभाव पडा।

सिद्धान्त · चैतन्य ने अपनी धार्मिक मान्यताओ मे राधा को प्रमुख स्थान दिया। उनकी आराधना मे जयदेव, चण्डीदास तथा विद्यापति के पदो को गाया गया। इन्होने अपने सम्प्रदाय मे सकीर्तन को भी स्थान दिया और उनमे गान और नृत्य का बाहुल्य रहा। जहाँ तक धार्मिक दार्शनिको की मान्यता का प्रश्न है वहाँ तक आपने मध्व के द्वैतवाद को ही अपनाया। इनकी भक्ति का मूलाधार भागवत्-पुराण ही है। जगन्नाथपुरी जाकर आपने अपने सिद्धान्तो को लोकप्रिय बनाया। जगन्नाथपुरी मे यह ही सवत् १५९० मे जगन्नाथजी के अन्दर लीन हो गए।

चैतन्य ने भक्ति के पाँच प्रकार माने है

१. शान्ति-ब्रह्म पर मनन।

२. दास्य-ब्रह्म की सेवा में लीन।

३. सख्य-ब्रह्म को सखा के रूप मे ग्रहण करना। मैत्रीपूर्ण व्यवहार।

४. वात्सल्य-स्नेहपूर्ण व्यवहार में भगवान् को बच्चे के रूप मे देखना।

५. माधुर्य-दाम्पत्य रूप मे।

वल्लभाचार्य वल्लभाचार्य तैलग्-प्रदेश के विष्णुस्वामी के मतावलम्बी थे। सवत् १५३६ मे इनका जन्म हुआ। यह चैतन्य महाप्रभु के ही समकालीन थे। यह सस्कृत के प्रकाड पडित थे और छोटी सी ही अवस्था मे इन्होने कई

पडितो को परास्त कर दिया था। विजयनगर के कृष्णदेव की सभा मे इन्हे महाप्रभु घोषित किया गया था।

सिद्धान्त वल्लभाचार्य ने अपने को कहा है कि वह अग्नि के अवतार है। यद्यपि इन्होने विष्णुस्वामी के सिद्धान्तो मे मान्यता रखी तथापि चैतन्य की भाँति इन पर निम्बार्काचार्य का भी प्रभाव था। आपने कृष्ण को पूर्ण ब्रह्म माना। राधा को उनकी स्त्री कहा तथा कृष्ण के क्रीडा-स्थल को वैकुण्ठ। यह शुद्धाद्वैती दर्शन के प्रतिपादक थे। आपने शकर के अद्वैत को शुद्ध कर दिया और उसे माया-मुक्त कर दिया। माया के लिए वहाँ कोई स्थान नही। शुद्धाद्वैत मे माया के लिए विशेष प्रकार का विधान है। आपने भक्ति को ज्ञान से श्रेष्ठ माना है। ज्ञान से ब्रह्म की अनुभूति नही होती, केवल उसे जाना जा सकता है। ब्रह्म की प्राप्ति का साधन इस प्रकार आपने भक्ति को ही माना है, ज्ञान को नही।

वल्लभाचार्य ने ब्रह्म को सत्, चित् आनन्दमय माना है। ब्रह्म अपने तीन रूपो मे प्रकट होता है। सत्, गुण के अविर्भाव और चित तथा आनद के तिरोभाव से वह प्रकृति-रूप मे प्रकट हुआ तथा सत् और चित के अविर्भाव तथा आनद के तिरोभाव से वह जीव बनता है। सत् चित और आनद के रूप मे ब्रह्म सर्वव्यापक है, हर जगह मौजूद है। प्रकृति और जीव का ब्रह्म से उसी प्रकार प्राकट्य होता है जिस प्रकार अग्नि से चिगारियाँ निकलती है। भक्ति, जिससे कृष्ण (ब्रह्म) की अनुभूति होती है उसे आपने कृष्ण के अनुग्रहस्वरूप माना है। इसी अनुग्रह का नाम वल्लभाचार्य ने पुष्टि रखा। इसी आधार पर आपके सम्प्रदाय का नाम पुष्टि-मार्ग पडा। पुष्टि के चार प्रकार है।

१. **प्रवाह-पुष्टि** ससार मे रहते हुए भी एक प्रवाह के समान कृष्ण-भक्ति हर समय हृदय मे चलती रहे।

२. **मर्यादा-पुष्टि** . ससार के सुख से विरक्त होकर कृष्ण का गुणगान ही जीवन का लक्ष्य बनाया जाये। इससे मर्यादापूर्ण भक्ति का विकास होगा।

३. **पुष्टि-पुष्टि** : श्रीकृष्ण का अनुग्रह प्राप्त होने पर भी कृष्ण भगवान् की साधना निरन्तर बढती जाना।

४. **शुद्ध-पुष्टि** केवल प्रेम और अनुराग के सहारे कृष्ण का अनुग्रह प्राप्त करना और फिर हृदय मे उसकी अनुभूति होना। इस अनुभूति के फलस्वरूप हृदय को कृष्ण का स्थान बना लेना।

वल्लभाचार्य पुष्टि-सिद्धान्त के अनुसार जीव की सार्थकता उसी मे मानते है कि वह राधा-कृष्ण के साथ गोलोक मे निवास पा जाता है।

वैष्णव विचारधारा का सक्षेप मे डा० रामकुमार वर्मा इस प्रकार उलेल्ख करते हैं, "वैष्णव-धर्म के प्रधान चार आचार्यों के सिद्धान्तो पर विचार करने स ज्ञात होता है कि रामानुजाचार्य ने केवल विष्णु या नारायण की भक्ति की

और ज्ञान पर ही जोर दिया है, उनके अनुयायी रामानन्द ने विष्णु और नारायण का रूपान्तर कर राम-भक्ति का प्रचार किया। शेष तीन आचार्य निम्बार्क, मध्व और विष्णु स्वामी ने विष्णु के रूप मे श्रीकृष्ण की ही भक्ति का प्रचार किया। रामानुज की भक्ति एव अन्य तीन आचार्यो की भक्ति मे भी कुछ अन्तर है। रामानुज की भक्ति श्वेताश्वतर उपनिषद (ईसा की चौथी शताब्दी पूर्व) से ली गई जान पडती है। गीता के बाद पुराणो, तत्रो और बारहवी शताब्दी मे शाडिल्य के भक्ति-सूत्र मे भक्ति का शास्त्रीय विवेचन मिलता है। इस भक्ति मे चेतन और ज्ञान का विशेष स्थान है। ससार से उद्धार पाने के लिए इसकी विशेष आवश्यकता है।"

उपासना के सगुण और निर्गुण रूपो को लेकर देश मे भक्ति की धारा का जो प्रसार हुआ उसमे बहुत से सतो ने जन्म लिया और जनता को प्रभावित किया। इनमे सत नामदेव, जयदेव और गोरखनाथ के नाम उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त भक्ति से मिलती-जुलती इस काल मे सूफी विचारधारा भी देश की जनता मे प्रवाहित हो रही थी।

सत नामदेव सत नामदेव महाराष्ट्र के सत थे। आपके गुरु का नाम विसोबा खेचर था। हिन्दी मे आपके लिखे हुए लगभग २१० पद मिलते है। गुरु ग्रन्थ साहब मे इनके ये पद सुरक्षित है। यह पहले सगुणोपासक थे और बाद में निर्गुणोपासक हो गये। इनका प्रभाव कबीर पर पड़ा। भक्ति के क्षेत्र मे आपने दास्य भावना का प्रतिपादन किया है।

जयदेव : महाकवि जयदेय की भक्तिमय कविता ने जनता को प्रभावित किया है और जनता को ही नही उनकी शैली ने विद्यापति और सूर तक पर अपना असर डाला है। गोस्वामी तुलसीदास पर इनका कोई विशेष प्रभाव नही है।

गोरखनाथ गुरु गोरखनाथ नाथ पथ के प्रधान आचार्य हुए हैं। कबीर की ज्ञान-मार्गीय धारा पर और उनके साहित्य पर इनकी अमिट-छाप है। नाथ पंथ पर पातञ्जली के योग-सिद्धान्तो का प्रभाव था। गोस्वामी तुलसीदास और उनका साहित्य इस विचारधारा से प्रभावित नही हुआ।

सूफी सम्प्रदाय : तुलसी-कालीन धार्मिक विचारधाराओ तथा प्रणालियो में ऊपर हमने हिन्दू जनता के बीच फैली हुई धार्मिक-प्रवृत्तियो का उल्लेख किया। इस समय तक हिन्दुस्तान मे मुसलमान भी काफी सख्या मे फैल चुके थे और उनकी धार्मिक प्रवृत्तियाँ भी भारत के धार्मिक वातावरण को प्रभावित करने लगी थी। मुसलमानी धर्म की सूफी विचारधारा इस समय काफी जोर पकड़ रही थी। इसका प्रभाव जहां धर्म के क्षेत्र मे होता था वहाँ साहित्य के क्षेत्र में भी इसने लेखको को प्रभावित किया। भक्ति-काल मे क्योकि साहित्य का भी प्रधान विषय भक्ति ही रहा है इसलिए साहित्य मे भक्ति-परम्परा की

अभिव्यक्ति ही सामने आती है। सूफी कवि मलिक मुहम्मद जायसी का महाकाव्य पद्मावत इस दिशा मे उल्लेखनीय ग्रन्थ है।

ईसा की तेरहवी शताब्दी मे रहस्यवादी कवि जलालुद्दीन रूमी का प्रभाव फारस के मुसलमानो पर पडा। वहाँ सूफी-धर्म का प्रचार हुआ और उसका असर भारत के मुसलमानो पर भी हुआ। सूफी-सम्प्रदाय का प्रसार चिश्ती और सुहरावर्दी ने विशेष रूप से किया। भारत मे इसका प्रचार ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती (११४२-१२३६) ने किया। सुहरावर्दी-सम्प्रदाय का प्रसार भारत मे बहाउद्दीन जकारिया ने किया और इसका प्रसार बगाल, बिहार, गुजरात इत्यादि प्रदेशो मे प्रधान रूप से हुआ।

गोस्वामी तुलसीदास पर इस सम्प्रदाय का भी कोई प्रभाव नही पडा।

सारांश गोस्वामी तुलसीदास का समय मुगलिया बादशाह अकबर का राज्य-काल था, जिसे मुगल-सल्तनत का स्वर्ण-युग कहकर पुकारा जाता है। इस काल मे हिन्दुओ की राजनैतिक सत्ता समाप्त हो चुकी थी और वे मुगलिया प्रभुत्व के नीचे दबकर अपनी ऐश्वर्य लोलुपता के शिकार बनते जा रहे थे। रीतिकाल की पृष्ठ-भूमि तय्यार हो रही थी। क्षत्रियो का आत्माभिमान धीरे-धीरे समाप्त होता जा रहा था। मुगलो का आधिपत्य स्वीकार करके उन्होने जीवन से सघर्ष और स्वतत्रता को निकाल दिया था। भोग-विलास की तरफ उनकी प्रवृत्ति बढने लगी थी। यहाँ यह समझ लेना स्पष्ट ही है कि इन राजाओ के सरक्षण मे रहकर जिन साहित्यिक कलाकारो ने अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखलाया उसका क्षेत्र इन भोग-विलासी राजाओ की प्रशसा, इनका मनोरजन, राधा-कृष्ण का नाम लेकर इनके प्रेम की किलोलो का चित्रण और वर्णन, बस यही सब कुछ था। हाँ इसमे आचार्यत्व और आकार मिल गया था, परन्तु स्वाभाविकता की वहाँ इति श्री ही थी।

मुगलिया शासन-काल की इस प्रवृत्ति का जहाँ एक ओर राजे-महाराजो पर गलत प्रभाव पड रहा था वहाँ दूसरी ओर भारतीय सामाजिक क्षेत्र भी इससे अप्रभावित नही रह सकता था। जनता मे दास-वृत्ति आ रही थी और स्वाभिमान का लोप होता जा रहा था। देश के कृषको की दशा दिन-पर-दिन गिर रही थी। उनकी आवश्यकताओ की उपेक्षा करके लगान वसूल किया जाता था। दुर्भिक्ष और महामारियाँ देश मे व्यापक रूप से फैलती थी और उनकी रोक-थाम का कोई प्रबन्ध नही था।

मुगल-शासन-प्रणाली एक सैनिक-शासन-प्रणाली थी जिसका प्रजा से कोई सम्बन्ध नही था। राजा प्रजा के दुख-सुख से बहुत दूर रहता था। न वह उसकी बीमारी को देख पाता था, न उसकी भुखमरी को और अन्य प्रकार के पाखंडो, अनाचारो, व्यभिचारो, अत्याचारो, घूसखोरी इत्यादि तक तो शासन की दृष्टि पहुँच ही नही सकती थी।

तीर्थस्थानो और देवालयो की दशा भी खराब थी । धर्म के नाम पर वहाँ व्यभिचार पलने लगा था । ब्राह्मणो का पाखड और अनाचार पराकाष्ठा को पहुँच गया था । देवालय अनाचार के अड्डे बने हुए थे, जहाँ भोली जनता की भोली धार्मिक वृत्ति के साथ खेल खेला जाता था ।

वर्ण-व्यवस्था का पतन हो चुका था । जैन और बौद्ध धर्म ने वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा को नष्ट किया परन्तु बाद मे सायण, मध्व, उव्वट, दुर्ग, आनन्द तीर्थ भट्ट, भास्कर इत्यादि के भाष्यो ने इसकी मर्यादा को दुबारा स्थापित करने का प्रयास किया । इस दिशा मे शकराचार्य का नाम विशेष उल्लेखनीय है ।

हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान मे जहाँ एक ओर तत्वदृष्टा शकराचार्य का नाम विशेष उल्लेखनीय है वहाँ दूसरी ओर भक्ति-सम्प्रदायो ने जो कार्य किया वह उससे कम महत्त्वपूर्ण नही है । हिन्दू जनता के नैराश्यपूर्ण जीवन मे साहस और उत्साह का बीजारोपण करना इसी भक्ति-सम्प्रदाय का काम है ।

इस सबसे यही स्पष्ट है कि देश गिर रहा था, समाज गिर रहा था, व्यक्ति दबा और कुचला जा रहा था । मानव-जीवन दासता और दयनीयता की जजीरो से जकडा जाकर परवशता की सीमा मे घुसा दिया गया था और वहाँ पहुच कर उसने भाग्यवाद का आश्रय ले लिया था ।

शासन और समाज की दशा हमने देखी । धर्म के क्षेत्र मे दशा और भी खराब थी । जहाँ शासक जनता के प्रति अनुत्तरदायी था वहा धर्म ने मनुष्य के जीवन-मरण की पूरी ठेकेदारी अपने हाथो मे सभाली हुई थी । पैदा होने से लेकर मरने तक मानव-जीवन की ऐसी लोह-शृ खला बाँध दी थी कि वह उमसे बाहर निकल कर श्वास न ले सके । किसी ने यदि उमसे बाहर निकलने का प्रयत्न किया तो बस, वह न दीन का रहा न ईमान का, न उसका धर्म मे स्थान था और न समाज मे, क्योकि समाज को तो धर्म के कान पकडे दास की भाँति काम करना होता था ।

देश का धार्मिक क्षेत्र इस समय उच्च और सामान्य वर्गों मे बट चुका था । ईश्वर के मूर्त और अमूर्त रूप को लेकर भी बखेडे खडे हो रहे थे । आस्तिक और नास्तिक विचारधाराएँ भी प्रबल रूप धारण कर रही थी । ईसा की छठी शताब्दी से लेकर ग्यारहवी शताब्दी तक नास्तिको का जोर रहा, परन्तु शकराचार्य ने इस नास्तिकता के दुर्ग को तोडा । शकराचार्य के मत का प्रभाव प्रधान रूप से उच्च वर्गों पर ही पडा, उसे सामान्य वर्गों तक पहुचाने का श्रेय विविध भक्ति-प्रधान आचार्यों को ही पहुचता है जिन्होने सामान्य जनता के बीच आस्तिकता को लेकर भक्ति का स्रोत प्रवाहित किया ।

शकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, विष्णु-स्वामी, निम्बार्काचार्य, रामानन्द, चैतन्य महाप्रभु, वल्लभाचार्य, सत नामदेव, जयदेव इत्यादि के नाम इस

दिशा मे विशेष उल्लेखनीय है कि जिन्होंने हिन्दू धर्म का पुनरुद्धार किया और बौद्ध तथा जैन-धर्म के प्रभाव को नष्ट करके वर्णाश्रम धर्म की दुबारा प्रतिष्ठा की।

शकराचार्य तथा बाद मे आने वाले भक्तो ने भारतीय समाज से नास्तिकता को मिटाकर दुबारा आस्तिकता का बीजारोपण किया। आचार्यो द्वारा उच्च वर्गों और भक्तो द्वारा सामान्य वर्गों मे दुबारा वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा हुई। लेकिन भक्ति के क्षेत्र मे तुलसीदास ने सब वर्ण बन्धनो को मुक्त कर दिया।

गोस्वामी तुलसीदास पर इन्ही आचार्यों द्वारा प्रतिपादित भारतीय दर्शन का प्रभाव है। यो यह रामानन्दी सम्प्रदाय से विशेष रूप से प्रभावित है परन्तु आपने सभी की मान्यताओ को सम्मान की दृष्टि से देखा है और सभी के आदर-पात्र ईष्ट-देवो के प्रति श्रद्धा अर्पित की है।

□

३ | तुलसी की रचनाएँ और उनकी भाषा

गोस्वामी तुलसीदास के समकालीन और परवर्ती लेखको ने जहाँ तुलसीदास की रचनाओ का वर्णन किया है वहाँ केवल 'मानस' का ही जिक्र करके वे चुप हो गए हैं। वेणी माधवदास ने 'मूल गोसाई चरित' मे निम्नलिखित ग्रन्थो का उल्लेख किया है ·

ग्रन्थो के नाम	रचनाकाल
१. राम गीतावली, २. कृष्ण गीतावली	सवत १६२८
३. रामचरित मानस	१६३१
४. विनयपत्रिका, ५. रामलला नहछू, ६. पार्वती मगल, ७. जानकी मगल	१६३९
८. दोहावली	१६४०
९. सतसई	१६४२
१०. बाहुक, ११ वैराग्य सदीपिनी, १२ रामाज्ञा, १३. बरवै	१६६९

इसमे कवितावली का कोई निर्देश माधवदास ने नही किया। यह अवश्य लिखा है कि आपने कुछ कवित्त भी लिखे थे। शिवसिंह सेंगर ने अपने देखे या अपने पुस्तकालय मे उपलब्ध तुलसी-कृत ग्रन्थो की सूची निम्नलिखित दी है ·

१. चौपाई-रामायण	७ काण्ड	५. बरवै रामायण	७ काण्ड
२. कवितावली	७ काण्ड	६. दोहावली	७ काण्ड
३. गीतावली	७ काण्ड	७. कुडलियाँ	७ काण्ड
४. छन्दावली	७ काण्ड		

इनके अतिरिक्त आपने १. सतसई, २. रामशलाका, ३. संकट मोचन, ४. हनुमत् बाहुक, ५. कृष्ण गीतावली, ६ जानकी मगल, ७. पार्वती मंगल, ८. करखा छन्द, ९. रोला छन्द, १०. झूलना छन्द इत्यादि का भी उल्लेख किया है। विनयपत्रिका, महा विचित्र मुवित, रूप प्रज्ञानन्द सागर इत्यादि का

भी उल्लेख है। आपने गोस्वामी जी के ७ रामायण-ग्रन्थ तथा ११ अन्य ग्रन्थ लिखे हैं। ये कुल मिलाकर उनके १८ ग्रन्थ हैं।

सर जार्ज ग्रियर्सन ने इडियन एटिकरी (सन् १८९३) 'नोट्स आन तुलसीदास'[1] मे गोस्वामी जी के निम्नलिखित २१ ग्रथो का उल्लेख किया है·

१. मानस	८ वैराग्यस दीपिनी	१५ रामशलाका
२. गीतावली	९ रामलला नहछू	१६. कुडलियाँ रामायण
३. कवितावली	१०. बरवै रामायण	१७. करखा रामायण
४. दोहावली	११. रामाज्ञा प्रश्न	१८ रोला रामायण
५. छप्पय रामायण	१२ सकट मोचन	१९ झूलना रामायण
६. रामसतसई	१३. विनयपत्रिका	२० श्रीकृष्ण गीतावली
७ जानकी मगल	१४ बाहुक	२१. सगुनावली

उक्त ग्रथो मे से ग्रियर्सन ने तुलसीकृत केवल १२ ग्रन्थ माने है।

सन् १९०३ मे श्री शिवबिहारी लाल जी वाजपेयी ने तुलसीकृत ग्रथो की सख्या १७ निर्धारित की है। आपने बाद मे इन १७ मे तीन ग्रथ कुडलियाँ रामायण, छन्दावली और तुलसी सतसई को और जोड दिया है। इस प्रकार यह ग्रन्थ-सख्या २० होती है, परन्तु वाजपेयी जी के ग्रथो और ग्रियर्सन के ग्रथो की नामावली मे अन्तर है। वाजपेयी जी के निर्धारित तीन ग्रथ—कलिधर्माधर्म निरूपण, हनुमान चालीसा, और रामायण छन्दावली यदि ग्रियर्सन की सूची मे और जोड दिए जाये तो तुलसीकृत ग्रन्थो की सख्या २४ हो जाती है।

मिश्र बन्धुओ ने अपने 'नवरत्न' मे तुलसीदास की ग्रथ-सख्या २५ निर्धारित की है। आपने ग्रियर्सन की सूची को ज्यो-का-त्यो लेकर उसमे चार ग्रथ छन्दावली रामायण, पदावली रामायण, हनुमान चालीसा और कलिधर्माधर्म निरूपण और जोड दिये है। परन्तु मिश्र बन्धुओ ने इनमे से जिन ग्रथो पर प्रामाणिकता की छाप लगाई है वे केवल निम्नलिखित १२ हैं.

१. रामचरितमानस	७. राम सतसई
२. गीतावली	८. कलिधर्माधर्म निरूपण
३ कवितावली	९. हनुमान बाहुक
४. जानकी मगल	१०. राम शलाका
५. कृष्ण गीतावली	११. विनय पत्रिका
६. हनुमान चालीसा	१२. दोहावली

मिश्र बन्धुओ द्वारा मान्य १२ ग्रथो का समर्थन प्राचीन टीकाकारो ने भी

---

१. इन्डियन एटीकरी, भाग २२, १८९३, पृ० १२२

किया है। श्रीवन्दन पाठक ने रामलला नहछू की टीका मे तथा रामगुलाम द्विवेदी ने तुलसीकृत ग्रथो की सख्या १२ ही मानी है। इस विषय मे निम्नलिखित पद् देखिये ·

और बड़े खट् ग्रन्थ के, टीका रचे सुजान।
अल्प ग्रथ खट् अल्प मति, बिरचत बन्दन ज्ञान॥

—रामलला नहछू की टीका—श्रीवन्दन पाठक कृत

नागरी प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्टो के अनुसार तुलसीकृत ग्रथो की सूची निम्नलिखित है

१.	आरती	पद्य ६८	राम और अन्य अवतारो की आरती इस ग्रन्थ मे दी है।
२.	अकावली	पद्य ११५	इसका विषय ज्ञान-वर्णन है।
३.	उपदेश दोहा	पद्य १४०	इसका विषय उपदेश है।
४.	कवित्त रामायण	पद्य १४४०	इसमे राम-कथा वर्णित है।
५.	कृष्ण चरित	पद्य २६५	कृष्ण चरित वर्णन-गीतो मे।
६.	गीता भाष्य	पद्य ७५	श्रीमद् भगवद्गीता अनुवाद।
७.	गीतावली रामायण	पद्य २३००	पदो मे रामायण-कथा।
८.	छन्दावली रामायण	पद्य १२५	छन्दो मे राम कथा।
९.	छप्पय रामायण	पद्य १२६	छप्पय मे रामकथा।
१०.	जानकी मगल	पद्य २७०	सीता स्वयवर।
११	तुलसी सतसई	पद्य ८१२	अध्यात्म और नीति-सम्बन्धी दोहे।
१२.	तुलसीदासजी की बानी	पद्य ८१८०	ज्ञान वैराग्य और उपदेश।
१३.	दोहावली	पद्य ७६०	रामकथा।
१४.	ध्रुव प्रश्नावली	पद्य ८८	ज्योतिष।
१५.	पदावली रामायण	पद्य ८०	पदो मे रामकथा।
१६.	बरवा रामायण	पद्य ८०	बरवै मे रामकथा।
१७.	बाहु सर्वांग	पद्य २०८	हनुमान स्तोत्र।
१८.	बाहुक	पद्य १६०	हनुमान की स्तुति।
१९.	भगवद्गीता भाष्य	पद्य ६१०	भगवद्गीता का हिन्दी। अनुवाद।
२०.	मगल रामायण	पद्य १६०	शिव-पार्वती का विवाह।
२१.	रघुवर शलाका	पद्य ५८०	रामचरित की सक्षिप्त कथा।
२२.	रस कल्लोल	पद्य १३७७	नवरस वर्णन।
२३.	रस भूषण	पद्य १२७	नवरस वर्णन।
२४.	रामचरित मानस	पद्य ४७४६	राम-कथा।
२५.	राम मुक्तावली	पद्य २८०	रामनाम उपदेश।

२६.	राम शलाका	पद्य ४५०	शकुनावली।
२७	रामाज्ञा	पद्य ४७८	रामकथा का शकुना शकुन रूप।
२८.	विनय पत्रिका	पद्य १९२४	स्तुति, भक्ति तथा प्रार्थना।
२९.	वैराग्य सदीपिनी	पद्य ८५	ज्ञान वैराग्य के लक्षण।
३०	वृहस्पति काण्ड	पद्य ३००	पदो मे कृष्ण-कथा।
३१.	श्रीपार्वती मगल	पद्य १६५	महादेव पार्वती विवाह।
३२	श्रीकृष्ण गीतावली	पद्य ३००	पदो मे कृष्ण-कथा।
३३.	श्रीराम नहछू	पद्य ५०	राम नहछू का मगल-गान
३४.	सगुनावली	पद्य ४३२	शकुनाशकुन जानने का तरीका।
३५.	सूरज पुराण	पद्य १९०	सूर्य की कथा।
३६.	ज्ञान को प्रकरण	पद्य २५०	ज्ञान-वर्णन।
३७.	ज्ञान दीपिका	पद्य ५१०	ज्ञान वैराग्य।

इस खोज के उपरान्त भी नागरी प्रचारिणी सभा ने तुलसी-कृत ग्रन्थो की प्रामाणिक संख्या १२ ही मानी है और उसी के आधार पर सवत् १९८० मे इन बारह ग्रन्थो को दो खण्डो मे प्रकाशित किया है। इनमे प्रथम खण्ड मे केवल मानस है और दूसरे खण्ड मे निम्न ११ ग्रन्थ

१. रामलला नहछू
२ वैराग्य सदीपिनी
३. दोहावली
४. कवितावली
५ बरवै रामायण
६. पार्वती मगल
७. जानकी मंगल
८. रामाज्ञा प्रश्न
९. गीतावली
१०. श्रीकृष्ण गीतावली
११. विनयपत्रिका

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी इन्ही ११ ग्रन्थो को प्रामाणिक रूप से तुलसीकृत मानते हैं। पृष्ठ १४२ पर अपने इतिहास मे शुक्लजी ने इसका उल्लेख किया है। लाला सीताराम ने भी तुलसी के प्रामाणिक ग्रन्थ १२ ही माने हैं। 'सेले-क्शंस फ्राम हिन्दी लिटरेचर' पुस्तक ३, पृष्ठ ८-१९ मे आपने इसका उल्लेख किया है। उक्त आधारो पर हम भी उक्त १२ ग्रन्थो को ही प्रामाणिक मान कर नीचे इन ग्रन्थो का सक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करते हैं।

१. **रामलला नहछू**—रामलला नहछू की रचना-तिथि वेणी माधवदास के गोसांई चरित के आधार पर सवत् १६४० के पूर्व तुलसीदास की मिथिला-यात्रा के समय की ठहरती है। इस आधार पर इस ग्रन्थ का रचना-काल सवत् १६३९ माना जाना चाहिए।

रामलला नहछू एक प्रबन्ध काव्य है। कथा उसमे नही है। केवल एक ही

वर्णन में ग्रन्थ समाप्त हो जाता है। इस ग्रन्थ मे सोहर छन्दो का प्रयोग है। इसमे राम का नहछू वर्णित है। काव्य की दृष्टि से ग्रन्थ का कोई विशेष महत्त्व नही। ग्रन्थ साधारण है। तुलसी जैसे कवि की उत्कृष्ट प्रतिभा का दर्शन इस ग्रन्थ मे नही होता। ग्रन्थ की भाषा ठेठ अवधी है।

२ **वैराग्य संदीपिनी**—वेणीमाधवदास के 'गोसाई चरित' के आधार पर वैराग्य सदीपिनी का रचनाकाल सवत् १६४० के पूर्व का ठहरता है। ग्रथ मे ६४ दोहे और दो सोरठे है। मगलाचरण, वस्तु-सकेत, सत-स्वभाव, सत-महिमा, शाति-वर्णन, बस यही वर्णित है इस ग्रन्थ मे। दोहा, सोरठा और चौपाई छन्दो का इसमे प्रयोग है। ग्रन्थ मे कवि-कल्पना का चमत्कार विद्यमान है। शान्त, रस, ज्ञान, भक्ति और वैराग्य का इस ग्रन्थ मे खजाना है। यह नहछू की भाँति हल्की रचना नही है।

३ **बरवै रामायण**—बरवै रामायण का रचना-काल वेणीमाधवदास ने सवत् १६६९ दिया है। इसमे कवि के समय-समय पर लिखे गए पदो का सकलन है। इसीलिए इसका रचना-काल एक मानना उपयुक्त नही, हाँ यह सकलन-काल हो सकता है। ग्रन्थ मे कुल ६९ छद है और उन्ही मे अव्यवस्थित रूप से कथा का प्रवाह चलता है। इसमे बरवै छन्दो का प्रयोग है। इस ग्रन्थ के छन्दो मे कवि ने प्रथम बार रस और अलकार-निरूपण का प्रयास किया है। यह रीतिकालीन रचना-सी प्रतीत होती है। कला की दृष्टि से इस ग्रन्थ के कुछ छन्द उत्कृष्ट कोटि के है। बालकाड और उत्तरकाड मे ऐसे छन्दो का आधिक्य है।

४. **पार्वती मगल**—पार्वती-मगल का रचना-काल सवत् १६४० के आस-पास है, परन्तु यह परिष्कृत सवत् १६६९ मे हुआ। ग्रन्थ के प्रारम्भ मे कवि इसकी रचना-तिथि इस प्रकार देता है :

जय संवत् फागुन सुदि पाँचै गुरु दिनु।
आस्विनि बिरचेंउ मगल सुनि सुख छिनु-छिनु॥

इस ग्रन्थ मे शिव और पार्वती के विवाह का वर्णन है। ग्रन्थ नियमित रूप से लिखा गया है। इसके प्रारम्भ मे मगलाचरण है और अन्त मे स्वस्ति वचन है। विवाह के रीति-रिवाजो का भला चित्रण इस ग्रन्थ मे मिलता है। रचना पूर्वी अवधी मे है। भाषा मानस जैसी ही है। पुस्तक रोचक है।

५. **जानकी-मगल**—वेणी माधवदास के अनुसार जानकी-मगल की रचना भी तुलसी की मिथिला-यात्रा के समय अर्थात् सवत् १६४३ के आस-पास हुई थी। इस ग्रन्थ मे कवि ने अरुण और हरिगीतिका छन्दो का प्रयोग किया है। ग्रन्थ का प्रारम्भ नियमित रूप से मगलाचरण के साथ होकर अत मगल-कामना से होता है।

ग्रन्थ मे सीता और राम का विवाह वर्णित है। राम के साथ अन्य तीनो भाइयो का भी विवाह होता है। कथा-क्षेत्र मे यह कथा मानस की कथा से प्राथक्य रखती है। इसमे न तो पुष्पवाटिका-वर्णन है और न जनकपुर-वर्णन। परशुराम से लक्षमण की भेट स्वयम्वर मे न होकर बारात के लौटते समय होती है। इस पर 'वाल्मीकि रामायण' का स्पष्ट प्रभाव है।

भाषा का इसमे भी पार्वती-मगल की जैसी अवधी का ही प्रयोग कवि ने किया है।

६ **रामाज्ञा प्रश्न**—रामाज्ञा प्रश्न की रचना तिथि वेणीमाधवदास ने सवत् १६१९ दी है। ग्रन्थ मे सात सर्ग है और प्रत्येक सर्ग मे सात सप्तक। छन्द-सख्या ३४३ है।

ग्रथ मे राम-कथा वर्णित है। इसका दूसरा नाम दोहावली रामायण भी है। 'रामाज्ञा' की राम-कथा पर वाल्मीकि रामायण का अधिक प्रभाव है। ग्रन्थ मे काव्योत्कर्ष नही के बराबर है और प्रबन्धात्मकता का भी प्रभाव है। इसकी भाषा मे ब्रज और अवधी का मिश्रण है। इसमे घटना-वर्णन का आधिक्य है। इस ग्रन्थ का उद्देश्य रसोद्रेक की अपेक्षा शुभ और अशुभ शकुनो का वर्णन करना है। इसके बहुत से दोहे दोहावली मे भी मिलते है।

७. **दोहावली**—दोहावली का रचना काल वेणीमाधवदास ने सवत् १६४० दिया है :

मिथिला ते कासी गए चालिस संवत लाग।
दोहावलि संग्रह किए सहित विमल अनुराग॥

इस तिथि को विद्वान् ठीक नही मानते क्योकि दोहावली मे कई घटनाएँ संवत् १६४० से बाद की वर्णित है। दोहावली के एक दोहे मे बाहु-पीडा का भी वर्णन है, जो गोस्वामीजी के जीवन के अन्तिम काल मे होती है, लगभग सवत् १६८० के आस-पास। कुछ विद्वानो का यह भी मत है कि दोहावली का संग्रह गोस्वामी जी द्वारा न होकर उनके भक्तो द्वारा हुआ। इस प्रकार वेणी माधवदास की दी हुई तिथि गलत मालूम देती है।

दोहावली मे कथानक कोई विशेष नही है। नीति, भक्ति, राम-महिमा, तात्कालिक परिस्थितियाँ नाम महात्म्य इत्यादि उक्तियाँ ग्रन्थ मे वर्णित है। काव्योत्कर्ष की दृष्टि से ग्रथ साधारण ही है। कुछ दोहे उत्कृष्ट अवश्य हैं, जिनमे मनोवेगो का स्वाभाविक चित्रण मिलता है परन्तु अधिकाश मे कोई विशेष न तो साहित्यिक सौदर्य ही है और न आकर्षण ही।

८ **कृष्ण गीतावली**—वेणीमाधवदास ने गीतावली का रचनाकाल सवत् १६२८ माना है। 'राम गीतावली' के साथ ही यह तिथि मानी है :

जब सोरह सै बसु बीस चढ्यौ। पद जोरि सबै शुचि ग्रन्थ गढ्यौ॥
तेहि राम गीतावलि नाम धरयौ। अरु कृष्ण गीतावलि राँचि सर्यौ॥

यह स्फुट पदो मे लिखी गई है। इसके आरम्भ में मगलाचरण और अन्त मे मगल-कामना है। ग्रन्थ मे कोई काड या स्कध नही है। घटनाएँ पदो मे वर्णित है। ग्रन्थ मे कृष्ण की कथा है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से कृष्ण-चरित्र पर सूर-सागर की भाँति पद लिखे गए है। बाल-लीला, सौदर्य वर्णन, गोपिका प्रेम, मथुरा गमन, गोपी-विरह, भ्रमर-गीत, और द्रौपदी चीर-हरण सभी को कवि ने सक्षेप मे लिया है। घटनाओ का वर्णन स्वाभाविक है। कवि का हृदय-तत्व वास्तव मे कृष्ण चित्रण मे ही चित्रित हुआ है। कवि ने इस रचना मे उत्कृष्ट साहित्य का उदाहरण पेश किया है। यह कवि की बहुत ही सरल तथा मधुर रचना है। विष्णु का व्यापक वर्णन कवि ने इसमे किया है।

९. **बाहुक**—बाहुक का रचना-काल वेणीमाधवदास-कृत गोसाई चरित के आधार पर सवत् १६६९ ठहरता है। यह तुलसी के परवर्ती-काल की है, ऐसा रचना की प्रौढता प्रमाणित करती है। बाहुक एक सम्यक् ग्रन्थ है। ग्रन्थ का प्रारम्भ हनुमान-वन्दना से होता है। बाहुक की रचना कवि ने छप्पय, झूलना, मत्तगयद और घनाक्षरी छन्दो मे की है।

ग्रथ मे कवि ने बाहु-पीडा और उसके शमन की हनुमानजी से प्रार्थना की है। यह प्रार्थना बडी ही करुण और हृदय-द्रावक है। इसकी भाषा मजी हुई और भाव सधे हुए है। इनमे पाण्डित्य और प्रतिभा का सामजस्य है। यह रचना तुलसी की अमर कृति है। रचना की भाषा परिमार्जित ब्रज-भाषा है।

१०. **सतसई** . सतसई का रचना-काल सवत् १६४२ है। सतसई मे लिखा है :

अहि रसना थन धेनु रस गनपति द्विज गुरु बार।
माधव सितसिय जनम तिथि सतसैया अवतार॥

ग्रन्थ सात सर्गों मे विभाजित है। प्रथम सर्ग मे भक्ति, द्वितीय मे उपासना, तृतीय मे राम-भजन, चतुर्थ मे आत्म-बोध, पचम मे कर्म-मीमासा, षष्ठ सर्ग मे ज्ञान-मीमासा, सप्तम मे राजनीति,—यह है इसका वर्ण्य-विषय। सतसई के तृतीय सर्ग मे दृष्टिकूटो की विशेषता है।

प० रामगुलाम द्विवेदी और प० सुधाकर द्विवेदी सतसई को तुलसीकृत नही मानते। ग्रियर्सन इसे आशिक तुलसीकृत और आशिक बाद की रचना मानता है।

११. **कलिधर्माधर्म निरूपण** इस ग्रथ के रचना-काल के विषय मे वेणीमाधवदास ने भी कुछ नही लिखा। इसकी रचना-शैली से इतना तो स्पष्ट ही है कि यह तुलसीकृत है। इसकी भाषा और रचना-शैली रामायण से मेल खाती है। इस ग्रन्थ मे गोस्वामी तुलसीदास ने तत्कालीन राजानीतिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियो का चित्रण किया है।

१२. **गीतावली** वेणीमाधवदास ने गीतावली का रचना-काल सवत् १६२८ दिया है। इस ग्रथ की रचना संवत् १६१६ से सवत् १६२८ के बीच हुई। मूल

गोसाई चरित के अनुसार गीतावली तुलसीदास की प्रथम रचना है, परन्तु इसकी रचना-शैली और भाषा यह घोषित नही करती। रचना-शैली और भाषा के आधार पर यह मानस के बाद की रचना ठहरती है। कुछ विद्वान् इसका रचना काल सवत् १६४३ मानते है।

गीतावली का उत्तर काड वाल्मीकि रामायण से मेल खाता है। कौशल्या इत्यादि का चित्रण कवि ने विदग्धतापूर्ण किया है। राम का बाल-वर्णन इस ग्रन्थ मे सबसे उत्कृष्टता को पहुचता है। गीतावली स्फुट पदो मे लिखी गई रचना है। ग्रन्थ का प्रारम्भ राम-जन्मोत्सव से हो जाता है, कोई मगलाचरण नही है। ग्रन्थ मे न तो रामावतार का कारण ही दिया गया है और न पूर्व कथाएँ। अनेको स्थानो पर कथा-सूत्र छूट गए है। काण्डो का विस्तार अनुपात के साथ नही किया गया। ग्रन्थ सात काण्डो मे विभाजित है।

सम्भवत कृष्ण-काव्य की गीतात्मक शैली का जनता पर प्रभाव देखकर ही तुलसी ने छन्दो मे गीतावली की रचना की। गीतावली पर सूर-सागर की स्पष्ट छाप है। गीतावली पर सूर-सागर का प्रभाव बतलाते हुए डॉ० रामकुमार वर्मा ने 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' मे लिखा है "सूर सागर तुलसीदास के समक्ष आ चुका था।" गीतावाली मे अनेक पद ऐसे है जिनका पूर्ण साम्य सूर-सागर मे लिखे गए पदो से होता है .

१. **गीतावली** कनक रतनमय पालनो रच्यो मनहु मार सुत हार।
   सूरसागर अति परम सुन्दर पालनो गाढ ल्यावरे बढैया।
२. **गीतावली** : पालने रघुपति झुलावै।
   सूरसागर यशोदा हरि पालने झुलावै।

—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ३९३

इसी प्रकार अन्य पद भी दिये हे परन्तु ये सभी साधारण वर्णन है जिनसे हमे कोई एक दूसरे का एक दूसरे पर विशेष प्रभाव स्पष्ट नही होता।

गीतावली मे बाल-राम का वर्णन तुलसी के अन्य ग्रन्थो की अपेक्षा अधिक विस्तार के साथ किया गया है। गीतावली के बाल-वर्णन मे आध्यात्मिक तत्त्वो को विशेष महत्त्व नही दिया गया। यदि हम राम के बाल-काल का यहाँ सूर द्वारा चित्रित कृष्ण के बाल-काल से मिलान करे तो हमे राम के चित्रण मे वह सजीवता और चपलता नही मिलती जो कृष्ण मे सूर सागर मे है। कृष्ण-चित्रण की अपेक्षा राम-चित्रण मे कम नैसर्गिकता है। डॉ० रामकुमार लिखते है, "तुलसी ने अपने आराध्य के सौदर्य-चित्रण मे, उनकी विरुदावली गाने के उत्साह मे, बाल-वर्णन की बहुत कुछ स्वाभाविकता अपने हाथ से चली जाने दी है। तुलसीदास ने अधिकतर अपने आराध्य के अग, वस्त्र और आभूषणादि का वर्णन ही अनेक बार किया है। एक ही प्रकार उत्प्रेक्षा और उपमा घटित की गई है। भावना की पुनरुक्ति से चमत्कार नही आ सका। कामदेव, कमल, स्वर्ण, विद्युत,

बादल, मयूर आदि की उपमाएँ न जाने कितनी बार प्रस्तुत है। गीतावली का 'गीति-काव्य' रूप होने के कारण सम्भवत इसमे आवर्तन दोष न माना जावे पर कवि की दृष्टि तो सीमित ज्ञात होती ही है।" तुलसीदास ने राम का बाल-चित्रण मर्यादा मे रहकर किया है। परिस्थितियो के चित्रण भी कवि ने सुन्दर और कलात्मक किये है। 'राम जन्म की छटी', 'बारही', 'तुला तौलिये घी के', 'नरसिंह मत्र पढ' इत्यादि चित्र बहुत सुन्दर है। पदो मे भी कथा का स्वाभाविक विकास प्रस्तुत करने मे कवि को पूर्णरूपेण सफलता मिली है।

गीतावली मे गीति-काव्य-रचना होने के कारण कोमल भावनाओ को ही विशेष रूप से चित्रित किया गया है। मानस मे जो कोमल स्थल कथा-प्रसार मे आधिक्य के कारण छोड़ दिये गए है उनका विस्तार के साथ चित्रण गीतावली मे मिलता है। पुरुष-घटनाओ को साकेतिक रूप मे ही लिया गया है। कैकेयी-दशरथ-सवाद, राम-रावण-युद्ध, लका-दहन जैसे वर्णनो को छोड़ ही दिया गया है। गीतावली का प्रारम्भ कवि ने न तो रामावतार की कथाओ को लेकर किया है और न रामचरित की विस्तृत आलोचना ही उसमे विद्यमान है। राम का बाल-वर्णन ४४ पदो मे है। गीतावली का बालकाड राम का सौदर्य-प्रकरण मात्र है। बालकाड मे जनकपुर का वर्णन बहुत कलात्मक है और काफी विस्तार के साथ किया गया है।

अयोध्याकाड मे जो चित्रण है उसमे मनोवैज्ञानिकता के दर्शन नही होते। इस काड मे कथावस्तु का भी सौदर्य नही है। जिस समय राम, सीता और लक्षमण वन जाते है तो वन की स्त्रियो ने उनके सौदर्य का अच्छा वर्णन किया है। समस्त ग्रन्थ मे राम का रूप और शृगार ही छाया हुआ है। माता की करुणा मय वात्सल्य भावना का सुन्दर चित्र कवि ने अकित किया है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने इस भावना के चित्र प्रस्तुत कर एक पर दूसरे का प्रभाव प्रदर्शित किया है।

राम के वियोग मे गोस्वामी तुलसीदास ने घोडो की वही दशा वर्णित की है जो कृष्ण-वियोग मे ब्रज की गायो की हो जाती है। इस प्रकार कवि ने राम-प्रेम का प्रभाव मानव से आगे बढाकर पशुओ तक उसे विस्तार दिया है।

अरण्यकाड मे कथावस्तु मानो है ही नही। गीतावली मे इस काड की मानस मे वर्णित घटनाओ मे से आधी घटनाओ को भी कवि ने स्थान नही दिया। जयन्त-छल, अत्रि और अनुसुइया से राम तथा सीता का मिलन, विराध-वध, शूर्पणखा-प्रसग, खरदूषण-वध इत्यादि कथाओ को यहाँ कवि ने छुआ तक भी नही है।

जैसा हम ऊपर भी कह चके हैं, कवि ने गीतावली मे केवल कोमल-भावना-प्रधानघटनाओ को ही लिया है। सम्भवत. इसीलिए उक्त घटनाओ को छोड़ दिय

है। गीध एव शबरी-प्रसग मे कवि ने करुण-भावना भी चित्रण किया है। थोडी ही सही, परन्तु करुण रस की अभिव्यक्ति बहुत ही प्रभावोत्पादक है।

किष्किधाकाड मे केवल दो पद दिये है, जिनमे न तो कलात्मक सौदर्य ही है और न भावनात्मक प्रभावोत्पादन ही।

सुन्दरकाड मे कवि इसकी सृष्टि करने मे काफी सफल रहा है। वियोग, शृगार, वीर, रौद्र, और शात रस की इसमे कलात्मक सृष्टि हुई है। सीता के हृदय की परिस्थिति का चित्रण करते समय करुण-रस, हनुमान की ललकार मे रौद्ररस तथा राम के सैन्य-सचालन मे वीर रस की झाकी मिलती है।

लकाकाड मे राम-रावण के युद्ध का वर्णन न करके कवि ने नामोपयुक्त वातावरण को उपस्थित नही किया। वीर रस का सचार भी हमे इस काड मे नही मिलता, यह आश्चर्यजनक ही है। वीर रस की अपेक्षा करुणा की भावना का ही अधिक उदय होता है।

उत्तरकाड मे हमे तुलसी के कथा-वर्णन की मौलिकता दृष्टि-गोचर होती है। इस काड की कविता पर वाल्मीकि रामायण और कृष्ण-काव्य दोनो का प्रभाव है। राम का राज्याभिषेक, न्याय, सीता-वनवास तथा लव कुश जन्म सब इसमे आते है। नख-शिख वर्णन और राम के विलाप पर कृष्ण-काव्य की स्पष्ट छाप दिखलाई देती है।

गीतावली रस की दृष्टि से तुलसीदास की सब से मधुर रचना है। ब्रज का माधुर्य और भावनाओ की कोमलता इसमे विद्यमान है। इस काव्य मे सयोग श्रगार की प्रधानता है। वात्सल्य रस का विशुद्ध और कलात्मक प्रवाह इस ग्रन्थ मे मिलता है। तुलसी का यह ग्रन्थ रस-प्रवाह की दृष्टि से उनका सबसे महत्त्व पूर्ण ग्रन्थ है। बहुत से स्थानो पर मनोदशा के कलात्मक चित्रण कवि ने प्रस्तुत किये है। गीतावली मे राम का सौदर्य और ऐश्वर्य कवि ने बडे ही कलात्मक ढग से भरा है।

कवितावली. कवितावली की रचना-तिथि का उल्लेख हमे वेणीमाधवदास कृत 'गोसाँई चरित' मे नही मिलता। कवितावली के नाम का भी वहाँ उल्लेख नही है। केवल ३५वे दोहे मे कुछ कवित्तो की रचना का उल्लेख अवश्य मिलता है। सवत् १६२८ से सवत् १६३१ के बीच सीतावट के नीचे कुछ कवित्तो की कवि ने रचना की, यह उल्लेख मिलता है। इनकी रचना गीतावली के पश्चात् और मानस के पूर्व वर्णित है। कवितावली मे मिलने वाले कवित्तो मे कुछ ऐसी घटनाओ का भी वर्णन है जो इन दो से बाद की घटनाएँ है। उदाहरणार्थ 'मीन सनीचर' का वर्णन है, जिसका समय स० १६६८ से १६७१ के बीच माना गया है। इसी आधार पर हम कवितावली का रचना-काल सवत् १६६९ के आस-पास ही मानते है।

कवितावली मे कुल ३२५ छद है और इनका सात काडो मे इस प्रकार विभाजन किया जा सकता है ।

बालकाड २२, अयोध्याकाड २८, अरण्यकाड १, किष्किधाकाड १, सुन्दरकाड ३२, लकाकाड ५८, उत्तरकाड १८३,

इस प्रकार उत्तर काड का विस्तार शेष छहो काडो से बडा है । कविता-वली मे सवैया, कवित्त, छप्पय और झूलना छदो का प्रयोग कवि ने किया है । कवितावली मे राम-कथा वर्णित है । कवि ने कवितावली मे राम के ऐश्वर्य और उसकी शक्ति का चित्रण किया है । गीतावली मे जिस प्रकार कवि ने राम की परुष घटनाओ को छोड दिया है ठीक उसी प्रकार कवितावली मे हमे कोमल भावनाओ का अभाव दिखलाई देता है । राम का वीरत्व और शौर्य जितने ओज पूर्ण ढग से कवितावली मे चित्रित किया गया है उतना मानस मे भी नही मिलता । इस प्रकार कवितावली और गीतावली दोनो मे राम के एकागी चित्रण की ओर ही कवि का ध्यान गया है ।

कवितावली कवि की समय-समय पर की गई रचनाओ का सग्रह है । न तो इसमे नियमित रूप से कथा का ही विस्तार मिलता है और न कथा का काडो मे विभाजन ही । ग्रन्थ के प्रारम्भ मे मगलाचरण भी नही है । प्रस्तावना एव पूर्व-कथा भी उसमे नही है । कथा सूत्र पूर्णरूप से छिन्न-भिन्न है । यथास्थान भावनाओ का ही परुष रूप देखने को मिलता है । उत्तर काड की सामग्री का कथा से कोई विशेष सम्बन्ध नही है । इसमे बहुत सी व्यक्तिगत घटनाएँ तत्कालीन परिस्थितिया और बहुत सी भावनाएँ सग्रहीत है । ग्रथ मे प्रधान प्रसगो की एकदम अवहेलना है । पडित सुधाकर द्विवेदी का मत है कि इस ग्रन्थ मे तुलसी दासजी के समय-समय पर लिखे गये छन्दो को उनके शिष्यो ने एकत्रित किया है । केवल राम-कथा की कविता इसमे हो, ऐसी बात नही । सीतावट, काशी, कलियुग की अवस्था, बाहुपीर, रामस्तुति, गोपिका-उद्धव-संवाद, हनुमान स्तुति जानकी स्तुति इत्यादि प्रसग भी हैं ।

कवितावली का प्रारम्भ सात दुमिल सवैयो मे बालदर्शन से होता है । फिर सीता स्वयवर का वर्णन है । विश्वामित्र आगमन तथा अहिल्या उद्धार का भी चित्रण कवि ने किया है । फिर धनुर्भंग और सीता-विवाह का सक्षेप मे वर्णन मिलता है । फिर अयोध्या काड की बहुत सी घटनाओ को छोडकर कवि केवल राम की श्रेष्ठता का वर्णन करता है । आत्म-समर्पण की प्रवृत्ति भी यहाँ प्रति-लक्षित होती है । कैकेयी-वरदान का सकेत मात्र भी कही नही है । काँड-प्रारम्भ ही राम वन-गमन से चलता है । इसमे भक्ति भावना के साथ केवट, मुनि और ग्राम-वधुओ के चित्र भक्ति भाव से चित्रित किये गये है । दो सवैयो मे सीता की सुकुमारता का भी कलात्मक वर्णन कवि ने किया है । राम शोभा की और सौदर्य पर कवि ने विशेष बल दिया है ।

अरण्य कॉड मे केवल एक सवैया है जिसमे सोने के मृग के पीछे राम दौडते है। किष्किधा काड मे भी केवल एक ही सवैया है जिसमे हनुमान सागर पार कर लका जाते है। सुग्रीव की मैत्री और बालि वध के प्रसगो को एक दम छोड ही दिया गया है। सुन्दर कॉड मे भी कथा का कोई विशेष विस्तार नही मिलता परन्तु रस की दृष्टि से यह काँड बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस काँड मे भयानक और रौद्ररस का बहुत ही सफल चित्रण हुआ है। लकादहन का वर्णन करने मे कवि को यहाँ जबरदस्त सफलता मिली है। क्रोध और भय की भावना इस काड मे व्याप्त है। घटनाओ मे केवल अशोक वाटिका, लकादहन और हनुमान के लौटने को ही कवि ने लिया है। कथा का लका काड मे भी अभाव ही है। अगद और मदोदरी के रावण को दिये गये उपदेश विस्तार के साथ वर्णित है रस के विचार से यह काड भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसमे वीभत्स और रौद्र का प्राधान्य है।

राम की शक्ति और शौर्य के साथ कवि ने उनके सौदर्य को भी सन्निहित किया है। ग्रन्थ मे वर्णनात्मक सौदर्य ऊचे दर्जे का विद्यमान है। भक्ति भावना का भी व्यापक रूप इसमे मिलता है।

उत्तरकाड कवितावली का सबसे महत्त्वपूर्ण अग है । इसमे ज्ञान, वैराग्य और भक्ति के पदो का आधिक्य है। इस काड की सामग्री से तुलसी के जीवन पर भी प्रकाश पड़ता है। आत्मग्लानि के वशीभूत होकर कवि अनेको स्थानो पर अपने जीवन पर साकेतिक प्रकाश डाल गया है। कवि ने बहुत सी व्यक्तिगत बातो पर प्रकाश डाला है। तुलसी के आत्म चरित्र की दृष्टि से यह ग्रन्थ और इस ग्रन्थ का उत्तरकाड बहुत ही महत्त्वपूर्ण है । यदि कवि ने स्वय या उनके शिष्यो ने ये पद सग्रहीत न किये होते तो हो सकता था कि कवि के जीवन सबन्धी बहुत सी वर्तमान जानकारी अन्धकार मे ही छुपी रहती। ग्रथ का यह भाग वास्तव मे यदि देखा जाये तो एक छोटा सा प्रथक ग्रन्थ है, जिसका राम कथा से बहुत कम सम्बन्ध है।

विनय पत्रिका विनय पत्रिका का रचना-काल वेणीमाधवदास कृत गोसाई चरित्र मे सवत् १६३९ के लगभग मिलता है। मिथिला यात्रा के प्रस्ताव के समय:

विदित राम विनयावली, मुनि तब निर्मित कीन्ह।
सुनि तेहि साखीयुत प्रभू, मुनिहि अभय कर दीन्ह।
मिथिलापुर हेतु पयान किए, सुकृती जन को सुख साँति दिये ।।

वेणीमाधवदास ने लिखा है कि कवि ने कलि से सताये जाने पर अपने कष्टो के निवारणार्थ विनय पत्रिका की रचना की थी। ग्रथ मे कवि की दारुण व्यथा वर्णित है, इसमे कोई सदेह नही। इस रचना की प्रौढता पर ध्यान देने से पता चलता है कि यह हनुमाबाहुक के समय मे ही लिखी गई होगी।

विनयपत्रिका सम्यक ग्रन्थ है और इसमे क्रम के साथ देवताओ की कवि ने प्रार्थना की है। सब देवताओ की स्तुति करने के पश्चात् ही कवि राम-विनय के

पद लिखने प्रारम्भ करता है। विनय-पत्रिका की पद सख्या २७९ है। बाबू श्यामसुन्दरदास को विनय पत्रिका की जो प्रनि प्राप्त हुई वह तुलमी की मृत्यु से १४ वर्ष पूर्व सवत् १६६६ की है। उसके सम्बन्ध मे श्यामसुन्दरदासजी ने लिखा है, 'इसमे केवल १७६ पद हैं जब कि और-और प्रतियो मे २८० पद मिलते है। यह कहना कठिन है कि शेष १०४ पदो मे से जितने पद तुलमीदासजी के स्वय बनाये हुए हैं वे सब सवत् १६६६ और सवत् १६८० के बीच बने हुए होगे।'

विनयपत्रिका मे रचना-काल का कोई निर्देश न होने, पदो के क्रमहीन होने और विचारो के विश्रृखल होने के आधार पर कुछ विद्वान इसे भी गीतावली और कवितावली की ही भाँति सग्रह-ग्रन्थ मानते है। डाक्टर रामकुमार वर्मा इसे एक पूर्ण रचना मानते हैं और विपरीत मतावलम्बी विद्वानो के उक्त आधारों को निरर्थक समझते है। आपका मत है "साधारण दृष्टि से देखने पर ही विनय-पत्रिका के पद क्रमहीन दीख पडते है, परन्तु यदि विश्लेषणात्मक दृष्टि से देखे तो इसके पदो मे क्रमबद्धता है और विचार भी विश्रृखल नही है।" डा० राम-कुमार वर्मा लिखते है—"तुलसीदास स्मार्त वैष्णव थे, अतः वह स्मार्त वैष्णवो के अनुसार पाँच देवताओ की पूजा मे विश्वास रखते थे। वे देवता हैं—विष्णु, शिव, दुर्गा, सूर्य और गणेश। इन्ही पचदेवो की स्तुति से उन्होने विनय-पत्रिका प्रारम्भ की है। विष्णु रूप राम की स्तुति तो ग्रन्थ भर मे है। प्रारम्भ मे शेष चारो देवताओ की वन्दना की गई है। विचारो की विश्रृखलता ग्रन्थ के स्फूट होने का कोई कारण नही हो मकती। फिर इस रचना मे कवि का आत्म-निवेदन है, जिसमे भावना का अनिगमन कोई आश्चर्य की बात नही। अत इन सभी कारणो से विनय-पत्रिका एक सम्यक ग्रथ है।"

विनय पत्रिका एक गीति काव्य है, कवि के अतर्जगत का काव्य है। कवि के विचारो की एकरूपता और उसका व्यक्तित्व इसमे प्रस्फुटित हुआ है। ग्रन्थ राग-रागनियो मे लिखा गया है। जयतश्री, केदारा, सोरठ और असाबरी रागो मे हर्ष और करुणा की भावना को कवि ने व्यक्त किया है। मारू और कान्हरा मे वीर भावना तथा ललित, गौरी, बिलावल, सूहो और वसन्त मे शृगार और रामकली मे शान्त भावना व्यक्त है। इसी प्रकार विभास, कल्याण, मलार और टोडी मे वर्णनात्मक भावनाओ को लिया गया है। विनय-पत्रिका का आत्म-निवेदन इक्कीस रागो मे कवि ने गाया है। ये राग बिलावल, घनाक्षरी, राम-कली, मारू, वसत, भैरव, कान्हरा, सारग, गोरी, दडक, आसावरी, केदार, जयतश्री, विभास, ललित, टोडी, नट, मलार, सोरठ, भैरवी और कल्याण है। विनय-पत्रिका मे शात रस कवि ने प्रवाहित किया है और अन्त भावनाएँ केवल सचारी स्वरूप से ही आती है।

जैसा हम ऊपर भी सकेत कर चुके है, ग्रन्थ कथानक शून्य है, कवि का आत्म-निवेदन मात्र है। भक्त अपने आराध्यदेव से अपनी आत्मशुद्धि और अपने

उद्धार के लिए प्रार्थना करता है। कवि ने यह विनय छै प्रकार के पदो में की है :

१ **प्रार्थना-पद्** इनमे कथाओ और रूपको द्वारा कवि गणेश से राम तक सब देवताओ की स्तुति करता है, उनका रूप-वर्णन करता है, गुण वर्णन करता है और राम की भक्ति-याचना करता है।

२. **स्थान-वर्णन** इनमे चित्रकूट इत्यादि का वर्णन है।

३. **उद्बोधक** मन को समझाने और शान्ति प्रदान करने के पद्।

४. **ज्ञान सम्बन्धी पद्** · इनमे ससार की नश्वरता वर्णित की है।

५. **वैराग्य पद्** : इनमे वैराग्य-ज्ञान का कवि ने उल्लेख किया है।

६. **आत्मचरित सम्बन्धी पद्** · इसमे राम की प्रार्थना के पद् है। राम का नखसिख वर्णन भी है।

विनय-पत्रिका का स्थायी भाव निर्वेद है, आलम्बन विभाव हरिकृपा और गुरु हैं, उद्दीपन विभाव देवता, सरिता, और काशी इत्यादि स्थान है, अनुभाव रोमाचक कम्य इत्यादि है तथा सचारी भाव सुबुद्ध, ग्लानि, गर्व, दीनता, हर्ष, मोह विषाद, चिन्ता इत्यादि हैं।

तुलसी कृत विनय-पत्रिका के गीति काव्य पर न तो विद्यापति की शैली का प्रभाव है और न कबीर का ही। हिन्दी मे तुलसी से पूर्व यही दो गीति काव्य के कवि हुए है। विद्यापति पर गीत गोविन्द का प्रभाव था जिनमे नायक-नायिका-भेद की परम्परा अपनायी गयी थी। उसमे एकमात्र वासनामयी प्रवृत्ति विद्यमान थी और शृगारिक कविता को स्थान मिला था। कबीर की रचनाओ मे भक्ति का प्रतीक साकार रूप मे न आकर निराकार रूप मे सामने आया। इसीलिए उसमे आत्म समर्पण की वह भावना प्रस्फुटित नही हो पायी जो सगुणोपासक तुलसी की रचना द्वारा मुखरित हुई। तुलसी के सामने इस प्रकार न तो विद्यापति का ही आदर्श था और न कबीर का ही। तुलसी के समकालीन कवियो ने भक्ति का जो साकार रूप ग्रहण किया उसमे भी आत्म-समर्पण की वह भावना नही थी जो विनय-पत्रिका मे विद्यमान है। कवि ने दास्य-भावना से प्रेरित होकर आत्मसमर्पण की प्रेरणा से इस ग्रन्थ का सृजन किया है। हिन्दी-साहित्य मे यह अपने ढग की सर्व प्रथम मौलिक प्रवृत्ति है, जिसपर केवल तुलसी की अध्यात्म-भावना की ही छाप है, अन्य किसी की नही।

रामचरित मानस : रामचरित मानस की रचना-तिथि अन्तर्साक्ष के आधार पर संवत् १६३१ है। कवि ने बालकाण्ड के प्रारम्भ में लिखा है

संवत् सोरह सै इकत्तीसा, करौ कथा हरि पद धर सीसा।[1]

मानस के रचनाकाल के विषय मे यह तिथि सभी को मान्य है। वेणी माधव-दास भी लिखते हैं

---

१. तुलसी ग्रन्थावली-प्रथम-खण्ड-पृष्ठ २०

राम-जन्म तिथि बार सब, जग त्रेता महं भास ।
तस इकतीसा महँ जुरे, जोग लग्न ग्रह रास ।।
यहि विधि भा आरम्भ, राम चरित मानस विमल ।
सुनक मिटत मद दभ, कामादिक ससय सकल ।।

इस प्रकार अत साक्ष और बाह्य साक्ष दोनो के आधार पर यही तिथि प्रामाणिक मानी जाती है ।

रामचरित मानस की कथा सात खण्डो मे कवि ने विस्तार के साथ कही है । मानस के छन्दो की सख्या लगभग दस हजार है । ग्रन्थ मे बहुत से क्षेपको के होने के कारण निश्चित् सख्या का उल्लेख करना कठिन है ।

मानस की रचना प्रधान रूप से दोहा और चौपाई छन्द मे हुई है, परन्तु बीच-बीच मे कवि ने सोरठा, तोमर, हरिगीतिका, चवपैया और त्रिभगी, मात्रिक तथा अनुष्टुप् रथोद्धता, स्रग्धरा, मालिनी, तोटक, वेशस्थ, भुजग-प्रयात्, नग-स्वरूपिणी, वसत तिलका, इन्द्रवज्रा शार्दूल विक्रीडित इत्यादि वार्णिक छन्दो का भी प्रयोग किया है ।

रामचरित मानस मे कवि ने राम-कथा को ही सागोपाग वर्ण्य-विषय के रूप मे अपनाया है । मानस की कथा कवि ने निम्न ग्रन्थो से ली है

१. **अध्यात्म रामायण** कथा के दृष्टिकोण के लिए ।
२. **वाल्मीकी रामायण** कथा-विस्तार के लिए ।
३ **हनुमान्नाटक** लक्षमण परशुराम-संवाद के लिए ।
४ **प्रसन्न राघव** पुष्पवाटिका वर्णन के लिए ।
५. **श्री मद्भागवत** सूक्तियो के लिए ।

इन पाच ग्रन्थो के अतिरिक्त नीति और धर्म सम्बन्धी सूक्तियो के लिए कवि ने अन्य बहुत से सस्कृत-ग्रन्थो का सहयोग लिया है । प रामनरेश त्रिपाठी तो कहते है कि गोस्वामी ने लगभग दो-सौ सस्कृत-ग्रन्थो के श्लोको का सार मानस मे भर दिया ।

गोस्वामी तुलसीदास ने मानस की रचना एक महाकाव्य लिखने के ढग से की है । जीवन के प्राय: सभी पहलुओ को कवि ने लिया है और उनपर भरसक प्रकाश डाला है । राम के जीवन का मर्यादापूर्ण विकास और लोकशिक्षा का आदर्श कवि की रचना का मूल मंत्र है। राम-कथा के अन्दर कवि ने अपने दार्शनिक और धार्मिक सिद्धातो को बहुत स्पष्टता के साथ मिश्रित कर दिया है । बाल्मीकि रामायण का राम एक महान पुरुष है, अध्यात्म रामायण का राम पूर्णत. ईश्वर है, परन्तु मानस के राम मे कविवर तुलसीदास नेवाल्मीकि रामायण और अध्यात्म रामायण की मान्यताओ का कलात्मक समन्वय कर दिया है ।

इस प्रकार मानस की कथा मे हम वाल्मीकि रामायण और अध्यात्म रामायण की मिश्रित कथा और मिश्रित आदर्शो का पालन पाते है कवि ने दोनो ही ग्रन्थों के आदर्श तत्वो को लेकर अपनी कथा की माला गूथी है और एक

आदर्श धर्म तथा आदर्श समाज की रूपरेखा तैयार की है। तुलसी ने जिन-जिन चीजो को मानस मे लिया है उनके द्वारा समाज के प्रतिनिधि पात्रो का स्रजन किया है और उनके द्वारा समाज तथा धर्म का एक ढॉचा खडा किया है।

डा० रामकुमार वर्मा ने मानस के पात्रो की विशेषताओ को खोजकर मानस की कुछ पक्तियाँ चुनी है, जिनमे कि उसके पात्रो का सम्पूर्ण चरित्र निहित है:

शिव : एहि तन सतिहि भेंट मोहि नाहीं।
शिव संकल्पु कीन्ह मन माहीं ॥[१] (भक्ति)

पार्वती : जनम कोटि लगि रगरि हमारी।
बरौं सभु नतु रहौं कुआंरी ॥[२] (पतिव्रत)

दशरथ : रघुकुल रीति सदा चलि आई।
प्राण जाहु बरु बचनु न जाई ॥[3] (प्रतिज्ञा)

जनक सुकृत जाई जौं पन परिहरऊँ।
कुअरि कुँअरी रहउ का करऊ ॥[४] (व्रत)

कौशल्या . जो केवल पितु आयसु ताता।
तौ जनि जाहु जान बडि माता ॥
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना।
तौ कानन सत अवध समाना।[५]

सुमित्रा : जौं पै सीय राम बन जाहीं।
अवध तुम्हार काजु कछु नाहीं ॥[६] (धर्मप्रेम)

सीता : जहँ लगि नाथ पेह अरु नाते।
प्रिय बिनु तिहहिं तरनिहु ते ताते।[७] (पतिव्रत)

राम : सेवक सदन स्वामि आगमनू।
मंगल मूल अमंगल दमनू ॥[८] (गुरु-भक्ति)
जो पितु मात बचन अनुरागी ॥[९] (माता-पिता-आज्ञा)
सुनु जननी सोई सुत बड़ भागी।
भरत प्रान प्रिय पावहिं राजू।

---

१. तुलसी-ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड, मानस २९
२. " " " ३९
३. " " " १६८
४. " " " १०८
५. " " " १७६
६. " " " १८६
७. " " " १८२
८. तुलसी ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड, मानस १६१
९. " " " १७३

बिधि सब विधि मोहि सनमुख आजू ।।[१] (भ्रातृ-प्रेम)
एक बार कैसेहु सुधि जानौं ।
कालहु जीति निमिषि महँ आनौं ।।[२] (स्त्री पुरुष)
जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी ।
सो नृप अवसि नरक अधिकारी ।।[३] (राजा-कर्त्तव्य)

लक्षमण · तोरौं छत्रक-दण्ड जिमि, तब प्रताप बल नाथ ।।
जो न करौं प्रभु पद-पद् सपथ, कर न धरौं धनु माथ ।।[४]
(वीरता और भ्रातृ-प्रम)

भरत : भरतहि होई न राज-मदु
विधि हरिहर पद पाई ।[५] (मर्यादा)

हनुमान सुनु कपि तोहि समान उपकारी ।
नाहिं कोउ सुरनर मुनि तन धारी ।।[६] (स्वामी भक्ति)

रावण निज भुज बल मै बैर बढ़ावा ।
देइहौं उतरु जो रिपु चढ़ि आवा ।।[७] (अभिमान और दृढ़ता)

इस प्रकार कवि ने अपने हर पात्र के अन्दर किसी-न-किसी आदर्श की स्थापना की है। पात्रो के गुणो और अवगुणो को निरखा-परखा है और फिर कुछ उन्ही के आधार पर नैतिक तथा सामाजिक सिद्धान्त भी स्थापित किये है। कवि ने अपने पात्रो के चित्रण मे व्यक्तिगत तथा सामाजिक दोनो ही प्रकार के मर्यादा का पालन किया है परन्तु यहाँ यह समझ लेना होगा कि आदर्श की ठरक मे कवि ने स्वाभाविकता और मनोवैज्ञानिकता को हाथ से नही जाने दिया है।

बाल-काण्ड . रामचरितमानस कवि की श्रेष्ठतम रचना है। प्रबन्ध-सौष्ठव, प्रभाव तथा कवित्व के दृष्टिकोण से तुलसी को जो सफलता मानस की रचना मे मिली है वह अन्य किसी ग्रन्थ की रचना मे नही मिली। ग्रन्थ को कवि ने सात काण्डो मे विभाजित किया है—बाल काण्ड, अयोध्या काण्ड, अरण्य-काण्ड, किष्किधा-काण्ड, सुन्दर-काण्ड, लका-काण्ड और उत्तर-काण्ड। हर काण्ड का प्रारम्भ कवि ने मगला चरण से किया है और ये मगलाचरण के श्लोक सस्कृत मे हैं।

---

१. तुलसी-ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड, मानस, पृष्ठ १०६
२. " " " ३३३
३. " " " १८५
४. " " " १७३
५. " " " २४७
६. " " " ३५५
७. " " " ४०७

बाल-काण्ड के प्रारम्भ में वाणी-विनायक, भवानी-शंकर, गुरु, कवीश्वर-कपीश्वर, सीता-राम इत्यादि की वन्दना की है। यह वन्दना सस्कृत मे है। भाषा मे फिर गणेश, दयालु, विष्णु, शिव गुरु इत्यादि की स्तुति है। इसके पश्चात् महीसुर, सुजन-समाज, सन्त और असन्त दोनो को कवि ने याद किया है और विनती की है वन्दन पत्रो की यहाँ कवि ने एक लम्बी सूची प्रस्तुत की है जिनमे सरयू नदी, रामचरित वर्णन करने वाले सब कवि, अवध, पुर नर-नारी, कौशल्या, दशरथ, विदेह, भरत, सौमित्र, रिपुसूदन, हनुमान, भालुपति, कपि-पति, अगद और अत मे राम-पद उपासक खग, मृग, सुर, नर, सभी आ जाते है। शुक सनकादि और नारद की कृपा की भी कवि आकाक्षा करता है। अन्त मे वह रघुनायक और जानकी के चरण-कमलो मे अपना आत्म समर्पण करता है। राम-नाम के महत्त्व का भी वर्णन करता है। यहाँ कवि राम-कथा की परम्परा का उल्लेख करते हुए कहता है कि मै उसी राम-कथा का गान करूगा जो शम्भु ने उमा और कागभुशुण्डि को सुनायी, फिर कागभुशुण्डि ने याज्ञवल्क्य को सुनायी और उन्होने भारद्वाज को सुनायी। वह कथा गोस्वामी तुलसीदास ने बार-बार अपने गुरु से सुनी है। अपनी बुद्धि के प्रबोध के लिए कवि उसी कथा को अपनी बुद्धि और विवेक का आश्रय देकर बखान करता है। कवि राम के गुण-ग्राम की महिमा बखान करता है। और साथ ही सकेत देता है कि कल्पभेद के कारण जो कथा मे अन्तर आ गया है उससे पाठको को कथा की परम्परा समझने मे सशय होने का कारण नही है। कथा वही प्राचीन है।

नौमी, भौमवार, मधुमास सवत् १६३१ मे मानस की रचना होती है। ग्रन्थ के नामकरण का कवि उल्लेख करता है। शिव-पार्वती का स्मरण करते हुए कथा प्रारम्भ होती है। इतनी विषद प्रस्तावना के पश्चात् रामायण की लोकहितकारी कथा का प्रारम्भ होता है। माघ के महीने मे मकर स्नान के पश्चात् प्रयाग से याज्ञवल्क्य ऋषि विदा होने वाले थे। भारद्वाज ने उन्हे रोक लिया और पूछा, "राम कौन है ?" क्या अवधेश कुमार राम ही वह राम है जिनकी महिमा का बखान सन्त पुराण और उपनिषद् इत्यादि मे वर्णित है? क्या त्रिपुरारि उन्ही का जाप करते है ?" और इस रहस्य को समझाकर भारद्वाज ने अपना भ्रम दूर करने के लिए कहा। इस पर याज्ञवल्क्य सती के मोह, दक्ष के यज्ञ मे सती के शरीर का त्याग, पार्वती के रूप मे दुबारा अवतरित होना, शिव-पार्वती विवाह और फिर पार्वती शिव से राम-कथा सुनकर अपना मोह और भ्रम दूर करने का आग्रह करती है। पार्वती का भ्रम दूर करने के लिए शिव कथा सुनाते है।

शिव पहिले अवतार के सामान्य प्रयोजन का वर्णन करते हैं। प्रयोजनो के साथ-साथ विशेष प्रयोजनो का भी उल्लेख होता है। विप्रशाप से जय-विजय, हिरण्याक्ष और हिरण्यकश्यप का जन्म होता है। बराह और नृसिंह अवतारो द्वारा

उनका मदमर्दन और शरीरान्त होता है । वे ही दूसरे जन्म मे कुम्भकर्ण और रावण के रूप मे जन्म लेते है । उनके सहारार्थ राम का जन्म होता है । कश्यप और अदिति तप करके दशरथ और कौशल्या के रूप मे जन्म लेते है । राम उन्ही के यहाँ जन्म लेकर उन्हे माता-पिता मानते है । हरि ने जलन्धर का वध करने के लिए उसकी पत्नी सतीवृन्दा के साथ छल किया । उसी के शाप से उन्हे जन्म लेना पडा । जलन्धर रावण बनता है और राम उसे परमगति प्रदान करते है । नारद विश्व मोहिनी का वरण करना चाहते है परन्तु, हरि उन्हे ऐसा नही करने देते । इसके फल स्वरूप नारद उन्हे शाप देते है और उन्हे अवतार लेना पडता है जिस प्रकार स्त्री के लिए नारद मुनि को भटकना पडा उसी प्रकार राम को सीता के लिए भटकना पड़ता है । मनु और शतरूपा घोर तप करते है । हरि प्रकट होकर कहते है कि वह पुत्र रूप मे उनके यहाँ जन्म लेंगे । याज्ञवल्क्य कैकेय देश के प्रतापी धर्मभानु की कथा भी सुनाते है । धर्मभानु विप्रशाप के कारण कुटुम्ब सहित निशाचर हो गया था । प्रतापभानु ही रावण बना । उसके दस सिर और बीस भुजाएँ थी । प्रतापभानु का छोटा भाई अरिमर्दन कुम्भकर्ण के रूप मे जन्म लेता है । अरिमर्दन का मंत्री धरमरुचि रावण का सौतेला भाई विभीषण बनता है । प्रतापभानु के सभी पुत्र और सेवक भी राक्षसो के रूप मे जन्म लेते हैं । ये लोग सभी निर्दय, लोक-परितापी, पापी, दुराचारी और कठोर वृत्ति वाले थे रावण, विभीषण और कुम्भकर्ण तप करते है । इस कठोर तप को देखकर ब्रह्मा और जगदीश प्रकट होते है । रावण वर मागता है कि उसकी मृत्यु मनुष्य और वानर के हाथो से न हो । कुम्भकर्ण वर मागता है कि वह छ महीने सोया करे और विभीषण भगवान् के चरणो मे अनुरक्ति की याचना करता है । रावण त्रय की पुत्री मदोदरी से अपना विवाह करता है और त्रिकूट पर्वत, जो कि समुद्र मे स्थित है, मे अपनी राजधानी बनाता है । रावण का पुत्र मेघनाद इन्द्र विजेता होता है । कुम्भकर्ण इत्यादि भी जगद्विजयी होते है । रावण देवताओ पर बराबर विजय पाता चला जाता है । रावण अपने अनुचरो को विश्व से ब्राह्मण भोजन, यज्ञ और श्राद्ध इत्यादि को नष्ट भ्रष्ट करने की आज्ञा देता है । चारो ओर रावण का आतक फैल जाता है । देव, यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, नर, नाग, सभी रावण से हार जाते हैं । रावण बहुत ही सुन्दर स्त्रियो का वरण करता है । राक्षस धर्म को निर्मूल खोदने का सकल्प करता है । गो-ब्राह्मणो का ह्रास हो रहा था । सदाचार नष्ट प्राय था । तप, दान, वेद पुराण, हरि-भक्ति सबकी अन्तेष्टिक क्रिया होने लगी थी । आचार भ्रष्ट हो चला था । पृथ्वी इस अनाचार के वातावरण से काँप उठी । वह गो-रूप धारण कर देवताओ के सम्मुख आई और सब देवता मुनि, गन्धर्व मिलकर विरचि के सामने पहुँचे । शिव के परामर्श से सब आर्त्त होकर प्रार्थना करते हैं और उसी समय एक आकाश-वाणी होती है :

'डरने का कोई कारण नही । मै तुम लोगो की रक्षा के लिए नरवेश धारण कर रहा हूँ । मै सूर्यवश मे जन्म लूगा, दशरथ और कौशल्या के घर । नारद-शाप को पूर्ण कर पृथ्वी का भार उतारूगा । राक्षसो के आतक से प्रकम्पित पृथ्वी की रक्षा करूगा ।' इस प्रकार पृथ्वी को धैर्य बँधाया जाता है और सब देवता अपने-अपने लोको को चले जाते है ।

अयोध्या मे कश्यप और अदिति दशरथ और कौशल्या के रूप मे अवतीर्ण होते है । राजा दशरथ के गुरू वशिष्ठ के परामर्श से श्रृङ्गी ऋषि द्वारा पुत्रेष्ठि यज्ञ करवाते है । अग्नि प्रकट होकर हवि देता है और दशरथ उसे अपनी तीन प्रधान रानियो को खाने के लिए देते है । तीनो रानियाँ गर्भ धारण करती है । शुक्ल पक्ष, नवमी, अभिजित नक्षत्र, मध्याह्न मे राम का जन्म कौशल्या के गर्भ से होता है । कैकेयी के भरत और सुमित्रा के लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न का जन्म होता है । अयोध्यापुरी आनन्द से परिप्लावित हो उठती है । युवराजो के नाम-करण, चूडाकरण, उपनयन, विद्यारम्भ इत्यादि सस्कार यथासमय किये जाते है ।

इसी समय राक्षसो द्वारा त्रासित विश्वामित्र अपने यज्ञ की रक्षा के लिए राजा दशरथ के यहाँ आते है और राम-लक्ष्मण को अपने साथ भेजने का आग्रह करते है । राजा-गुरु वशिष्ठ के समझाने बुझाने पर राजा दशरथ अपने प्राणो से भी प्यारे दोनो पुत्रो का विश्वामित्र के साथ भेज देते हैं । विश्वामित्र उन्हे वन मे धनुर्विद्या सिखलाते है । ऐसी विद्या भी सिखलाते है जिससे भूख और प्यार शरीर को त्रस्त न करे । उन्हे अस्त्र-शस्त्र विद्या मे निपुण करके यज्ञ करना प्रारम्भ करते है और उनकी रक्षा मे यज्ञ पूर्ण होता है । इसी काल मे ताडका और सुबाहु का वध होता है और मारीच राम के बाण से घायल होकर भाग जाता है तथा समुद्र-पार जाकर अपने प्राण बचाता है ।

इसी समय विश्वामित्र के पास राजा जनक के धनुष-यज्ञ का बुलावा आता है और यही से राम तथा लक्षमण भी विश्वामित्र की प्ररणा से उमे देखने के लिए चल देते है । जब बड़े-बडे महारथी उस धनुष पर प्रत्यचा तक नही चढा पाते, तो राम खडे होकर उसे दो टूक कर देते हैं । धनुष टूटने का सवाद पाकर परशुराम वहाँ आते है । वह वहाँ क्रोधानल मे जलते हुए ही आते है परन्तु राम की गम्भीरता, शिष्टता और शाति से प्रभावित होकर उन्हे अपना निजी धनुष भी दे जाते हैं । राजा दशरथ अयोध्या से बारात लेकर आते है । सीता और राम का विवाह होता है । भरत, लक्षमण और शत्रुघ्न के भी वही पर विवाह हो जाते हैं और बारात चारो वधुओ को लेकर अयोध्यापुरी लौटती है ।

अयोध्याकाण्ड : बालकाण्ड यही पर समाप्त होता है और अयोध्याकाण्ड का आरम्भ शिव, राममुखश्री के वर्णन से होता है । सस्कृत से एक दो पद के पश्चात् भाषा मे कथा प्रारम्भ होती है । राम के राज्याभिषेक के लिए अयोध्या के साज-बाज का कलात्मक वर्णन है । उस काल की अयोध्या का सजीव चित्र

उसे पढकर नेत्रो की पुतलियो में उतर आता है। इस आनन्द और उत्सव को देखकर देवता लोग अनुभव करते है कि जिस प्रयोजन को लेकर भगवान् राम ने अवतार लिया है उसकी पूर्ति इस मंगलमय वातावरण मे नही है। वे सब मिलकर सरस्वती के पास जाकर विनती करते हैं .

बिपति हमारी बिलोक बड़ि मात करिय सोइ आज।
राम जाहिं बन-राज तजि, होइ सकल सुर-काज ॥

सरस्वती दु खी होती है कि वह अयोध्या का अमगल करेगी परन्तु :

आगिल काजु बिचार बहोरि। करिहिं चाह कुसल कवि मोरी ॥
हरषि हृदय दशरथपुर आई। जनु ग्रह दसा दुसह दुखदाई ॥
नाम मंथरा मंदमति चेरी कैकेयि केरी।
अजस पिटारी ताहि करि गई गिरा मति फेरि ॥

मथरा कैकेयी की मति को भ्रष्ट कर देती है और उसे स्वार्थ का पाठ पढा कर दशरथ से राम को चौदह वर्ष का बनवास और भरत को अयोध्या का राज्य मँगवाती है। वचनबद्ध दशरथ को कैकेयी की बातें मान्य होती है और अयोध्या मे कुहराम मच जाता है। राम पिता की आज्ञा पालन करते है और वन-यात्रा के लिए निकल पडते हैं। सीता और लक्षमण भी उनके साथ जाते हैं। सुमत्र उन्हे रथ पर चढाकर सिंगरौर तक पहुचाता है। वहाँ से राम उन्हे भी लौटा देते हैं। यहाँ वह गुह के अतिथि बनते हैं।

वन-मार्ग मे भारद्वाज और वाल्मीकि से मिलते हुए तथा ग्रामवासियो को दर्शन लाभ देते हुए ये तीनों चित्रकूट पर पहुँचते है। उधर राम के वियोग मे दशरथ प्राण त्याग देते हैं। भरत को, जो अपनी ननिहाल में थे, बुलाया जाता है। वह अयोध्या मे आकर वहाँ का सर्वनाश देखकर व्याकुल हो उठते हैं और सबके समझाने बुझाने पर भी राज्य करने को उद्यत नही होते। फिर विनय करके वह राम को लौटा लाने के लिए चित्रकूट जाते हैं। राजा जनक भी वहां पहुँचते हैं और सब राम को लौटाने का प्रयास करते है परन्तु राम पिता की मृत्यु के बाद उनकी आज्ञा को टालने के लिए उद्यत नही होते। अन्त मे भरत राम की पादुकाएँ लेकर अयोध्या लौटते हैं और उन्हे ही राम की अनुपस्थिति मे सिंहासन पर स्थापित कर देते हैं। प्रजा-हित के लिए राज कार्य सभालते हैं परन्तु स्वयं ही नन्दि ग्राम मे तपस्वी के रूप मे, सब सुख भोगो से निर्लिप्त राम स्मरण में निमग्न रहते हैं। राम-राज्य के एक सेवक के रूप मे वह सेवा भर करते हैं।

अरण्यकाण्ड : इसके पश्चात् अरण्यकांड आरम्भ होता है। यह काण्ड भी सस्कृत के मंगलाचरण से आरम्भ होता है। शकर और राम की स्तुति है। चित्रकूट में राम को रहते काफी दिन हो जाते हैं। वह सोचते हैं कि वहाँ और

अधिक रहने से सब उनके वास्तविक रूप को पहिचान लेगे इसलिए वह अत्रि-ऋषी से विदा लेने के लिए जाते है। ऋषि राम की स्तुति करके उन्हे विदा देते है।

राम यहाँ से चल देते है। मार्ग मे विराध का वध करते है। फिर शरभग आश्रम पर पहुँचते है। शरभग राम-भक्ति का वरदान माँग कर योगाग्नि से शरीर त्यागते है। जब यहाँ से आगे बढते है तो उनके पीछे-पीछे मुनियो का समूह हो जाता है। राम राक्षसो द्वारा खाये हुए मुनियो की अस्थियाँ देखते है। यही पर राम पृथ्वी को निशाचर विहीन करने का प्रण करते है सुतीक्षण की शक्ति को सफल बनाकर राम कुम्भज ऋषि के आश्रम मे पहुॅचते है। उन्ही के परामर्श से दण्डकारण्य मे अपनी पर्णकुटी बनाते है। गिद्धराज जटायु से यही पर भेंट होती है। यही लक्ष्मण को भक्तियोग समझाते है। रावण की बहिन शूर्पणखा यही पर आकर उन पर मोहित हो जाती है यही पर लक्ष्मण उसकी नाक काट कर उसे कुरूप बनाते है शूर्पणखा के कहने पर खरदूषण चौदह सहस्र सेना लेकर उन पर आक्रमण करता है और राम उन सब को धराशायी कर देते है। रावण यह समाचार पाकर समझ जाता है कि खरदूषण को मारने वाला मनुष्य नही राम ही हो सकता है। इसलिए उसने राम से हठपूर्वक विरोध कर उनके हाथों प्राण त्याग कर भवसागर से पार उतरने की ठान ली। रावण मारीच को स्वर्ण-मृग बना कर भेजता है और उसकी सहायता से सीता को हर लाता है। जटायु सीता की रक्षा करना चाहता है और रावण से लडकर प्राण त्यागता है। रावण सीता को लेजाकर अशोक वाटिका मे रख देता है।

राम मारीच को मारकर जब कुटी मे लौटते हैं तो उसे सूनी पाते हैं। लक्ष्मण को साथ लेकर वह सीता की खोज मे निकल पडते है। मरणासन्न जटायु से उनकी भेंट होती है और रावण द्वारा सीता-हरण का समाचार मिलता है। जटायु की अत्येष्टि क्रिया करके राम आगे बढते है। मार्ग मे शबरी का आतिथ्य स्वीकार करते हैं और उसी के कहने से पम्पा सरोवर पर पहुचकर सुग्रीव की खोज करते हैं। यही पर नारद-मुनि से भी उनकी भेंट होती है। राम उन्हे सन्तो का गुण और स्वभाव बतलाते है। यह काण्ड यही समाप्त हो जाता है।

किष्किधा काण्ड . इस काण्ड का आरम्भ सस्कृत मे सीतान्वेषण मे लिप्त राम की स्तुति से होता है। यहाँ काशी महिमा का भी गान है। राम पम्पा सरोवर से चलकर ऋष्यमूक पर्वत पर पहुचते हैं। यहाँ मारुति द्वारा इनकी सुग्रीव से मित्रता होती है। फिर बाली और सुग्रीव का युद्ध होता है और राम-वाण से बाली की मृत्यु होती है। सुग्रीव का राजतिलक होता है। वर्षा-काल राम प्रवर्षण गिरि पर व्यतीत करते हैं। और शरदकाल मे हनुमान इत्यादि सीता की खोज मे निकलते हैं। सम्पाति सीता के अशोक-वाटिका मे रहने का वर्णन करता है। जाम्बवान हनुमान के पराक्रम का वर्णन करता है तथा पथ-प्रदर्शन करता है।

सुन्दरकाण्ड : सुन्दर-काण्ड का आरम्भ हनुमान और राम की स्तुति से होता है। इस काण्ड मे हनुमान का पुरुषार्थ ही दिखलाया गया है। हनुमान मैनाक के आश्रय की सहायता न समझ सुरषा का आशीर्वाद प्राप्त कर सिंहिका का वध करके लका मे प्रवेश करते है। सीता को खोज निकालते हैं। विभीषण से भेट कर, उनकी बतलाई युक्ति द्वारा सीता के दर्शन करते हैं। वृक्ष के ऊपर बैठकर वियोगिणी सीता को देखते है। रावण द्वारा सीता को फुसलाने की क्रिया भी देखते है। सीता रावण को फटकारती है तो रावण अन्तिम अल्टीमेटम देता है कि या तो एक महीने में वह रावण को वर लेगी, नही तो उसे अपने प्राणो से हाथ धोने पडेगे। सीता को राक्षसियाँ सताती है। वह व्याकुल होती है। त्रिजटा अपने स्वप्न का वर्णन कर सीता को धैर्य बंधाती है। सीता अशोक-वृक्ष से अग्नि मागती है। हनुमान ऊपर से रामनामाकित मुदरी नीचे डाल देते हैं। और फिर स्वय सीता के सामने प्रकट होकर राम का सदेश उन्हे देते हैं। हनुमान यहाँ उपवन को उजाडते हैं, अक्षय-कुमार को मारते हैं, बन्दी होकर रावण के सामने जाते हैं। रावण उनके वध की आज्ञा देता है। हनुमान की पूछ पर गूदड लपेटकर उसे तेल मे भिगोकर उसमें आग दी जाती है। हनुमान उसी ज्वाला से लकापुरी को जला कर भस्म कर देते है।

हनुमान सीता से चूडामणि लेकर लौटते है और सीता का सवाद जाकर राम को देते है। राम सुग्रीव की सेना लेकर समुद्रतट पर पहुंचते हैं। रावण द्वारा अपमानित होकर विभीषण राम से आ मिलता है। रावण के गुप्तचर उसके पीछे-पीछे आते हैं और वे राम के सैनिको द्वारा पकड लिए जाते है। समुद्र राम के भय से स्वय अपने संतरण का उपाय बतलाता है।

लंका काण्ड राम और शिव की संस्कृत मे स्तुति के पश्चात् लका-काण्ड प्रारम्भ होता है। समुद्र पर सेतुबध बाधा जाता है। राम की सेना सागर पार कर लका मे प्रवेश करती है। रावण यह समाचार पाकर दहल उठता है। मंदोदरी और प्रहस्त रावण को समझाते हैं। रावण पर उसका कोई प्रभाव नही पडता।

राम सुबेल-शिखर पर अपना पडाव डालते है। राम वही से अपने वाण द्वारा रावण का छत्र-मुकुट और मन्दोदरी का ताटङ्क गिरा देते हैं। इस पर सबको आश्चर्य होता है। अगद राम का दूत बनकर रावण की सभा मे जाता है। वह रावण को फटकारता है। भरी सभा मे उसका पैर उठाने की ताकत किसी मे नही होती। रावण का मान-मर्दन कर वह अपने शिविर मे पहुचता है। मन्दोदरी रावण को फिर समझाती है परन्तु रावण पर उसका कोई प्रभाव नही होता।

अगद लका का समाचार आकर राम को देता है। राम अपनी सेना को चार अनियो में विभाजित करते हैं। युद्ध मे रावण की सेना के पैर उखड़ गए।

वह भाग खडी होती है, लंका में खलबली मच जाती है। रावण की सभा में घबराहट छा जाती है। दूसरे दिन मेघनाद भीषण सग्राम करता है और उसकी बर्छी से लक्षमण मूर्छित हो जाता है , सुषेण वैद्य के बतलाने पर हनुमान सजीवनी बूटी लाते है और लक्षमण की मूर्छना खुलती है। दूसरे दिन लक्षमण द्वारा मेघनाद का वध होता है। इसी प्रकार क्रमश लका के कुम्भकरण इत्यादि सब योद्धा युद्ध मे काम आते है और अन्त मे रावण की भी मृत्यु होती है।

राम की विजय होती है और सीता की अग्नि-परीक्षा के पश्चात् राम उन्हे फिर से ग्रहण करते है। ब्रह्मा और इन्द्र विजेता राम की स्तुति करते है। इन्द्र सुधा वृष्टि कर मरे हुए वानरो को जिला देते है। स्वय शिव आकर राम की स्तुति करते हैं। विभीषण का राज्य-तिलक होता है। फिर पुष्पक विमान मे बैठकर राम लक्षमण, सीता तथा कुछ अन्य सहचरो के साथ अयोध्या को लौटते हैं। प्रयाग से राम हनुमान को अयोध्या मे अपने आने की सूचना लेकर भेजते हैं।

उत्तर-काण्ड · यह काण्ड भी सस्कृत मे राम और शिव की स्तुति से प्रारम्भ होता है। राम-प्रतीक्षा मे निमग्न भरत को हनुमान द्वारा रामागमन की सूचना प्राप्त होती है। अयोध्या मे रामागमन का समाचार वायु-वेग से फैल जाता है। अयोध्या नगरी मे आनन्द का सागर उमडने लगता है। विमान से उतर कर राम सबसे मिलते हैं। राम का राज्याभिषेक होता है और इस अवसर पर ब्रह्मादिक देवता आते है। वन्दी-वेषधारी वेद, ब्रह्मा तथा शिव राम की स्तुति करते हैं। कुछ दिन पश्चात् राम अपने सब साथियो को विदा करते है। हनुमान सेवा के लिए वही रुक जाते है। अयोध्या मे राम-राज्य स्थापित हो जाता है। पृथ्वी धन-धान्य से भर जाती है, प्रजा सुख सम्पन्नता से आनदित हो उठती है। नारद तथा सनकादि भी बीच-बीच मे आते हैं और राम-चरित का वर्णन ब्रह्मलोक मे जाकर करते हैं। राम पुरवासियो को अपने सिद्धात और आदर्शों को बतलाते हैं। एक दिन राम शीतल अमराई मे जाकर विश्राम करते हैं और वहाँ नारद-मुनि आकर उन से भेट करते है। वही नारद उनकी स्तुति करते हैं।

बस रामचरित-वर्णन यही समाप्त हो जाता है। इसके पश्चात् उमा के पूछने पर शिव भुशुण्डि द्वारा गरुड को रामचरित मानस सुनाने का वर्णन करते हैं। भुशुण्डि अपने पूर्व जन्मो की कथा सुनाते है। इसी प्रसग मे कलि-धर्म का निरूपण भी आ जाता है। भक्ति और ज्ञान का अन्तर बतलाकर दोनो का समन्वय स्थापित किया जाता है। फिर काग भुशुण्डि-गरुड, उमा-शिव और भारद्वाज-याज्ञवल्क्य तीनो के सवादो का उपसहार कवि ने प्रस्तुत किया है। गरुड़ भुशुण्डि से और पार्वती शिव से अपने भ्रम के दूर होने का सदेश देकर कृतज्ञता प्रकट करते हैं। अन्त मे कवि शाति की याचना करता है। भक्ति पूर्वक अवगाहन के फल का वर्णन दो सस्कृत श्लोको मे होता है। बस यही पर ग्रन्थ समाप्त

होता है।

मानस की कथा का आधार गोस्वामी तुलसीदास ने जहाँ तक कथानक का सम्बन्ध है प्राचीन पौराणिक कथानक को ही अपनाया है। पूर्व प्रचलित तथा प्रसिद्ध आख्यान के आधार पर ही काव्य-रचना की है। राम-कथा का आख्यान भारतीय सस्कृति मे कितना प्राचीन है इसका विस्तार के साथ उल्लेख करने की आवश्यकता नही। पुराणो मे उसका वर्णन है। आदि कवि वाल्मीकि का महा-काव्य उसी आख्यान का मूल रूप है। अनेकों सस्कृत-काव्यो और नाटको का उसी आख्यान से उदय हुआ है। प्राकृत-काव्यो मे भी इस आख्यान को बहुत से ग्रन्थो मे मान्यता मिली है।

मानस मे वेदो, पुराणो और आगमो के अलावा इतिहास, काव्य, चम्पू, नाटको इत्यादि मे वर्णित राम-कथाओ का भी आधार ग्रहण किया गया है। उक्त सभी आधारो के साथ-साथ कवि-कल्पना और अनुभूति की नवीनता भी मानस मे आई है। जहाँ तक मानस की मूल कथा का सम्बन्ध है वह आदि कवि वाल्मीकि के ग्रथ से ही ली गई प्रतीत होती है। यो कही-कही कथा मे अन्तर अवश्य आया है परन्तु मूल-कथा में कही कोई अन्तर नहीं है। दोनो के प्रतिपादित विषयों में काफी अन्तर है और दोनो की मान्यताओ मे भी मतभेद है, इसका सकेत हम इसी अध्याय मे पहिले भी कर चुके है। यो तो वाल्मीकि रामायण मे भी बहुत से स्थलो पर राम को विष्ण का अवतार माना गया है, परन्तु मूल रूप से हम आदि कवि के चित्रण मे वैदिक युग के आदर्श पुरुष की ही झांकी पाते हैं। त्रिकालदर्शी नारद राम को महान् मानव गुणों से सम्पन्न बतलाते हैं और इसी आधार पर ऋषि वाल्मीकि एक आदर्श चरित्र का चित्रण प्रस्तुत करते हैं। राम को ईश्वर मानकर चलने की समस्या वाल्मीकि के सामने नही थी। यत्र-तत्र इतना संकेत देने पर भी कि राम विष्णु के अवतार थे कवि राम के ईश्वरत्व की प्रतिष्ठा मात्र को लक्ष मानकर नही चलता। यो विष्ण-अवतार का सकेत हमे बालकाण्ड मे ही मिल जाता है, जब ब्रह्मा आदि देवता विष्णु से लोक-कल्याण के लिए अनुरोध करते हैं कि वह अपने चार भागो के रूप मे दशरथ की रानियो के गर्भ से जन्म ले और मनुष्य-रूप धारण करके रावण का संहार करें।

सीता की अग्नि-परीक्षा के समय इन्द्रादि देवता आकर राम को 'कर्ता सर्वस्व लोकस्य' कहकर सम्बोधित करते हैं। परन्तु तुलसीकृत रामायण मे तो तुलसी दशरथ पुत्र राम को पूर्ण ब्रह्म मानकर चलते हैं और निर्गणवादियो के प्रभाव को नष्ट करने के लिए जनता के मन मे तनिक भी इस प्रकार की भावना को उत्पन्न नही होने देना चाहते कि जिससे उन्हे राम को पूर्ण ब्रह्म समझने मे तनिक भी भ्रम हो।

मानस के कथानक मे कई एक ऐसे स्थल भी हैं जो वाल्मीकि रामायण मे नही मिलते, उन पर हनुमन्नाटक और प्रसन्न राघव के कथानकों का प्रभाव

दिखलाई देता है।

भाषा : गोस्वामी तुलसीदास ने प्रधान रूप से अपने काव्य की रचना अवधी भाषा मे की है। उनका प्रधान ग्रथ मानस अवधी भाषा मे ही लिखा गया है। अवधी मे तुलसीदास से पूर्व काव्य-रचना हो चुकी थी। जायसी-कृत पद्मावत की रचना मानस से पूर्व की ही है। परन्तु वह अवधी का ग्रामीण रूप था, सुसस्कृत और परिमार्जित रूप नही। साहित्यिक परिष्करण की उसमे कमी थी। गोस्वामी तुलसीदास ने अवधी भाषा को परिमार्जन और माधुर्य प्रदान किया।

गोस्वामी तुलसीदास का अवधी पर जितना अधिकार था उससे कम ब्रज-भाषा पर भी नही था। गीतावली, कृष्णगीतावली, कवितावली और विनय-पत्रिका की भाषा बहुत ही परिष्कृत और सम्बद्ध है। भाषा-परिमार्जन के क्षेत्र मे तुलसीदासजी सूर-साहित्य-निर्माताओ को काफी पीछे छोड गये हैं और उनकी रचनाओ से प्रतीत होता है कि उनका अवधी तथा ब्रज दोनो भाषाओ पर समान अधिकार था।

अवधी और ब्रज के अतिरिक्त तुलसीदासजी का भोजपुरी पर भी अधिकार मालूम देता है। यो कोई प्रथक ग्रथ हमे भोजपुरी मे लिखा हुआ नही मिलता परन्तु निम्न उदाहरण देखिए

राम कहत चलु राम कहत चलु राम कहत चलु भाई रे।
नाहित भव बेगारि महँ परिहौ, घटित अति कठिनाई रे॥[1]

निम्न पद मे बुदेलखण्डी के शब्दो का प्रयोग देखिए

ए दारिका परिचारिका करि पालिबी करुना मई।
अपराध छमिबो बोलि पठाए बहुत हौं ढीठ्यो कई॥[2]

इस प्रकार हमने देखा कि तुलसीदास का जहाँ अवधी और ब्रज पर अधिकार था वहाँ उनकी रचनाओ मे बुदेलखण्डी और भोजपुरी इत्यादि के सरल प्रयोगों की भी कमी नही है। इन प्रान्तीय भाषाओ मे कोई प्रथल ग्रन्थो की रचना कवि ने नही की परन्तु उनका कवि को पर्याप्त ज्ञान था यह उनकी रचनाओं के उक्त उदाहरणो से स्पष्ट हो जाता है।

प्रान्तीय भाषाओ और बोलियो के अतिरिक्त मुगलकालीन अरबी, फारसी इत्यादि के शब्दो का ही कवि ने अपनी रचनाओ में प्रयोग किया है। इन शब्दो का प्रयोग तत्सम रूप मे न मिलकर तद्भव रूप मे मिलता है। जैसे . कागद, गरीबनिवाज, जहाना, निसाना, नफीरी, सोर, मसखरी।

कवि ने अन्य भाषाओ के शब्दो का प्रचुरता से प्रयोग किया है। अनेको

---

१. तुलसी ग्रन्थावली, दूसरा खण्ड (विनयपत्रिका), पृ० ५५८-५५६
२. तुलसी ग्रन्थावली, पहला खण्ड (मानस), पृ० १४०

स्थानो पर तत्सम स्वरूप भी देखने को मिलता है। परन्तु अधिकाश मे तोड-मरोड है मिलती है। मानम तथा अन्य ग्रन्थो मे इन शब्दो के प्रयोग खोजने पर अनेको स्थल सुगमता से खोजे जा सकते हैं। गोस्वामीजी ने अपने काव्य की रचना जन-भाषा के सरल-से-सरल रूप मे करने का प्रयास किया है और इसी-लिए वह अन्य भाषओ के भी जनता मे प्रचलित शब्दो को छोडकर नही चल सकते थे। कवि ने पाडित्य प्रदर्शन का ढोग नही रचा और सादगी से ही लिख दिया है

भाषा भनति भोरि मति मोरी। हँसिबे जोग हँसे नहिं खोरी ।।[1]

भाषा मे रचना करने वाले कवियो को उन दिनो पडितो की श्रेणी मे उच्चा-सन न मिलता रहा होगा, उक्त पक्तियो से यही ध्वनि निकलती है। परन्तु कवि अपने हृदय की प्रेरणा को जनता तक पहुँचाना चाहता था इमीलिए उसने भाषा को ही अपनी रचना का माध्यम चुना, सस्कृत को नही। गोस्वामी तुलसीदास ने अपनी रचनाओ मे सस्कृत के तत्सम शब्दो को भी तद्भव रूप मे ही प्रयोग किया है। इनमे कुछ शब्द तो सस्कृत से होकर हिन्दी मे आए, इसलिए आप भी तद्भव बन गये और कुछ को कवि ने सरलता प्रदान करने के लिए और उच्चारण की सुविधा के लिए तद्भव बना दिया है।

सारांश गोस्वामी तुलसीदास के परवर्ती लेखको ने तुलसी के मानस को छोडकर अन्य किमी ग्रन्थ का निर्देश अपनी रचनाओ मे नही किया। वेणीमाधव दास ने गोसाँई चरित मे १३ ग्रन्थो का उल्लेख किया है जिनमे कवितावली को छोड दिया गया है। केवल कुछ कवित्त लिखने का निर्देश भर मिलता है। शिवसिंह सेंगर ने सात ग्रन्थो को प्रामाणिक माना है। सकेत आपने कुल १८ ग्रन्थो का किया है। जार्ज ग्रियर्सन ने तुलसी के कहे जाने वाले ग्रन्थो की संख्या २१ दी है, परन्तु इनमे से तुलसीकृत केवल १२ माने हैं। श्री शिवबिहारीलालजी वाजपेयी ने तुलसीकृत ग्रन्थ १७ माने है। बाद मे आपने इनमे ३ ग्रन्थ और जोड कर सख्या २० बना दी है। मिश्र बन्धुओ ने तुलसीकृत ग्रन्थ २५ माने हैं। ग्रियर्सन की सूची मे आपने छन्दावली रामायण, पदावली रामायण, हनुमान-चालीसा और कलिधर्माधर्म निरूपण को और जोड दिया है। परन्तु प्रामाणिक आपने केवल १२ ही माने हैं। नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट के अनुसार तुलसीकृत ग्रन्थो की सख्या ७३ है परन्तु प्रामाणिकता यहाँ भी केवल १२ ग्रन्थो को ही प्राप्त हुई है। यह बारह ग्रन्थ दो खण्डो मे छपे है, प्रथम खण्ड मे मानस तथा द्वितीय मे ११ ग्रन्थ। १२ ग्रन्थो की नामावली पीछे इसी अध्याय मे दी गई है।

गोस्वामीजी का भाषा के क्षेत्र मे अवधी तथा ब्रज दोनो पर समान अधिकार

---

१. तुलसी ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड (मानस) पृ० ७

था । आपके प्रधान ग्रन्थ मानस की रचना अवधी हुई है । गीतावली, कृष्ण गीतावली, कवितावली और विनय-पत्रिका की भाषा परिष्कृत ब्रज है । अवधी और ब्रज के अतिरिक्त आपका भोजपुरी पर भी अधिकार था और कुछ कविताएँ भोजपुरी मे भी आपने लिखी है । उनके उदाहरण इसी अध्याय मे हम पीछे दे चुके है । कही-कही बुदेलखण्डी के भी सरल प्रयोग आपकी भाषा मे मिल जाते हैं । इन प्रान्तीय भाषाओ को छोड कर अरबी, फारसी इत्यादि के शब्दो का भी कवि ने प्रचुरता के साथ प्रयोग किया है, परन्तु कवि का प्रयोग तत्सम न होकर तद्भव रहा है। विदेशी भाषा के शब्दो का तद्भव रूप ही कवि ने ग्रहण किया है ।

४ तुलसी की रचनाओं में साहित्यिक अभिव्यक्ति

किसी कवि की रचनाओ मे साहित्यिक अभिव्यक्ति की खोज के लिए जिन तत्वो को आधार मानकर चलना होता है वे पाश्चात्य विद्वानो ने चार माने है : १. बौद्धिकता, २. भावात्मकता, ३. कला, ४. शैली।

कोई-कोई कलाकार इन चारो का सामजस्य करके अपने साहित्य का सृजन करता है और कोई किसी विशेष तत्व को प्रधानता देकर अपनी रचनाओ को उसी प्रधानता वाले तत्व की ओर खीचकर ले जाता है और उसमे उसी की विशेषता हो जाती है। उदाहरणार्थ हमे कबीर के काव्य मे बौद्धिकता का प्राधान्य मिलता है। मीरा, रसखान, सूर तथा विद्यापति मे भावात्मकता के उद्रेक ने प्रधानता पाई है। बिहारी और केशव मे कलात्मक चमत्कार प्रमुख हो उठा है। और वही उनकी शैली भी बना है। शैली पर उक्त तीनो ही प्रकार के तत्वो का प्रभाव पडता है और उन्ही के अनुरूप भाषा और भाषा का प्रवाह तथा निखार भी कवि या लेखक प्रस्तुत करता है। जो कलाकार उक्त चारो गुणो का सामजस्य करते हुए अपने काव्य का सृजन करते है उनकी रचनाएँ प्रथम श्रेणी मे रखी जाती है और उनके सभी पहलू समान रूप से मजबूत बने रहते है और जो कलाकार किसी विशेष दिशा की प्रधानता लेकर चलते है उनकी वही विशेषता बन जाती है, परन्तु इससे काव्य मे एक प्रधान गुण के साथ-साथ कुछ कमी भी रहती है, इसे नही भुलाया जा सकता।

भारतीय आचार्यों ने भी काव्य के गुण निर्धारित किये है। ध्वनि, अलकार और रस की कसौटी पर काव्य को कसने का प्रयास हमारे आचार्यो ने किया है। इन आचार्यो मे भी अपने-अपने विचारो की ओर खीचा-तानी रही है। कुछ ने ध्वनि को काव्य मे प्रधानता दी है तो कुछ ने अलकार को, परन्तु अधिकाश ने काव्य मे रस को ही प्रधानता दी है। काव्य किसी भी विद्वान् को वह कृति है जो पाठक के जीवन मे उत्साह, आनन्द, प्रेरणा, स्फूर्ति और ताजगी लाये। इसके लिए उस रचना मे सुन्दर विचार, भावना-युक्त समस्या और कथा का

गठन, सरल, मधुर और सगुण भाषा, सुन्दर अलकारो की योजना,—इन सभी तत्वो की आवश्यकता है और जो लेखक इन सभी दिशाओ का ध्यान रखकर आगे बढेगा, वही एक सफल कलाकार साहित्यिक के पद को आभूषित कर सकता है। काव्य मे मृदुल शब्दावली का प्रयोग सरल रचना की सृष्टि मे सहयोगी होता है। सुन्दर अललकारो की योजना, भरमार नही, काव्य के चमत्कार और सौदर्य की वृद्धि मे सहायक होते है। कही-कही ये भावोत्कर्ष मे भी सहायक होते हैं। काव्य के उच्च कोटि मे आने के लिए उसके अन्दर भाषा और भाव तथा विचार तीनो का सामजस्य परम आवश्यक है। तीनो मे से एक के भी पिछड़ जाने से अभाव स्पष्ट दिखलाई देने लगता है, और यही अभाव काव्य-गुणो के धरातल पर रचना को हल्का भी बना देता है। काव्य-रचना मे पाडित्य प्रदर्शन और भापा पर अधिकारविहीनता, दोनो ही खलने लगते है। रचना का युक्ति-पूर्ण होना परमावश्यक है। उचित गुणो के साथ विचार, भावना और कल्पना, का कलात्मक समन्वय काव्य को उच्च कोटि का काव्य घोषित करता है।

बुद्धि-तत्त्व—गोस्वामी तुलसीदास ने मर्यादापुरुषोत्तम राम को अपने काव्य का नायक बनाया है और जो काव्य किन्ही मर्यादाओ का भी पालन करता हुआ प्रस्फुटित होता है, उसमे भावना और कल्पना की उडानो के लिए क्षेत्र मर्यादा के अन्दर रहकर ही मिल सकता है। न तो उसमे विद्यापति के शृगार की ही सृष्टि हो सकती है और न भावना का ही वह साम्राज्य स्थापित किया जा सकता है कि जिसमे मर्यादाओ का एकदम लोप हो जाय और ब्रज वनिताएँ अपने पतियो को खाना परोसना छोड़कर मुरली की तान मे लौलीन होकर लोक-लाज से किनारा करती हुई यमुना के तीर पर पहुँच जाएँ। वहाँ चीर-हरण जैसी लीलाओ का वर्णन हमे नही मिल सकता। वहाँ तो धर्म की एक व्यवस्था है, समाज की एक व्यवस्था है, राज्य की एक व्यवस्था है। साहित्य की एक व्यवस्था है और उनकी मर्यादाओ का उल्लघन करके काव्य की रचना नही की जा सकती, चाहे उससे इस परिपाक मे बाधा उपस्थित हो, चाहे बहुत चमत्कारपूर्ण अलकारो का प्रयोग होने से रह जाए, चाहे कलाकार को कल्पना कुठित घोषित कर दिया जाए, परन्तु उन मर्यादाओ का उल्लघन नही हो सकता क्योकि उनका प्रतिबन्ध कवि की बुद्धि ने स्थापित किया है। कवि ने अपने विचार, कल्पना और अनुभूति का आश्रय लेकर एक राज्य-व्यवस्था कायम की है, प्राचीन आर्य-धर्म की परम्परा पर धर्म की मान्यताओ और उसके व्यापक सिद्धान्तो को अपनाया है। समाज के नियमो और आदर्शो को मान्यता दी है, नीति को अपनाया है, मानव-धर्म की व्याख्या की है। अपने समय की प्रचलित सभी आर्य धर्म की मान्यताओ मे सामजस्य स्थापित करके एक सामान्य भक्ति-मार्ग की मर्यादावादी परम्परा का उत्थान करके गोस्वामी तुलसीदास ने अपने काव्य मे अपनी बौद्धिकता का उत्कृष्ट उदाहरण पेश किया है। जहाँ तक विचार का सम्बन्ध है, वह कवि ने

अध्यात्म और लौकिक, दोनों ही पक्षो मे पूर्ण रूप से निभाया है। कवि की रचनाओ को बौद्धिक स्तर पर मापने पर हमे कही भी उनका उथलापन दिखलाई नही देता। धर्म-राजनीति और समाज, हर क्षेत्र मे उनकी पैनी दृष्टि पूरी गहराई के साथ पहुँची है। वर्तमान को कवि ने देखा है। प्राचीन मे झाका है और भविष्य की कल्पना की है तथा अपनी व्यवस्थाओ के ढाँचे प्रस्तुत किये है। कवि की राम-राज्य की कल्पना, एक महान् कल्पना है, जिसमे हर प्रकार की व्यवस्था का कवि ने उल्लेख किया। राजा-प्रजा, परिवार, वर्ण-व्यवस्था, धर्म-व्यवस्था, समाज-व्यवस्था, पुरुष-धर्म, नारी-धर्म, सेवक-धर्म, सैनिक-धर्म, प्रण-पालन, भ्रातृ-धर्म, पुत्र-धर्म, अनुज-बन्धु-धर्म, बडे भाई का धर्म—मतलब यह है कि ससार मे जो भी पारस्परिक सम्बन्ध होते है, उन सभी का कवि ने उल्लेख किया है, उदाहरण सहित स्पष्टीकरण किया है, और उन परिस्थितियो को पैदा करके सुझाव पेश किये है जिनमे आकर मनुष्य कर्तव्य-विमुख हो जाता है। तुलसी ने कही पर भी समस्याओ का स्पष्टीकरण भावनात्मक ढग से नही किया, वरन् तर्क और न्याय को हमेशा सामने रखकर ही स्पष्टीकरण किया है मानस के कथा-प्रवाह मे हम देखते है कि ऐसे स्थल आते है, जहाँ भावना प्रधान हो उठती है, परन्तु कर्तव्य और विचार की मर्यादा का उलघन करके वह अपना मार्ग नही बनाती। कवि ने बुद्धि की सतर्कता से कर्तव्य की मर्यादा के बाँध इतने दृढ बनाये हैं। कि भावना की लहरो को उनसे टकराकर वापस लौट आना होता है। तुलसी के काव्य की सरिता का फाँट इतना चौडा है कि उसके अन्दर भावनाओ को लहराने और उभर कर आने तथा उफान खाने के लिए पर्याप्त क्षेत्र है। भावनाओ का विकास कही भी रुकता नही, उसे कवि की निर्धारित सीमा मे विस्तार करने का अवसर मिलता है। कवि के बुद्धि-तत्व की यही विशेषता है कि उसके साहित्य की भाषा परिमार्जित है, विचार परिमार्जित हैं, मान्यताएँ परिमार्जित है, हर चीज परिमार्जन मे ही चलती है।

धर्म के क्षेत्र मे गोस्वामी तुलसीदास एक भक्त कवि थे परन्तु वेद-शास्त्रो द्वारा प्रवर्त्तित आध्यात्मिक विचारो को कवि ने सर्वथा मान्यता प्रदान की है। भक्ति-मार्ग को अपनाने के साथ-ही-साथ आपने ज्ञान-मार्ग की भी निदा नही की। निर्गुण ब्रह्म को भी आपने मान्यता प्रदान की है। जिस काल मे गोस्वामी जी का अविर्भाव हुआ, उन दिनो निर्गुण ब्रह्म की उपासना का प्राधान्य था। गोस्वामीजी ने निर्गुण ब्रह्म की उपासना सर्वसाधारण के लिए एक कठिन समस्या मानकर उसकी जटिलता और अव्यवहारिकता का उल्लेख किया है और सगुण-भक्ति का प्रतिपादन किया है। इसका मूल कारण यही था कि कलियुग को उन्होने ज्ञान के लिए उपयुक्त काल नही माना, काकभुशुण्डि के मुख से वह कहलवाते भी है ·

कलिजुग जोग न जग्य न ग्याना, एक अधार राम-गुन गाना।

कवि ने राम-नाम के महत्त्व और राम-भक्ति के मधुर गान को ही अपनी भावना और रचना का विषय बनाया है। तुलसी ने धर्म सिद्धान्तो के क्षेत्र मे ज्ञान और भक्ति का समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है। सूर और नन्ददा-सकृत भक्ति मे ज्ञान की महत्ता को ठुकराकर उसका उपहास किया गया है, परन्तु तुलसीकृत भक्ति मे ज्ञान की महत्ता को मान्यता प्रदान की गई है। तुलसी के काव्य मे भक्ति की जहाँ प्रतिष्ठा मिलती है वहाँ ज्ञान की निन्दा या अप्र-तिष्ठा नही मिलती। व्यवहार के क्षेत्र मे भक्ति की सुगमता के कारण ही कवि उसे अपनाता है। तुलसी ने अपने काव्य मे ज्ञान को महत्ता प्रदान की है

राम काकभुशुण्डि से वरदान माँगने को कहते हैं

ग्यान विवेक विरति बिग्याना, मुनि दुर्लभ गुन से जग जाना।
आजु देऊँ सब ससय नाही, मागु जो तोहि भाव मन माही॥

भुशुण्डिजी क्या सोचते है

सुनि प्रभु वचन अधिक अनुरागेऊँ, मन अनुमान करन तब लागेऊँ।
प्रभु कह देन सकल सुख सही, भगति अपनी देन न कही॥
भगति हीन गुन सब सुख ऐसे, लवन बिना बहु बिंजन जैसे।

इस प्रकार काक भुशुण्डिजी भक्ति के बिना गुण को व्यर्थ मानते हे। गोस्वामी तुलसीदास ने ज्ञान और भक्ति को विरोधात्मक तत्व नही माना। ज्ञान से भक्ति को श्रेष्ठ अवश्य कहा है। राम काकभुशुण्डि जी से कहते है

मन माया सभव संसारा, जीव चराचर विविध प्रकारा।
सब मम प्रिय सब मम उपजाए, सबते अधिक मनुज मोहि भाए।
तिन्ह मे द्विज द्विज में स्रुतिधारी, तिन्ह में निगम धरम अनुसारी॥

उक्त पद मे कवि ने भक्ति को ज्ञान से ऊपर स्थान दिया है। कवि ने ज्ञान और भक्ति का निरूपण कैसा किया है, इसका उल्लेख सविस्तार हम आगे देंगे। यहा केवल हमने यही प्रकट करने का प्रयास किया है कि कवि की रचनाओ मे बुद्धि तत्व को भुलाकर नही चला गया। ज्ञान का सम्बन्ध भी सीधा बुद्धि से ही है। भावना प्रधान कवि ज्ञान के बखेडे मे पडता ही नही और उसकी रचनाओ पर बुद्धि का कोई प्रतिबन्ध नही रहता। काल मे प्रबन्धात्मकता का होना भी बुद्धि तत्व का ही लक्षण है। भावना-पक्ष-प्रधान वाले कवि इसलिए गीतिकाव्य-शैली को प्रधान रूप से अपनाते हैं।

भावात्मकता—गोस्वामी तुलसीदास के काव्य मे भावना को वह लम्बी-चौड़ी उडाने भरने का मौका चाहे न मिला हो जो सूरसागर के विस्तृत क्षेत्र मे सूर ने उसे प्रदान किया है, परन्तु उनके काव्य मे कही भी ऐसा स्थल नही मिल सकता कि जहाँ भावना के मर्म की उपेक्षा करके कवि आगे बढ गया हो। कवि ने मानव-जीवन के भावनात्मक स्थलो को बहुत ही सतर्कता के साथ छुआ है और उनका बहुत ही आकर्षक तथा प्रभावात्मक चित्रण किया है। राम के

शिशु-रूप का सुन्दर वर्णन देखिए कवि कितनी भावुकता के साथ करता है :

वर दन्त की पगति कुन्द कली, अधराधर पल्लव खोलन की।
चपला चमकै घन बीज जगै, छबि मोतिन माल अमोलन की।
घुँधरारी लटैं लटकैं मुख ऊपर, कुण्डल लोल कपोलन की।
निछावरि प्रान करै तुलसी, बलि जाऊँ लला इन बोलन की।

—कवितावली

कौशल्या अपने लाल को पालने मे झुलाते हुए लोरियाँ गाती है

ललन लोने लेरुआ, बलि मैया।
सुख सोइए नीद बेरिया भई चारु-चरित चारयों भैया।
कहत मल्हाइ उर छिन-छिन छगन छबीले छोटे छैया।
मोद कन्द कुल कुमुद चन्द्र मेरे रामचन्द्र रघुरैया।

—गीतावली

विश्वामित्र के साथ राम और लक्ष्मण के चले जाने पर कौशल्या की भावना का चित्रण देखिए कितना उद्वेगपूर्ण है

मेरे बालक कैसे धौं मग निबहहिगे ?
भूख पियास सीत स्रम सकूचनि क्यो कौसिकहिं कहहिगे।
को भोर ही उबटि अन्हवै है, काढ़ि कलेऊ दै है।
को भूषण पहिराई निद्यावरि करि लोचन सुख लै है।

—गीतावली

जब सीताजी वन को चलती है तो उनकी यात्रा का कवि ने बहुत ही कलात्मक तथा भावनात्मक चित्रण प्रस्तुत किया है

पुर ते निकसी रघुबीर बधू, धरि धीर दये मग मे डग द्वै।
झलकीं भरि भाल कनी जल की, पुट सूख गये मधुराधर द्वै।
फिरि बूझति है 'चलनो अब केतिक, पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै'।
तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै।

—कवितावली

राम-वियोग मे तडपते हुए घोडो का चित्रण देखिए :

अली हौं इन्हैं बुझावौं कैसे ?
लेत हिये भरि-भरि पति को हित मातु हेतु सुत जैसे।

—गीतावली

कवि भावना के उद्रेक मे केवल मानवीय सहृदयता की ओर ही आकृष्ट नही हुआ है वरन् उसने प्रकृति के सौदर्य को भी निरखने मे काफी सहृदयता दिखलाई है। चित्रकूट का वर्णन देखिए कितना मनोहर है :

सब दिन चित्रकूट नीको लागत ।
बरषा ऋतु प्रवेस विसेष गिरि देखन मन अनुरागत ।
चहुँ दिसि बन सम्पन्न बिहँग मृग बोलत सोभा पावत ।
जनु सुनरेस देस पुर प्रमुदित प्रजा सकल सुख छावत ।
—गीतावली

प्रेमाकर्षण का भी तुलसीदास ने जनक की फुलवारी मे सीता और राम के मिलन द्वारा बहुत सुन्दर चित्रण किया है, परन्तु दोनो के बीच मे लक्ष्मण की उपस्थिति ने कवि की मर्यादा को विशृंखल नही होने दिया ।

राम और लक्ष्मण को वाटिका मे देखकर सीता की सखी उससे कहती है :

देखन बाग कँवर दुइ आये, वय किसोर सब भाँति सुहाये ।
स्याम गौर किमि कहउँ बखानी, गिरा अनयन नयन बिनु बानी ।
सुनि हरषी सब सखी सयानी, सिय हिय अति उत्कठा जानी ।

सीता उस ओर आकृष्ट होती है

तासु बचन अति सियहि सुहाने, दरस लागि लोचन अकुलाने ।
चली अग्र करि प्रिय सखि सोई, प्रीति पुरातन लखै न कोई ।

सीता राम की ओर और राम सीता की ओर स्वाभाविक रूप से बढते है :

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि, कहत लखन सन राम हृदय गुनि ।
मानहुँ मदन दुदभी दीन्ही, मनसा विस्व विजय कहँ की ही ।

राम अपने मन-ही-मन सोचते है :

जनु बिरञ्चि सब निज निपुनाई, बिरचि बिस्व कहँ प्रगट जनाई ।
सुन्दरता कहुँ सुन्दर करई, छबि गृह दीप सिखा जनु बरई ।।

राम अपने भावो को मर्यादा के साथ अपने अनुज लक्ष्मण पर प्रदर्शित करते है । दूसरी ओर सीता भी राम को देखकर प्रभावित होती है और राम का पौरुष तथा सौंदर्य उस पर अपनी मोहनी डालता है :

चितवति चकित चहूँ दिसि सीता, कहँ गये नृप किसोर मन चिन्ता ।
जहँ विलोक मृग-सावक नैनी, जनु तहँ बरसि कमल सित स्रेनी ।
लता ओट तब सखिन लखाये, स्यामल गौर किसोर सुहाये ।
देखि रूप लोचन ललचाने, हरषे जनु निज निधि पहिचाने ।

इसी क्षण दोनो भाई लता-भवन से बाहर प्रकट होते हैं :

लता-भवन ते प्रकट मे तेहि अवसर दोउ भाई ।
निकसे जनु जुग बिमल बिधु, जलद-पटल विलगाई ।

कवि ने उक्त भावनात्मक चित्रण मे सीता और राम के सौंदर्य का वर्णन करते हुए अपनी मर्यादा की लीक को निभाया है । प्रेम का प्रदर्शन भी उतना खुलकर नही होता कि जिसमे 'लोक-लाज कुल की मर्यादा' को उनकी भेंट

चढाने की नौबत आ जाये।

इस प्रकार हमने देखा कि कवि का भावना पक्ष भी किसी प्रकार उनके बुद्धि-पक्ष से कम प्रबल और प्रभावात्मक नही है। भावनात्मक स्थलो के चित्रण मे कवि को पूर्ण सफलता मिली है और हृदय को प्रभावित करके भावना की गहरी सरिता मे गोते लगवाने की क्षमता कवि मे पूर्ण रूप से विद्यमान है। यह सच है कि तुलसी का भावना-पक्ष सतुलित है और वह बन्धन-मुक्त होकर प्रसारित नही होता, परन्तु आवश्यक चित्रण और वर्णन के स्थलो को भी कवि-दृष्टि और कल्पना तथा भावना ने कही छूने से छोड दिया हो, ऐसे भी स्थल उनके काव्य मे खोजने पर नही मिलते। कवि ने बहुत ही सजगता और सतर्कता के साथ भावनात्मक स्थलो को चित्रित किया है और मार्मिक स्थलो के विवेचन मे कवि को आशातीत सफलता मिली है। जैसा कि हम ऊपर भी कह चुके हैं कवि ने भावना और विवेक का सामजस्य स्थापित किया है। भावना-पक्ष मे आपने दास्य-भावना की भक्ति को लेकर अपने राम के प्रागण मे आत्म-समर्पण किया है। न कवि अपने इष्टदेव की बहुरिया बनने का स्वप्न देखता है और न सखा बनने का ही, वह तो अपने राम का एक मात्र दास है और उसके जीवन का लक्ष्य भी आत्मसर्मपण ही है। विनय पत्रिका मे वह अपनी अरजी भगवान् के दरबार मे हनुमानजी की प्रेरणा से भेजता है। वह तो सीधा पहुँचने का भी साहस नही करता —"**आज हों एक-एक करि टरिहौं। कै हमही कै तुमही माधव अपन भरोसे लरिहों।**" वाली धृष्टता तो तुलसी से स्वप्न मे भी सम्भव नही। आत्मनिवेदन की भावना का जितना सजीव चित्रण तुलसी ने किया है उतना अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।

विनय पत्रिका मे कवि ने भक्ति-प्राप्ति के साधनो का वर्णन किया है। दीनता, मानमर्षता, भर्त्सना, भयदर्शना, आश्वासन, मनोराज्य और विचारणा का प्रतिपादन कवि के पदो मे मिलता है। अपनी सभी गलतियो को दास अपने ही कंधो पर उठाता है, उनका भार वह अपने भगवान् पर नही डालता .

कैसे देऊँ नार्थाहि खोरि।
काम लोलुल भ्रमत मन हरि भगति परि हरि तोरि।
बहुत प्रीति पुजाइबे पर, पूजिबे पर थोरि।
देउँ सिख, सिखयो न मानत, मूढ़ता अस मोरि।

\+ \+ \+

दास्यभावना से प्रेरित भक्त मे अभिमान का लेश भी नही रहता। वह तो दीन-भावना से प्रेरित होकर गिड़गिड़ाना ही जानता है

काहे तें हरि मोहि बिसारो।
जानत निज महिमा, मेरे अघ, तदपि न नाथ सँभारो।

वह अपने इष्टदेव से सर्वदा भयभीत रहता है :

राम कहत चलु, राम कहत चलु, राम कहत चलु भाई र।
नाहि तौ भव बेगारि महँ परिहै, छूटत अति कठनाई र।

कवि अपनी अभिलाषाओ की पूर्ति की आशा करता है

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ कृपालु कृपा ते सत सुभाव गहौंगो।
जथा लाभ सतोष सदा, काहू सो कछु न चहौंगो।

उक्त पद मे कितने आत्म-सतोष की भावना को कवि ने निहित किया है। गोस्वामी तुलसीदास के काव्य मे हमे माता की भावना, कवि की भावना, भक्त की भावना, स्त्री की भावना, पति की भावना, पिता की भावना, सेवक की भावना, स्वामी की भावना, प्रजा की भावना, राजा की भावना, शत्रु और मित्र की भावना, सभी के तो दर्शन होते है। कवि के व्यापक दृष्टिकोण से बच-कर भक्ति का कोई भी पहलू छूटता नही है।

रसात्मकता ऊपर हम देख चुके है कि कविवर तुलसी ने भावना की मानसिक दशाओं और भावनाओ के साथ-साथ प्रकृति के अन्दर भी पैठने का सफल प्रयास किया है। प्रकृति के सजीव चित्रणो के साथ-साथ पशु-पक्षियो को भी अछूता नही छोडा है

हय गय कोटिन्ह केलि मृग, पुर पशु चातक मोर।
पिक रथाग सुक सारिका, सारस हंस चकोर।

राम-वियोग मे सुमन्त घोडो को हाँकने मे असमर्थ है

सोक सिथिल रथु सकई न हाँकी, रघुबर बिरह पीर उर बाँकी।
चरफराहिं मग चलहिं न घोरे, बन मृग मनहु आनि रथ जोरे।

कवि को मानसिक दशाओ के इस चित्रण मे रसानुभूति के क्षेत्र मे कहाँ तक सफलता मिली यहाँ हमे यह देखना है। राम और सीता का प्रेम, सात्विक प्रेम, को लेकर मिलन-शृगार का चित्रण हम भावना-पक्ष के स्पष्टीकरण मे कर चुके है। तुलसी का यह पक्ष न तो जायसी के समान रत्नसेन की कठिन यात्रा के रूप मे होता है और न ही कृष्ण और राधा के मिलन के समान। न तो रत्नसेन के समान राम सीता के दर्शन करके मूर्छित ही होते है और न सीता राम से मिलने के लिए उन्हे राधा के समान सर्प का विष उतारने वाला बतला कर ही साँप काटे का बहाना करती है। यहाँ तो भारतीय परम्परा के अनुसार स्वयम्वर होता है और उसमे स्वयवर की शर्तें को पूरी करके राम सीता का पाणिग्रहण करते है। कवि-कल्पना द्वारा वाटिका मे उनका पूर्व मिलन करके काव्य-सौदर्य और रसोद्रेक मे सहायक होता है।

सीता एक आदर्श भारतीय नारी है। वह तो इस लोक के जहाँ तक नेह

और नाते हैं उन्हे पति के अन्दर ही सन्निहित पाती है। राम सीता को सुकुमारी कहकर उन्हे अयोध्या मे ही रहने का आदेश करते है। उन्हे बन की भयानक वस्तु, स्थिति का ज्ञान कराते है तो सीता कितना मधुर व्यग्यात्मक उत्तर देती हैं :

मै सुकुमारि नाथ बन जोगू, तुमहि उचित तप मोहि कहँ भोगू।

सीता के इस उत्तर को सुनकर राम उन्हे साथ चलने की आज्ञा दे देते है। राम के अयोध्या छोडने पर अयोध्यावासियो की जो दशा होती है उसमे करुण-रस का आभास मिलता है, परन्तु काव्य मे वास्तविक करुण-रस का सचार वही से होता है जहाँ सीता को रावण उठाकर ले जाता है और राम उनके विरह मे दुखी होकर आँसू बहाते तथा खग, मृग से सीता का पता पूछते हैं :

हे खग मृग हे मधुकर श्रेणी, तुम देखी सीता मृदु बैनी।

विप्रलम्भ शृगार के अतर्गत एक पद देखिए

लछिमनु देख बिपिन कई सोभा। देखत केहि करि मन नहिं छोभा।।
नारि सहित सब खग मृग बृदा। मानहु मोर करति हहिं निन्दा।।
हमहि देखि मृग निकर पर हीं। मृगी कहहिं तुम कहुं भय नाहीं।।
तुम्ह आनन्द करहु मृग जाये। कंचन मृग खोजन ये आये।।
सग लाइ करिनी करि लेहीं। मानहुँ मोहि सिखावनि देही।।
देखहु तात बसंत सुहावा। प्रिया हीन मोहि भय उपजावा।।

इस विप्रलम्भ शृगार के ठीक विपरीत सयोग शृंगार का स्थायी भाव रति किस तरह आलम्बन, उद्दीपन और व्यभिचारी उपकरणो को पाकर पुष्ट रस का रूप धारण करता है, इसका एक सुन्दर उदाहरण देखिये

दूलह श्री रघुनाथ बने, दुलही सिय सुन्दर मदिर माहीं।
गावहि गीत सबै मिलि सुन्दरि, वेद जुवा जुरि बिप्र पढ़ हीं।।

—कवितावली-बाल कांड

गोस्वामी तुलसीदास ने शृगार के दोनो ही पक्षो को पूर्ण सफलता के साथ निभाया है। कही भी उसके स्पष्टीकरण मे अस्वाभाविकता नही आ पाई है। तुलसी के विप्रलम्भ शृगार मे जायसी जैसी वीभत्सात्मकता नही है। यहा न तो 'रकत के आँसू' ही गिरते हैं ओर न 'हाड ही सख' बनते है। **'बिरह सरागन्हि भूँजे माँसू। गिर-गिर परै रकत कै आँसू'** वाली स्थिति भी तुलसी के विरह की नही होती। सीता जब राम-वन-गमन की बात सुनती है तो उतनी विह्वल नही होती, जितनी राम का उपदेश सुनकर होती है

सुनि मृद बचन मनोहर पिय के।
लोचन ललित भरे जल सिय के।।

—मानस अयोध्या कांड

हास्यरस : रामचरितमानस का प्रधान रस शात ही है, परन्तु जैसा कि हमने ऊपर देखा कवि ने शृगार के दोनो पहलुओ को लेकर भी कलात्मक प्रसगो की गृष्टि की है। नीचे हास्यरस का एक उदाहरण देखिये। यहाँ तुलसी ने राम को आलम्बन विभाव बनाकर सुन्दर परिहास किया है :

विंध्य के बासी उदासी तपो ब्रतधारी महा, बिनु नारि दुखारे।
गौतम तीय तरी, तुलसी सो कथा सुनि भे मुनि बृन्द सुखारे॥
ह्वै है सिला सब चन्द्रमुखी परसे पद मंजुल कज तिहारे।
कीन्हीं भली रघुनायक जू करना करि कानन को पग धारे॥

—कवितावली-अयोध्याकाण्ड-छन्द २८

गोस्वामीजी का हास्य शिष्ट हास स्मित के अतर्गत आता है, अवहसित, अथवा अविहसित की कोटि मे नही।

करुण रस स्थायी भाव शोक अपने उद्दीपन तथा सचारियो को पोषित होकर भी मानस के बहुत से स्थानो पर सामने आता है। मेघनाद के सिर को देखकर मंदोदरी की दशा का चित्रण देखिए :

पति सिर देखत मंदोदरी। मुरछित विकल धरनि खसि परी॥
जुबति बृन्द रोवत उठि धाईं। तेहि उठाइ रावन पहिं आईं॥

लक्षमण के मूर्छित होने पर भी करुण रस काव्य में प्रवाहित होता है। गीतावली के सीता-त्याग पर करुण रस का संचार देखिए :

तुलसी के काव्य मे अदभुत रस की भी झलक यत्र-तत्र मिलती है। सती जब राम की परीक्षा लेने के लिए सीता का रूप धारण करती है तो अद्भुत रस का ही संचार होता है।

वीर रस · तुलसीदास ने अपने चरित्रनायक राम का युद्धवीर के नाते भी चित्रण किया है। लंकाकाण्ड मे वीर रस की ही प्रधान रूप से सष्टि हुई है। कवितावली में कवि ने हनूमान की वीरता का सुन्दर चित्रण किया है। मानस के बालकाण्ड में जनक की सभा के अन्दर लक्षमण के ये शब्द भी वीर रस पूर्ण है·

तोरऊँ छत्रक दंड जिमि तव प्रताप बल नाथ।
जो न करऊँ प्रभ पद सपथ पुनि न धरऊँ धनु हाथ॥

युद्धवीरता के साथ-ही-साथ राम में कवि ने दानवीरता और दयावीरता को भी लक्षित किया है। राम रावण की सारी सम्पत्ति विभीषण को ज्यों-की-त्यों दे देते हैं। कवि उसका इस प्रकार वर्णन करता है·

जो संपति सिव रावनहि दीन्हि दिये दस माथ।
सोई सपदा बिभीषनहि सकुचि दीन्ह रघुनाथ॥

—मानससुन्दर काण्ड-४९

धर्मवीरता का एक उदाहरण देखिये :

मगल समय सनेह बस सोच परिहरिय तात।
आयसु देइय हरषि हिय कहि पुलके प्रभु गात ॥

गोस्वामी का काव्य-क्षेत्र इतना व्यापक और विस्तृत है कि उसमे सभी रसो को कही-न-कही पर स्थान मिल गया है। रौद्र, भयानक और वात्सल्य के उदाहरणो की भी काव्य मे कमी नही है। इसके सभी उपकरणो को एकत्रित करके कवि ने अपने काव्य मे जो योजना प्रस्तुत की है वह एक सफल कला-मर्मज्ञ की हिन्दी साहित्य को अनूठी देन है। तुलसी के काव्य मे हमे विरोधी रसो का एक स्थान पर आना नही पाया जाता और रस-दोषो का भी अभाव है। कवि ने सहायक रसो को प्रस्तुत करके प्रधान रस को बल प्रदान किया है।

अलंकार-योजना तुलसी के काव्य की रस-योजना पर हम सक्षेप में विचार कर चुके हैं। रस के साथ-ही-साथ अलकार भी काव्य सौदर्य का एक प्रधान साधन है। अलकारवादियो की निम्न उक्ति ·

अगी करोति य काव्यं शाब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती ॥

अर्थात् जो विद्वान् अलकार-रहित शब्द और अर्थ को काव्य मानता है वह अग्नि को उष्णता रहित क्यो नही मानता। परन्तु तुलसी अलकार को काव्य का सारभूत अग मानकर चलने वाले कवियो मे से नही थे। वह तो अलकार को केवल मानते थे कि यह उपयुक्त रीति से प्रयुक्त होने पर काव्य के भाव को उत्कर्ष प्रदान करता है और वस्तु के रूप, गुण इत्यादि का तीव्र अनुभव कराने मे सहायता देता है। अपने काव्य की कमनीयता बढाने के लिए तुलसी ने यथा-स्थान अलकारो का प्रयोग किया है और इसमे कवि को कलात्मक सफलता मिली है। तुलसी ने अलकारो तथा उभयालकारो को उनके भेद और उपभेदो के साथ प्रयोग मे लिया है।

गोस्वामीजी के काव्य मे हमे शब्दालंकारो की योजना बहुत अधिक नही मिलती। वास्तव मे गम्भीर प्रकृति वाले तुलसी के लिए शाब्दिक कलाबाजियाँ साहित्य मे कोई विशेष महत्व नही रखती थी। वह तो भावना और विचार के कवि थे। परन्तु फिर भी स्वाभाविक रूप से शब्दालकारो के भी प्राय सभी रूप आपके व्यापक काव्य-क्षेत्र मे कही-न-कही पर आ ही गये हैं।

अर्थालंकारो की योजना कवि के काव्य मे बहुत सुन्दर ढग से की गई है और आचार्यों द्वारा निर्धारित अलकारो का शायद ही कोई ऐसा रूप हो जो कवि के काव्य मे उपयुक्त-से-उपयुक्त रूप न पा सका हो। गोस्वामीजी ने जिस अलकार का सबसे अधिक प्रयोग किया है वह रूपक अलकार है। छोटे-छोटे निरग और परम्परित रूपको के अतिरिक्त बडे-बडे साग रूपकों का भी प्रयोग

जनक बचन हुए बिरवा लजारु के-से,
बीर रहे सकल सकुचि सिर नाइ के।[1]

उपमा की ही भाति कवि ने प्रतीप के भी सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किये है। प्रतीप भी वास्तव मे उपमा का ही रूपान्तर है। इसमे उपमेय को उत्कर्ष देने के लिए उपमा का ढग बदल दिया जाता है। प्रतीप के उदाहरण देखिए·

१. नील सरोरुह नील मनि, नील नीलधर स्याम।
लाजत तन सोभा निरखि, कोटि-कोटि सत काम।

२. राजकुँअर दोउ सहज सलोने, इन्ह ते लही दुति मरकत सोने।

३. बहुति बिचार कीन्ह मन माहीं, सीय बदन सम हिमकर नाहीं।

प्रस्तुत के द्वारा अप्रस्तुत का उत्कर्ष बढाकर उत्प्रेक्षा अलकार का भी कवि ने प्रयोग किया है। उत्प्रेक्षा अलकार का प्रयोग कवि की प्रायः सभी रचनाओ में मिलेगा। कही-कही तो कवि उत्प्रेक्षा-पर-उत्प्रेक्षा करते हुए माला-सी बनाता चला जाता है। उदाहरण देखिए :

जानकी बर सुन्दर माई।
इन्द्र-नीलमनि स्याम सुभग अंग-अंग मनोजनि बहु छबि छाई॥
अरुन चरन, अंगुली मनोहर, नख दुतिवंत कछुक अरुनाई॥
कज दलनि पर मनहुँ भौम दस बैठ अचल सुसदसि बनाई।
पीत जानु उर चारु जटित मनि नूपुर पद कल मुखर सुहाई॥
पीत पराग भरे अलिगन जनु जुगल जलज लखि रहे लोभाई।
किंकिन कनक कज अवली मदु मरकत सिखर मध्य जनु जाई॥[2]

जनक वाटिका के अन्दर मानस मे जहाँ राम और लक्ष्मण को निकाल कर कवि सीता और उसकी सखियो के सम्मुख प्रस्तुत करता है वहाँ देखिए कितनी सुन्दर उत्प्रेक्षा की योजना मिलती है

लता भवन ते प्रकट भे, तेहि अवसर दोउ भाइ।
निकसे जनु जुग बिमल बिधु, जलद पटल बिलगाइ

धनुष-यज्ञ के अवसर पर फिर राम को देखने के लिए लज्जाशील सीता की आकृति का वर्णन देखिए

प्रभुहि चितइ पुनि चितइ महि, राजत लोचन लोल।
खेलत मनसिज मीन जुग, जनु बिधु-मडल डोल॥

राम के वियोग में कौशल्या की दशा मे उत्प्रेक्षा अलकार देखिए

मलिन बसन बिबरन बिकल कृस सरीर दुख भारु।
कनक कलप बर-बेलि-बन, मानहु हनी तुसारु॥

---

१. गीतावली, बाल काण्ड, गीत ८२
२. गीतावली, बाल काण्ड, गीत १०६

उत्प्रेक्षा से पुष्ट रूपक की योजना देखिए :

होत प्रात मुनि-वेष धरि, जौं न राम बन जाहिं।
मोर मरन राउर अजसु, नृप समझिअ मन माहिं॥

गोस्वामी तुलसीदास ने अपनी रचनाओ मे अतिशयोक्ति अलकार का प्रयोग भी कम नही किया है परन्तु उनका यह प्रयोग कही भी कौतूहल मात्र की सीमा में घिर कर नही रह गया है। कवि का यह प्रयोग सर्वथा ही उनके वर्ण्य-विषय मे उत्कर्ष लाने के अन्दर समर्थ रहा है। यहाँ देखिए अतिशयोक्ति का भी सरल प्रयोग है :

राजन राउर नाम जस सब अभिमत दातार।
फल अनुगामी महिप मनि मन अभिलाष तुम्हार॥

कवि ने अतिशयोक्ति के लिए जो स्थल चुने है वे बहुत ही कुशलता पूर्वक चुने गये हैं और उन स्थलो पर अतिशयोक्ति के प्रयोग बिना काव्य मे उत्कर्ष भी आना असम्भव है। उदाहरणार्थ धनुष टूटने पर, युद्ध-स्थल पर इत्यादि। वियोग की अधिक अनुभूति के लिए भी कवि रूपकातिशयोक्ति का प्रयोग करता है। सीता के वियोग में राम का चित्रण देखिए। वह वन में सर्वत्र सीता के दर्शन करते हैं :

खंजन सक कपोत मृग मीना, मधुप-निकर कोकिला प्रवीना।
कुन्द कली दाडिम दामिनी, कमल सरद सहि अहि भामिनी।

नीचे हम कुछ विरोधमूलक अलकारो के उदाहरण प्रस्तुत करते है

विभावना :

बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना, कर बिनु करम करइ बिधि नाना।
आनन रहित सकल रस भोगी, बिनु बानी बकता बड़ जोगी।[1]

असंगति

जिन्ह बीथिन्ह बिहरहिं सब भाई, थकित होहिं सब लोग लुगाई।[2]

अलंकारो की सख्या असंख्य है और यदि उनके भेद-उपभेदो में घुसा जा सके तो सम्भवतः उनसे बाहर निकलना ही कठिन हो जायेगा। कवि ने कहाँ-कहाँ किस-किस प्रकार के अलकारों का प्रयोग किया है, यदि यह दिखलाने में लगें तो एक ग्रन्थ की रचना इसी के लिए करनी होगी। इसलिए इस प्रसग को हम यही छोडते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने अलकारो का प्रयोग अपने काव्य के उत्कर्ष के लिए किया है न कि अलकारो के लिए काव्य की रचना की है, यह बात पाठको को स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए। इसी लिए उनके काव्य-प्रवाह में अलकार कही भी बाधा बनकर नहीं आते, बल्कि सहायक ही सिद्ध होते हैं।

---

१. गीतावली, बाल काण्ड, ११७, ५,६

२. मानस, बाल काण्ड, २०३,८

कवि ने शब्दालंकारों की अपने काव्य में योजना करने का प्रयास नही किया परन्तु इसका यह अर्थ नही कि शब्दालकारो का प्रयोग तुलसी-काव्य मे हुआ ही नही। यह सच है कि चमत्कार प्रधान अलकारो का प्रयोग कवि ने ना के बराबर ही किया है, परन्तु फिर भी इतने विस्तृत काव्य मे सभी प्रकार के अलकार कही-न-कही आ ही गये हैं

रावन सिर सरोज बनचारी, चलि रघुबीर सिली मुखधारी।

उक्त पक्ति मे श्लेष का चमत्कार देखिए। शब्दालकारो में श्लेष इत्यादि के प्रयोग का बाहुल्य तुलसी की कविता मे चाहे न हो पर भाषा को कर्ण-मधुर बना देने वाले अनुप्रास की उसमे कमी नही है। मानस मे जहाँ इच्छा हो वहाँ पकड लीजिये। 'अन्त्यानुप्रास' तो प्राय प्रत्येक छद मे है ही, परन्तु 'छेकानुप्रास' भी प्राय हर अर्द्धाली में मिल जायेगा। 'वृत्यानुप्रास' का भी कवि ने काफी प्रयोग किया है। अनुप्रासो के उदाहरण देखिए .

१. **धर्म धुरीन धरी नयनागर, सील सनेह सत्य सुख-सागर।**

२. **काने खोरे कूबरे कुटिल कुचाली जान।**

इसी प्रकार गोस्वामीजी ने यमक का भी प्रयोग किया है :

१. **अस मानस मानस चख चाही, भई कवि बुद्धि बिमल अबगाही।**

२. **मूरिति मधुर मनोहर देखी, भयउ बिदेह बिदेह बिसेखी।**

कवि की उक्तियो मे अन्यत्र आप-ही-आप आ जाने वाले अन्य अलकारो मे पुनरुक्तिप्रकाश, पुनरुक्तवदाभास, वीप्सा, वक्रोक्ति इत्यादि भी है। सभी के उदाहरण यहाँ प्रस्तुत करके ग्रन्थ को तूल देना व्यर्थ है। अन्त मे तुलसी की अलकार-योजना के विषय मे यह बात न भूलनी चाहिए कि उन्होने अलकारो का प्रयोग बहुत ही स्वाभाविक रीति से किया है, बलात् नही।

छंद-योजना गोस्वामीजी ने जिन छन्दो का प्रयोग अपने काव्य मे किया है उनमें न केवल मात्रा, गण, वर्ण इत्यादि का चमत्कार ही है और न छन्द-विधान की पाबन्दी ही, वरन् उनमे तो कवि ने प्रसगानुकूल लय और ताल भी निनादित किये हैं। भावानुरूप नैसर्गिक ध्वनि को छन्दो मे समा देने मे जो सफलता कविवर तुलसी को मिली है, वह हिन्दी साहित्य मे अन्यत्र कम देखने को मिलती है। तुलसीदास छन्द-विधायक कवि थे।

मानस के प्रत्येक सोपान के आरम्भ तथा तीसरे और सातवें सोपान के अतर्गत कवि ने विविध वृत्तो मे सस्कृत-श्लोको का प्रयोग किया है। शेष ग्रन्थ की रचना चौपाई और दोहो में हुई है। कही-कही सोरठे का भी प्रयोग किया गया है। दोहा आठ अर्धालियो के पश्चात् आता है। यह दोहा प्राय· एक ही होता है परन्तु कभी-कभी ये दो या अधिक भी होते हैं। चौपाइयाँ भी आठ के स्थान पर दस, बारह, चौदह, सोलह, अठारह, बीस, चौबीस और छत्तीस तक आई हैं।

कही-कही नौ, ग्यारह, तेरह, पन्द्रह, उन्नीस अर्धालियो का भी प्रयोग है। दोहा और चौपाइयो के बीच कही-कही हरिगीति छन्द का भी प्रयोग कवि ने किया है।

'कवितावली' मे कई प्रकार के सवैये, मनहरण, मनहर, घनाक्षरी, छप्पय और झूलना छन्दो का प्रयोग है। 'दोहावली' और 'बरवै रामायण' के छन्दो का ज्ञान इनके नाम से ही हो जाता है। दोहावली मे सोरठो का भी कवि ने प्रयोग किया है। 'रामाज्ञा प्रश्न' की रचना दोहा छन्द मे है। 'रामलला नहछू' की रचना सोहर छन्द मे की गई है। 'वैराग्य सदीपिनी' मे दोहा, सौरठा और चौपाई का प्रयोग है। 'गीतावली', 'कृष्ण गीतावली', और 'विनय पत्रिका' मे राग-रागनियो की कवि ने सृष्टि की है।

इस प्रकार कवि का हम काव्य मे प्रयुक्त बहुत से छन्दो पर एकाधिकार पाते हैं और जैसा हम ऊपर कह चुके है आपने विषयोपयुक्त छन्दो का प्रयोग किया है।

शब्द-शक्ति · भाव और विचार को ज्यो-का-त्यो पाठको तक पहुँचाने के लिए किसी भी कवि या लेखक के लिए यह परमावश्यक है कि वह उन शब्दो की शक्ति को समझता हो जो उसकी भाषा मे आकर विचार अथवा भावना को कवि अथवा लेखक के पास से अपने मे सन्निहित करके पाठक के पास तक ले जाते है। यदि ये शब्द अपने कार्य मे असमर्थ रहे तो कवि अथवा लेखक का प्रयोजन अधूरा ही रह जाता है, पूर्ण नही हो पाता।

गोस्वामी तुलसीदास का हम शब्द-शक्ति पर पूर्ण अधिकार पाते हैं। भाषा में प्रधान रूप से अभिधा शक्तिमूलक शब्दो का ही प्रयोग रहता है। तुलसी का शब्द-प्रयोग अपरिवृत्तिसह है और साक्षात्संकेतित अभिधेयार्थ को ही प्रकाशित करते हैं। इसमे कवि अपनी भावना और विचार को व्यक्त करने मे पूर्ण रूप से सफल हुआ है।

जब लेखक अभिधा शक्ति-मूलक शब्दो द्वारा अपने भाव को स्पष्ट करने मे कठिनाई का अनुभव करता है तो उसे लाक्षणिक प्रयोग का आश्रय लेना होता है। लक्षणा द्वारा भाव अथवा वस्तु विशेष की वक्र-व्यजना होती है। इस प्रयोग से उसमे विशेष चारुता तथा सादृश्य की प्रवृष्टि होती है। भाव और विचार को गति प्रदान करने मे लक्षणा शक्ति चमत्कारिक कार्य करती है :

सीदत साधु, साधुता सोचति,
खल बिलसति, हुलसति खलई है।

—विनयपत्रिका, पद् १३९।

उक्त पद मे 'साधुता' और 'खलई' शब्दो का प्रयोग कवि ने लक्षणा के साथ किया है। 'साधुता' और 'खलई' का हुलसना कह कर कवि ने लाक्षणिक प्रयोग किया है। इन दो शब्दो द्वारा कवि का सम्बन्ध समस्त खल और साधु

समाज से है। उपादान लक्षणा का यह सुन्दर उदाहरण है। लक्षणा के अन्य उदाहरण देखिए

१. तुलसी बैर सनेह दोउ रहित बिलोचन चारि।
—दोहावली

उक्त पक्ति मे बैर और स्नेह का लाक्षणिक प्रयोग है।

२ सुनि बिलाप सुखहू दुख लगा।
धीरज हू कर धीरज भागा।
—रामचरित मानस, अयोध्या काण्ड

गोस्वामीजी के लाक्षणिक प्रयोगो ने उनकी भाषा को व्यजकता, व्यापकता और चारुता प्रदान की है। आपके लाक्षणिक प्रयोगो ने भाषा को व्यर्थ की दुरूहता प्रदान नही की, वरन् भावाभिव्यक्ति और विषय-विकास को सहयोग ही प्रदान किया है।

अभिधा और लक्षणा के क्षेत्र से आगे बढकर कवि ने व्यजना का भी प्रयोग कम नही किया है

तुम्हारे विरह भई गति जौन।
चित दै सुनहु राम करुना निधि जानौं कछु पै सको कहि हौं न।
—गीतावली, सुन्दर काण्ड

उक्त गीत की पक्ति मे कवि ने अभिधामूलक व्यजना का प्रयोग किया है। एक उदाहरण आर्थी व्यजना का देखिए

सेवत तोहि सुलभ फल चारी। बरदायिनि त्रिपुरारी पियारी॥
दैबि पूजि पद-कमल तुम्हारे। सुर-नर-मुनि सब होहिं सुखारे॥
मोर मनोरथ जानहु नीके। बसहु सदा पुर सबही के
कीन्हेउँ प्रकट न कारन तेही। अस कहि चरन गहे बैदेही॥
—रामचरित मानस, बालकाण्ड

बन-गमन के समय राम और सीता के संवादो मे व्यजना की जो पुट कवि ने प्रस्तुत की है, वह हिन्दी-काव्य-कानन की वह फुलवारी है जिसका अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। सीता के मुख से निकली एक ही पक्ति मे राम का सारा उपदेश समाप्त हो जाता है.

मै सुकुमारि नाथ बन जोगू, तुम्हहि उचित तप मोहि कहँ भोगू।

इसी प्रकार कविवर तुलसीदास ने विचित्र शब्द-शक्तियो का प्रयोग किया है। आपका भाषा और उसके शब्दो तथा उनकी शक्तियो के प्रयाग पर पूर्ण अधिकार था।

काव्य-सौष्ठव : जहाँ तक काव्य-सौष्ठव का सम्बन्ध है तुलसी साहित्य के जिन गुणो का हम ऊपर उल्लेख कर चुके है, वे सभी काव्य-सौष्ठव के अन्तर्गत आ जाते हैं। परन्तु काव्य के बड़े भेदो को ऊपर पृथक से लेकर यहाँ हम काव्य-

सौष्ठव के अतर्गत प्रबन्ध-पुटता, मार्मिक स्थलो और भावनाओ का चित्रण अप्रिय, अरोचक और निरर्थक प्रसगो के बचाव का ही उल्लेख करेंगे।

रामचरितमानस गोस्वामी तुलसीदास का प्रधान ग्रन्थ है और यह एक प्रबन्ध-काव्य है। ग्रन्थ के प्रारम्भ मे कवि ने कथा के प्रबन्ध की सविस्तार प्रस्तावना प्रस्तुत की है। उसके पश्चात् रामकथा का वर्णन भी प्रबन्धात्मकता की दृष्टि से अवर्णनीय है। राम का अवतार ही एक प्रयोजन को लेकर होता है और जन्म से पूर्व उस प्रयोजन का कवि ने उल्लेख किया है। जय-विजय इत्यादि की कथाएँ प्रस्तुत करके प्रयोजन प्रदर्शित किया जाता है। राम के साथ-ही-साथ रावण के आविर्भाव का भी पूरी तरह कवि ने कारण प्रस्तुत किया है। रावण के अत्याचारो से पृथ्वी त्रस्त होती है। पृथ्वी को इस त्रास से मुक्ति प्रदान करने के लिए राम अवतार लेते है।

चौथेपन तक पुत्र न होने के कारण राजा दशरथ और सभी अयोध्यावासी दुखी है। राम जन्म का स्वागत देवताओ के साथ उनका परिवार, अयोध्या की प्रजा इत्यादि सभी लोग करते है। उनका जन्म इस प्रकार माता-पिता, परिवार प्रजा और देवताओ की आवश्यकता की पूर्ति है, फिर क्यो न उनके जन्म पर ससीम मगल का सागर उमड उठता। और कवि ने इनका चित्रण भी खब किया है।

कथा का यह उठान साधारण नही है और इसका कवि ने आद्योपान्त कलात्मक और सफल निर्वाह किया है। कथा के बीच आने वाला शायद ही कोई ऐसा मार्मिक स्थल रह गया हो जिसके चित्रण मे कवि को सफलता न मिली हो। अकारण अनावश्यक स्थलो को उभार कर उनका सविस्तार वर्णन करना भी कवि का स्वभाव नही रहा। व्यर्थ की भरती के प्रसगो का कथा मे समावेश कवि ने नही किया है। कथा की रोचकता बनाये रखने के लिए कवि ने कथा के मार्मिक स्थलो का ही विस्तार के साथ चित्रण किया है।

कुछ मार्मिक स्थलो मे जनकपुर के अन्दर फुलवारी मे राम और लक्ष्मण का सीता का देखना, धनुष-यज्ञ-वर्णन, राम-वन-गमन, राम-भरत-मिलाप, सीता-हरण पर राम-विलाप, लक्ष्मण के शक्ति लगना इत्यादि है। इन प्रसगो को कवि ने सविस्तार चित्रित किया है।

जहाँ कवि ने आवश्यक प्रसगो को विस्तार दिया है, वहाँ कम आवश्यक प्रसगो का केवल सकेत मात्र देकर ही छुट्टी ले ली है। इन प्रसगो मे भरत के चित्रकूट से लौटने तथा राम के लका से लौटने के प्रसग इसी प्रकार के हैं। इसी प्रकार के अन्य बहुत से प्रसग है, जिन्हे कवि ने तूल न देकर पाठको की रोचकता मे बाधा उपस्थित नही की। जहाँ तक बन पड़ा है कवि ने अरोचक वर्णनो से अपने काव्य को मुक्त ही रखा है। अप्रिय प्रसगो की केवल सूचना मात्र देकर ही कवि ने काम चलाया है, उन्हे विस्तार से वर्णन करना उचित

नही समझा। राम-वन-गमन की बात राम से न तो दशरथ ही खुलकर कह पाये और न कैकैयी ही। कैकेयी कहती भी है तो कितने सकोच के साथ :

सुनहु राम सब कारन एहू, राजहि तुम पर बहुत सनेहू।
देन कहेहि मोहि दुइ बरदाना, माँगेउँ जो कछु मोहि सोहाना।
सो सुनि भयउ भूप उस सोचू, छाँड़ि न सकहि तुम्हार सकोचू।

सुत सनेह इत बचन उत, संकट परेउ नरेसु।
सकहु त आयसु धरहु सिर, मेटहु कठिन कलेसु।

इसी प्रकार कौशल्या के पास जाकर राम बन जाने की बात स्पष्ट न कह कर, कहते है।

'पिता दीन्ह मोहि कानन-राजू।'

अप्रिय बातो का जहाँ तक भी सम्बन्ध है कवि ने उन्हे खोलकर कहा ही नही, केवल सकेत मात्र किया है। मानस मे इस प्रकार के बहुत से प्रसग है :

कहि लखन कछु अनुचित बानी।

यह अनुचित बानी क्या कही यह कवि ने वर्णन नही किया।

१. लखन कहे कछु बचन कठोरा।
२. मर्म बचन सीता जब बोला।

अप्रिय और अकह्य बातो से काव्य को जहाँ तक भी बन पडा है कवि ने बचाने का ही प्रयास किया है।

कवि ने अपनी फुटकल रचनाओ मे भी प्रबन्धात्मकता रखने का प्रयास किया है, परन्तु प्रबन्धात्मकता का जो कलात्मक सौन्दर्य मानस मे आया है वह हिन्दी के अन्य किसी काव्य मे विद्यमान नही है।

चरित्र-चित्रण रामचरितमानस मे कवि ने देवताओ, सिद्धो, ऋषि मुनियो, भक्तो तथा दासो, राक्षसो और राम रूप स्वय परब्रह्म भगवान् का चित्रण किया है। जहाँ तक धार्मिक सिद्धातो के आधार पर ब्रह्म, भक्त और राक्षस का विवेचन है वह हम आगे चलकर प्रस्तुत करेगे। यहाँ हम केवल चरित्र-चित्रण तक ही सीमित रहेगे।

मानस मे ब्रह्मा और महेश देवता, नारद और सनकादि सिद्ध, वशिष्ठ भारद्वाज, विश्वामित्र, वाल्मीकि, शरभंग, अत्रि, अगस्त्य इत्यादि ऋषि मुनी तथा शबरी, जटायु, जामवत, सुग्रीव, अगद, हनुमान इत्यादि भक्त और मारीच, शुक, त्रिजटा, मदोदरि इत्यादि राक्षस राक्षसियो का उल्लेख है। ये सभी प्रधान पात्रो के अतिरिक्त कथा-सूत्र मे कही-कही आते है।

वशिष्ठ : वशिष्ठ सूर्यवश के पुरोहित है और राम के जातकर्म, उपनयन,

विद्यारम्भ, विवाह इत्यादि सस्कार कराते है। दशरथ की मृत्यु हो जाने पर भरत को बुलाते है। भरत की ओर से चित्रकूट जाकर रामको लौटने की सलाह देते है। भरत को राज्य-कार्य सभालने मे परामर्श देते है। राम के बन-वास से लौटने पर उनका राज्याभिषेक भी यही करते है।

विश्वामित्र यह राम को शस्त्र-विद्या सिखलाते है। जनकपुर ले जाते है। सीता से राम के विवाह मे यह कारण स्वरूप आते है। चित्रकूट से राम को लौटाने के समय भरत के साथ यह भी थे।

भारद्वाज : प्रयाग मे राम की इनसे भेट हुई। भरत को भारद्वाज ने ही इस बात का निश्चय कराया कि राम के बन जाने मे उनका कोई हाथ नही। और राम भी ऐसा ही समझते है।

वाल्मीकि वाल्मीकि ने राम का अपने आश्रम मे सत्कार किया और उन्हे चित्रकूट मे रहने का परामर्श दिया।

अगस्त्य : दण्डकवन मे राम अगस्त्य मुनि के परामर्श से ही रहे।

जटायु · सीताहरण के समय जटायु ने रावण से लडकर अपने प्राण दिये। राम को यह सूचना दी कि सीता को हरकर ले जाने वाला रावण है।

शबरी शबरी ने राम को पम्पासरोवर पर सुग्रीव से मिलने को कहा।

जाम्बवान . जाम्बवान एक कुशल सेनापति था जिसने राम की ओर से युद्ध मे रावण से मोर्चा लिया। हनुमान को लका भेजने का काम इसी का था।

सुग्रीव : सुग्रीव ने परवश सीता को वायुमार्ग से जाते देखा था। सीता ने नीचे सुग्रीव को देखकर जो वस्त्र गिराये थे उन्हे देखकर राम ने पहचान लिया कि वास्तव मे वे सीता के ही वस्त्र थे। सुग्रीव ने चारो दिशाओ को बानर सीता की खोज के लिए भेजे। ठीक पता लगने पर उसी के सैनिक नल-नील ने समुद्र पर पुल बाँधा। सुग्रीव ने स्वय भी युद्ध मे भाग लिया। कुम्भकरण के नाक-कान काटे। यह राम के विश्वासपात्र मित्र थे। राम ने इन्हे बाली को मारकर इनका राज्य तथा इनकी स्त्री दिलाई थी। मेघनाथ के वध के लिए जाते समय लक्षमण की सहायतार्थ जहाँ जाम्बवान और विभीषण थे वहा, सुग्रीव भी थे।

अंगद—अगद को दूत बनाकर राम ने लका मे भेजा था। यह चतुर व्यक्ति था। अगद का पैर रावण की भरी सभा मे कोई नही उठा सका था। रावण की बातो का आपने यहाँ मुह तोड़ उत्तर दिया था। दूत कार्य मे यह बहुत प्रवीण थे और शत्रु के गुप्त रहस्यो को जान लेने की इनमे क्षमता थी। लका-गढ़ की स्थिति का राम को अगद ने ही ज्ञान कराया। यह असाधारण वीर और साहसी थे। राम राज्याभिषेक के बाद जब यह अयोध्या से लौटे तो राम ने

अपनी माला इन्हें पहिनाई थी।

अत्रि, शरभंग, सुतीक्ष्ण इत्यादि—ये केवल राम के भक्त मात्र थे। कथा-प्रसार मे इनका कोई योग नही।

मारीच—मारीच सीता-हरण मे सहयोगी बना। स्वर्ण मृग बनकर इसी ने सीता को ललचाया ' मरते समय छल से इसी ने लक्ष्मण का नाम उच्चारा, जिससे भयभीत होकर सीता ने लक्ष्मण को राम की रक्षा के लिए भेज दिया और वह स्वय अकेली रह गईं।

शुक—यह रावण का गुप्तचर था। राम की सेना के बीच जाकर इसने उनकी शक्ति का पता लगाया और रावण को जनक-सुता के लौटाने की नेक सलाह दी।

प्रहस्त—यह रावण का ठकुर सुहाती कहने वाला मत्री नही था। इसने रावण को सलाह दी कि राम को सीता लौटा दो और सुलह की बात करो। यदि तब भी वह न माने तो डट कर युद्ध करो।

मन्दोदरी—जब सीता ने रावण का वरण करने से स्पष्ट इकार कर दिया तो रावण उसे मारने के लिए उद्यत हो गया। इस कठिन समय मे मन्दोदरी ने ही रावण को यह नीति विरुद्ध कार्य करने से रोका। उसने राम से मेल करने और युद्ध न करने की भी सलाह दी।

त्रिजटा—लका में रहने के काल मे त्रिजटा ही सीता के काम आयी। इसी से सीता उसे माता कहकर सम्बोधित करती थी। सीता को बराबर धैर्य बधाये रखने का कार्य उसी का था।

उक्त जितने भी पात्रो का उल्लेख हुआ इन सभी ने राम के चरित्र के विकसित होने मे योग दिया है। ये सभी मानस के सामान्य पात्र है। अब नीचे हम तुलसी के मुख्य पात्रो को लेंगे जिनके चरित्रो मे कवि ने समाज के मूल तत्त्वों को तिरोहित कर दिया है।

राम—राम तुलसी के इष्ट देव भी हैं और उनकी कथा के चरित्र नायक भी। राम मानस-महाकाव्य का केन्द्र है, अमृत कोष है, जिससे सभी पात्र प्राण पाते है। अन्य सब पात्र राम के ही इर्द-गिर्द चक्कर लगाते हैं। तुलसी ने राम के दैवी और मानवीय दोनो रूपो का उल्लेख किया है। मानवीय रूप के साथ-ही-साथ कवि उनके दैवी रूप का भी उल्लेख करता जाता है। राम जन्म लेते ही कौशल्या को चर्तुभुज रूप मे दर्शन देते है। माता उनसे शिशु लीला करने का अनुरोध करती है। इसके पश्चात् उनका बालरूप सामने आता है। एक बार कौशल्या उनके बालमुख मे ब्रह्माण्ड के दर्शन करती है। खर-दूषण की सेना से संग्राम मे युद्ध करते समय भी राम ने अपनी लीला का चमत्कार दिखलाया था उसी के फलस्वरूप उनकी सेना के योद्धा हर एक दूसरे को राम समझकर आपस मे कट मरे थे। जिस समय राम सीता के विरह मे बन-बन

भटकते फिर रहे थे तो मार्ग मे सती के सम्मुख अपना अलौकिक रूप प्रकट किया था। जब राम चौदह वर्ष पश्चात् अयोध्या लौटते है तो अयोध्यावासियो की मिलन उत्सुकता शात करने के लिए 'अमित रूप' मे प्रकट होते है। इसमे भी राम का अलौकिक प्रदर्शन सामने आता है। इनके अतिरिक्त अन्यत्र सब जगह हम राम के चरित्र को लौकिक मर्यादाओ के अन्दर ही पाते है। मानवीय गुणो का समावेश ही एक आदर्श नेता के समान उनके अन्दर कवि ने किया है।

गोस्वामी तुलसीदास ने अपने चरित्र नायक राम को रूपवान, शीलवान, चरित्रवान, तेजस्वी, वीर, पराक्रमी, साहसी, बडो का आज्ञाकारी, स्नेहशील, दृढप्रतिज्ञ और सर्वहितकारी गुणो से पूर्ण प्रदर्शित किया है। बचपन से ही राम अपने माता-पिता, बन्धु परिवार तथा नगर के लोगो को अपने रूप और गुण से प्रभावित करते है। दशरथ पर उनका प्रभाव होता है—

राम रूप गुण सील सुभाऊ, प्रमुदित होई देखि सुनि राऊ।

राम का रूप सभी पर मोहनी डालता था :—

चरित सील रूप गुन धामा,
तदपि अधिक सुखसागर रामा।

×

जिन बीथिन्ह बिहरहिं सब भाई,
थकित होहिं सब लोग लुगाई।

विदेह पर भी उनके सौदर्य का विलक्षण प्रभाव हुआ —

मूरति मधुर मनोहर देखी,
भयेउ बिदेह-बिदेह बिसेखी।

विश्वामित्र भी देखकर मग्न हो जाते हैं

भये मगन देखत सुख सोभा।

इसी प्रकार सीताजी राम के प्रथम दर्शन पाकर प्रेम-मुग्ध हो जाती है :

खि रूप लोचन ललचाने, हरषे जनु निज निधि पहचाने।
थके नयन रघुपति छबि देखें, पलकन्हि हूँ परिहरी निमेषें।

राम के सौदर्य का प्रभाव किस पर नही पडता। परशुराम 'मारमद-मोचन राम' को देखकर ठगे से जाते हैं। निषाद उनके रूप को देखता ही रह जाता है। वाल्मीकि और अत्री के नेत्र राम की शोभा को देखकर जड जाते हैं :

देखि राम-छबि नयन जुड़ाने।

शरभङ्गऋषि राम-दर्शन-से अपना जन्म सार्थक मानते है और उन पर भी राम के रूप का प्रभाव होता है .

देखि राम मुख-पंकज, मुनिवर लोचन भृङ्ग।
सादर पान करत अति, धन्य जन्म सरभङ्ग।

राम के रूप-सौदर्य का प्रभाव परिवार, सम्बन्धी, परिजन, मार्गवासी, देव, ऋषि, मुनियो को छोडकर राक्षस और राक्षसियो पर भी होता है। वे भी प्रभावित हुए बिना नही रहते। खर-दूषण राम के दर्शन करके अपने मत्री से कहता है :

नाग असुर सुर नर मुनि जेते, देखे जिते हते हम केते।
हम भरि जन्म सुनहु सब भाई, देखी नहिं अस सुन्दरताई ॥

शूर्पणखा के राम-सौदर्य पर लुब्ध होने का क्या-क्या गुल खिलता है यह तो रामायण की कथा से ही स्पष्ट हो जाता है। वह बेचारी तो अपना दिल ही खो बैठती है। इनके अतिरिक्त मारीच, विभीषण कोई भी ऐसा व्यक्ति नही जो राम के सम्पर्क मे आया हो और उसके नेत्रो ने राम के दर्शन करके अपने मन से उनके सौंदर्य का बखान न किया हो। राम का 'लोक-लोचन सुखदाता' के रूप मे कवि ने चित्रण किया है। जो भी उनके दर्शन करता हो, लुभा जाता है। राम को देखकर सभी कोसुख प्राप्त होता है।

जनकपुर मे राम लक्ष्मण को देखकर :

निरखि सहज सुन्दर दोउ भाई, होहिं सुखी लोचन फल पाई।

वन जाते समय :

राम लखन सिय रूप निहारी, पाइ नयन फल होहिं सुखारी।

राम का सौदर्य सागर अपार था, जिसमे सभी ने डुबकियाँ लगाई हैं। राम का यह रूप सभी को आकर्षित करता है। राम के गुणो मे, शील मे और स्वभाव मे अपार आकर्षण है।

राम की प्रकृति बचपन से ही गम्भीर है। उनके खेल भी बचपन से साधारण बच्चो के से नही होते। उनके खेल भी राजलीलाओ के से होते हैं·

खेलहिं खेल सकल नृप-लीला।

राम खेल मे भी अपने से छोटों का सर्वदा मन रखते थे। राम ने थोडी ही अवस्था मे सब विद्याएँ सीख ली था :

अलप काल विद्या सब आई।

वह वेद और शास्त्रो के मर्मज्ञ थे। वह बडो के आज्ञाकारी थे। बडो का सम्मान करते थे। प्रात:काल उठते ही .

मात पिता गुरु नावहिं माथा।

गुरुजनो की सेवा करना भी वह अपना धर्म समझते थे। विश्वामित्र के

आश्रम में देखिए

मुनिवर सयन कीन्ह तब जाई, लगे चरन चापन दोउ भाई।

बडो की आज्ञा का पालन करना राम का विशेष गुण है। सीता स्वयवर मे भी राम धनुष उठाने के लिए उस समय तक नही उठते, जब तक विश्वमित्र उन्हे आज्ञा नही देते। पिता की आज्ञा-पालन करने का तो उन्होने आदर्श ही स्थापित कर दिया है। अयोध्या का राज्य छोडकर वह वन का राज्य लेते है और प्रसन्नतापूर्वक गुरुजनो को प्रणाम करके वन को प्रस्थान करते है।

राम सुख-दुख मे एक से रहने वाले धैर्यशाली पात्र है। उनका धैर्य और शील अटूट हे। उनके गाभीर्य को कही पर भी ठेस नही लगती। कठिन-से-कठिन समय और परिस्थिति आने पर भी राम का साहस नही छूटता और वह अपने आदर्श और कर्तव्य पर दृढ रहते है

हरष-विषाद न कछु उर आवा।

सीता के हरण और लक्ष्मण के शक्ति लग जाने पर मानवोचित विलाप और प्रलाप भी कवि ने चित्रित किया है। परन्तु उसमे क्या पात्र की दृढता मे कोई अन्तर आता है ? वह तो कर्तव्य पर पहले की ही भाँति आरूढ है। कवि ने राम को जहाँ एक ओर कुलिस से भी कठोर बताया है वहाँ दूसरी ओर सहृदयता का भी सागर उसके अतर मे हिलोरे मारता है

कुलिसहु चाहि कठोर अति, कोमल कुसमहु चाहि।

उनका स्मरण करके चित्रकूट पर राम दुखित होते है। अयोध्या से चलते समय उनका मुस्कराता हुआ रूप अपने अन्दर किस कष्ट को छुपाये है, इसका स्पष्टीकरण यहाँ आकर होता है। भरत, माता और गुरुजनो को वन से निराश लौटते समय भी उनका हृदय भारी हो उठता है। कर्त्तव्य-परायण होने के कारण और पिता की आज्ञा को पालन करने के कारण वह अयोध्या न लौट सके :

प्रभु सिय लखन बैठि बटु छाँही, प्रिय परिजन वियोग बिलखाहीं

तुलसी का पात्र राम अपने दुख मे दुखी होने वाला मानव है, परन्तु जब किसी अन्य को दुख मे देखता है तो वह अपने कष्ट को भूल जाता है और उसके कष्ट-निवारण का प्रयास करता है। सुग्रीव की कष्ट-गाथा सुनकर राम द्रवित हो उठता है और अपने बल तथा नीति के प्रयोग से बाली को मारकर सुग्रीव को सिंहासनारूढ करता है।

कर्त्तव्य की दिशा मे राम सर्वदा निर्भय और निर्मोही होकर चलता है। जब कर्त्तव्य सामने होता है तो 'जहाँ तक भी नेह और नाते' होते हैं, वह उन सबको भुला देता है। रावण ने सीता को चुराया तो राजा का यह कर्त्तव्य था कि वह उसे रावण से मुक्ति दिलाये और इस कर्त्तव्य की पूर्ति राम ने की, अपने बल पराक्रम

के प्रयोग से की और अपनी नीति-कुशलता, सगठन-शक्ति, साहस और योग्यता के बल पर की। राम और लक्ष्मण, केवल दो व्यक्तियो ने जगल मे साथी बनाकर सेना एकत्रित की ओर रावण को विजय करके माता सीता को मुक्त कराया। इसके पश्चात् सीता की अग्निपरीक्षा ली। सती स्त्री की समाज मे मान्यता स्थापित करने का इससे सुन्दर उदाहरण और नही दिया जा सकता। ये दैवी आदर्शो की बाते है। तुलसी ने राम को कर्त्तव्यपरायण आदर्श मानव के रूप मे चित्रित किया है। राम का जीवन मर्यादावादी आदर्शवाद का प्रतीक है।

तुलसी का राम एक उदार व्यक्ति है जो दिल का बादशाह है। उसे बादशाह बनने के लिए सल्तनत की आवश्यकता नही है। पिता वन का राज्य देते है तो वह प्रसन्नता-पूर्वक ग्रहण कर लेता है। भाई भरत के लिए अयोध्या का राज्य त्यागते हुए राम के मुख पर मुस्कराहट ही दिखलाई देती है, उसे तनिक भी कष्ट नही है। सुग्रीव के लिए बाली को राम मारते है और उसका पूर्ण राज्य उदारता-पूर्वक सुग्रीव को दे देते है। इसीप्रकार लका का राज्य भी वह विभीषण को देकर वहाँ के राजा और वहाँ की प्रजा को अपनी उदारता से अपना दास[1] बना लेते है। किसी का राज्य हडपने की राम को लालसा नही। उसके मन मे कही भी मोह पैदा होता ही नही।

बडो का आदर करने की भावना तो राम मे इस प्रकार है कि कुछ पूछो ही नही। अहम भाव तो मानो उसे छू तक नही गया। उसने दनुजो पर विजय प्राप्त की तो उस बल-पराक्रम का श्रेय भी उन्होने गुरु वशिष्ठ को ही सादर समर्पित कर दिया है

गुरु वसिष्ठ कुल पूज्य हमारे, इन्ह की कृपा दनुज रन मारे।

राम अपने साथियो को उचित आदर देता है और अपने किसी भी कार्य की सिद्धि वह केवल अपने पराक्रम के फलस्वरूप नही मानता। हनुमान जब राम को सीता का पता देते है तो राम कृतज्ञता प्रकट करते हुए अपने को उनका ऋणी मानते है।

राम का पात्र एक स्त्री-व्रतधारी है, जिसकी कल्पना मे इस ससार के अन्दर एक ही स्त्री से उनका सम्बन्ध स्थापित हो सकता है। उसके स्वप्न, प्रत्यक्ष और परोक्ष मे केवल सीता की ही कल्पना स्थिर होती है। सीता के दुबारा बनवास होने पर धनुष यज्ञ के समय राजा के साथ उसकी रानी का स्थान सीता की स्वर्ण मूर्ति को दिया जाता है। आदर्श की पराकाष्ठा है। शूर्पणखा का सौन्दर्य राम को अपनी और आकर्षित न कर सका। राम इस दृष्टि से भारतीय

---

१. 'दास' शब्द का प्रयोग हम तुलसी की दास्य-भक्ति-भावना से अनुप्राणित व्रत के लिए कर रहे हैं।

सस्कृति का आदर्श पति हैं ।

राम को अपने परिवार की प्रतिष्ठा पर गर्व है ·

रघुवसिन्ह का सहज सुभाऊ, मन कुपथपग धरहिं न पाउं ।

राम के हृदय मे कोमलता थी, दया थी, वीरता थी, दृढता थी, कर्त्तव्य परायणता थी, योग्यता थी, बुद्धिमत्ता थी, नीति थी और अच्छे-बुरे को समझने की क्षमता थी । कठिन से कठिन समय पर भी आदर्श और कर्त्तव्य को निभाने की वह महान् वृत्ति थी कि जिसे जीवन मे सर्वदा ही सफलता मिली । राम का सम्पूर्ण जीवन कर्त्तव्य की कसौटी पर कसा गया है । बडा भाई होने के नाते राज्य-सम्बन्धी जिम्मेदारियो को निभाने की उसमे क्षमता थी । पिता के बनवास देने पर जगल को मगल बनाने और रावण तथा बाली जैसे वीरो को मारकर विभीषण और सुग्रीव जैसे अपने भक्तो को उनके स्थानो पर स्थापित करने की उनमे क्षमता थी । चौदह वर्ष पश्चात् वन से लौटे तो उनका भाई भरत अयोध्या से बाहर आकर उनका स्वागत करता है । उनका राज्याभिषेक होता है और वह राम-राज्य स्थापित करते है ।

राम तुलसी का वह शक्तिशाली पात्र है कि जिसके गुणो पर रीझकर कवि को उसमे परब्रह्म की शक्ति दिखलाई देती है । राम ने अपनी शक्ति का प्रयोग लोक-रक्षा के लिए किया है । चित्रकूट पर जगह-जगह 'अस्थि समूह' देखकर और ऋषि मुनियो से उसका रहस्य जानकर वह प्रण करते है कि वह भूमि को निशाचर-विहीन करेंगे । देव, दनुज और बाणासुर तथा रावण जैसे योद्धाओ से न टूटने वाले धनुष को राम इस प्रकार तोड डालते है मानो वह कोई कठिन कार्य ही नही है । परशुराम भी उनकी शक्ति सत्ता के नीचे दब जाते है । खर-दूषण की सेना पर विजय प्राप्त करना और रावण जैसे शक्तिशाली राजा के यहाँ से विजयी होकर सीता को लाना राम का ही काम था ।

राम सहनशील और गम्भीर व्यक्ति थे । परशुराम और रावण के अहकार को चूर्ण करके भी कभी उनके अन्दर हमे अहकार की रेखा दिखलाई नही देती । आपत्ति काल मे अविचल रहकर कर्त्तव्य को निभाने वाला यह वीर था । राम का चरित्र भावनात्मक चरित्र नही है, कर्त्तव्य उसकी कसौटी रहता है । अश्वमेघ यज्ञ मे राजा राम की सहधर्मिणी सीता की अग्निपरीक्षा के आदर्श को देखकर राम के दृढ व्रत के समक्ष कौन वह विचारक तथा पति है जो नतमस्तक न हो उठेगा ।

भरत—राम के पश्चात् मानस मे हमारे सामने भरत का चरित्र आता है, जो एकांगी होने पर भी कर्त्तव्य-परायणता को आद्योपात निभाकर चलता है ।

तुलसी का भरत राम-भक्त है, पिता-भक्त है और इसी नाते जब वह अपनी सगी माता को उनके प्रतिकूल पाता है और उसके फलस्वरूप वह देख चुका है कि राम वन को चले गए और पिता का स्वर्गवास हो गया, तो वह अपने को न रोक

सँका और माता के प्रति हृदय में ग्लानि लेकर कहता है .

हस बसु दसरथ जनकु, राम लखन से भाइ।
जननी तू जननी भई, बिधि सन कछु न बसाइ ॥

जहाँ एक ओर राम जब अपने वन-गमन की बात सुनते है तो सन्तोष प्रकट करते हुए प्रसन्नता-पूर्वक कहते हैं

तात वचन पुनि मातु हित, भाइ भरत अस राउ।
मो कहुँ दरस तुम्हार प्रभु सब मम पुण्य प्रभाउ ॥

मानो इससे अधिक प्रसन्नता का कोई अवसर ही राम के लिए नही हो सकता। यही सूचना जब कैकेई से भरत को मिलती है तो

सुनि सुठि समेउ राजकुमारू। पान छत जनु लाग अँगारू ॥
धीरजु धरि भरि लेहि उसासा। पापिनि सबहिं भॉति कुल नासा ॥

जौं पै कुरूचि रही अति तोही। जनमत काहे न मारेहि मोही ॥
पेड़ काटि तै पालउ सींचा। मीन जियन हिति बारि उलीचा ॥

भरत का जीवन ठीक उसी प्रकार इस घटना से बदल जाता है जिस प्रकार कि राम का। वह राज्य को उतनी ही आसानी से ठुकरा देता है जितनी आसानी से राम राज्य त्याग कर वनवास के लिए प्रस्थान कर गये।

वह राम को राज्य-कार्य सभालने के लिए बुलाने जाते है। परन्तु कर्त्तव्य-परायण राम पिता के वचनो का पालन न करना सहन नही कर सकते।

भरत राम के आदर्श के सम्मुख नतमस्तक होते है और त्यागव्रत लेकर राम की खडाऊँ को सिंहासनारूढ करके चौदह वर्ष राज्य-कार्य सभालते है :

सुनि सिख पाइ असीस बड़ि, गनक बोलि दिन साधि।
सिंहासन प्रभुपादुका, बैठारे निरुपाधि ॥

भरत राजा बनते हैं परन्तु रहते हैं एक तपस्वी की तरह। भरत के बाल-काल का वर्णन कवि ने केवल इतना ही किया है कि अपने भाइयो के साथ रह-कर खेलते-कूदते तथा विद्या अध्ययन करते और राम से वेद शास्त्र सुनते थे। जनक का पत्र दशरथ के पास आने का समाचार पाकर वह दरबार मे पहुँचते हैं। राजा दशरथ पत्र पढकर उन्हे सुनाते हैं। पत्र सुनकर भरत आनन्द-विभोर हो उठते हैं। दशरथ भरत को राम की बारात मे चलने को कहते हैं और वह अपने हमउम्र साथियो को साथ ले घोडो पर चढकर तैयार हो जाते है। राम के विवाह के पश्चात् उनका भी विवाह राजा जनक के छोटे भाई की पुत्री माण्डवी से हो जाता है। इसके पश्चात् वह अपने मामा के यहाँ चले गए। इसकी मानस मे सूचना मात्र है।

राम जब चौदह वर्ष पश्चात् अयोध्या को लौटते है तो उन्हे भरत उतने ही बडे त्यागी के रूप मे मिलता है कि जितना वह उस समय था जब राम को वन से राज्य सभालने के लिए बुलाने गया था। जल मे रहते हुए भी वह कमल के समान जल से ऊपर था। राज्य का लोभ, सत्ता का नशा उसे छू तक नही गया था। राम की धरोहर के रूप मे उसने यह सत्ता सँभाली थी, उसी रूप मे उनके सामने कर दी।

भरत का राम-भक्त स्वरूप गोस्वामी तुलसीदास ने चित्रित किया है। उसका सब कर्त्तव्य, सब भावना, सब चिंतन, सब त्याग और सब तपस्या उसी ओर अग्रसर होती है।

भरत के चरित्र के प्रति किसी को भी सदेह नही होता। जब भरत माता कौशल्या से मिलने जाते है और सरल स्वभाव से कहते है कि इस सब घटना का उन्हे भान नही है। माता उन्हे अपने राम की तरह छाती से लगाती है :

सरल स्वभाव माया हिय लाये, अति हित मनहुँ राम फिर आये।

भरत उन्हे राम के ही समान प्यारे थे। वह जानती थी कि उन दोनो मे कितना प्रगाढ प्रेम है

राम प्रानहुँ तें प्रान तुम्हारे। तुम्हे रघुपतिहिं प्रानहुँ ते प्यारे।
विधु विष चवइ स्रवइ हिम आगी। होइ बारि चर बारि बिरागी॥
भये ग्यान बस मिटइ न मोहू। तुम्ह रामहिं प्रतिकूल न होहू।
मत तुम्हार यहु जो जग कहहीं। सो सपुनेहुँ सुख सुगति न लहहीं॥

माता कौशल्या ही क्या नगर के शिष्ट पुरुष भी जब खल पुरुषो को यह कहते सुनते थे, कि हो सकता है राम को बनवास दिलाने मे भरत का भी हाथ हो तो वे उसे सहन नही कर सकते थे और दृढ शब्दो मे उत्तर देते थे :

चन्दु चवै बरु अनल-कन, सुधा होइ विषतूल।
सपनेहु कबहुँ न करहिं किछु, भरत राम प्रतिकूल॥

भरत को कौशल्या, वशिष्ठ तथ अयोध्या की जनता ने निर्दोषी माना और भरत के खिलाफ किसी के मन मे कोई शिकायत भी नही थी। भरत का चरित्र राम से कम त्यागी नही है। त्याग की दिशा मे भरत महान है परन्तु जैसा कि हम ऊपर सकेत कर चुके है भरत के जीवन का केवल यही पहलू रामायण मे उभर आया है। जिस प्रकार राम के जीवन का सर्वांगीण विकास मिलता है, वह यहाँ नही है कारण यही है; कि कथा का नायक राम है, भरत नही और भरत का चरित्र भी वही तक आता है, जहा तक उसका राम के चरित्र के विकास मे योग मिलता है।

लक्ष्मण—लक्ष्मण के चरित्र का भी एक ही पहलू है, एक ही दृष्टिकोण है

और वह है आँखें मीचकर भाई के पीछे चलना, अपने दिमाग का बहुत कम प्रयोग करना। लक्ष्मण बाल्यावस्था से ही राम पर आत्म-समर्पण कर देता है। उसका राम मे सहज स्नेह था। राम के सकेत पर चलना उसने सीखा था और इसी मे वह निपुण था। रामाज्ञा के सामने उसका मस्तिष्क कुछ सोच ही नही सकता था।

स्वभाव से लक्ष्मण आवेश मे आ जाने वाला था। वह किसी का क्रोध सहन नही कर सकता था। परशुराम के क्रोध-पूर्ण शब्दो को सुनकर उसका खून खौला परन्तु रामाज्ञा के शीतल छीटे ने उसे शात ही बनाये रखा।

राम को बनवास होता है तो लक्ष्मण बडे भाई और भाभी की सेवा के लिए वन को साथ जाता है। उनकी सेवा मे त्यागी लक्ष्मण अपने जीवन का यौवन स्त्री को भुलाकर काट देता है। बडे भाई की हर आज्ञा का पालन करता है। युद्ध मे शक्ति खाकर बेहोश होता है तो वही मेघनाद को, जिसे कोई विवाहित व्यक्ति नही मार सकता था, रण मे मृत्यु के घाट उतारता है। वह विवाह होने पर भी ब्रह्मचारी है। लक्ष्मण एक वीर योद्धा है जो राम की आज्ञा पाकर पहाड मे टकरा सकता है, समुद्र को पाट सकता है और अमिट को मिटा सकता है। उसकी शक्ति को राम जानता है। सीता की अग्निपरीक्षा के लक्ष्मण विरुद्ध था, परन्तु रामाज्ञा के सामने वह कुछ नही कर सकता था।

दशरथ—दशरथ पौराणिक कथा के आधार पर पहले जन्म के मनु थे। उन्होने तप किया और सिद्धि प्राप्त की। भगवान से इन्होने वरदान मे उन्ही के समान पुत्र का वरदान माँगा।

दशरथ के प्राण राम मे अटके हुए थे। कैकेई के वरदान माँगने पर भी दशरथ ने उसे समझाकर कहा कि 'तू भरत के लिए राज्य माँग ले परन्तु राम को वनवास न माँग।' जब कैकेई किसी प्रकार न मानी तो वह कहते हैं :

काहे करसि निदान।

कैकेई को अपने प्रण पर दृढ देखकर राजा दशरथ बेचैन हो उठते है।

राम-राम रट विकल भुआलू,
मनि बिहीन जिमि व्याकुल व्यालू।

सुमन्त के लौटने तक वह राम के लौटने की राह देखते है। परन्तु जब वह नही लौटते तो दशरथ के लिए इतनी लम्बी अवधि के लिए जीवित रहना असम्भव हो गया .

राम-राम सिय लखनु पुकारी। परेउ धरनि तल व्याकुल भारी।

इस प्रकार दशरथ राम-विरह मे ही अपने प्राण त्याग देते है।

दशरथ के जीवन का दूसरा दृष्टिकोण यह भी है कि यह पात्र अपनी 'रघुकुल

रीति सदा चलि आई, प्राण जाएँ पर वचन न जाई।' वाली लीक को भी छोड़कर चलने वाला नही है। उसी पर चलना वह अपना कर्त्तव्य समझते है। स्त्री को दिये गए वचन वह अवश्य पालन करते है और इस प्रकार परिवार का रास्ता ही बदल जाता है। दशरथ के पुत्र मे कवि ने पुत्र-प्रेम और व्रत-पालन के बीच जिस सघर्ष का चित्रण किया है, वह मनोविज्ञान की दृष्टि से बहुत ही उत्कृष्ट श्रेणी का हुआ है। पुत्र-प्रेम मे दशरथ अपने कुलदेव सूर्य से प्रार्थना करते है कि हे देव ! तुम आज उदय ही न हो, जिससे सवेरा न हो और राम वन को न जायें। अन्त समय तक दशरथ के मुख से राम के वन जाने की बात नही निकलती। दशरथ का चरित्र एक कर्त्तव्य-परायण राजा तथा पिता का है।

सीता—राजा जनक की पुत्री सीता का राम के साथ विवाह होता है। स्वयवर मे राम शिव-धनुष को तोडकर सीता-स्वयवर मे उन्हे प्राप्त करते है। सीता का रूप और उसके गुण सभी को आकृष्ट करते है। वह ब्याह कर अयोध्या आती है तो राम को वनवास मिलता है। सीता को वनवास नही दिया गया परन्तु वह राम के बिना यहाँ महलो मे रहकर आनन्द का जीवन नही बिता सकती। कौशल्या सीता को सब प्रकार रोकने का प्रयास करती है, परन्तु सीता किसी प्रकार भी तैयार नही होती। राम सीता को वन की भयानकता का ज्ञान कराते है और उस भयानकता से सघर्ष करने के लिए सीता को सुकुमारि कहते है

भूमि सयन, बलकल बसन, असन कंद फल मूल।
तेकि सदा दिन मिलहिं सबइ समय अनुकूल॥

नर अहार रजनीचर चरही। कपट बेस विधि कोटिक करहीं॥
लागई अति पहार कर पानी। बिपिन बिपति नहि जाइ बखानी॥
ब्याल कराल बिहँग बन घोरा। निसिचर निकर नारि नर चोरा॥
डरहि धीर गहन सुधि आये। मृगलोचनि तुम्ह भीरु सुभाये॥
हँस गवनि तुम्ह नहिं बन जोगू। सुनि अपजसु मोहि देइहि लोगू॥

राम के ये वचन सुनकर सीता के नेत्रो मे जल उमड़ आता है। वह बरबस आँसुओ को रोककर सास कौशल्या के पैर छूकर कहती है :

छमबि देव बड़ि अविनय मोरी।

दीन्हि प्रानपति मोहि सिख सोई, जेहि विधि मोर परम हित होई॥
मै पुनि समुझि दीखि मन माही, पिय-बियोग सम दुख जग नाहीं॥
जहँ लगि नाथ नेह अरु नातें। पिय बिनु तियहि तरनिहु ते ताते॥
तन धन धाम धरनि पुरराजू। पति बिहीन सब सोक समाजू॥
भोग रोग सम भूषण भारू। जम-जातना-सरिस संसारू॥
प्रान नाथ तुम बिन जग माहीं। मो कहँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं॥

सीता राम के साथ वन को जाती है और सहधर्मिणी होना सार्थक करती है। किसी का भी समझाना-बुझाना उसे पति-सेवा से नही रोक पाता। लाड़-प्यार मे पली सीता भी सुख, भोग, महल, आभूषण तथा राजकीय ठाठ-बाट से उसी प्रकार उदासीन हो जाती है जिस प्रकार राम।

रावण द्वारा चुराई जाने तथा भयभीत की जाने पर भी सीता अपने दृढ पतिव्रत धर्म को नही छोडती। अग्निपरीक्षा में निर्मल-स्वर्ण के समान वह दमकती हुई बाहर निकलती है। सीता एक आदर्श भारतीय नारी है, जिसने अपने जीवन का सर्वस्व अपने पति देवता के चरणो मे समर्पित कर दिया है। सीता का जीवन त्याग और तपस्या का जीवन है।

कौशल्या—राम की माता कौशल्या का चरित्र बहुत निर्मल है। वह दशरथ के चारो बेटो को एक-सा प्यार करती है। राम-बनवास की बात सुनकर वह भयातुर होती है। परन्तु तुरन्त धैर्य धरकर उस आपत्ति को सहन करने के लिए उद्यत हो जाती है। कर्त्तव्यपरायण कौशल्या कोई भी शब्दमुख से ऐसा नही निकालती कि जो प्रेम के आवेश मे आकर दशरथ की मर्यादा को ठेस पहुंचाए। राम माता से आकर कहते है :

पिता दीन्ह मोहि कानन राजू। जहँ सब भाँति मोर बड काजू॥
आयसु देहि मुदित मन माता। जेहि मुद मगल कानन जाता॥
जनि सनेह बस डरपसि भोरे। आनँदु अब अनु ह तोरे॥

कितने सरल स्वभाव से राम ने बन-गमन की बात कही परन्तु यह बात कौशल्या के हृदय मे तीर के समान लगती है

बचग बिनीत मधुर रघुबर के। सर सम लगे मातुउर करके॥

× × ×

कहि न जाइ कछु हृदय विषादू। मनहु मृगी सुनि केहरि नादू॥

यह समाचार पाकर कौशल्या का हृदय विदीर्ण हो जाता है वह समझ नही पाती कि आखिर दशरथ ने यह सब क्यो किया। तब सचिव-सुत राम के सकेत पर सब बात समझाकर कहता है। कौशल्या सब कुछ सुनकर भी धैर्य नही खोती और दृढ़ व्रत धारण करके कहती है .

तात जाऊं बलि कीन्हेहु नीका, पितु आयसु सब धरम क टीका॥

कौशल्या एक बुद्धिमान स्त्री है। कैकेयी ने राम के लिए बनवास माँगा तो इसका भरत से भला क्या सम्बन्ध था। भरत को कौशल्या राम के समान ही प्रेम करती थी और यह जानती थी कि उस समस्त कुचक्र मे भरत का कोई हाथ नही है।

कौशल्या जहाँ एक ओर कठोर माता होकर राम को वन जाने की आज्ञा

दे देती है वहाँ उसकी कठोरता उसके हृदय का शूल बन जाती है जो हर समय कसकती रहती है। वह भरत से कहती है कि राम जैसे पुत्र के वन जाने पर भी मेरा हृदय विदीर्ण नही हुआ, मै कितनी कठोर हृदय वाली हूँ।

कौशल्या दशरथ को भी धैर्य बँधाने का प्रयास करती है। कौशल्या के जीवन मे कवि ने उदारता और धैर्य का सुन्दर सामजस्य स्थापित किया है।

हनुमान—हनुमान को पवन-पुत्र कहा जाता है। अयोध्या के परिवार के बाहर का यही एक व्यक्ति है जो राम के साथ-साथ पूजनीय माना गया है। हनुमान ने अपनी सेवा वृत्ति से ही भारतीय जनता के हृदयो पर शासन स्थापित किया है। वह राम के अनन्य भक्त थे और उनकी सेवा ही अपने जीवन का लक्ष्य बना चुके थे।

हनुमान मे अपार शक्ति थी। उन्होने लंका मे जाकर सीता की खोज की और अपनी अकेले की शक्ति से लका को दहला दिया। हनुमान की वीरता की छाप रावण के हृदय पर भी है और वह उसका अगद के सामने वर्णन करता है अकेले लका को जलाना हनुमान के ही बूते की बात थी। फिर लक्ष्मण के शक्ति लगने पर सज्जीवनी बूटी लाने का कार्य भी उसी का था। हनुमान ने जो भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया वह सब रघुनाथ की ही कृपा का फल था, उसमे कभी भी उन्होने अपनी शक्ति अथवा योग्यता की झलक देखने का प्रयास नही किया।

हनुमान एक दृढ-प्रतिज्ञ, साहसी, आज्ञा पालक तथा कर्त्तव्य परायण पात्र है। जिसके जीवन का लक्ष्य 'राम सेवकाई' मात्र था और उसने इस टेक को अद्योपात निभाया है।

विभीषण—विभीषण रावण का छोटा भाई था। रावण के दुर्व्यवहारो से तग आकर तथा राम भक्ति से प्रभावित होकर वह राम की ओर आ गया था। विभीषण लका के रहस्यो को जानता था और उसके सकेतो पर राम को अपना कार्य सचालित करने मे योग मिलता था। हनुमान को भी सीता का पता वही से मिलता है। लक्ष्मण के शक्ति लगने पर वैद्य की वही सूचना देता है।

रावण की मृत्यु के पश्चात् राम लका का राज्य विभीषण को सौपकर अयोध्या को लौटते है।

विभीषण राम भक्त है। बस इसके अतिरिक्त तो यदि उसके चरित्र के दूसरे पहलू को लिया जाय तो वह देशद्रोही ठहरता है। भाई-द्रोही ठहरता है। इन्ही दो शब्दो मे उसका चरित्र छुपा हुआ है।

सारांश : गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओ मे साहित्यिक अभिव्यक्ति पूर्ण रूपेण है। उनके साहित्य मे बौद्धिकता, भावनात्मकता, काव्य कला और शैली का सुन्दर तथा सौष्ठव स्वरूप देखने को मिलता है। तुलसी का नायक राम मर्यादा पुरुषोत्तम है। वह भावना के बहाव मे बहकर मर्यादा के बन्धन नही तोड़ता। समाज के नियमों और आदर्शों का पालन करता हुआ वह कर्त्तव्य की

राह पर अग्रसर होता है। तुलसी समस्याओ का स्पष्टीकरण भावनात्मक ढग से नही करते वरन् बुद्धि की कसौटी पर ही उसे कसते है। भक्त कवि होने पर भी गोस्वामी तुलसीदास ने वेद-शास्त्रो द्वारा प्रवर्तित आध्यात्मिक विचारो को ही मान्यता दी है। धार्मिक सिद्धान्त के क्षेत्र मे भक्ति और ज्ञान का समन्वय स्थापित करना कवि की बौद्धिकता का एक ज्वलत उदाहरण है।

तुलसीदास जी की कविता मे जहाँ बौद्धिक पक्ष इतना प्रबल है। वहाँ हम देखते है कि भावनात्मक पक्ष को भी उभारने मे कवि ने कुछ कम कुशलता से काम नही लिया है। यह सत्य है कि तुलसी की भावनात्मकता 'सूर' की भावनात्मकता के समक्ष नही रखी जा सकती परन्तु उसमे भी मार्मिक स्थलो को परखने की अद्वितीय क्षमता विद्यमान है। भावनात्मक स्थलो को कवि ने खूब रच रचकर चित्रित किया है। बाल रूप का सुन्दर वर्णन है। कौशल्या अपने लाडलो को पालने मे झुलाते हुए भावना मे बह जाती है। भावनात्मक स्थल कौशल्या के जीवन मे विशेष रूप से कवि ने उभारे है। सीता का राम के साथ वन गमन भी भावना के उद्दीपन के लिए एक विशेष अवसर है और फिर सीता हरण पर राम की जो दशा होती है वह तो चरम सीमा है भावनात्मक उद्रेक की। राम वियोग मे राम के घोडो की दशा का चित्रण कवि ने भावनात्मक ढंग से किया है। जनक की फुलवारी मे राम और सीता का भावनात्मक आकर्षण अवर्णनीय है। राम वन गमन के अवसर पर मार्ग मे मिलने वाले नर नारियो की भावना को भी कवि ने बहुत कलात्मक रूप से जगाया है। तुलसी वास्तव मे एक सफल चितेरा है मानव की बौद्धिक विचारधारा तथा भावनात्मक उद्रेको का। राम अपने भावो को मर्यादा से बाहर नही ले जा सकता यही तुलसी के चित्रण की खूबी है और तब भी वह पाठको को द्रवित न कर पाता हो, ऐसी बात नही है। तुलसी ने भावना पक्ष को बुद्धि पक्ष के ही समान मर्यादा मे बाँधकर सचालित किया है।

रसात्मकता भी तुलसी के काव्य मे कम नही है। तुलसी के साहित्य मे हमे काव्योचित सभी रसों का कही न कही समावेश मिलता है। श्रृंगार के दोनो पक्षो को कवि ने बडी ही कुशलता से निभाया है।

तुलसी के साहित्य मे छद योजना भी बहुत निखरी हुई तथा परिमार्जित है। आपके प्रयोगों मे केवल मात्र, गण और वर्णो का ही चमत्कार नही है और न केवल कवि ने छंद विधान की पाबन्दियो तक ही अपने को सीमित कर दिया है वरन् उसमे लय और ताल भी निनादित होते है। गोस्वामी तुलसीदास जी एक मर्मज्ञ गायक भी थे, इसीलिए उनकी कविता मे कवित्व और सगीत का सामजस्य स्थापित हुआ है।

बौद्धिकता, भावनात्मकता, रस योजना, छद विधान के अतिरिक्त जहाँ तक शब्द शक्ति के प्रयोगो का सम्बन्ध है गोस्वामी तुलसीदास को हम इस दिशा मे

सबसे अग्रगण्य मानते है। गोस्वामी जी का भाषा पर ऐसा अधिकार था कि मानो भाषा उनकी चेरी के रूप मे कार्य करती थी। कवि ने अधिकाश रूप मे अभिधा शक्ति-मूलक शब्दो का ही प्रयोग किया है। लक्षणा और व्यजना का भी कवि ने उपयुक्त अवसरो पर प्रयोग किया है।

काव्य के उक्त गुणो के अतिरिक्त उनकी रचनाओ मे हमे प्रबन्ध-पटुता, धार्मिक स्थलो को चित्रित करने की क्षमता तथा अप्रिय, अरोचक और व्यर्थ चीजो को छोड देने की निखरी बुद्धि के भी दर्शन होते है।

जहाँ तक चरित्र-चित्रण का सम्बन्ध है, उसमे कवि को विशेष रूप से सफलता मिली है। राम उनका नायक है। भरत, लक्ष्मण, दशरथ, कौशल्या, सीता तथा हनुमान प्रधान पात्र है तथा गौण पात्रो मे बहुत से है। जिनका समयानुकूल कवि ने चित्रण किया है।

५ | तुलसी का आध्यात्मिक तत्त्व निरूपण

दार्शनिक दृष्टिकोण गोस्वामी तुलसीदास जी के दार्शनिक दृष्टिकोण पर विचार करने से पूर्व अन्य विद्वानो द्वारा उस पर डाले गए प्रकाश पर एक दृष्टि डाल लेना उचित होगा। गोस्वामी जी के दार्शनिक दृष्टिकोण को स्वतत्र विचार से परखने का प्रयास हमे कम विद्वानो मे मिलता है। अधिकाश विद्वानो के पहले एक धारणा बना ली है और फिर तुलसी-साहित्य के अन्दर अपने मत की पुष्टि के भाग खोज-खोजकर उन्हे बल देने का प्रयास किया है। उन विद्वानो का यह प्रयास चाहे उनके मत को पुष्टि मे कितना ही बडा योग क्यो न दे सका हो परन्तु इससे कवि के दृष्टिकोण तक पहुँचने मे कहा तक योग मिला है यह कहना कठिन है। इस प्रकार के विद्वानो के कुछ उद्धरण राजपति दीक्षित जी ने अपनी पुस्तक 'तुलसीदास और उनका युग' मे इस प्रकार दिए हैं·

"दावे के साथ कहा जा सकता है कि शकर-अद्वैत के विरुद्ध पड़ने वाले साम्प्रदायिक विचार रामायण मे हैं ही नही।"[1]

—महामहोपाध्याय गिरधर शर्मा

"रामायण मे कई जगह शकराचार्य का मत ग्रहण किया गया है।"[2]

—प्राच्य विद्यार्णव नगेन्द्र वसु

"मानस की अतरग और बहिरग परीक्षा करने का यही फल मिला है कि गोस्वामी जी का दार्शनिक विचार विशुद्ध अद्वैतवाद ही है।"[3]

—रामायणी विजयानन्द त्रिपाठी

बाबू श्यामसुन्दरदास जी तुलसी के दर्शन को अद्वैत से मिलता-जुलता

---

१. 'तुलसी ग्रन्थावली' तृतीय खण्ड, पृ० १२७।

२. 'हिन्दी विश्वकोष' भाग ६, पृ० ६८६।

३. 'कल्याण' जुलाई १९३७—लेख गोस्वामी श्री तुलसीदास के दार्शनिक तत्व

मानते हैं। डा० पीताम्बर बडथ्वाल का भी यही मत है। 'गोस्वामी जी को मायावाद और शकराचार्य के मायावाद मे भेद दिखलाई देता है। शकराचार्य माया का आस्तित्व ही नही मानने किन्तु तुलसी राम के बल पर उसका अस्तित्व मानते है।'[१]

"परमार्थ-दृष्टि से, शुद्ध ज्ञान दृष्टि से तो अद्वैत मत गोस्वामी जी को मान्य है, परन्तु भक्ति के व्यवहारिक सिद्धान्त अनुसार भेद करके चलना वह अच्छा समझते है।"[२]

.. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

डा० बलदेव प्रसाद जी को भी यह कथन मान्य है।

"यो तो गोस्वामी जी की सामान्य बुद्धि सभी दार्शनिक सिद्धान्तो मे अविरोध देखती है, सभी को यथास्थान महत्त्व देती है और सभी पक्षो का समर्थन करती है, पर उनके प्रस्थान के अनुरोध तथा ग्रन्थ के उपक्रम तथा उहसहार के विचार से द्वैत सिद्धान्त और भक्ति-पक्ष मे ही उसका (दार्शनिक दृष्टिकोण का) पर्यवसान प्रतीत होता है।"[३]

—पं० केशव प्रसाद मिश्र

राजपति दीक्षित जी द्वारा सकलित उक्त उद्धरणो को देखकर स्पष्ट पता चल जाता है कि इन महानुभावो ने अपने मत की पुष्टि-मात्र के लिए कुछ कवि की पक्तियो को चुनने का प्रयास किया है। कवि की स्वतत्र विचारधारा समन्यवादी विचारधारा, भारतीय दर्शन के बिखरे हुए विचारो को एक सूत्र मे पिरोने की विचारधारा की ओर ध्यान नही दिया। हम राजपति जी के मत से यहाँ सहमत हैं कि कवि-सम्राट तुलसी किसी दार्शनिक सिद्धान्तो को एक विचारक के नाते निरखा-परखा है। किसी विशेष साम्प्रदायिक मान्यता का आँखें बन्द करके प्रतिपादन नही किया।

तुलसी ने स्वतत्र रूप से प्राचीन शास्त्रोपलब्ध सामग्री की सहायता से जीव, ब्रह्म, इनके पारस्परिक सम्बन्ध, माया और ब्रह्म इत्यादि के विषय मे चिंतन किया है और फिर उनका स्पष्टीकरण भी उनके साहित्य मे मिलता है। गोस्वामीजी ने अपने काव्य के छन्दो मे दर्शन के नीरस और गहन विषय को इस सादगी के साथ भर दिया है कि साधारण जनता तक को उनके समझने मे कठिनाई नही होती। तुलसी का काव्य जन-जन की वाणी बन सका इसका

---

१. 'गोस्वामी तुलसीदास'—अध्याय १३
२. 'तुलसी ग्रन्थावली' तृतोय खड, पृ० १४५
३. 'कल्याण' मानसाक, खण्ड, २, पृ० ६७७

मुख्य कारण कवि की सरल सादगी और सुन्दर ढंग से अपनी बात को कह जाने की क्षमता ही है।

परमात्मा का निरूपण सच्चिदानन्द स्वरूप, समस्त जगत् को नचाने वाले परब्रह्म, अमोघ शक्ति-सम्पन्न, सर्व-व्यापक, अखण्ड, अनन्त, सब हृदयो मे वास करने वाले, अविनाशी, अजर, अमर, सत, चित, आनन्द-कन्द भगवान् का जो रूप गोस्वामी तुलसीदास ने चित्रित किया है, उसमे महानता, शक्ति, प्रेम, आदर्श और कर्त्तव्य तथा सौदर्य की पराकाष्ठा है। कोई कार्य नही जिसे वह कर नही सकता, करना क्या, जिसकी कृपा को पाकर कठिन से भी कठिन कार्य सरल और असम्भव-से-असम्भव कार्य सम्भव हो जाता है

मूक होइ बाचाल पंगु चढइ गिरिबर गहन।
जासु कृपा सो दयाल द्रवउ सकल कलि-मल-दहन।।

गोस्वामी जी ने दशरथ-पुत्र राम को परब्रह्म के रूप मे देखा है। उन्होने राम नाम का भी महत्त्व गाया है और राम रूप, गुण तथा उसकी महिमा का असीम वर्णन किया है। राम की महिमा अपरम्पार है, जिसका बखान करते-करते कितने ही ऋषि मुनि हार गये और वेदो को भी उसका पार नही पाया।

'निगम सेष सिव पार न पावा।'

विनयपत्रिका मे कवि ने परब्रह्म भगवान् राम की महानता, महिमा और विनय का जैसा सुन्दर चित्रण किया है, वह अपनी समानता नही रखता। काव्य के मुख से तुलसीदास जी कहलाते है ·

निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहै।
जिमि कोटि सत खद्योत सम रबि कहत अति लघुता लहै।।
एहि भाँति निज-निज मति बिलास मुनीस हरिहिं बखानहीं।
प्रभु भाव गाहक अति कृपालु सप्रेम सुनि सुख मानहीं।।

गोस्वामी तुलसीदास ने ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनो को माना है, सभी अवतारों को माना है और माना है कि इन सभी मे परब्रह्म की महान सत्ता निवास करती है या यो कहिए कि इनके रूप मे स्वय परब्रह्म ही लीला करते हैं। आपके विचार से निर्गुण राम और दशरथ-पुत्र राम मे कोई अन्तर न था। जो लोग इन दोनो मे भेद-भाव स्थापित करते है उन्हे तुलसीदासजी ने अज्ञानी और पाखण्डी कहा है .

'पाखडी हरि पद बिमुख जानहिं झूठ न साँच।'

राम का मनुज रूप कवि ने इतना मोहक प्रस्तुत किया है कि उस पर मोहित होकर रीझने वाले न केवल उसके गुरुजन, मात, पिता, बन्धु-बान्धव, पुरबासी तथा बनवासी ही है वरन् शत्रु भी उसके गुणो की सराहना किए बिना नही रह सकते। ब्रह्म के इस मनुज स्वरूप पर सती भी मोह-ग्रस्त हो

उठी, जयन्त राम का बल देखने को रीझ उठा, राम को नागपाश से मुक्त करके स्वय गरुड जी भी भ्रम मे पड गये। तुलसीदास जी भगवान् और भगवान् के अवतारो मे भेद-दृष्टि नही रखते, उन्हे समान समझते है। भवसागर को पार करने का सरल मार्ग कवि ने बतलाया है

राम कहत चलु, राम कहत चलु, राम कहत चलु भाई रे।
तुलसीदास भवत्रास हरहु अब, होउ राम अनुकूला रे।

राम की महिमा मे कवि कहता है

ऐसो को उदार जग माही ?
बिन सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरसि कोउ नाहिं॥

जीव का निरूपण गोस्वामी जी ने जीव को मन, प्राण और बुद्धि से प्रथम माना है। वह चैतन्य और कभी नाश न होने वाला है। जीव-स्पष्टीकरण के लिए राजपति दीक्षित जी की खोजी हुई कुछ गोस्वामी जी की पक्तियाँ नीचे दी जाती है।

'छिति जल पावक गगन समीरा।
पंचरचित अति अधम समीरा॥
प्रगट सो तनु तव आगे सोवा।
जीव नित्य केहि लगि तुम रोवा।

—मानस, किष्क० १०-४-५

विनयपत्रिका का एक पद देखिए

'निज सहज अनुभव रूप तव खल भूलि चलि आयो तहाँ।
निर्मल निरंजन निर्विकार उदार सुख तै परि हरयो॥

—विनय पत्रिका—पद १३६ (११)

निर्विकार जीव के विशुद्ध स्वरूप मे उनके स्वतत्र कर्म और विकारी वस्तुओ से सम्पर्क विकार उत्पन्न करते हैं। जो जीव उनसे प्रभावित नही होते वे ससार मे कमल के समान है और उन्हे सासारिक माया अपने वश मे नही कर सकती।

जीव की अनेकरूपता और एकरूपता पर तुलसीदास ने काफी प्रकाश डाला है। बद्ध, मुमुक्षु और मुक्त—ये जीव के तीन भेद कवि ने माने है। मानस मे तीनो प्रकार के जीवो के दृष्टान्त देखने को मिलते हैं। सुख-दुःख जीव को उसके कर्मों के अनुसार मिलता है

"जो जस करई सो तस फल चाखा।"

जीव और ईश्वर का सम्बन्ध : जीव परतत्र है और ईश्वर स्वतत्र। जीव को माया के हाथो में नाचना होता है और ब्रह्म माया का खेल करता है, उसे सचालित करता है। तुलसीदास ने जीव को ईश्वर का साथी कहा है :

"ब्रह्म जीव सम सहज सँघाती।"

जीव ईश्वर का सखा है, दास है और उसका नादान बच्चा भी है। जीव मायाधीश नही हो सकता। यही उसका ईश्वर से सबसे बडा भेद है। जीव को ईश्वर के द्वारा ही सचालित होना पडता है। यह सत्य है कि कर्म द्वारा जीव के आवागमन की बात निश्चित हो जाती है परन्तु फिर भी ईश्वर का स्थान सचालक के रूप मे पृथक ही ठहरता है।

जगत निरूपण गोस्वामी तुलसीदास जी जगत् को ज्ञान मार्गियो की भाँति झूठा और अनित्य नही मानते थे। जगत् को मिथ्या कहकर जीवन को बधन भी उन्होने घोषित नही किया। उन्होने जीवन को आत्मा का कर्तव्य क्षेत्र माना है, जिसमे वह भगवान् की सेवकाई कर सके। जीवन क्लेशपूर्ण उन्ही के लिए है, जिन्होंने जीवन मे राम को नही पहचाना। जग-मिथ्यावादियो के लिए कवि कहता है .

'झूठो है, झूठो है, झूठो सदा जग संत कहत जे अन्त लहा है।
ताको सहै सठ संकट कोटिक काढ़त दंत करंत हहा है।

जगत् के विषय मे गोस्वामी जी उत्तर काण्ड मे लिखते है

अव्यक्त-मूल-मनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने।
षठ कन्द साखा पंच बीस अनेक परन सुमन घने।

जीवात्मा जगत् मे रहकर यदि परमात्मा की पहचान लेती है तो उसे विश्व के कण-कण मे परमात्मा की अमर ज्योति जगमगाती हुई दिखलाई देती है। उसके लिए तो सारा जगत् ईश्वरमय हो जाता है। भगवान् का भक्त जगत् मे रहकर जगत् की सभ्यता का अनुभव करता है और यही पर उसे भगवान् की लीलाएँ दिखलाई देती हैं :

अनबिचार रमनीय सदा, संसार भयकर भारी।
सम संतोष दया विवेक में व्यवहारी सुखकारी॥

— विनय-पद १२१

गोस्वामी तुलसीदास जी राम और जगत् का एकीकरण करते हैं। उन्हे तो इन दोनो मे कोई भेद ही दिखलाई नही देता। भेद उन्ही लोगो को दिखलाई देता है जो प्राणी जगत् के मर्म को समझने मे अनभिज्ञ है।

माया का निरूपण : गोस्वामीजी ने अहकार को माया का मूल माना है। 'मैं' और 'मेरा' तथा 'तू' और 'तेरे' मे ही माया का समस्त रहस्य छिपा हुआ है। यही पारस्परिक अज्ञान और भेद-भाव को दूर करके विचार किया जाये तो माया का आवरण आप-से-आप फट जाता है। रामचन्द्र जी माया का स्पष्टीकरण लक्षमण के सामने इस प्रकार करते है :

मै अरु मोर तोर तै माया। जेहि बस कीन्हे जीव निकाया।
गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई।
तेहि कर भेद सुनहु तुम सोउ। विद्या अपर अविद्या दोऊ॥
एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा। जाबस जीव परा भव-कूपा॥
एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके॥

इस प्रकार माया के दो रूप विद्या और अविद्या के कारण बनते है। एक जीव को भ्रम मे डालती है तथा दूसरी भगवान् राम द्वारा प्रेरित होकर जगत का सृजन करती है। 'सीता' राम की माया का यही दूसरा रूप है जो रामाज्ञा से ससार का सृजन और पालन करती है।

स्रुति-सेतु-पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी।
जो सृजति जग, पालति, हरति रुख पाइ कृपानिधान की।

—मानस, अयोध्याकाण्ड १२५

माया का विद्या स्वरूप भक्तो मे भगवान् के चरणारविन्द के प्रति अनुरक्ति पैदा करता है। भक्त मे उत्तरोत्तर सेवा की भावना का दृढ रूप राम की माया के फलस्वरूप ही पैदा होता है। बिना राम की अनुकम्पा के तो कुछ भी सम्भव नही है। अविद्या रूपी माया के प्रभाव मे पडकर जीव कभी भी 'हरि सेवकाई' की ओर अग्रसर नही हो सकता। प्रभु-भक्ति की प्रेरणा विद्या से ही मिलती है

'प्रभु-प्रेरित व्यापई तेहि विद्या'

—मानस-उत्तर काण्ड-७८-२-३

सीता स्वरूपा माया से कवि की प्रार्थना देखिये

कबहुंक अब अवसर पाइ,
मेरिऔ सुधि घाइबी कछु करुन कथा चलाई॥
दीन सब अंगहीन खीन मलीन अघी अघाइघी॥

\+ + +

जानकी जगजनीन जन की किये वचन-सहाइ।
तरैं तुलसीदास भव तव-नाथ-गुनगन गाइ॥

—विनयपत्रिका—पद ४

जहाँ एक ओर कवि ने विद्या माया का इस प्रकार निरूपण किया है, वहाँ अविद्या माया के प्रकोप और उसकी शक्ति से भी वह अपरिचित नही है। वह जानता है कि संसार में अविद्या माया की प्रचड कटक फैली हुई है। काम उस सेना का सेनापति है और दंभ, कपट, पाखड इत्यादि उसके शूरवीर हैं। इनके प्रकोप से बचने के लिए जीव को राम-भक्ति की आवश्यकता है। ये कपट के शूरवीर मनुष्य को अध पतन की राह पर घसीट कर ले जाते हैं। माया के इस

प्रभाव से नारद-मुनि और सनकादि भी नही बच पाए तो भला साधारण जीवो की उसके सम्मुख कैसे गति हो सकती है ? यह माया अपने छल को फैलाकर ऐसी मोहिनी डालती है कि आत्मा उसमे वशीभूत होकर अपने लक्ष से विमुख हो जाती है। क्रोध, लोभ फैलाकर यह आत्मा की शान्ति भग करती है, रूप-लावण्य की छटा दिखाकर वह वासना को उत्पन्न करती है, जिसके चगुल मे भोले-भाले जीव फँसते चले जाते हैं। ऐश्वर्य भी माया का ही विकृत स्वरूप है जो अपने मद मे मनुष्य को प्रवाहित करके ले जाता है और उसकी आँखो के सामने से असलियत को छिपा देता है।

अविद्या माया के इस जाल-जजाल से वे ही प्राणी मुक्त हो सकते हैं जो परमात्मा, जीव और प्रकृति के अभेद-स्वरूप को समझ सके। भगवान् के सगुण और निर्गुण रूप मे भेद करने वाले भी माया के बन्धनो से छुटकारा नही प्राप्त कर सकते।

इस प्रकार गोस्वामी जी ने माया के दो स्वरूपो को लिया है, एक उसका विद्या स्वरूप और दूसरा अविद्या स्वरूप ।

साधन-निरूपण गोस्वामी जी के साधन-मार्ग के मूल मे सद्गुण और सदाचार विशेष रूप से आते है। वर्णाश्रम धर्म मे कवि की आस्था है, वेदाध्ययन, त्याग, इन्द्रिय-निग्रह, भय का निराकरण, राम के प्रति आत्म-समर्पण, सरल व्यवहार, स्वतन्त्र विचार, गुरु तथा शास्त्रो मे आस्था, ये भी सब साधन-मार्ग पर अग्रसर होने के लिए आवश्यक है। यह मार्ग सकुचित नही है, विश्व जनीन है। यो प्रतिष्ठा इसमे उन सभी साधनो की है, जिनके द्वारा राम-प्राप्ति के साधन खोजे गये है, परन्तु कवि विशेष रूप से आस्था रखता है, अर्थात् तप, समाधि इत्यादि। परन्तु राम-प्राप्ति के मूल मत्र के रूप मे भगवदनुग्रह को ही ग्रहण किया गया है। इसलिए कवि ने स्पष्ट लिख दिया है कि ये सभी साधन उस समय तक व्यर्थ है जब तक राम-कृपा प्राप्त नही होती। इस कृपा को प्राप्त करने के लिए कवि ने सेवा-भावना को ही अपनाने पर बल दिया है

'सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि।'
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धांत बिचारि॥

—वही, उ० ११९

सारांश . गोस्वामी तुलसीदास जी का जहाँ तक दार्शनिक चिंतन का विषय है, वह किसी भी वाद के पीछे रूढियो मे फँसकर नही चले। उन्होने तो भारतीय दर्शन का पूरी तरह अध्ययन करके अपनी समन्वय नीति का अनुसरण किया है। ईश्वर के जितने भी स्वरूप या उनके अवतारो के रूप उस समय प्रचलित थे, उन सभी मे कवि ने अपनी आस्था प्रकट की है, परन्तु उन सभी को आपने परब्रह्म राम मे लाकर निहित कर दिया है।

परमात्मा का सर्वशक्तिमान स्वरूप ही कवि ने चित्रित किया है। उसका स्वरूप अभेद है और ससार की कोई वस्तु उससे पृथक नही है। वह ससार का नियत्रक और सचालक है। उसकी शक्तियो से ही यह सब कुछ दिखलाई देता है।

जीव भगवान् का ही रूप है और वह मन, बुद्धि तथा प्राण से पृथक है। कर्म करने के लिए वह जगत् मे स्वतन्त्र है, परन्तु उसे चलना सदा रामाज्ञा से ही होता है।

जगत् को गोस्वामी जी ने मिथ्या नही माना। यह सब तो राम-माया सीता का सृजन किया हुआ है। इसमे और भगवान् मे भेद अविद्या माया के प्रभाव से ही दिखलाई देता है, नही तो यह सब कुछ एक ही है, इसमे दो वस्तुएँ नही है।

माया के कवि ने विद्या और अविद्या स्वरूप दो रूप स्थिर किए है। एक सीता की शक्ति है और दूसरी भ्रमात्मक है जो जीव को राम से विमुख करती है। अविद्या माया के भ्रम मे फसकर जीव अपने पुण्यो को नष्ट कर देता है और काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहकार इत्यादि के चक्कर मे फँस जाता है।

उक्त धर्म, ईश्वर, जीव, प्रकृति और माया की मान्यताओ को लेकर कवि ने हरि-प्राप्ति के साधनो पर भी प्रकाश डाला है। यो तो कवि ने भारत मे प्रचलित किसी साधन की व्यर्थ के लिए निन्दा नही की और तपस्या इत्यादि सभी मे आस्था प्रकट की है परन्तु दास्य भक्ति को ही उन्होने राम-प्राप्ति का सबसे बडा साधन बतलाया है। इसके अतिरिक्त आपने वर्णाश्रम धर्म मे भी पूर्ण-आस्था प्रकट की है। आपका यह दृष्टिकोण किसी वर्ग विशेष तक ही सीमित न रहकर विश्व व्यापक है।

□

६ तुलसी की धर्म-भावना

धर्म धर्म गोस्वामी तुलसीदास का वही पुरातन सनातन धर्म था, जिसने आज तक की सम्पूर्ण सस्कृति को अपने अन्दर समेटा हुआ था। जिसका अपना साहित्य था, इतिहास था, दर्शन था। इन सभी से प्राप्त ज्ञान के भडार मे से अच्छे-अच्छे रत्न निकालकर आपने-अपने धर्म-ग्रन्थो मे भर दिये हैं।

तुलसी के धर्म मे ईश्वर, जीव, प्रकृति माया और गुरु का ज्ञान आता है, पिता, पुत्र, स्त्री, भाई के सम्बन्ध, प्रेम, कर्त्तव्य, विचार और भावनाएँ आती है, राजा, प्रजा, उनके पारस्परिक सम्बन्ध आते है। इस प्रकार तुलसी के धर्म मे दार्शनिक विचार, सामाजिक विचार तथा राजनैतिक विचारो का हमे समन्वय मिलता है। तुलसी का चिंतन देखने पर पता चलता है कि कितना व्यापक था। वह कोई राजनेता नही थे, परन्तु राजा के कर्त्तव्यो का उन्होने जो आदर्श उपस्थित किया है वह उस समय के सास्कृतिक विकास की दृष्टि से अद्वितीय था। समाज की ओर से भी तुलसी का धर्म आँखें मीच कर नही चलता। उसमें हमे कही भी एकागी स्वरूप दिखलाई नही देता और लोक की मर्यादा को तोडकर तो उनका परब्रह्म राम भी एक इच इधर-उधर नही खिसक सकता। तुलसी का नियत्रण अपने राम पर बहुत कड़ा है। वह गोपियों मे रास-लीला करने वाला बहुरूपिया कृष्ण नही है, वह तो राम है जो सीता को छोड़कर अन्य किसी पर भी रसिक-दृष्टि नही डाल सकता।

समाज मे रहस्यवाद और बाह्याडम्बरो के कारण जो अविश्वास फैल रहा था, उसका कवि ने कड़ाई के साथ खण्डन किया है। गोस्वामी तुलसीदास ने धर्म के क्षेत्र में फैली कुरीतियो के खिलाफ भी आवाज उठाई। यह सच है कि उसकी आवाज कोरी क्रातिकारी आवाज नही थी, परन्तु फिर भी उसने कुछ अन्य-विश्वासो को उखाड़ फेंकने मे योग दिया।

आडम्बरों का त्याग अपने समय मे सनातन धर्म के अन्दर आ जाने वाली उन सभी आडम्बरवादियो की खराबियो को गोस्वामी तुलसीदास ने अविद्या और अज्ञान की दृष्टि से देखा। उनका खण्डन भी किया और धर्म के मार्ग से

उन्हे हटाने का भी प्रयास किया। 'मन मे राम बगल मे छुरी' लेकर चलने वाले पौगापथियो को तुलसीदास ने ललकारा है। आडम्बर और ढोग की कवि ने निन्दा की है और सत्य के महत्त्व का चिंतन तथा वर्णन किया है। जीवन का चाहे जो भी पहलू क्यो न हो, तुलसी ने छल, कपट, धूर्तता इत्यादि के व्यवहार की सराहना नही की। बडे व्यक्ति को अपने मन मे उदारता लाने की आवश्यकता है। यदि कोई व्यक्ति मन मे उदारता न ला सका तो उसका भी बहिर-रूप केवल आडम्बर मात्र है। इस प्रकार के आडम्बरवादी भक्त भी तुलसीदास की दृष्टि मे तुच्छ ही है। जो कवि इस प्रकार के अन्दरूनी आडम्बर को भी सहन नही कर सकता वह नाना बाहरी आडम्बरो को किस प्रकार सहन कर सकेगा। तुलसीदास ने उन ब्राह्मणो की निन्दा की है जो उदरपूर्ति के लिए बाहरी पाखण्डी वेश-भूषा बनाकर भोले-भाले भक्तो को ठगते है और उनके सामने अपना कपट-वेश प्रस्तुत करते है।

रहस्यवाद का खण्डन रहस्यवाद एक भ्रमात्मक रूप था, जिसके धोखे मे भोली जनता फँस जाती थी। हो सकता है कभी कबीर या जायसी को भगवान् के दर्शन हुए हो और फिर उन्होने उस अवर्णनीय रूप का वर्णन अपनी उस अटपटी भाषा मे कर दिया हो, परन्तु रहस्यवाद की जो प्रणाली स्थापित हो चुकी थी उसकी वही दशा थी जो रीतिकाल मे जाकर सूर के इष्टदेव कृष्ण और राधा की हुई। राजे महाराजो के भोग-विलास का चित्रण वहाँ जिस प्रकार राधा-कृष्ण को लेकर हुआ उसी प्रकार इस समय ढोगी रहस्यवादी बाह्याडम्बर बनाकर भोली जनता को ठगते रहे होगे। तुलसी जैसे विचारक के हृदय और मस्तिष्क मे देश के इस पौगापथी बाह्याडम्बर के प्रति घृणा उत्पन्न न होती, यह असम्भव था। इसीलिए तुलसी ने रहस्यवादी विचारधारा का खडन करके स्पष्ट प्रणाली को प्रश्रय दिया। यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि गोस्वामी तुलसीदास ने जिस रहस्यवाद का खण्डन किया है, वह प्रचलित रहस्यवाद का विकृत स्वरूप था। यह खडन भावमूलक बुद्धिवादी रहस्यवाद की विचारधारा का खण्डन नही है। गोस्वामी तुलसीदास ने रहस्यवादियो की भाँति अपन पृथक से गुरु मत्र नही बनाये कि जिनकी सिद्धि केवल उन्ही के पास हो अथवा कुछ गिने-चुने साधको तक सीमित रह गई हो। वहाँ तो जो कुछ भी है वह स्पष्ट ही है, उसमे दुराव-छिपाव के लिए स्थान कहाँ। रामभक्ति का तो राजमार्ग है, जिस पर चलने की सभी को समान आज्ञा है। जहाँ तक श्रद्धा और भक्ति का सम्बन्ध है वहाँ तो वर्णाश्रम धर्म के भी बन्धन खुलकर एक ओर जा गिरते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने धर्म के क्षेत्र मे शूद्रो तक को समान अधिकार दिये है।

तुलसी का धर्म बहुत व्यापक है, वह सभी के लिए अपने द्वार समान रूप से खोलता है, वह कोई धर्म-चक्र की उलझी-सुलझी पहेली नही है। वह तो जीवन का एक आदर्श है, पवित्रता का एक आदर्श है, महानता की कसौटी है। इसमे

मिलन और विरह का ही राग नहीं अलापा जाता। यहाँ तो जीवन के सभी पहलुओ पर एक मर्यादा के साथ चलने का सबक पढाया जाता है।

रहस्यवाद की तरह तुलसी के राम की कभी-कभी भक्त को झाँकी नही मिलती। राम का भक्त तो धनुषधारी राम को सर्वदा अपने साथ पाता है।

राम नाम जप गोस्वामी तुलसीदास ने धर्म के क्षेत्र से कठिन कर्मकाण्डो को हटाने का प्रयास किया है। साधारण पूजा-पाठ मे उन्हे विश्वास था। और भी सरल रूप खोजने पर उन्होने राम-जप का साधन निकाला। भारतीय चिंतको ने विश्व के लिए जो मार्ग सुझाया है, वह उसकी आध्यात्मिक तथा भौतिक उन्नति की ओर लक्षित रहता है। इनमे भी विशेषता आध्यात्मिक उन्नति की ही होती है। इस उन्नति के लिए सरल-से-सरल मार्ग खोजे गये है। फिर कर्मकाण्ड मे आडम्बर और ढोग की मात्रा बढती जा रही थी।

महाकवि कबीर ने जब सहज-धर्म की स्थापना की थी तो उसने भी रूढिवादी ऐसी बातो को उसमे स्थान नही दिया था कि जिन्हे समझने मे जन-साधारण को कठिनाई हो। गोस्वामी जी ने भी भक्ति के क्षेत्र मे सरल व्यवहार और सरल जप, को तप और रहस्यवादी कुचक्रो से विश्राम दिलाया और बहुत-से राम-भक्तो ने इसके फलस्वरूप अपने को उन प्रणालियो से हटाकर राम-जप की शरण ली।

गोस्वामी जी के इस प्रयास का जो फल हुआ, उसके विषय मे राजपति दीक्षित जी ने दोनो पहलुओ को स्पष्ट करते हुए लिखा है

"सर्व धर्ममय इस जप ने जहाँ अनेक सन्तप्तो को शीतल किया, अनेक भ्रान्तो को ठीक मार्ग पर लगाया, अज्ञान के घोर तिमिर से आच्छादित उरो मे 'चितामणि' का प्रकाश फैलाया, प्राचीन सस्कृति का प्रतिभास दिया, वही इसकी ओट में आलस्य, अकर्मण्यता और प्रमाद मे पडे असत्पात्रो की भी खूब बन पड़ी। ढोगियो का दल दिन दूना रात चौगुना बढ़ा। चिलम पर गाजे का दम लगाने वाले न जाने कितने मालपूआखोर ऐसे भी हैं जिनके आचरण का नग्न नर्तन देखकर स्तब्ध हो जाना पडता है। इन मुस्टण्डो से समाज का कोई कल्याण होता है, यह नही कहा जा सकता। इतना ही कहना काफी होगा कि बहुत से खलो, लम्पटो और 'धीगधमधूसरो' को कालनेमि बनने का अवसर राम-नाम ने ही दिया है।"

—'तुलसीदास और उनका युग', पृ० १००

कहने का तात्पर्य यह है कि जिस ढोग और आडम्बर को दूर करने के लिए कवि ने यह रास्ता अपनाया था, वही ढोग इस रास्ते पर भी छा गया। 'मेहनत-मजदूरी से जी चुराकर केवल बाह्याडम्बर के आधार पर सीताराम की अनन्य भक्ति का झूठा दावा करना, नाना प्रकार के धार्मिक कृत्यो द्वारा समाज को

छलकर अपनी टेट गरम करना ही तो अधिकाश राम-नाम की ओट लेने वाले धूर्तों का व्यवसाय हो गया है।"

—'तुलसी और उनका युग', पृ० १००

वास्तव मे यदि देखा जाय तो धर्म के हर वाद और उसके अनुयाइयो की अतिम दशा एक-सी ही रही है।

कुछ भी सही, परन्तु उस समय धर्म के क्षेत्र मे केवल राम नाम लेकर स्थान पाने वालो की सख्या मे वृद्धि हुई और बहुत से लोग, जो धार्मिक आडम्बर के कारण अधार्मिक होते जा रहे थे, वे सब राम-नाम के वृक्ष के नीचे आकर विश्राम कर सके।

एक्य की भावना : गोस्वामी तुलसीदास ने अपने समय की प्रचलित सभी विचारधाराओ मे एक्य स्थापित करने का प्रयास किया, यह हम पीछे भी स्पष्ट कर चुके है। परन्तु प्रधान रूप से जो एक्य की बात इस समय मे सामने थी वह वैष्णव और शैव्यो की एकता की बात थी। भारत का धार्मिक वाता-वरण इस समय इन्ही दो देवताओ को सामने रखकर चल रहा था। शैव्य वैष्णवो से घृणा कर रहे थे, उन्हे छोटा समझते थे और ठीक उसके विपरीत वैष्णव शैव्यो को छोटा समझते थे। गोस्वामी तुलसीदास ने परब्रह्म राम मे सर्व-शक्तियो को सन्निहित करके मान के साथ शिव और विष्णु का समन्वय कर दिया और स्पष्ट कर दिया कि ये दोनो भी एक ही है, कोई पृथक्-पृथक् वस्तु नही है।

राम-भक्त होने के लिए गोस्वामी तुलसीदास ने हर भक्त को शिव-भक्त बनना अनिवार्य कर दिया। कोई भी राम-भक्त उस समय तक हो ही नही सकता जब तक कि वह शिव-भक्त न हो। मानस के प्रारम्भ मे ही कवि ने याज्ञवल्क्य द्वारा शिव-कथा कहलाई है। फिर आपने शकर को राम का भक्त भी कहा है:

'कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरे।'

राम स्वय कहते है।

गोस्वामी जी ने शिव और राम की भक्ति मे अन्योन्याश्रय सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। इसके फलस्वरूप वैष्णवो तथा शैव्यो के मत मे बँधी हुई ग्रथि खुली और धर्म के क्षेत्र मे जो पारस्परिक वैमनस्य की विचारधारा फैल चुकी थी, उसका धीरे-धीरे विनाश हुआ।

गोस्वामी जी ने विष्णु और शिव दोनो का समान रूप से गुणगान किया है। विनयपत्रिका मे भी कवि ने शिव का गुण गान किया है। 'पार्वती मगल' मे 'जानकी-मगल' की ही भाँति शिव को लेकर कवि ने रचना की है।

तुलसी के काव्य को आद्योपात देखने पर उनका नायक राम ही ठहरता है और इसीलिए उन्होने शिव पर श्रेष्ठता राम को ही दी है और शिव से राम

की उपासना कराई है। परन्तु ऐसे भी स्थल मानस मे तथा तुलसी-साहित्य मे है, जहाँ उन्होने दोनो मे तादात्म्य स्थापित कर दिया है।

कर्मकाण्ड मे आस्था . जहा तक कर्मकाण्ड की बात है, वह सनातन धर्म की पूरी व्यवस्थाओ का सम्बन्ध है। ईश्वर की उपासना करने के लिए साधन जुटाये जाने लगे। उनके लिए बहिर साधन और अन्दरूनी साधनो की आवश्यकता हुई। बहिरी साधनो मे तप, व्रत प्रतिष्ठान, उपासना, वेद-ज्ञान, धर्म-ग्रन्थ-स्वाध्याय, स्नान, तिलक, पूजा, यज्ञ ये सभी आते है। इन सभी मे गोस्वामी जी की मान्यता थी। इनका कही भी खण्डन गोस्वामी जी ने नही किया। राम-जप करके भक्ति का मार्ग सरल कर देने का अर्थ यह नही समझ लेना चाहिए कि गोस्वामी ने कही भी भारतीय कर्मकाण्ड का खडन किया है। गोस्वामी जी की पूर्ण आस्था भारतीय कर्म-काण्ड मे थी और उन्होने वर्णाश्रम धर्म के सभी नियमो को मान्यता प्रदान की है।

सारांश गोस्वामी तुलसीदास ने कोई नवीन धर्म स्थापित नही किया। उनका धर्म भारतीय सनातन धर्म था जो आज तक के पाये जाने वाले भारतीय धर्म-ग्रन्थो ओर साहित्य मे झलकता था। तुलसी ने उन ग्रन्थो का अध्ययन करके नैतिक, सामाजिक, राजनैतिक और पारिवारिक नियमो तथा आदर्शो के आधार पर जो धर्म अपने ग्रन्थो द्वारा ससार के सामने रखा वह सर्व-धर्म था, किसी वर्ग विशेप का धर्म नही था, किसी देश विशेष का धर्म नही था। वह सरलता और सत्य पर आधारित था। उसमे पाखण्ड और आडम्बर के लिए न तो बहिर रूप मे ही कोई स्थान था और न अन्दरूनी रूप मे ही।

तुलसीदास ने आडम्बरवादी धर्म के ठेकेदारो की अपने साहित्य मे पोल खोली और जनता को उनके बहकावे मे आने से सतर्क किया।

रहस्यवादी भावना के पोषक, जो कुछ गुप्त मत्रो की चाल मे फँसकर सीधे भक्तो को अपनी ओर आकृष्ट कर रहे थे, उनकी भी तुलसीदास ने पोल खोली।

साथ ही धर्म के क्षेत्र मे वैष्णवो तथा शैव्यो के बीच जो कटुता की भावना बढ रही थी उसका भी अन्त किया। तुलसी के साहित्य ने देश मे फैली राम-भावना तथा शिव- भावना की आस्थाओ मे समन्वय स्थापित किया। इस समन्वय के फल-स्वरूप देश मे सनातन धर्म ने फिर से एकरूपता ग्रहण की।

गोस्वामी तुलसीदास ने भक्तो के मार्ग से बहुत-सी पाबन्दियो को हटाकर केवल राम-नाम से मुक्ति की बात कही, परन्तु इसका अर्थ यह नही कि उन्होने भारतीय कर्म-काण्ड का खडन किया। उसके प्रति तुलसी के अन्दर काफी मोह था और सच तो यह था कि वह प्राचीनता का प्रेमी था।

□

७ तुलसी की भक्ति-धारणा

मध्य युग मे भक्ति का प्रवाह केवल भावनात्मक प्रवाह मात्र नही था, वरन उसके अन्दर समकालीन बौद्धिक धर्माचार्यों की जन-साधारण के जीवन मे की गई क्रान्ति का बीजारोपण था। यह क्रान्ति भारत मे फैली उस नीरस विचार-धारा के अन्दर हो रही थी जो नाथ पथियो ने फैला दी थी। इस नीरस पद्धति की कठोर शृखलाओ को तोडकर उनके जीवन मे सरल भक्ति और प्रेम की धारा प्रवाहित करने का प्रयास किया। सरलता और सम विचार का वह सामजस्य स्थापित करने का प्रयास किया कि जिससे भारत की आत्मा एक सरिता मे आनन्द पूर्वक स्नान कर सके। नाथ-पथी योग-पथ द्वारा नासमझ तथा भोली जनता को उन विचारो की ओर ले जा रहे थे कि जिनका रहस्य वे स्वय समझने मे अनभिज्ञ थे। इनके विचार नीरस थे और इनमे जीवन के प्रति जीवन के विचारो का अभाव था। हर चीज इन्हे 'नही' ही दिखलाई देती थी, भ्रम, छल, झूठ और माया तथा नश्वर ही दीख पडती थी। जनता के इस उदासीन जीवन मे मध्यकालीन भक्ति की धारा ने सरलता का सचार किया और सूखते हुए जीवन-रूपी बिरवो को अपनी अमृत-वर्षा से सीचा।

मध्य युग मे भारतीय वातावरण मे अन्य विविध वाद पनपे। इन वादो के विषय मे हम पीछे अध्याय दो मे उल्लेख कर चुके है। स्वामी रामानुजाचार्य ने इस काल मे भक्ति-भावना के प्रसार को विशेष रूप से प्रश्रय दिया। फिर उनके पश्चात उनके शिष्य श्री रामानन्द जी ने उनके कार्य को आगे बढ़ाया। रामानन्द जी ने अपना सारा जीवन भक्ति प्रचार तथा प्रसार के ही अर्पित कर दिया। रामानुजाचार्य द्वारा लगाये हुए भक्ति के वृक्ष को रामानन्द जी ने सीचा और इस योग्य किया कि वह भारत की उदासीन, थकी माँदी तप्त जनता को सहारा दे सके, विश्राम प्रदान कर सके।

रामानुजाचार्य ने भक्ति के क्षेत्र मे नारदीय-भक्ति को आदर्श माना। इसका प्रभाव कबीर की भक्ति-भावना पर पड़ा। नारद-भक्ति-सूत्र मे भक्ति को कर्म ज्ञान और योग तीनो से श्रेष्ठ माना है। भक्ति को कबीर ने भी कर्म, ज्ञान और

योग से उत्तम कहा है। परन्तु कबीर की भक्ति-भावना मे ज्ञान का इतना आधिक्य हो जाता है कि वह कही-कही पर तो ज्ञान द्वारा सचालित-सी दीख पडती है, मोक्ष प्राप्ति के लिए कबीर ने भक्ति को ही साधन-स्वरूप ग्रहण किया है। महाराष्ट्र के प्रसिद्ध भक्त ज्ञानदेव के मतानुसार भी मुक्ति भक्ति के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है, ज्ञान द्वारा नही।

भाव भंगति बिसवास बिन कटै न ससय सूल।
कहै कबीर हरि भगति बिन मुक्ति नही रे मूल॥

(क० ग्रं०, पृ० २४६)

भक्ति का निरूपण विविध आचार्यो और कवियो ने अपने-अपने ढग से किया है। सभी ने अपने-अपने पृथक आधार और इष्ट देव निश्चित् किये हैं। किसी ने राम मे आस्था प्रकट की है तो किसी ने कृष्ण मे। परन्तु अन्ततोगत्वा सब पहुचते हैं लगभग एक ही लक्ष्य पर। इन सब भक्तो ने भक्ति की जो परिभाषाएँ प्रस्तुत की है उनमे भी अन्तर है। व्यास मुनि ने पूजा इत्यादि के अन्दर ही प्रगाढ प्रेम होने को भक्ति कहा। दूसरा मत कहता है कि कीर्तन इत्यादि द्वारा ही भक्ति की सिद्धि होती है। भक्ति मे रत होने के लिए कीर्तन की विशेष आवश्यकता है। आत्मा की तीव्र रति-भावना को शाडिल्य ने भक्ति माना है। कुछ भक्तो ने ईश्वर मे किसी भी प्रकार परम अनुरक्ति को भक्ति कहा है। निष्काम भावना से भगवान् मे लय हो जाना ही भक्ति की चरम सीमा है। भक्ति के उक्त विविध रूपो मे प्रेम, अनुराग, सरलता और लौलीनता को विशेष स्थान दिया गया है।

महाकवि कबीर और जायसी की भक्ति भावना मे हमे प्रेम का प्राधान्य मिलता है। प्रेम का यही प्राधान्य सूर-साहित्य मे आया, परन्तु गोस्वामी तुलसी दास के काव्य मे भक्ति का वह स्वरूप देखने को नही मिलता। वहाँ प्रेम-भावना प्राधान्य न होकर दास्य-भावना का प्राधान्य है।

भक्ति के भेद : नारद ने भक्ति के दो रूप स्थिर किए हैं .

१. प्रेम-रूपा भक्ति।

२. गुणाश्रिता भक्ति।

भागवत मे नवधाभक्ति का विधान है।

गौणी भक्ति गौणी भक्ति गुणो के अनुसार तीन प्रकार की होती है। परन्तु यह भक्ति स्वय साध्य नही होती। गौणी भक्ति के भक्तो को भी अन्त मे प्रेमा भक्ति मिल जाती है और इस प्रकार ईश्वर से सामीप्य स्थापित हो जाता है। गौणी भक्ति की ही भाँति नवधाभक्ति भी स्वय साध्य नही है। यह भी भक्तो द्वारा साधन स्वरूप ही अपनायी जाती है। इसे वैधी भक्ति भी कहते हैं। इस भक्ति के नौ प्रकार हैं :

भगवान के नाम, रूप, गुण और प्रभाव का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, चरण सेवन, पूजन, वन्दना तथा दास्य और सख्य भाव से निष्ठा तथा उपासना। गो-

स्वामी तुलसीदास की भक्ति इसी नवधा भक्ति की श्रेणी मे आती है। तुलसी की रचनाओ मे खोजने से नवधा भक्ति के नवो रूप अनेको स्थानो पर भरे पड़े है। यहाँ स्थानाभाव के कारण हम उन सभी के उदाहरण देने का प्रयत्न नही करेंगे।

प्रेमा भक्ति · प्रेमा भक्ति की तीन सज्ञाएँ — गौण प्रेम, मुख्य प्रेम तथा अनन्य प्रेम है। प्रेम की ये तीनो स्थिति इस प्रकार है कि जिनमे आत्मा का मोह तीनो मे होने पर भी गौण, मुख्य तथा अनन्यवस्था मे रहता है। जैसे एक माता खाना खा रही है। खाने मे उसकी रुचि है और प्रेम भी, परन्तु यदि कुछ दूरी पर पडा उसका बच्चा चिल्ला उठता है तो वह उसकी रक्षा के लिए खाना त्याग कर दौड पडती है। यहाँ बच्चे के लिए उसका मुख्य प्रेम है। परन्तु यदि वहाँ बच्चे के पास काला साँप फुकार उठे तो वह अपने प्राण बचाने के लिए उल्टी दौड पडती है, क्योंकि उसका अपने प्राणो के प्रति अनन्य प्रेम है। जब यही अनन्य प्रेम की स्थिति आत्मा और परमात्मा के बीच कायम हो जाती है तो तादात्म्य हो जाता है, एकीकरण हो जाता है, दो की भावना ही समाप्त हो जाती है। गौण दशा में भक्त परमात्मा की ओर आकृष्ट होता है। मुख्य प्रेम की स्थिति में भक्त ईश्वर के विषय में चिंतन भी करने लगता है और आत्मा, परमात्मा, जगत् माया इत्यादि के रहस्यों मे भी घुसने का प्रयास करता है। अनन्य प्रेम की स्थिति में चित्त की वृत्ति ज्ञान, अहकार, ससार, सुख, समृद्धि, यश, ऐश्वर्य, काम, लोभ, मोह, क्रोध इत्यादि से हटाकर आनन्दकन्द भगवान् में मिल जाता है। यही चरमावस्था है। इस समय उसकी इच्छा, उसकी कामना, उसका अहंकार, उसका अपनत्व, उसका गौरव सब उसी असीम सत्ता मे तिरोहित हो जाते है, उनका पृथक से कोई अस्तित्व नही रहता। इस कोटि का भक्त जन्म-मरण के भय से मुक्त हो जाता है। मृत्यु से वह भयभीत नही होता। नारद जी ने इस अनन्य भक्ति को 'अमृत रूपा भक्ति' कहा है। यह स्थिति प्रेम भक्ति, सख्य भक्ति और दास्य भक्ति सभी मे आती है। तुलसीदास जी ने भी अमृत रूपा भक्ति का अनेको स्थानो पर चित्रण किया है। तुलसी की भक्ति ऐसी अनन्य-रूपा भक्ति थी, जिसमें राम और भक्त का भी परस्पर तादात्म्य हो जाता है।

प्रेमा भक्ति की आसक्तियाँ नारद मुनि ने भक्ति की ग्यारह प्रकार की आसक्तियाँ मानी हैं ·

१. गुणमहात्म्यासक्ति २. रूपासक्ति ३. पूजासक्ति ४ स्मरणासक्ति ५. दास्यासक्ति ६. सख्यासक्ति ७ कान्तासक्ति ८. वात्सल्यासक्ति ९. आत्म-निवेदनासक्ति १० तन्मयतासक्ति ११ परमविरहासक्ति।

जो भक्त प्रेमा भक्ति के वास्तविक रहस्य को जान जाते हैं, उनमे ये सभी आसक्तियाँ स्वयमेव आ जाती है। भक्ति मे प्रेम की प्रधानता है। इसीलिए नारद

और शांडिल्य ने भी इसके उदाहरण दिये हैं। ये आसक्तियाँ एक ही बेल की विभिन्न वल्लरियाँ है, एक ही झरने मे से विभक्त हुई ग्यारह घटनाएँ हैं।

तुलसी की रचनाओ मे ये ग्यारह की ग्यारह आसक्तियाँ न जाने कितनी बार आई है। तुलसीदास ने अपने काव्य मे सभी प्रकार के पात्रो को लिया है और सभी के सुन्दर दृष्टान्त प्रस्तुत किये है। गुणमहात्म्यासक्त भक्तो मे नारद, भुशुण्डि और शिव है, मिथिला मे रहने वाले रूपासक्त भक्त है, भरत पूजासक्त भक्त है, ध्रुव, प्रह्लाद, सनकादि भक्त स्मरणासक्त भक्तो मे हैं, हनुमान और लक्ष्मण पूजासक्त भक्त है, विभीषण, सुग्रीव, निषादराज इत्यादि सख्य भक्त है सीता कान्तासक्त भक्त है, दशरथ, कौशल्या इत्यादि वात्सल्यासक्त भक्त है, आत्म निवेदन के क्षेत्र मे विभीषण और हनुमान को रखा जा सकता है, दशरथ परमविरहासक्त भक्तो मे है और तन्मयासक्ति हमे सुतीक्षण मे मिलती है।

प्रेम और भक्ति में अन्तर भक्ति मे प्रेम के ही समान एकनिष्ठता विद्यमान है। भक्ति के क्षेत्र मे पारस्परिक स्पर्धा समाप्त हो जाती है। भक्ति और प्रेम का यह अतर है कि प्रेमी अपनी प्रेमिका को यह सहन नही कर सकता कि उसे कोई अन्य व्यक्ति भी प्रेम करे परन्तु भक्त इस बन्धन से मुक्त हो जाता है। वहाँ वह बन्धन समाप्त हो जाता है। ब्रज मे जब ब्रज ललनाएँ कृष्ण की बसी की टेर सुनती है तो वे अपने घरो का काम त्यागकर उस ओर चल देती है, ग्वाले भी उस मधुर ध्वनि मे लवलीन होकर भगवान के उस सामीप्य मे जाती हुई अपनी स्त्रियो को नही रोकते। वे भक्त है कृष्ण के—इसीलिए उनके अन्दर से वे सकुचित भावना समाप्त हो चुकी है।

प्रेमा भक्ति के साधन प्रेमा भक्ति के साधन दो प्रकार के हैं :

१. अन्तरग साधन।
२. बहिरग साधन।

शाण्डिल्य ने अतरग साधनो में ज्ञान को रखा है और गौणी भक्ति के सब साधनो को बहिरग माना है।

गोस्वामी तुलसीदास ने भक्ति के साधनो में अतरग और बहिरग दोनो प्रकार के साधनो को जुटाया है। राम-जप, मनन, चिंतन इत्यादि उनकी भक्ति के अतरग साधन थे। बहिरग साधनो मे कथा, कीर्तन, पूजा-पाठ इत्यादि सब आ जाते है। वेद पठन इत्यादि भी बहिरग साधनो में से ही है। गोस्वामी तुलसी दास ने इन सभी साधनो को अपने जीवन मे घटाकर देखा था।

सत्संग पर गोस्वामी जी ने विशेष बल दिया हैं। वे लिखते है·

बिन सतसग भगति नहीं होई। ते तब मिल द्रवै जब सोई॥
जब द्रवै दीन दयालु राघव साधु सगति पाइये।
जेहि दरस परस समागमादि पाप-रासि नसाइये॥

जिन्ह के मिले सुख दु ख समान अमानतादिक गुन भये ।
मद मोह लोभ विषाद, क्रोध सुबोध ते सहजहिं गये ॥

—विनय पत्रिका, पद १३६ (१०)

—तुलसीदास और उनका युग, पृ० १६०

प्रेमा भक्ति की श्रेष्ठता · प्रेमा भक्ति को प्राप्त कर लेने के पश्चात् भक्त के सामने ज्ञान, वैराग्य इत्यादि महत्त्वहीन हो जाते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने भक्ति को सकल गुणो की खान माना है। उनके मत से भक्ति सर्वश्रेष्ठ साधन है ईश्वर प्राप्ति का। ज्ञानादि को वह इसके आधीन मानते है।

'सकल सुकृत फल' देने वाली भक्ति होती है राम भक्ति, इसके बिना सब ज्ञान, सब तपस्या, सब स्वाध्याय, सब विद्या व्यर्थ है।

प्रेमा भक्ति की सुलभता प्रेमा भक्ति को गोस्वामी तुलसीदास ने सबके लिए सुलभ माना है। ज्ञान साधनो मे मन को अपने मे रमाने के साधनो का अभाव रहता है परन्तु प्रेमा भक्ति मे तो मन हर समय राम मे रहता है। इसलिए उसे इधर-उधर स्वतत्र तकटल्ले मारने का अवसर ही नही मिलता। वह तो हर समय राम मे लौलीन रहता है।

प्रेमा भक्ति की रसात्मकता उसका सबसे बड़ा आकर्षण है, जिसकी ओर आत्मा का सम्मान आप-से-आप ही हो जाता है। भक्ति के क्षेत्र मे मन कभी भी निराश्रित नही रहता, उसे हर समय सहारा रहता है। उसका राम हर समय उसके साथ होता है और वह कठिन-से-कठिन समय आने पर भी धैर्य को नही छोडता, साहस का परित्याग नही करता।

ज्ञान-मार्ग कठिन है और तपस्या के द्वारा उस पर चलना होता है। वहाँ का भूला फिर सभलने की आशा नही कर सकता क्योकि ज्ञान के बाद बस अज्ञान ही तो है वहाँ थोडी या बहुत भक्ति की गुँजाइश नही है। ज्ञान तो कोरा गणित का प्रश्न है जो या तो सही है या फिर गलत, बीच की स्थिति वहाँ पैदा ही नही होती। ऐसी दशा भक्ति की नही है। इसलिए भक्त मे अभिमान नही होता और वह कभी भी अपने को पूर्ण नही समझता। उसकी पूर्णता भगवान् मे विलीन होकर ही होती है।

प्रेमा-भक्ति-मार्ग के शत्रु · जब भक्त भक्ति के राजमार्ग पर चलता है तो ज्ञान, वैराग्य और प्रकृति उसकी देख-भाल करती है। भक्त अपने प्रियतम या ईश्वर की ओर एक धुन बाँधकर ससार-सागर मे निर्लिप्त भावना से अपनी नौका खेता है। उसकी इस निर्विघ्न तैरती हुई नौका को देखकर काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहकार लालायित हो उठते है। ये जल-दस्यु हैं जो भक्त की नौका पर लदी राम-भक्ति की अमूल्य धन-राशि को चुराकर उस भक्त को कगाल बना देना चाहते है। ये सर्वदा रहते ही इसी ताक-झांक मे है। अभिमान

और कुतर्क इत्यादि सबसे पहले भक्त पर आक्रमण करते है और यदि यह उन्हे विफल कर देता है तो फिर सशय अपने दलबल के साथ आता है। इसके पश्चात् काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि अपने-अपने अवसर खोजते हैं। जो भक्त इन सब कुचक्रो को सहन कर जाता है, वह अनन्य भक्ति की कोटि मे पहुँच जाता है और उसका विवेक उसे इन सब शत्रुओ पर विजय दिला देता है। ये सब उसका मुँह देखते रह जाते हैं और वह इनके देखते-देखते अपनी भक्ति की धनराशि को खुले खजाने सबके सामने अपनी आत्मा की डोली मे बिठाकर भगवान् के दरबार मे पहुँच जाता है। मार्ग मे आने वाले लुटेरे उसका बाल भी बाँका नही कर पाते और राज-मार्ग के सरक्षक उसका पूरा-पूरा साथ देते है। गोस्वामी जी कहते है

मोह मूल बहु सूल प्रद त्यागहु तम अभिमान।
भजहु राम रघुनायक कृपा सिंधु भगवान्॥

कुतर्क और सशय के विरुद्ध भी कवि ने अपना स्वतत्र मत प्रकट किया है। राम-भजन मे कुतर्क को स्थान देना मूर्खता है। भक्ति-मार्ग मे आने वाले शत्रुओ से सतर्क रहने के लिए कवि अपने काव्य में अनेको स्थानो पर सकेत करता है।

सगति पर कवि ने विशेष बल दिया है, इस विषय मे हम पीछे भी सकेत कर चुके है। सगति का प्रभाव मनुष्य पर अवश्य होता है। कवि कहता है :

"को न कुसगति पाय नसाई।"

इसलिए जो भक्त कुसगति मे पड जाता है उस पर शत्रु लोग हावी हो जाते हैं और धीरे-धीरे उनके साथ रहकर उसका भी मार्ग बदल जाता है। वह भी कुछ दिन बाद यह महसूस करना बन्द कर देता है कि वह किसी कुसगति में पड गया है और इस प्रकार वह धीरे-धीरे राम-विमुख होता चला जाता है।

भक्त : काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहकार के पास मे जकडा हुआ जीव कभी भी भक्तों की श्रेणी मे नही रखा जा सकता। इसलिए भक्त वही है जो काम, क्रोध, लोभ मोह और अहकार पर विजय प्राप्त कर चुका हो। भक्त समस्त विश्व को समदृष्टि से देखता है और ससार के झझटो से अपने को मुक्त करके सरल प्रकृति से रहता है। भक्त हर समय भगवान् की भक्ति मे लीन रहता है। उसके पास इधर-उधर मन लगाने के लिए अवकाश ही नही होता। भगवान्-भजन और उसकी लीलाओ को देखने से उसे फुर्सत ही कहाँ। वह तो उठते-बैठते, सोते-जागते हर समय अपने अन्तर तथा बहिर जगत मे राम के ही दर्शन करता है। इसी स्थिति के व्यक्ति को भक्त की संज्ञा दी जा सकती है।

भक्त अपनी सब योनियो में प्रसन्न रहकर भक्ति की ओर अग्रसर होता है। वह अपने कष्ट पर भगवान् को दोषी नही ठहराता वरन् उसे अपने कर्मों का फल मानकर हँसते-हँसते सहन करता है। वह अपने इष्टदेव के ध्यान मे हर समय मग्न रहकर पुलकित होता है। उसके नेत्रो से आनन्दाश्रु प्रवाहित होते रहते

हैं। उसकी आसक्ति अपने इष्टदेव के लिए उक्त ग्यारह प्रकार मे से चाहे जिस प्रकार की भी क्यों न हो वरन् वह होती है अनन्त प्रकार की ही। वह अपनत्व को ईश्वरत्व मे विलीन कर देता है।

भगवान का अखण्ड भजन करने से उसके अन्दर दिव्य शक्ति का समावेश होता है। उसकी काति दुबाला हो जाती है और उसके अन्दर एक आकर्षण पैदा हो जाता है।

भक्तों के प्रकार : भगवद्भक्तो के गीता मे चार प्रकार माने है। गोस्वामी तुलसीदास ने इन चारो प्रकार के भक्तो का उल्लेख अपने साहित्य मे किया है.

'राम भगत जग चारि प्रकारा।'

मानस मे चारो प्रकार के भक्तो के दृष्टान्त मिल जायेगे। यहाँ हम इस प्रसंग को विस्तार देना व्यर्थ समझते है।

भक्त-महिमा : भक्त की महिमा का गान स्वय भगवान् ने उसी प्रकार किया है, जिस प्रकार भक्त अपने इष्टदेव का बखान करते है। भागवत मे भक्त को त्रिलोक को पवित्र करने वाला कहा गया है। भक्त की महिमा का बखान कबीरदास जी ने भी मुक्त कण्ठ से किया है। तुलसी कहते है

मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा।
राम तें अधिक राम कर दासा॥
राम सिंधु सज्जन धन धीरा।
चदन तरु हरि सत समीरा॥

—तुलसीदास और उनका युग, पृ० १७८

गुरु का स्थान : भक्ति के क्षेत्र मे भक्त बिना गुरु के आ ही नही सकता। इन दोनो का बहुत बड़ा सम्बन्ध है। भक्ति के जितने भी सम्प्रदाय इस मध्य युग मे स्थापित हुए उन सभी ने गुरु की मान्यता को कायम रखा है। कबीर-दास ने तो गुरु को भगवान् पर भी श्रेष्ठता दे डाली है।

भक्ति की साधना बिना गुरु के एक पग भी आगे नही बढती। साधना के क्षेत्र मे प्रथम स्थान गुरु का ही है। भक्त को राजमार्ग गुरु के ही प्रसाद से दिखलाई देता है। राजा रत्नसेन को सिंहल जाने के लिए हीरामन तोते को गुरु बनाना पडा था। गुरु के द्वारा बतलाये मार्ग पर चलने से ही भगवान् की प्राप्ति सम्भव है। जब-जब मार्ग मे भक्त को शत्रुओ का सामना करना होता है तब-तब उसे रक्षा का मार्ग सुझाने का कार्य गुरु का ही है। भक्ति की सागोपाग सम्पन्नता के लिए गुरु का मार्ग-प्रदर्शन नितान्त आवश्यक है।

रामानुज, रामानद, वल्लभाचार्य इत्यादि अपने-अपने वादो के गुरु थे, जिन्हे उन धाराओ के भक्तों ने कभी भी भगवान् से नीचा नही समझा। गोस्वामी तुलसीदास ने भी गुरु की महिमा का असाधारण रूप से ही चित्रण किया है। गुरु भक्ति का चरम उत्कर्ष हमे मानस के प्रारम्भ मे ही मिल जाता है

बदऊँ गुरु पद कंज कृपासिंधु नररूप हरि।
महा मोह तम पुंज जासु बचन रविकर निकर॥

बदऊँ गुरु-पद-पदुम परागा।
सुरुचि सुबास सरस अनुरागा॥
अमिअ-मूरि-मय चूरन चारू।
समन सकल-भव-रुज परिवारू॥

प्राचीन और मध्यकालीन गुरु की भावना को कविवर तुलसीदास ने जरा भी ठेस नही पहुँचाई वरन उसका वर्णन चरमोत्कर्ष से ही किया है।

सारांश · मध्यकाल मे भक्ति की जो धारा बही उसके अतरग और बहिरग का परीक्षण करने से उसमे बुद्धि, भावना और सेवा सभी का समन्वय हो जाता है। प्रेम-रूपा, गुणाश्रिता और नवधा तीन प्रकार की भक्ति आचार्यों ने मानी है। गुणाश्रित भक्ति अन्त मे जाकर प्रेमा भक्ति मे विलीन हो जाती है।

गोस्वामी तुलसीदास की भक्ति को हम प्रेमा भक्ति के अतर्गत पाते हैं। यह भक्ति तीसरी स्थिति मे भगवान् का सामीप्य प्राप्त करती है। इसकी प्रथम स्थिति गौण-प्रेम की है, दूसरी मुख्य प्रेम की तथा तीसरी अनन्य प्रेम की है।

प्रेमा भक्ति की ग्यारह आसक्तियाँ हैं। इन सभी प्रकार की आसक्तियो के उदाहरण तुलसीदास ने रामायण में प्रस्तुत किये है और सभी प्रकार के भक्तो का चित्रण उसमे मिलता है।

भक्ति प्रेम की वह स्थिति है जब प्रेमी की यह इच्छा हो उठे कि जिस सौंदर्य और गुण की कल्पना पर वह रीझता है, उस पर विश्व रीझ उठे। एकाधिकार की सकुचित भावना समाप्त हो जाये।

प्रेमा भक्ति के साधन भी अंतरग तथा बहिरग दोनो प्रकार के है। अतरंग साधनो मे ज्ञान और बहिरग साधनो मे पूजा पाठ इत्यादि आते हैं।

तुलसीदास ने प्रेमा भक्ति को ज्ञान से भी श्रेष्ठ माना है और उनका विचार है कि जब भक्त अनन्य स्थिति को पहुँच जाता है तो ज्ञान को स्वय उसका चरण-चुम्बन करना पडता है।

प्रमा भक्ति को गोस्वामी तुलसीदास ने सबसे सुलभ माना है, क्योकि इसके अन्दर मन के बहक जाने का सबसे कम अवसर रहता है। मन तो हर समय भगवान की अनुपम मूर्ति मे समाया हुआ रहता है। उसे फुर्सत ही कहाँ कि वह दुनिया के जजालो मे फंसता फिरे।

भक्त जब राजमार्ग पर चलता है तो जहाँ एक ओर ज्ञान इत्यादि राज कर्मचारी उसकी रक्षा के लिए होते है वहाँ दूसरी ओर काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहकार, कुतर्क इत्यादि लुटेरे भी कम नही होते जो मार्ग मे ही उसे भ्रष्ट करके उसका सर्वस्व लूट लेना चाहते है। जो भक्त अनन्य स्थिति को प्राप्त हो जाता है, वह इन शत्रुओ पर विजय प्राप्त कर लेता है।

भक्त वही है जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहकार और कुतर्क पर विजय प्राप्त करले और कुसगति से अपने को बचाकर चले। ये भक्त चार प्रकार के होते है। गोस्वामी तुलसीदास ने कबीर इत्यादि की ही भाँति गुरु की महिमा का बखान चरमोत्कर्ष से किया है। गुरु को तुलसी ने पिता से भी ऊँचा स्थान प्रदान किया है।

□

८ | तुलसी का मूल्यांकन

विचारक के नाते तुलसी एक साधारण भक्त मात्र ही नही थे, वह अपने युग का एक विचारक थे, जिसने देश के प्रचलित धर्म, मत-मतातरो, आस्थाओ और विश्वासो, वेद-शास्त्रो, सामाजिक तथा नैतिक कुरीतियो और राजनैतिक स्थितियो के विषय मे चिंतन किया है। गोस्वामी तुलसीदास ने सनातन धर्म के प्राचीन ग्रन्थो का अध्ययन कर इस मूल-मत्र को पहिचाना कि उस समय जितने भी विचार देश मे व्याप्त थे उन सबकी जडे उन्ही प्राचीन ग्रन्थो तथा आस्थाओ की जमीन मे उगी थी।

देश परतत्र था। धर्म के क्षेत्र मे जहाँ एक ओर ज्ञानमार्गी लोगों का पाखण्डवाद चल रहा था और भोली जनता अध-विश्वास और अपनी अज्ञानता के कारण उनकी शिकार होती चली जा रही थी वहाँ दूसरी ओर शैव्य और वैष्णवो का भी पारस्परिक मतभेद भयानक रूप धारण करता चला जा रहा था। इसके फलस्वरूप भारतीय जनता की धार्मिक एकता भी खतरे मे पड़ सकती थी।

एक विचारक के नाते तुलसीदास ने शैव्यो और वैष्णवो के मतभेद को समाप्त करके एक मार्ग सुझाया। तुलसीदास का यह कार्य महात्मा गाधी के उस कार्य से कम महत्त्वपूर्ण नही था जिसके द्वारा उन्होने अछूतो को हिन्दुओ से पृथक कर देने वाली अग्रेजी सरकार की चाल को बरदाश्त न करके अनशन व्रत धारण किया था।

गोस्वामी तुलसीदास का समस्त साहित्य एक चिंतन का विषय है। भक्ति का प्राधान्य उनमे है अवश्य परन्तु उसका प्रभाव इतना अधिक नही कि वह बुद्धि के बन्धनो को तोडता हुआ व्यापक बन जाये और बुद्धि कार्य करना ही बन्द कर दे।

सामाजिक नियमो के क्षेत्र मे, राजनैतिक कार्य-कुशलता के क्षेत्र मे राम के द्वारा कवि ने जो कार्य कराये हैं उनके अन्दर बुद्धि के चरम उत्कर्ष के उदाहरण मिलते हैं।

गोस्वामी तुलसीदास ने भारतीय दर्शन का चितन किया है। ब्रह्म, जीव, प्रकृति, माया इत्यादि के रहस्यो का उदाहरणो सहित स्पष्टीकरण किया है। इन तत्वो का विवेचन कवि ने बडी ही सतर्कता के साथ किया है। आपने भगवान् के अनेक रूपो मे एकरूपता स्थापित की है और इस प्रकार अपनी मान्यता को सबकी मान्यता का रूप देकर उसे अधिकाधिक व्यापक बनाने मे योग दिया है।

यह प्रयास गोस्वामी तुलीसदास का सबसे सफल प्रयास था, जिसका प्रभाव हम आज भी रामायण के प्रभाव को देखकर लगा सकते है।

गोस्वामी तुलसीदास का चितन लोक मर्यादाओ को लेकर चलता है। नैतिकता उसमे पूर्णरूप से विद्यमान है। जहाँ तक भी ससार के सम्बन्ध हो सकते है सभी को कवि ने अपने आदर्शवाद की कसौटी पर कसा है। गोस्वामी तुलसीदास ने अपने चितन के द्वारा, अपने साहित्य के द्वारा कई समाजो का चित्रांकन किया है। (अवध के समाज का, मिथिला के समाज का, ऋषि-मुनियो के समाज का, बानरो के समाज का, राक्षसो के समाज का), कई राजाओ और प्रजाओ का चित्रण किया है (दशरथ, राम, भरत, बाली, सुग्रीव, रावण, विभीषण तथा इनकी प्रजा), गुरु, पिता, माता, भाई (छोटे-बडे), स्त्री इत्यादि का चित्रण किया है, मित्रो का चित्रण किया है, दासो का चित्रण किया है, सभी की मर्यादाएँ निर्धारित की हैं, सबके कर्त्तव्यो के आदर्श स्थापित किये है। वचन का मूल्य आका है और उस पर प्राण न्यौछावर किए हैं। रामायण मे कवि का चितन जहाँ एक ओर भारतीय दर्शन के क्षेत्र मे सूक्ष्म-से सूक्ष्म तत्वो की ओर अग्रसर हुआ है वहाँ उसने व्यक्तिगत जीवन, समाजगत जीवन, राजकीय जीवन, शासन तथा अन्य इसी प्रचार की सासारिक पेचीदगियो को भी उसी प्रकार सफलता से छुआ है।

गोस्वामी तुलसीदास का चितन हर दिशा मे बहुत ही व्यापक है। उसमे एकांगी न तो चित्रण ही है और न चितन ही। तुलसी जिस वस्तु को भी उठाता है उसे पूरी तरह से परखकर देखता है, उसके दर्शन भर कर लेना उसका अभीष्ट नही। वह हर वस्तु का परीक्षण करता है और पूरी छान-बीन के पश्चात् अपना निर्णय देता है। मानव-जीवन की बहुत-सी परिस्थितियो पर कवि ने अपना निर्णय प्रस्तुत किया है। वह उसका अपना चितन है और उस पर सनातन धर्म की छाप है। प्राचीन रूढियो को कबीर की तरह एकदम छिन्न-भिन्न कर डालने की शक्ति, उसमे नही थी। सुधारवादी सुझाव वह प्रस्तुत कर सकता था। यो जहाँ तक प्राचीनता का सम्बन्ध था वह अपने चिंतन मे, विचार तो अलग रहा, कर्मकाण्ड से भी ऊपर न उठ सका। वर्णाश्रम धर्म मे उसकी पूर्ण आस्था थी, परन्तु फिर भी भक्ति के क्षेत्र मे उसने सब प्रतिबन्धो को तोड़ दिया।

गोस्वामी तुलसीदास ने जो अपने समय मे दूसरा सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य

किया वह था धर्म-ग्रन्थों को भाषा मे ले आना । सस्कृत आचार्यों द्वारा उन दिनो तुलसीदास के इस क्रातिकारी कृत्य और चिंतन का कितना विरोध हुआ होगा इसका अन्दाज ठीक से लगाना आज उसी प्रकार कठिन है जैसे एक सात-आठ वर्ष का बच्चा यह अन्दाज नही लगा सकता कि अभी दस-बारह वर्ष पूर्व भारत मे कोई ऐसी अग्रेजी जाति थी जो स्वाधीनता का नाम लेने वाले भारतीयो को कारावास मे बन्द कर देती थी।

गोस्वामी तुलसीदास अपने समय के एक उत्कृष्ट विचारक थे, जिन्होने भारतीय जनता को एकधर्मता प्रदान की, एक दार्शनिक चिंतन प्रदान किया, एक समाज का ढाँचा दिया, एक राजनैतिक रूपरेखा दी । राम-राज्य की और छोटे-बडे की मर्यादा को कायम रखने से सुख तथा शान्ति स्थापित होती है, इस रहस्य का उद्घाटन किया । तुलसी अपने समय का एक जबरदस्त चितक था । वह अपनी विचारधारा मे अपने काल के प्राय सभी धार्मिक चितको को बहा सका, प्रभावित कर सका । उसके काव्य ने समस्त देश का चिंतन बदल दिया । भाषा मे प्राप्त धर्म ग्रन्थो को पाकर जनता की समझ मे बहुत-सी वे बाते आई, जिन्हे उल्टी-सीधी सस्कृत पढे पडित उन्हें इसलिए नही बतलाते थे कि उनके बतलाने से उनकी हलवा-पूरियो मे टोटा आने लगता था ।

साहित्यिक के नाते : एक साहित्यिक के नाते गोस्वामी तुलसीदास का मूल्याकन करने के लिए साहित्य के यदि सभी गुणो को ले लिया जाये तो हम देखेगे कि वे सब किसी-न-किसी रूप मे इसके अन्दर विद्यमान है । गोस्वामी जी सस्कृत और हिन्दी के प्रकाड पडित थे । केवल सुनी-सुनाई बातो पर महाकवि जायसी तथा कबीर की तरह उनका ज्ञान आश्रित नही था । उन्होने साहित्य, दर्शन तथा अन्य धर्म-ग्रन्थो का अध्ययन किया था । इसीलिए तुलसी-साहित्य मे भारतीय सस्कृति का वह निचोडा हुआ रस मिल जाता है जिसमे दार्शनिक तथा साहित्यिक अभिव्यक्ति बहुत ही—निखार के साथ आ सकी है ।

गोस्वामी तुलसीदास ने अपने समय की प्रचलित अवधी तथा ब्रज दोनो भाषाओ मे समान कुशलता के साथ रचना की है । अपने समय की जितनी भी प्रचलित शैलियाँ थी, सभी को कवि ने अपनाया है । आपके साहित्य के विषय मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं—

"गोस्वामी जी के प्रादुर्भाव को हिन्दी काव्य के क्षेत्र मे एक चमत्कार समझना चाहिए । हिन्दी काव्य की शक्ति का पूर्ण प्रसार इनकी रचनाओ मे ही पहले-पहल दिखाई पड़ा । वीरगाथा काल के कवि अपने सकुचित क्षेत्र मे काव्य, भाषा के पुराने रूप को लेकर एक विशेष शैली की परम्परा निभाते आ रहे थे । चलती भाषा का सस्कार और समुन्नति उनके द्वारा नही हुई । भक्ति काल मे आकर भाषा के चलते रूप को समाश्रय मिलने लगा । कबीरदास ने चलती बोली में अपनी वाणी कही । पर वह बोली के ठिकाने की थी । उसका कोई नियत रूप

न था। शौरसेनी-अपभ्र श या नागर अपभ्र श का जो सामान्य रूप साहित्य के लिये स्वीकृत था उससे कबीर का लगाव न था। उन्होने नाथ-पथियो की 'सधुक्कडी भाषा' का व्यवहार किया जिसमे खडी बोली के बीच राजस्थानी और पजाबी का मेल था।

भक्तवर सूरदास जी ने ब्रज की चलती भाषा को परम्परा से चली आती हुई काव्य भाषा के बीच पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित किया।... . ... प्रेम मार्गी सूफी कवियो ने अपनी रचनाओ के लिए अवधी को चुना। इस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने समय मे काव्य भाषा के दो रूप प्रचलित पाये—एक ब्रज और दूसरी अवधी। दोनो मे उन्होने समान अधिकार के साथ रचनाएँ की।

भाषा पद्य के स्वरूप को लेते है तो गोस्वामी जी के सामने कई शैलियाँ प्रचलित थी, जिनमे से मुख्य ये है—(क) वीरगाथा काल की छप्पय-पद्धति, (ख) विद्यापति और सूरदास की गीत-पद्धति (ग) गग आदि भाटो की कवित-सवैया-पद्धति, (घ) कबीरदास की नीति-सम्बन्धी बानी की दोहा-पद्धति—जो अपभ्र श काल से चली आती थी और (ङ) ईश्वरदास की दोहे-चौपाई वाली प्रबन्ध-पद्धति। इस प्रकार काव्य-भाषा के दो रूप और रचना की पाँच मुख्य शैलियाँ साहित्यिक क्षेत्र को मिली। गोस्वामी जी के रचना-विधान की सबसे बडी विशेषता यह है कि वे अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से सबके सौदर्य की पराकाष्ठा अपनी दिव्य वाणी मे दिखाकर साहित्य-क्षेत्र मे प्रथम पद के अधिकारी हुए।

—हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १३२-१३४

गोस्वामी तुलसीदास के साहित्य मे हमे बौद्धिकता, भावनात्मकता, काव्य-कला और कलात्मक शैली का सामजस्य मिलता है।। यह सामजस्य स्थापित करना साधारण कोटि के कलाकार के लिए नितान्त असम्भव है। प्रथम श्रेणी का कलाकार ही अपनी प्रतिभा का यह चमत्कार दिखला सकता है। गोस्वामी जी के बुद्धि तत्व का उल्लेख हम विचारक के नाते तुलसी का अध्ययन करते समय देख चुके है। भावना के क्षेत्र मे कवि का मूल्याकन हम इसी अध्याय मे आगे करेगे। अब रह जाती है काव्य-कला और शैली। जहाँ तक काव्य-कला का सम्बन्ध है तुलसीदास ने अपने साहित्य मे सार्थक अलकारो की योजना प्रस्तुत की है। शब्दालकार तथा अर्थालकार दोनों का ही प्रयोग किया है परन्तु विशेषता अर्थालकारो की ही है। काव्य मे प्रयुक्त होने वाले नौ के नौ रसो को कवि ने काव्य मे भरा है और शृ गार के मिलन तथा बिछोह दोनो पक्षो का समावेश बहुत ही कलात्मक तथा मार्मिक ढग से किया है। जहाँ तक छद-योजना का सम्बन्ध है वहाँ तक कवि ने न केवल मात्रा, गण और वर्णों पर ही विचार किया है और न छन्द-विधान मात्र को ही अपनाया है, वरन् भावानुरूप नैसर्गिक ध्वनि को छन्दो में समा देना भी इसी अद्भुत कलाकार का कृत्य है। अलकार, रस

और छन्दो की सुन्दर योजना के साथ-ही-साथ कवि ने शब्द-शक्तियो का भी सुन्दर, प्रभावशाली और अवसरानुकूल प्रयोग किया है। कवि ने काव्य-सौष्ठव पर पूरा-पूरा ध्यान दिया है। तुलसी के काल मे एक भी ऐसा मार्मिक स्थल नही मिलेगा जो कवि की पैनी दृष्टि से छूट गया हो। साथ ही किसी निरर्थक स्थल पर भी कवि आवश्यकता से अधिक नही ठहरा। जहाँ तक काव्य की प्रबन्धात्मकता की बात है वहाँ तक तो तुलसी का मानस अपनी समानता मे आज भी हिन्दी के किसी अन्य प्रबन्ध काव्य को कोसो पास तक नही आने देता। तुलसी ने अपने काव्य मे जिन पात्रो को लिया है उनमे प्राण फूक दिया है। क्या मजाल जो पाठक उन्हे पढकर उनके अन्दर कवि-इच्छित भावनाओ तथा विचारो की झलक न देख सके। तुलसी के पात्र बोलते है, वे जीते-जागते स्वरूप मे है काठ के टुकड़े कवि ने गढकर खड़े नहीं कर दिए है।

तुलसी का साहित्य इस प्रकार हर दिशा से देखने पर हिन्दी काव्य-गगन मे अपने अनूठेपन का सानी नही रखता। गोस्वामी जी का साहित्यिक-मूल्याकन करना सूर्य को दीपक दिखलाने के समान है।

भक्त के नाते : तुलसी मे जहा एक ओर विचारो का गाम्भीर्य था चितन की पराकाष्ठा थी वहाँ दूसरी ओर भावना भी आर भावनात्मक अनुभूति भी उसके पास बहुत ऊंचे दर्जे की थी।

गोस्वामी जी ने भक्ति के क्षेत्र मे प्रेम-रूपा भक्ति को अपनाया और इसकी सभी आसक्तियो मे आस्था प्रदर्शित की। प्रेमा भक्ति की ग्यारह की ग्यारह आसक्तियो को अपने-अपने काव्य मे बड़े ही कलात्मक तरीके से ढाला है और सभी के प्रतीक पात्र प्रस्तुत किय है। रामायण मे नारद और भुशुण्डि जैसे पात्रो को स्थान देकर आपने गुणमाहात्म्यासक्ति का उदाहरण प्रस्तुत किया है, रूपासक्ति के उदाहरण स्वरूप व सभो लोग है जो राम के रूप पर मोहित होते है। मिथिला के निवासी, बन जाते समय माग मे मिलने वाले व्यक्ति सब इसी कोटि मे आते है। स्मरणासक्ति मे भक्त ध्रुव, प्रह्लाद इत्यादि का चित्रण हे। पूजासक्ति मे हनुमान और लक्ष्मण के नाम उल्लेखनीय है। सख्यासक्ति मे विभीषण, सुग्रीव और निषाद-राज के नाम आते है। कान्ताशक्ति के लिए सीता का चित्रण किया गया है। वात्सल्यासक्ति के लिए दशरथ, कौशल्या इत्यादि है। विभीषण और हनुमान के नाम आत्मनिवेदनासक्ति का भी स्पष्टीकरण करते है। परम-विरहासक्ति के उदाहरण स्वरूप दशरथ का नाम उल्लेखनीय है। इस प्रकार सभी प्रकार की आसक्ति का पात्रो मे भरकर तुलसी ने जिस मानस काव्य की रचना की हे उसमे प्रेमासक्ति की पूरी रूपरेखा प्रस्तुत की गई है।

प्रेमा भक्ति की तीनो सज्ञाओ मे 'अनन्त' का गोस्वामी जी ने निर्वहण किया है और इस प्रकार आत्मा तथा परमात्मा के बीच के सब भेद-भावो को निकाल कर फेक दिया है। इस 'अनन्त' संज्ञा को प्राप्ति के लिए बहिरग तथा

अतरग—दोनो प्रकार के साधनो को कवि ने अपनाया है। अतरग साधनो में ज्ञान तथा बहिरग मे गौणी भक्ति की पूरी प्रक्रियाएँ आती है। तुलसीदास ने प्रेमा भक्ति को सबसे श्रेष्ठ और सुलभ कहा है और इसी के द्वारा आत्मा तथा परमात्मा का सामीप्य भी स्थापित होता है। प्रेमा भक्ति के मार्ग के शत्रु काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहकार, कुतर्क और कुसगति का भी तुलसीदास ने उल्लेख किया है। वह कहते है कि भक्त वही है जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहकार और कुतर्क का परित्याग कर दे।

भक्त होने के नाते भावना कवि के अन्दर प्रखर थी जहाँ उसने एक ओर प्रेमा भक्ति की ग्यारह आसक्तियो को लेकर उन्हे पात्रो मे भरा है वहाँ उनके उपयुक्त स्थिति आने पर भावुक स्थलो का चित्रण भी बहुत ही मार्मिक ढग से किया है। तुलसी की रचनाओ मे भी कोई ऐसा मार्मिक स्थल नही है जिसे कवि योही छोड गया हो। यह सच है कि सूर की भाति भावना के क्षेत्र मे तुलसी ने उतनी लम्बी उडाने नही भरी और वह परिमार्जन के साथ ही आगे बढा है, परन्तु फिर भी आवश्यक अग और स्थल अधूरे नही रह पाये है। मानव-जीवन के भावनात्मक पहलुओ पर बडी सतर्कता और कोमलता के साथ कवि ने कलम चलाई है। कवि के चित्रण बडे साफ, निखरे हुए, आकर्षक और प्रभावात्मक बन पडे है। भावुक भक्त के हृदय की तो बात पूछो ही नही, वरन् साधारण लोग भी उन्हे पढकर गद्-गद् हो उठते है। शिशु का एक चित्र देखिए .

बर दन की पंगति कुन्द कली, अधराधर पल्लव खोलन की।
चपला चमकै धन बीज जगै, छवि मोतिन माल अमोलन की॥
घुँघरारी लटैं लटकैं मुख ऊपर, कुण्डल लोल कपोलन की।
निछावरि प्रान करै तुलसी, बलि जाऊँ लला इन बोलन की॥

—कवितावली।

सीता के पुर से निकलकर बन-गमन का भावनात्मक चित्र देखिये, नाजुक खयाली की कवि ने हद कर दी है ·

पुर तें निकसी रघुबीर बधू धरि धीर दये मग में डग द्वै।
झलकीं भरि भाल कनी जल की, पुट सूखि गये मधुराधर वै॥
फिर पूछति है 'चलनो अब केतिक, पर्नकुटी करिबो कित ह्वै।
तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ असि चारु चलीं जल च्वै।

इसी प्रकार राम वियोग मे तडपते हुए दशरथ, भरत, कौशल्या और उनके घोडो के भी चित्रण कवि ने खूब किये हैं। बाल्यावस्था के कलात्मक चित्र अकित किए हैं। जनक की वाटिका मे राम और सीता के मिलन का चित्र बडा ही भावना प्रधान और चित्ताकर्षक है। मानवी वृत्तियो और भावनाओ के चित्रणो के साथ-ही-साथ कवि ने प्रकृति का चित्रण भी पूर्ण भावनात्मक ढंग से किया

है। चित्रकूट के जो चित्र कवि ने अकित किए है वे बहुत ही सरल और कोमल है। इस प्रकार कवि ने वात्सल्याकर्षण, प्रेमाकर्षण, सौदर्याकर्षण सभी को लिया है और अपनी कुशल तूलिका से उसका चित्रण किया है।

भावना का जो उद्रेक तुलसी की रचना मे है उसमे सरसता भी उत्कृष्ट श्रेणी की पाई जाती है। भावना की मानसिक दिशाओ के चित्रण मे समयोपयुक्त रस को कविता मे भरने का प्रयास बहुत ही सफलतापूर्वक हुआ है। चित्रणो मे कही भी ऐसे स्थल रह नही गए है जहाँ रसानुभूति हो सकती हो और हुई न हो। सीता और राम के सात्विक प्रेम को लेकर भी प्रथम मिलन मे मिलन-शृगार की झलक स्पष्ट हो उठती है। यह सत्य है कि तुलसी का यह पक्ष जायसी और सूर से पीछे रह जाता है, परन्तु जो भारतीय सकोच हमे इसमे दिखलाई पडता है वह जायसी के मुँहतोड प्रेम मे कहाँ उपलब्ध हो सकता है।

भक्त कवि तुलसी को इस प्रकार भावना के क्षेत्र मे किसी से भी पीछे नही कहा जा सकता। भावनात्मक स्थलो की नजाकत का उसने ध्यान रखा है और उनके चित्रण मे काफी कुशलता बरती है।

तुलसी का मूल्याँकन हम उक्त तीनो ही प्रधान धाराओ के अतर्गत कर सकते है।

□

९ | राम-साहित्य की परम्परा

रामभक्ति शाखा भक्ति के सम्यक् प्रचार और प्रसार के लिए जिस सगुण निरूपण की आवश्यकता थी उसका आधार सर्वप्रथम रामानुजाचार्य ने स्थापित किया। शकराचार्य के निरूपण मे ब्रह्म की सगुण सत्ता को स्वीकार तो अवश्य किया गया था, परन्तु उसका वह रूप स्थिर नही हो सका था जिसके धरातल पर भक्ति की अमृतवर्षा हो सके और फिर वह अमृत-धारा बहकर देश की सूखती हुई धार्मिक खेती को एक बार फिर से हरियाली प्रदान कर सके। आपने विशिष्टाद्वैतवाद का प्रसार किया और विश्व के सब प्राणियो को चिद-चिद्विशिष्ट ब्रह्म का अश माना।

रामानुज की शिष्य परम्परा देश मे फैली। १४वी शताब्दी मे राघवानन्द जी, जो काशी मे रहते थे और वैष्णव संप्रदाय के आचार्य थे, उन्होने रामानन्द जो को अपना शिष्य बनाया। रामानन्द जी उनसे दीक्षा लेकर देशाटन के लिए निकले। कहते है मनिकपुर के शेख तकी से इनका मुबाहिसा हुआ। शेख तकी सिकन्दर लोदी के जमाने मे हुए थे। रामानुज सम्प्रदाय मे केवल द्विजो को ही दीक्षित किया जाता था, लेकिन रामानन्द जी ने सब जाति के लोगो के लिए कर्म का मार्ग खोल दिया और सबको दीक्षा दी जाने लगी। इसका अर्थ यह नही था कि वर्णाश्रम व्यवस्था को ही तोड डाला। समाज के क्षेत्रो मे वर्ण और आश्रमों की व्यवस्था ज्यो-की-त्यो रही केवल भक्ति के क्षेत्र मे सबको समान अधिकार दे दिया गया। यह भी अपने युग की एक क्राति थी। कर्म-क्षेत्र मे आपने शास्त्र-मर्यादाओ को सुरक्षित रखा और उपासना के क्षेत्र मे उन्हे तोड़ दिया। महाकवि कबीर रामानन्द जी की ही शिष्य परम्परा मे है और राम नाम को उन्होने आपसे ही ग्रहण किया। भक्त माल मे रामानन्द जी के बारह शिष्य—अनतानन्द, सुखानन्द, सुरसुरानन्द, नरहर्यानन्द, पीपा, कबीर, सेन धना, रैदास, पद्मावती और सुरसुरी माने गये हैं।

इस प्रकार राम-भक्ति का प्रचार और प्रसार देश के विभिन्न भागो मे हो

रहा था। रामानुज और रामानन्द जी शिष्य परम्परा के भक्त रामनाम का गुणगान करते थे। परन्तु हिन्दी साहित्य के भडार को राम-निधि से सर्वप्रथम भर देने वाला व्यक्ति गोस्वामी तुलसीदास ही है।

तुलसीदास विक्रम की १७वी शताब्दी मे राम-नाम को जन-जन की वाणी बना देने का महाकवि तुलसी ने व्रत लिया और उनका वह व्रत फलीभूत हुआ। राम-नाम और राम भक्ति ने दूसरा ही रूप ग्रहण कर लिया। गोस्वामी जी के जीवन साहित्य, तथा अन्य विभिन्न आवश्यक अगो पर पूरी पुस्तक मे प्रकाश डाला गया है, इसलिए यहाँ हम उसका विशेष उल्लेख न करके इस परम्परा मे आने वाले अन्य कवियो का सक्षेप मे उल्लेख करते है।

स्वामी अग्रदास : रामानन्द जी के शिष्य अनन्तानन्द, अनन्तानन्द जी के शिष्य कृष्णदास पयहारी तथा कृष्णदास पयहारी के शिष्य अग्रदास जी थे। भक्त-माल के रचयिता नाभादास जी इन्ही के शिष्य थे। राजपूताने मे गल्ता की गद्दी पर यह रहते थे। संवत् १६३२ मे यह जीवित थे। इनकी चार पुस्तके है .

१. हितोपदेश उपखाणाँ बावनी।
२. ध्यान मजरी।
३. राम-ध्यान मंजरी।
४. कुँडलिया।

अग्रदास जी की कविता कुछ-कुछ नन्ददास जी की कविता से मिलती-जुलती है।

नाभादास यह अग्रदास जी के शिष्य थे। यह गोस्वामी तुलसीदास से काफी दिन बाद तक जीवित रहे। सवत् १६४२ के पश्चात् इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ भक्त माल की रचना हुई। इसमे २०० भक्तो के चमत्कारात्मक चरित्रो का चित्रण ३१६ छप्पयो मे चित्रित है। इनमे पूरे जीवन-चरित्र पर प्रकाश नही डाला गया, केवल भक्ति को प्रश्रय देने वाली घटनाओ का ही उल्लेख किया गया है। भक्तो की करामातो का इसमें उल्लेख है, जिसका कि प्रभाव बाद में जाकर जनता के ऊपर काफी भ्रमात्मक पडा।

नाभादास जी की जाति के विषय मे निश्चित् मत प्राप्त नही है। कुछ उन्हे डोम तथा कुछ क्षत्री बतलाते है। कहा जाता है यह एक बार तुलसीदासजी से काशी मे मिलने गये, परन्तु उनके ध्यान-मग्न होने के कारण भेट न हो सकी। नाभादास जी वहा एक क्षण भी इन्तजार न करके सीधे वृदावन मे चले आये। पूजा से उठने पर जब तुलसीदासजी को यह सूचना मिली तो वह वृंदावन मे उनसे मिलने गये। वहाँ उस समय भडारा हो रहा था। तुलसीदास जी एक साधारण से स्थान पर बैठ गये। नाभादास जी ने जान-बूझकर उधर ध्यान न दिया। सबके लिए परसने को पत्तल दी गई परन्तु तुलसीदास के पास कुछ नही था।

ऐसी दशा में उन्होंने कहते हैं एक भक्त की जूती को ही उठा लिया। इस पर नाभादास जी गद्-गद् हो उठे और उन्होने तुलसीदास को छाती से लगा लिया। कहते हैं पहिले नाभादास जी ने तुलसी से क्रुद्ध होकर जो कविता लिखी थी उसकी प्रथम पक्ति यह थी

"कलि कुटिल जीव तुलसी भये वालमीकि अवतार धरि।"

आपने राम-भक्ति विषयक कविताएँ लिखी है। यह ब्रज भाषा मे ही कविताएँ लिखते थे। आपने दो अष्टयाम भी बनाये, एक ब्रज भाषा मे तथा दूसरा गद्य मे। इनके गद्य और पद्य के दो उदाहरण देखिये

गद्य तब श्री महाराज कुमार प्रथम श्री वशिष्ठ महाराज के चरन छुइ प्रनाम करत भए। फिर अपर वृद्ध समाज तिनको प्रनाम करत भए। फिरि श्री राजाधिराज जू को जोहार करिकै श्री महेन्द्रनाथ दशरथ जू के निकट बैठत भए।

पद्य ·

अवधपुरी की सोभा जैसी। कहि नहिं सकहिं शेष श्रुति तैसी॥
रचति कोट कलधौत सुहावन। विविध रंग मति अति मनभावन॥
चहुँ दिसि विपिन प्रमोद अनूपा। चतुर बीस जोजन रस रूपा॥
सुदिसि नगर सरजू सरि पावनि। मनिमय तीरथ परम सुहावनि॥
बिगसे जलज, भृंग रस भूले। गुञ्जत जल समूह दोउ कूले॥
परिखा प्रति चहुँ दिस लसति, कंचन कोट प्रकाश॥
विविध भाँति नग जग भगत, अति गोपुर पुर पास॥

—'हिन्दी साहित्य का इतिहास' रामचन्द्र शुक्ल पृष्ठ-१४८

प्राणचन्द चौहान : आपने सवत् १६६७ मे सवाद रूप नाटक की शैली मे रामायण महानाटक की रचना की। कविता का नमूना देखिए :

कातिक मास पच्छ उजियारा। तीरथ पुन्य सोम कर वारा॥
वा दिन कथा कीन्ह अनुमाना। शाह सलेम दिलीपति थाना॥
सवत् सोरह सै सत साठा। पुन्य प्रगास पाय भय नाठा॥
जो सारद माता करु दाया। बरनौं आदि पुरुष की माया॥
जेहि माया कह मुनि जग मूला। ब्रह्मा रहे कमल के फूला॥
निकसि न सक माया कर बांधा। देवहु कमल नाल के राँधा॥
आदि पुरुष बरनों केहि भाँती चाँद सुरज तहँ दिवस न राती॥
निरगुन रूप करै सिव ध्याना। चार वेद गुन जोरि बखाना॥
तीनों गुन जानै ससारा। सिरजै पालै भेजनहारा॥
श्रवन बिना सो अस बहुगुना। मन में होई सु पहले सुना॥
देषै सब पै आहि न आँषी। अन्धकार चोरी के साषी॥

तेहिकर दहुँ को करै वषाना। जिहि कर मर्म बेद नहिं जाना ॥
माया सींव भो कोउ न पारा। शँकर पँवरि बीच होई हारा ॥
—हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल-पृष्ठ १४६

हृदयराम हृदयराम जी कृष्णदास जी के सुपुत्र थे। यह पजाब के रहने वाले थे और आपने भाषा हनुमन्नाटक की रचना की है। इस ग्रन्थ की भाषा परिमार्जित है और उसमे काव्य-कला का सौन्दर्य भी विद्यमान है। प्रधानतया कवित्त और सवैयो का कवि ने प्रयोग किया है। सवाद बहुत ही रोचक बन पडे हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने समय की प्रचलित पद्धतियो को अपनाया परन्तु रूपक की दिशा मे उनकी प्रतिभा का प्रसार न हो सका। राम-साहित्य की उस कमी की पूर्ति हृदयराम जी ने भाषा हनुमन्नाटक की रचना करके की। इस नाटक की कविता देखिए

देखन जौ पाऊँ तौ पठाऊँ जमलोक हाथ,
दूजौ न लगाऊँ, वार करौं एक कर को।
मीजि मारौं उर ते उखारि भुजदँग, हाड़
तोरि डारौं बर अविलोकि रघुबर को।
कासों राग द्विज को, रिसात भहरात राम ॥
अति थहरात गात लागत है धरको।
सीता को संताप मेटि प्रगट प्रताप कीनो ॥
को है वह आप चाप तोरयो जिन हर को।

× × ×

एहो हनू ! कह्यौ श्री रघुबीर कछू सुधि है सिय की छिति माँही ?
है प्रभु लंक कलंक बिना सुबसै तहँ रावन बाग की छाँही ॥
जीवित है ? कहिवेई को नाथ, सु क्यों न मरी हमतें बिछु राही ?
प्रान बसै पद पकज में जम आवत है पर पावत नाहीं ॥
—हिन्दी साहित्य का इतिहास— रामचन्द्र शुक्ल-पृष्ठ १५०

राम-काव्य-धारा का प्रवाह उस प्रकार न हो सका जिस प्रकार कृष्ण-काव्य-धारा का हुआ। इसके अन्य कारण हं। तो-हो परन्तु सबसे प्रधान कारण यह था कि तुलसी की सर्वतोमुखी प्रतिभा का जगमगाता हुआ सूर्य साहित्य के क्षेत्र मे इतना प्रकाश लेकर आया कि उसके अन्दर छोटे-मोटे तारागण तो क्या चन्द्रमाओ को भी विलीन हो जाना पडा। इसलिए सौ-डेढ-सौ वर्ष तक कोई अन्य प्रतिभा सम्पन्न कवि रामचरित को लेकर सिर ऊँचा नही कर सका। विक्रम की १६ तथा २० वी शताब्दी मे बाबा रामचरणदास और रघुनाथ दास इत्यादि ने कुछ सुन्दर रचनाएँ लिखी।

कृष्ण-भक्ति शाखा के प्रभाव मे आकर आगे राम-भक्ति शाखा मे भी

श्रृगार की भावना ने प्रवेश किया । इसके प्रवर्तक रामचरणदास जी है जिन्होने पति-पत्नी भाव की उपासना प्रचलित की । इनकी शाखा का नाम 'स्वसुखी' शाखा पडा । अपने मत के प्रचार के लिए आपने बहुत से कल्पित ग्रन्थो को प्राचीन कहा और उनमे से एक ग्रन्थ 'कोशल खण्ड' के आधार पर रासलीला का भी प्रारम्भ राम से ही माना । उमका मत है कि राम ९९ रास कर चुके थे । केवल एक ही रास शेष थी और उसी के लिए कृष्ण को अवतार लेना पडा ।

चिरान-छपरा निवासी जीवाराम जी ने रामचरणदास जी के 'पति-पत्नी-भाव' को 'सखी भाव' मे बदलकर और व्यापक बना दिया । इनकी शाखा का नाम 'तत्सुखी शाखा' पडा । अयोध्या निवासी युगलानन्यशरण ने इस शाखा का प्रसार और प्रचार किया । इन राम भक्तो ने 'चित्रकूट को वृन्दावन के 'कुज-वनो' की सज्ञा प्रदान की । अयोध्या मे यह रसिक पथ आज भी मौजूद है ।

इस प्रकार राम के पुनीत चरित्र को उनके ही भक्तो द्वारा जहाँ एक ओर आदर्श की पराकाष्ठा पर ले जाया गया वहाँ दूसरी ओर कलकित करके घृणा की सामग्री भी बना दिया गया । परन्तु इससे तुलसी का वह व्यापक प्रभाव नष्ट न हो सका । राम भक्तो मे जो स्थान तुलसी का है वह 'पति-पत्नी-भाव' या 'सखी भाव' रखने वाले भक्तो का कदापि नही हो सकता ।

□

१० | तुलसी-साहित्य का आधार

कवि या लेखक अपने साहित्य की रचना के लिए जिस आधार को खोजता है वह या तो काल्पनिक होता है, जिसे कवि या लेखक स्वय अपनी कल्पना से गढता है, या वह पौराणिक अथवा ऐतिहासिक होता है, जिसमे वह अपना कही-कही पर कलात्मक पुट देकर आगे बढता है, परन्तु इस दूसरे प्रकार के आधार मे कवि की कल्पना को उतनी स्वतन्त्रता नही होती जितनी प्रथम प्रकार के आधार से प्राप्त होती है। इस आधार के अन्दर निम्नलिखित वस्तुएँ व्यक्ति खोजता है .

१. कथा।
२. कथा के पात्र।
३. पात्रो मे भरने के लिए वह बात जो कवि या लेखककहना चाहता है।

गोस्वामी तुलसीदास ने अपने काव्य के आधार-स्वरूप किसी काल्पनिक गाथा को मान्यता न देकर भारतीय वातावरण मे आदि कवि वाल्मीकि द्वारा प्रस्तुत राम-गाथा को ही अपनाया। पात्रो के रूप मे राम उनका नायक बना और रामायण के अन्य पात्र अपने अपने स्थान पर आ गये। अब रही सिद्धान्तो की बात या कवि की उन पात्रो मे भरने वाली सामग्री की बात, तो वह हम तुलसी की जिस विचारधारा का इस पुस्तक के दूसरे अध्याय मे उल्लेख कर चुके हैं, वही कवि ने सफलतापूर्वक उनके अन्दर अपने कलात्मक चमत्कार द्वारा भरी।

राम-कथा को आदिकवि के पश्चात् सस्कृत के बहुत से कवियो ने अपने काव्य-स्वरूपो मे अपनाया है। बहुत से काव्यो तथा नाटको की रचना राम को ही लेकर हुई है। प्राकृत-साहित्य मे भी राम गाथा को एकदम छोड नही दिया गया। राम-गाथा का उल्लेख हमे सुमात्रा, जावा, कम्बोडिया इत्यादि के लोक नाटको मे भी मिलता है।

नाना पुराण, वेद, आगम सम्मत रामकथा को लेकर गोस्वामी तुलसीदास

ने अपने काव्य की भाषा मे रचना की । गोस्वामी जी ने मानस की रचना में पुराण, वेद और आगमो के अतिरिक्त मिलने वाले अन्य काव्य, नाटक, चम्पू तथा इतिहास से भी सहायता ली है । फिर इनके अतिरिक्त कवियोचित साहित्यिक पुटे भी उसमे कम नही है । मर्यादा के अन्दर रहकर कवि ने कल्पना की उडानो के भी बन्धन खोले है ।

मानस मे मूल कथा राम की ही है परन्तु कई आनुषगिक कथाएँ भी उसमे है । ये सब कवि ने उक्त ग्रन्थो से ले ली है । उक्तियो के लिए आपने पूर्ववर्ती कवियो की रचनाओ से सहायता ग्रहण की है । मूल कथा के क्रम मे कही-कही भेद होने पर भी कथा आद्योपान्त वाल्मीकि द्वारा दी गई ही कथा है ।

वाल्मीकि रामायण मे राम को विष्णु का अवतार माना गया है । बालकाण्ड मे ब्रह्मा आदि देवता विष्णु को लोक कल्याण के लिए नियुक्त करते है । विष्णु इसीलिए दशरथ को अपना पिता बनाते है । इसी प्रकार राम मे विष्णु का समावेश वाल्मीकि ने अन्यत्र भी कई स्थलो पर किया है । परन्तु इन साकेतिक प्रयोगो को विद्वान लोग कम महत्त्व देकर वाल्मीकि द्वारा चित्रित राम के चित्रण मे भगवान् की स्थापना न करके केवल एक आदर्श पुरुष की ही स्थापना करते हैं । आर्य सभ्यता का प्रतीक राम वाल्मीकि ने अपने काव्य मे चित्रित किया था । उनका राम महान् मानव हो सकता है परब्रह्म राम नही । लेकिन गोस्वामी तुलसीदास का राम परब्रह्म राम था । इस समय निर्गुण विचारधारियो ने जनता की आस्था को राम के ईश्वरीय स्वरूप से हटा दिया था । इसीलिए तुलसीदास जी वाल्मीकि की भाति बीच का मार्ग ग्रहण नही कर सकते थे । तुलसी ने परात्परब्रह्म राम की नर लीलाओं को लेकर मानस की रचना की । यह प्रेरणा गोस्वामी तुलसीदास को वाल्मीकि रामायण से न मिलकर अध्यात्म रामायण से मिली । वाल्मीकि के नर-श्रेष्ठ राम मे इस प्रकार तुलसीदास ने ईश्वरत्व की स्थापना की और जनता के बीच निर्गुण पथियो की फैली सगुण के प्रति अधकारपूर्ण भावना को उखाड फेंकने का सफल प्रयास हुआ ।

तुलसी साहित्य के आधारो मे हम वाल्मीकि रामायण तथा अध्यात्म रामायण को प्रधान रूप से पाते है । कथा प्रवाह इन्ही दो आधारो को लेकर चलता है परन्तु यत्र-तत्र कुछ उक्त दोनो ग्रन्थो से मुक्त प्रसग भी मिलते है जिनकी प्रेरणा कवि को हनुमन्नाटक, प्रसन्न राघव इत्यादि ग्रन्थो से मिली है । जनकपुर में जनक-वाटिका मे राम और सीता का साक्षात्कार इसी प्रकार की घटना है, जिसने काव्य को चार चाँद लगा दिए है । इसी प्रकार के अन्य बहुत से स्थल है । वन-पथ मे नर-नारियो का राम, लक्ष्मण और सीता को देखकर वर्णन करना भी कवि की मौलिकता के ही द्योतक है । कथा मे बहुत से सवाद मौलिक है । रामचरित की परम्परा मे कवि लिखता है :

व्यास आदि कवि पुंगव नाना, जिन्ह सादर हरि सुजस बखाना।
चरन कमल बन्दहुँ तिन्ह केरे पुरवहुँ सकल मनोरथ मेरे।

राम के स्वरूप का चित्रण कवि ने पौराणिक ढग से ही किया है। श्वेताश्वर उपनिषद, निनारदोपनिषद और श्रीमद्‌भगवतगीता के बहुत से श्लोकों का कविता बद्ध उल्था भी हम देखना चाहे तो मानस मे मिल सकता है। तुलसी ने तो प्राचीन काव्यो का सार तत्व ही मानस मे भरने का सफल प्रयास किया है। विष्णु पुराण में वाल्मीकि रामायण के तो बहुत से तत्वो को ज्यो-के-त्यो भाषा बदलकर रख दिया गया है। यह सब कवि की योग्यता तथा सर्व विचार समन्वय की क्षमता के द्योतक हैं। यहाँ यदि कुछ विद्वान् यह समझ बैठे कि गोस्वामीजी ने उक्त ग्रन्थो के भावो इत्यादि की चोरी करके अपने ग्रन्थ की रचना की है, तो यह विचार बहुत ही सकुचित दृप्टिकोण का द्योतक होगा। तुलमी का अध्ययन बहुत व्यापक था और समन्वय की भावना उसके अन्दर महान् थी। वह अपने युग की फैली हुई धार्मिक विषमता को समाप्त करके एक ऐसी धारा प्रवाहित करना चाहते थे कि जिसमे सब छोटी मोटी धाराएँ आकर विश्राम कर सकें।

तुलसी ने जो कुछ भी प्राचीन ग्रन्थों मे पढा और गुना उसे अपने विचारों तथा भावनाओ मे सँजोकर अपने साहित्य मे भर दिया। यही एक सफल कलाकार की प्रतिभा की चरम सफलता है। जहाँ कही की जो भी उक्ति उन्हे रुची वह उन्होने अपनी बना ली और अपने साहित्य में उसे सँजोकर काव्यात्मक रूप दे दिया। यह सब गोस्वामी जी ने चोरी की नीयत से न करके जान बूझकर किया है। परम्परा मे प्राप्त राम-कथा को कवि ने अपनाया है और उसमे जो कुछ भी सामग्री उसे मिली है जटाने का प्रयास किया है। सनातन धर्म के सिद्धान्तों का प्रतिपादन ही उनका साहित्य है। तुलसी साहित्य मे भारतीयता का प्रतिपादन विशेष रूप से सामने आता है। तुलमी ने अपने साहित्य मे जो कुछ भी कहा है वह भारतीय वातावरण में पहिले से मौजूद था, उसी का प्रतिपादन तथा स्पष्टीकरण उनका साहित्य है।

कथा की परम्परा: राम कथा सर्वप्रथम शिव ने कुम्भज ऋषि से सुनी थी। सनकादि ऋषियो ने भी यह कथा कुम्भज ऋषि से ही सुनी थी। यही कथा शिव ने लोमश मुनि से कही। फिर लोमस मुनि ने यह कथा कागभुशुण्डी को सुनाई। कागभशुण्डि से यह कथा याज्ञवल्क्य से सुनी:

'तेहि सन जागबलिक पुनि पावा'

कथा की इस परम्परा का उल्लेख गोस्वामी तुलसीदास ने मानस मे यत्र-तत्र किया है। इसी कथा को कवि ने अपने साँचे मे ढाला है:

जगबलिक जो कथा सुहाई, भारद्वाज मुनिबरहि सुनाई।
कहिहऊँ सोइ सवाद बखानी, सुनहु सकल सज्जन सुखमानी॥

मानस की कथा में चार वक्ता है और चार ही श्रोता। जो कथा शिव ने पार्वती तथा कागभुशुण्डि ने गरुड को सुनाई थी वही भारद्वाज को याज्ञवल्क्य ने सुनाई और उसी कथा को अपने गुरु से गोस्वामी तुलसीदास ने सुनकर भक्तो के हेतु मानस की रचना की।

गरुड विष्णु के साथ रहते थे और अत्यन्त ज्ञानी थे। एक दिन उन्हे भी अज्ञान ने घेर लिया। उन्होने राम को मेघनाद के नागपाश मे बधा देखा तो भ्रम हुआ कि यह कैसे परब्रह्म राम है। अपना सदेह मिटाने के लिए वह कागभुशुण्डि के पास पहुँचे।

दूसरी ओर सती शिव के साथ राम को सीता के विरह मे वन के अन्दर मानवोचित आचरण करती हुई देखती है। उसे भी भ्रम होता है। शिव तो अपने इष्टदेव का अभिवादन करके प्रसन्न होते हैं परन्तु सती का भ्रम नही टूटता। सती ने शिव पर अपना भ्रम प्रकट किया तो शिव ने समझाया परन्तु उसका भ्रम तब भी दूर न हुआ और वह राम की परीक्षा लेने के लिए सीता का वेश धारण करके उनके सामने-सामने चलने लगी। राम यह देखकर मन ही मन हँसे और

> जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू। पिता समेत लीन्ह निज नामू ॥
> कहेउ बहोरि कहाँ बृष केतू। बिपिन अकेलि फिरहु केहि हेतू ॥

सीता का वेश धारण करके सती शिव के लिए ग्राह्य नही रही थी। सती को भी अपनी मूर्खता पर बडी ग्लानि हुई और वह अपने पिता के यज्ञ मे जाकर भस्म हो गई, तथा फिर हिमाँचल के घर पार्वती के रूप में जन्म लिया।

इसी प्रकार का भ्रम एक बार भारद्वाज ऋषि के मन मे भी उत्पन्न हुआ जिसका निराकरण याज्ञवल्क्य ने किया।

ये सब कथाएँ गोस्वामी तुलसीदास ने इसलिए दी हैं कि जिससे आम लोगो मे राम के परब्रह्म होने के विषय मे जो शकाएँ उत्पन्न हो उनका रामायणी लोग इन कथाओं को सुनाकर निराकरण कर सकें।

मानस मे जहाँ भी ऐसे प्रसग आये हैं कि पाठको को राम के परब्रह्म होने मे सशय होने लगे तो गोस्वामी जी वही पर उसे स्पष्ट करके कहते है कि यह तो नर-लीला के हेतु सब कुछ हो रहा है वरन् तो राम वास्तव मे परब्रह्म है। जब गरुड, पार्वती ओर भारद्वाज को भ्रम हो सकता है तो साधारण लोगो की तो बात ही क्या है?

परब्रह्म राम का कपट-मृग के पीछे दौडना, सीता की खोज मे वन-वन विरहाकुल घूमना इत्यादि उनके परब्रह्मत्व को ठेस लगाते है, परन्तु कवि उन्हे अपने इष्टदेव की नर-लीला मात्र ही समझता है।

□

सूरदास

१ | सूरदास की जीवनी

महाकवि 'सूर' के जीवन-वृत्त की खोज करने के लिए जो सबसे पहला और विश्वस्त साधन उपलब्ध है वह उनकी अपनी रचनाएँ हैं और उन रचनाओ से जो अधूरी सूचनाएं प्राप्त होती हैं, उनका सहारा लेकर जीवन-कथा को आगे बढाया जाता है । यह अत साक्ष है, जिससे सूर के जीवन की कुछ घटनाओ पर प्रकाश पडता है, और उनके जीवन के यत्र-तत्र कुछ पहलू उभर कर सामने आते हैं । इनके अतिरिक्त बाह्य साक्ष के अन्तर्गत पुष्टि सम्प्रदाय के उपलब्ध ग्रन्थ, सम-सामयिक कवियो की रचनाएँ, परम्परागत मान्यताएँ और जन-श्रुतियाँ आती है, जिनसे बहुत-सी मूल्यवान् सामग्री प्राप्त होती है । प्राचीन काल के कवियो की जीवन-गाथा का आद्योपान्त क्रमबद्ध ज्ञान प्राप्त करना बहुत कठिन है, क्योकि उसे लिखने का प्रयास न तो स्वय कवियो ने ही किया और न अन्य समकालीन लेखको का ही ध्यान उस ओर गया । इसलिए जिस कवि का भी जीवन-वृत्त खोजना होगा, उसमे इसी प्रकार के अन्त. और बाह्यसाक्षो को लेकर काम चलाया जाएगा । सम्पूर्ण जीवन से परिचय प्राप्त करने के लिए उपलब्ध सामग्री बहुत-ही अपूर्ण है, और यही कारण है कि इसके आधार पर विद्वानो ने समय-समय पर जो निष्कर्ष निकाले है उनमे मतभेद पाया जाता है । अपर्याप्त अनुशीलन के फलस्वरूप निर्धारित निष्कर्षो से और सम्भावना ही क्या की जा सकती है ?

वश-परिचय 'सूर' और अष्टछाप के कवियों तथा उनकी रचनाओ पर विद्वानो ने खोज की है और 'सूर' के जीवन पर प्रकाश डाला है ।[1] यह जो कुछ

---

१. १९४३ ई० डा० मुन्शीराम शर्मा —'सूर-सौरभ' ।

१९४७ ई० डा० दीनदयाल गुप्त—'अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय' ।

१९४६ ई० डा० ब्रजेश्वर वर्मा—'सूरदास' ।

१९४८ ई० प्रभुदयाल मीतल—'सूर-निर्णय' ।

डा० पीताम्बर दत्त बड़त्थवाल—'सूरदास-जीवन सामग्री' । (सम्पादक—डा० भागीरथ मिश्र) ।

गो० श्री हरिरायजी—'सूरदास की वार्त्ता,' लीला भावनावाली, 'चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता' (स० श्री द्वारकादास पारीख), 'कीर्तन पदावली' ।

भी प्रकाश डाला गया है इसमे काफी खोजपूर्ण ढंग से विद्वानों ने कार्य किया है परन्तु उनके निष्कर्ष एक मत नही बन सके ।

महाकवि 'सूर' की जीवन-गाथा-सम्बन्धी सबसे अधिक सामग्री हमे 'चौरासी वार्ता' और 'अष्ट सखान की वार्ता' से उपलब्ध होती है। 'चौरासी वार्ता' की ८१ वी और अष्ट सखान वार्ता' की पहली वार्ता मे 'सूर'-सम्बन्धी सामग्री मिलती है। इन दो पुस्तको के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थो तथा अन्त साक्षो से मिलने वाली सामग्री बहुत कम है, इसलिए जो जीवनी हम प्रस्तुत करेंगे वह प्रधानतया इन्ही दो वार्ताओ पर आधारित होगी। यहाँ-वहाँ जो खोजपूर्ण सामग्री अन्य किसी साक्ष से उपलब्ध होगी, उसका निर्देश भी साथ-साथ करते चले जायेंगे।

'चौरासी वार्ता' से महाकवि 'सूर' के पूर्वज, माता-पिता, जन्म स्थान, जाति इत्यादि का कोई ज्ञान नही होता। वार्ता मे समय और सन्-सवत् इत्यादि का भी कही पर निर्देश नही किया गया। 'सूर' के जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओ का काल-निर्णय हमे वार्ता में नही मिलता। जन्म से लेकर सूरदासजी के आगरा-मथुरा के बीच गऊघाट पर आकर रहने तक के विषय मे कुछ नही कहा गया। वार्ता की कथा उसी समय से प्रारम्भ होती है, जब सूरदास जी गऊघाट आकर बसे। जब सूरदास जी गऊघाट पर रहते थे तभी एक दिन श्री वल्लभाचार्य जी वहाँ आये। सूरदास जी की उनसे भेंट हुई। इस समय सूरदास जी साधु-वेष मे रहते थे। सूरदास जी बल्लभाचार्य जी के दर्शनार्थ उनके पास गए और उन्हे अपना बनाया हुआ एक पद् गाकर सुनाया। यह पद् वल्लभाचार्य को बहुत प्रिय लगा और उन्होने 'सूर' को अपना शिष्य बना लिया। साथ ही श्री वल्लभाचार्य ने 'सूर' को श्रीमद्‌भागवत को गेय पदो मे करने का आदेश दिया।

महाकवि 'सूर' का स्वर बहुत मीठा था। और उनकी पद्-रचना भी वैसी ही मधुर थी। वल्लभाचार्य 'सूर' पर इतने मुग्ध हुए कि उन्हे अपने श्री नाथ जी के मन्दिर की कीर्तन-सेवा सौप दी। सवत् १५७६ मे इस मन्दिर को पूरनमल खत्री ने गोवर्द्धन पर्वत पर बनवाया था। श्री वल्लभाचार्य जी के सम्पर्क मे आकर सूरदास जी के जीवन की धारा ही बदल गयी। उनकी कविता-शक्ति को एक व्यापक विषय मिल गया और वह था भी उनकी प्रतिभा के अनुरूप ही। सूरदास ने जिन सहस्रो पदो की रचना की है, उनकी प्रेरणा श्री वल्लभाचार्य से प्राप्त कर यह गऊघाट का साधारण गायक साधु महाकवि 'सूर' बन गया।

'सूर' के गऊघाट पर आने से पूर्व की गाथा अप्राप्य है। उसके विषय मे हरिराय जी ने भाव-'प्रकाश' मे लिखा है कि सूरदास जी का जन्म स्थान दिल्ली के पास एक ग्राम सीही है। 'भाव-प्रकाश' के आधार पर आपके पिता सारस्वत ब्राह्मण थे। इनके परिवार की दशा बहुत गरीबी की थी। यह अपने पिता के

चौथे पुत्र थे, जन्मान्ध। बाल्यावस्था मे ही इन्होने घर त्याग दिया था और वहां से चार मील की दूरी पर जाकर एक पीपल के वृक्ष के नीचे रहने लगे थे। यही पर इनके अठारह वर्ष व्यतीत हुए। फिर यह यहाँ से गऊघाट पर चले गए। हरिराय-कृत 'भाव-प्रकाश' का रचना-काल 'सूर' की मृत्यु के लगभग १०० वर्ष पश्चात् माना जाता है। इतने लम्बे काल तक 'सूर' के जीवन की वह गाथा जिससे पुष्टिमार्गी भक्त लोगो का कोई सम्बन्ध ही नही रहता, अपने सही रूप मे प्रचलित रही होगी, यह बात भ्रामक है। हरिराय जी की खोज के बावजूद भी यह सूचना गलत हो सकती है।

जाति हरिराय जी ने सूरदास को सारस्वत ब्राह्मण माना है, जिसका समर्थन अन्त साक्ष से नहीं होता। 'साहित्य-लहरी' के निम्नलिखित पद देखिए, जिनका उल्लेख प्राय सभी इतिहासकारो ने किया है:

'प्रथम ही प्रथु-जाग तें भे प्रगट अद्‌भुत रूप।
ब्रह्मराव विचारि ब्रह्मा राखु नाम अनूप॥
\+ \+ \+
तासु वस प्रसंस में भौ चन्द चारु नवीन
तासु वस अनूप भौ हरचन्द अति विख्यान।
\+ \+ \+
आगरे रहि गोपचल में रह्यौ ता सुत बीर।
पुत्र जनमे सात वाके महा भट गभीर॥
\+ \+ \+
भयौ सातों नाम सूरज चन्द मन्द निकाम।
सो समरि करि साहि सों, सब गये विधि के लोक।
रह्यो सूरज चांद दृग तें हीन भरि-भरि सोक॥
\+ \+ \+
प्रबल दच्छिन विप्र-कुल तें शत्रु ह्वै है नास।'

यह पद सूरदास जी के जीवन पर प्रकाश डालता है। 'प्रथु जाग' कुछ प्रतियो मे 'प्रथ-जागत' लिखा हुआ भी मिलता है, जिसके आधार पर 'सूर' को भाट मान लेना अधिक कठिन नही। परन्तु प्रो० मुन्शीराम जी के मतानुसार यह लेख 'प्रथु-जाग' अर्थात् 'प्रथु का यज्ञ' ही है। इसके अनुसार 'सूर' की वश परम्परा आदि पुरुष 'ब्रह्मराव' से स्थापित होती है और उनका जन्म पृथु के यज्ञ से हुआ था। 'चन्द' कवि का जन्म भी इसी वश मे हुआ। प्रो० मुन्शीराम जी इसे ब्राह्मण वश मानते है। चन्द के वश मे हरचन्द ने जन्म लिया, जिनके सात पुत्र हुए। ये सभी एक-दूसरे से बलवान् थे। ये अपने पिता के साथ आगरा के निकटवर्ती गोपाचल मे रहा करते थे। 'सूर' इन सब मे छोटे थे। कहते हैं, इनके छ. बड़े भाइयो की मृत्यु मुसलमानों के साथ युद्ध मे हुई और अकेले यही

अन्धे होने के कारण बच गए। भाइयो की मृत्यु से दुखित होकर एक दिन यह कुएँ मे गिर पडे। परन्तु कहावत प्रचलित है कि इस कुएँ से इन्हे स्वय कृष्ण भगवान् ने बाहर निकाला और आश्वासन दिया कि उनके भाइयो के सहार-कर्ताओ का विनाश एक दिन दक्षिण के एक ब्राह्मण-कुल द्वारा होगा। उपर्युक्त पद की अन्तिम पक्ति मे इस भाव का आभास मिलता है। दक्षिण के विप्र-कुल से उनका अभिप्राय 'पेशवा-वश' से है। मिश्रबन्धु तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इत्यादि इतिहासकार इसे प्रक्षिप्त मानते है। पेशवा लोग इतिहास मे आते ही 'सूर' से २०० वर्ष बाद हैं। उनके पहले से 'सूर' द्वारा निर्देश किया जाना युक्तिसगत नही ठहरता। परन्तु प्रो० मुन्शीराम इसे प्रामाणिक कहते हैं।[1] उनका कहना है कि दक्षिण के विप्र-कुल का अर्थ पेशवाओ से जोडना गलत है। 'सूर' का अभिप्राय दक्षिण के विप्र-कुल से श्री वल्लभाचार्य से रहा होगा और शत्रुओ का अभिप्राय उनके भाइयो का विनाश करने वाले मुसलमानो से न होकर भक्ति मे बाधा उत्पन्न करने वाले काम, क्रोधादि से होगा। 'सूर' के इस पद मे सूर के पितामह और सातो भाइयों के नाम मिलते है परन्तु पिता का नाम नही मिलता। कहते है कि उनके पिता ने अपने पुत्रो की मृत्यु हो जाने पर मुसलमान धर्म ग्रहण कर लिया था। यह धर्म परिवर्तन, यह सत्य है कि बलात् हुआ, परन्तु सूरदास जी इसे घृणित कार्य समझते थे। इसी घृणा के फलस्वरूप उन्होने इस पद मे अपने पिता के नाम का उल्लेख नही किया।[2]

'साहित्य-लहरी' का यह पद प्रक्षिप्त मालूम होता है, क्योकि यदि यह पद स्वय 'सूर' का लिखा हुआ होता तो कोई कारण नही था कि इस प्रमाण का प्रभाव वार्ता पर न पडता। वार्ता मे मिलने वाली कथा से यह बिलकुल मेल नही खाता। हो सकता है कि इस पद की रचना किसी ने बाद मे करके इसे ग्रन्थ मे जोड दिया हो, परन्तु बाद मे जोडी हुई होने के कारण इसे अप्रामाणिक कह देना उचित नही। बहुत-सी सत्य बाते काफी दिन तक किवदन्तियो के रूप मे चल-कर फिर पुस्तक के रूप मे सामने आती है। 'सूर' को चन्दभट्ट का वशज 'भविष्य पुराण' ने भी माना है।[3]

इस प्रकार सूरदास जी कि जाति के विषय गे दो मत निर्धारित हुए, एक उन विद्वानो का जो 'साहित्य-लहरी' को आधार मानकर चलते हैं। और दूसरा उनका जो 'चौरासी वैष्णवन क' वार्ता' 'भक्तमाल की टीका 'और 'भक्ति विनोद'

---

१. 'सूर-सौरभ' प्रथम भाग पृ० ३२

२. वही पृ० १५।

३. **सूरदास इतिज्ञेय कृष्णलीलाकर कवि.।**
शम्भुर्वैचन्द्र भट्टस्य कुले जातो हरिप्रिय ।।
'प्रतिसर्ग पर्व' तीसरा भाग, अध्याय २२, श्लोक ३०।

मियाँसिह कृत को आधार मानते है। प्रथम मतावलम्बी सूरदास को भाट मानते है, परन्तु इन माननेवालो की सख्या बहुत कम है। प्रो० मुन्शीराम इस पद को तो प्रामाणिक मानते है परन्तु सूरदास को भाट मानने मे उन्हे आपत्ति है। वह 'सूर' को ब्राह्मण मानते हैं। दूसरे मतावलम्बी सूरदास को सारस्वत ब्राह्मण मानते है। एक अन्य मत चन्द्रबली पान्डेय का भी है, जिसके अनुसार सूरदास जी जाट ठहरते है। अपने मत की पुष्टि मे आपने, सूरसागर का निम्नलिखित पद् उद्धृत किया है :

हरिजू ! हौं यातें दुख-पात्र।
श्री गिरिधरन-चरन रति ना भई तजि विषया रस मात्र।

\+ \+ \+

हृदय कुचील काम-भू-तृषना-जल-कलिमल है पात्र।
ऐसे कुमति जाट सूरज को प्रभु बिन कोउ न धात्र ।।

उक्त तीनो मतो के अनुसार सूरदास जी का भाट, ब्राह्मण और जाट होना माना जाता है। किसी निश्चित् एक मत पर अभी तक विद्वान् नही आ सके हैं, परन्तु फिर भी अधिकाश विद्वानो के मतानुसार सूरदास जी ब्राह्मण ही ठहरते हैं।

पिता : सूरदास जी की जाति के ही समान उनके पिता के नाम के विषय मे भी निश्चयात्मक रूप से कुछ नही कहा जा सकता। 'साहित्य लहरी' मे पूरी वशावली देने पर भी कवि ने पिता के नाम का उल्लेख नही किया। कुछ स्थानो पर सूरदास के पिता का नाम 'रामचन्द्र' या 'रामदास' उल्लेख किया गया है। अबुलफजल के 'आइने-अकबरी' मे एक दरबारी गवैये रामदास और उनके पुत्र सूरदास का जिक्र है, परन्तु इनका सम्बन्ध महाकवि 'सूर' से जोड़ना भ्रामक है। 'चौरासी' वार्ता मे एक बार 'सूर' और अकबर के मिलने का तो उल्लेख है परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नही की वह कभी अकबर के दरबारी गवैये रहे थे। इसके अतिरिक्त 'सूर' के पिता और उनके नामो का कही कोई उल्लेख नही मिलता, इसलिए यह अज्ञात ही है।

सूर की जन्मान्धता. 'सूर' जन्माध थे या नही, इस विषय में विद्वानो मे बड़ा मतभेद पाया जाता है। 'भाव प्रकाश' मे सूर के अन्धे होने का उल्लेख मिलता है, परन्तु 'वार्ता' मे कही भी उनके प्रारम्भिक जीवन मे अन्धा होने का जिक्र नही आता। उनकी अकबर से भेंट होने और मृत्यु के समय उनके अन्धा होने का उल्लेख है। गऊघाट पर जब उनकी वल्लभाचार्य से भेंट हुई तो वहाँ उनके अन्धा होने का उल्लेख नही है।[1] 'सूर' की कविता को पढने से भी यह

---

१. 'तब सूरदासजी श्री आचार्य जी महाप्रभून कौ दर्शन करिकै आगे आय बैठे।'
—चौरासी वैष्णव की वार्ता

ज्ञात होता है कि वह जन्मान्ध नही रहे होगे। उनकी कविताओ मे मिलने वाली बाल-क्रिडाओ का सजीव चित्रण, रगो का वर्णन, उपमा-उत्प्रेक्षाओ का प्रयोग ऐसे है कि जिन्हे कोई लेखक बिना आँखो से देखे लिख नही सकता। सुनी-सुनाई बातो के आधार पर भला यह स्वाभाविक चित्रण सम्भव कहाँ जो सूर की कविता मे आद्योपान्त मिलता है? इसलिए सम्भव यही है कि सूरदास प्रारम्भ मे अन्धे नही रहे होगे और जीवन के किसी काल मे किसी कारशवश उनकी नेत्र शक्ति समाप्त हो गई होगी।

गृहस्थ · महाकवि 'सूर' ने गृहस्थ-जीवन व्यतीत किया अथवा नही, इसके विषय मे दो मत प्रधान है। यदि 'भाव प्रकाश' के आधार को सत्य मान लिया जाय तो यह बाल्यकाल से ही विरक्त हो गये थे। परन्तु सूर-सौरभकार ने 'सूर' की रचनाओ के अन्त साक्ष के आधार पर 'सूर' को उनके प्रारम्भिक जीवन मे गृहस्थी माना है। यह दूसरा मत निराधार-सा ही है, क्योकि इसका कोई पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नही। सूरदास वास्तव मे बाल्यकाल से ही विरक्त रहे होगे। सासारिक झझटो से जीवन के प्रारम्भिक काल मे उन्होने मुक्ति प्राप्त कर ली होगी। उनका प्रधान कार्य भगवद्-भजन और काव्य-रचना ही रहा होगा।

जन्म : महाकवि 'सूर' की जन्म-तिथि, रचना-काल, मृत्यु इत्यादि के विषय मे न तो कुछ निश्चयात्मक सामग्री अन्त साक्ष से ही उपलब्ध होती है और न बाह्य साक्ष से ही। 'साहित्यलहरी' का पद न० १०६ 'सूर' के रचना काल के विषय मे कुछ निर्देश करता है।[1] इसी प्रकार 'सूरसारावली' के १००३ छन्द मे सूरदास की आयु का संकेत मिलता है।[2] आधुनिकतम इतिहासकारो ने इन्ही दो आधारो पर सूरदास के जीवन-काल का उल्लेख किया है।

'साहित्य-लहरी' के पद न० १०६ मे एक शब्द **'रसन'** आता है जिसके अर्थ के विषय मे साहित्यकारो मे मतभेद है। उसका अर्थ कुछ विद्वान् शून्य (०) कुछ एक (१) और कुछ दो (२) लगाते है। इसी अर्थ के आधार पर 'साहित्य-लहरी' का रचना-काल स० १६०७, या १६२७ माना जा सकता है। 'सूर-सारावली' के आधार पर सूरदास जी की आयु ६७ वर्ष की निश्चित् होती है। यहाँ कुछ विद्वानो का यह भी मत है कि महाकवि की पूरी आयु ६७ वर्ष न होकर

---

१. **मुनि पुनि रसन के रस लेख।**
दसन गौरीनन्द कौ लिखि सुबल संवत् पेख ॥
नदनंदन मास छै तें हीन तृतिया, बार—
नदनदन जनम से है, बान, सुखआगार ॥
तृतिय रीछ, सुकर्म योग विचार सूर नवीन।
नदनदन दास हित-साहित्यलहरी कीन ॥

२. **गुरु प्रसाद होत यह दरसन सरसठि बरस प्रवीन।**

इस रचना को लिखते समय इतनी रही होगी। इन्ही विद्वानो का यह भी मत है कि 'सूर-सारावली' और 'साहित्य-लहरी' का रचना-काल लगभग एक ही रहा होगा और इनकी रचना कवि ने 'सूरसागर' के बाद की होगी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा मिश्रबन्धु 'साहित्य-लहरी' का रचना-काल स० १६०७ मानते हैं और इसी के आधार पर सूरदास जी का जन्म-सवत् भी लगभग १५४० मानते है। मुशीराम जी 'रसन' शब्द का अर्थ दो लगाकर 'साहित्य-लहरी'। का रचना-काल स० १६२७ मानते है। श्री महावीर सिंह गहलौत 'साहित्य-लहरी' का रचना-काल स० १६१७ मानते है। 'साहित्य-लहरी' मे उसकी मृत्यु का समय वैशाख की अक्षय-तृतीया, रविवार, कृतिका नक्षत्र और सुकर्म योग लिखा है। गणित के आधार पर यह दिन स० १६०७ अथवा १६२७ की अपेक्षा १६१७ ही अधिक ठीक बैठता है। इसलिए हम 'रसन' शब्द का अर्थ एक मानकर 'साहित्य-लहरी' का रचना-काल स० १६१७ मानते है और उसके आधार पर सूरदास जी का जन्म-सवत् १५५० निश्चित् होता है।

'साहित्य-लहरी' का रचना-सवत् १६१७ मानने से भी यह निश्चय नही हुआ कि 'सूर-सारावली' भी उसके साथ की ही रचना है। श्री महावीर सिंह जी गहलौत इन दोनो रचनाओ को समकालीन नही मानते। वह लिखते हैं, "हमें 'सारावली' का नाता 'लहरी' की रचना-तिथि से नही जोडना चाहिए और यह भी नही मानना चाहिए कि 'साहित्य-लहरी' कवि की अतिम रचना है।" इस प्रकार महावीर सिंह जी गहलौत की यह धारणा फिर हमे सूरदास जी की जन्म-तिथि के विपय मे अनिश्चित् कर देती है और हमारा ऊपर का अनुमान भ्रामक हो जाता है। यहाँ यही मानकर आगे बढना होगा कि महाकवि की जन्म-तिथि का कोई निश्चय अभी तक नही हो पाया हे और जिन-जिन साहित्यकारो ने जिन-जिन सवतो का निर्देश किया है वे सब अनुमान के ही आधार पर हैं। निश्चयात्मक ढग से अभी कोई उल्लेख नही किया जा सकता क्योकि निश्चित् समय देने के लिए कोई निश्चित् सामग्री उपलब्ध नही। इतिहासकारो की मान्यता के आधार भ्रामक सिद्ध होते है।

महाकवि की जन्म-तिथि मालूम करने के लिए दूसरा आधार पुष्टि-सम्प्रदाय का है। पुष्टि सम्प्रदाय मे यह मत प्रचलित है कि सूरदास जी की आयु श्री वल्लभाचार्य से दस दिन कम थी[२]। वल्लभाचार्य का जन्म-सवत् १५३५—वैशाख शु० ५ माना जाता है। इस मान्यता की पुष्टि मे निम्नलिखित पद

---

१. सम्मेलन पत्रिका, पौष २००२।

२. "सो सूरदास जी, जब श्री आचार्य जी महाप्रभु को प्राकट्य भयो है, तब इन को जनम भयो है। सो श्री आचार्य जी सो ये दिन दस छोटे हते।"

—"निज वार्ता"

मिलता है

प्रगटे भक्त शिरोमणि राय।
माधव शुक्ला पंचमि ऊपर छट्, अधिक सुखदाय ।।
संवत् पंद्रह पेंतीस वर्षे 'कृष्ण' सखा प्रकटाय।
करिहै लीला फेरि अधिक सुख मन मनोरथ पाय ।।
श्री वल्लभ, श्री विट्ठल, श्री जी रूप एक दरसाय।
'रसिकदास' मन आस पूरण ह्वै सूरदास भुव आय ।।[१]

पुष्टिमार्ग की उक्त मान्यता के आधार पर महाकवि की जन्म-तिथि सवत् १५३५—वैशाख शु० ५ ठहरती है। कवि की यह जन्म-तिथि कम-से-कम विवादग्रस्त और कोरी अनुमानित प्रतीत नही होती। 'साहित्य-लहरी' और 'सूर-सारावली' से मिलने वाली सूचनाओ के आधार पर आनुमानिक मिति खडी करने से इसे मान लेना अधिक युक्ति सगत है। इस विषय मे प्रभुदयाल जी मीतल का भी यही मत है।

सूरदास की आयु के सम्बन्ध मे 'सूर-सारावली' के 'सरसठ बरस' के उल्लेख को सभी इतिहासकार मानते है कि ग्रन्थ लिखते समय कवि की आयु ६७ वर्ष रही होगी। परन्तु प्रो० मुशीराम जी शर्मा इस मत से सहमत नही। वह लिखते हैं "···प्रायः सभी आधुनिक विद्वानो ने यह निष्कर्ष निकाला है कि 'सूर-सारावली' बनाने के समय सूरदास जी की आयु ६७ वर्ष की थी। परन्तु 'सूर-सारावली' मे आये हुए इस स्थान के प्रसग और यहाँ इन दोनो पक्तियो को साथ मिलाकर पढने से यह भाव नहीं निकलता।" प्रो० मुशीराम शर्मा का मत है कि जिस समय उन्होने श्री वल्लभाचार्य से दीक्षा ली उस समय उनकी आयु ६७ वर्ष की थी। इसका अर्थ यह हुआ कि यह रचना 'सूरसागर' के बाद की न होकर उससे पहली है और 'सूरसागर' तथा अन्य बहुत से पदो की रचना इसके बाद हुई। आपके मत से सवत् १५८१ वि० मे सूरदास जी की आयु ६७ वर्ष की थी। इस हिमाब से सूरदास जी का जन्म-सवत् १५१४ ठहरता है। महाकवि के जन्म के विषय मे यह तीसरा मत है। परन्तु यह मत बहुत भ्रामक है। इसे मान्यता नही दी जा सकती। श्री वल्लभाचार्य जी की तीसरी यात्रा सवत् १५६७ के लगभग समाप्त हुई और यह सवत् प्रामाणिक है 'आचार्य ने महाकवि को इसी सवत् मे दीक्षा दी। इस समय आचार्य जी की आयु लगभग ३१ वर्ष की थी और सूरदास जी वल्लभाचार्य से केवल दस दिन छोटे थे, इसलिए उनकी आयु भी ३१ वर्ष की हुई। इस प्रकार प्रो० मुशीराम जी की मान्यता गलत ठहरती है।

श्यामसुन्दरदास जी सूरदास का जन्म-सवत् परम्परा के आधार पर १५२६

१. अष्टछाप परिचय, पृ० ८२।

मानते है, परन्तु परम्परा का उल्लेख आपने नही किया, इसलिए इसे भी प्रामाणिक नही माना जा सकता।

हम सवत् १५३५ को सूर का प्रामाणिक जन्म-सवत् मानते है।

सूर का शरण-काल . महाकवि 'सूर' की मृत्यु के सम्बन्ध मे अधिक मतभेद की गुजाइश नही है। प्रो० मुशीराम जी का मत कि सूरदास जी ने पुष्टिमार्ग ६७ वर्ष की आयु मे अपनाया युक्ति सगत भी नही हैं और न ही कोई पुष्ट प्रमाण ही वह प्रस्तुत कर पाये है। हम इस मत को अप्रामाणिक मानते है। श्री वल्लभाचार्य ने अपनी तीसरी यात्रा समाप्त करके सवत् १५६७ के लगभग ही गृहस्थाश्रम ग्रहण किया और तभी अडैल से ब्रज जाते समय महाकवि को अपना शिष्य घोषित किया। इस प्रकार 'सूर' का शरण-काल सवत् १५६७ निर्विवाद रूप से मान लेने मे कोई हानि नही।

सूर का मृत्यु-सवत् . जन्म-सवत् की ही भाति महाकवि का निधन-सवत् भी अभी तक सदिग्ध ही बना हुआ है। किसी निश्चित् सवत् को निर्विवाद और प्रामाणिक रूप से नही माना जा सकता कि उस सवत् मे 'सूर' की मृत्यु हुई। 'वार्ता' से पता चलता है कि सूरदास जी का निधन विट्ठलदास जी के ही जीवन-काल मे हुआ। विट्ठलदास जी ने स्थायी रूप से ब्रज-वास सवत् १६२८ मे ग्रहण किया था और उनका मृत्यु सवत् १६४२ माना जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि महाकवि 'सूर' की मृत्यु सवत् १६२८ और १६४२ के बीच मे कभी हुई होगी। 'ब्रज-भारती' वर्ष ५, अक १ मे प्रकाशित श्री द्वारिका दास पारीख के लेख 'हमारे सूर' मे सूरदास जी का सवत् १६४० के माघ शु० २ तक जीवित रहना प्रामाणिक माना गया है। इसकी पुष्टि आपने अन्त:साक्ष से की हे। 'कांकरौली का इतिहास' मे उनकी मृत्यु का सवत् १६२० लिखा गया है। पुष्टि-सम्प्रदाय के लोग पहले सवत् १६२० को ही उनका मृत्यु-सवत् मानते थे, परन्तु अब वे भी सवत् १६४० ही उनका निधन-सवत् मानते है। हमारा भी मत इसके विषय मे यही हैं कि उनका निधन लगभग सवत् १६४० मे ही हुआ होगा।

विरक्त-स्वामी सूरदास गोसाई वल्लभाचार्य जी के सम्पर्क मे आने से पूर्व एक विरक्त साधु थे। मुक्त सन्यासी का जीवन व्यतीत करते थे और विनय-पदो की रचना तथा गान करते थे। हरिराय जी ने आपकी विरक्त-भावना पर बाल-काल से ही प्रकाश डाला है। वह किशोरावस्था मे ही घर त्याग कर चले आये थे। 'सूर' के विरक्त जीवन का वास्तविक विकास तभी होता है जब वह गऊघाट पर आकर बस गए और यह विकास ३१ वर्ष की आयु तक चलता है। प्रो० मुशीराम शर्मा 'सूर' के उस रूप को शैव्यो के अधिक निकट पाते है, परन्तु 'वार्ता' मे उनका वह रूप भी रामानन्दी ही वर्णित किया गया है। कवि के इस समय के लिखे गये पदो मे दास्य-भावना प्रस्फुटित होती है। नवम् स्कन्ध की

राम-कथा भी इसी दास्य-भावना की देन है। ये पद उनके प्रारम्भिक जीवन की रचनाएँ है जबकि उन्होने पुष्टिमार्ग ग्रहण नही किया था और वल्लभाचार्य जी से दीक्षा नही ली थी। सूरदास जी के कुछ सुन्दर विनय-पद मिलते हैं। इन पदो मे विनय-भावना आज भी लहरे मारती है। दासभक्त के हृदयो को तरगित कर देने की उनमे पूर्ण-शक्ति विद्यमान है।

एक पद देखिए

जा दिन मन पछी उड़ि जहै।
ता दिन तेरे तन तरुवर के सबै पात झरि जैहैं।
कहँ वह नीर, कहाँ वह शोभा, कहँ रँग रूप दिखैहै।।
जिन लोगन सों नेह करतु है तेहि देखि घिनैहै।
अजहुँ मूढ करो सत-संगति सन्तन में कुछ पैहै।।
नर वपु धरि जाने नहिं हरि को जनम की मार जो खैहै।
'सूरदास' भगवंत-भजन बिनु वृथा सुजन्म गवैहैं।।

'सूर' एक प्रतिभाशाली कवि थे, जिनकी इस विनय-सम्बन्धी दास्य-भावना से प्रेरित शक्ति को वल्लभाचार्य ने सख्य-भावना की ओर मोड़ दिया। आचार्य की प्रेरणा ने राधा-कृष्ण को इनका इष्टदेव बनाया और फिर अपने इष्टदेवो की मंगल-आरती मे आपने 'सूरसागर' जैसा महान् ग्रन्थ समर्पित किया।

अकबर से भेंट महाकवि 'सूर' की अकबर से भेट का उल्लेख हमे हरिराय जी की 'वार्त्ता' मे मिलता है। 'वार्त्ता' के अतिरिक्त जनश्रुतियो मे भी इस ओर सकेत किया गया है। अकबर धर्म का जिज्ञासु था। वह हिन्दू तथा मुसलमान, दोनो ही धर्मावलम्बी साधुओ का आदर करता था। अबुलफजल और फैजी के सम्पर्क से उसकी धर्म-प्रवृत्ति उदारता और सहिष्णुता को लेकर आगे चली। साथ ही कवि और गायक-कलाकारो से भेट करने का उसे बेहद शौक था। ऐसी दशा मे यह भेट सम्भव ही जान पडती है। डॉ० दीनदयाल गुप्त ऐतिहासिक प्रमाणो के आधार पर अनुमानतः महाकवि 'सूर' से अकबर की भेंट का समय सन् १५७७ ई० या सन् १५७९ ई० मानते है। उनका अनुमान है कि या तो उनकी भेट सन् १५७७ ई० की अजमेर-यात्रा से आने पर हुई होगी या फिर सन् १५७९ ई० की अजमेर-यात्रा से फतहपुर सीकरी जाते समय हुई होगी। हमे डाक्टर दीनदयाल गुप्त की पिछली तिथि अधिक ठीक प्रतीत होती है। कुछ विद्वान् इस भेंट का समय सन् १५६३ ई० बतलाते है। परन्तु इसका कोई विशेष आभार उपलब्ध नही और डॉ० दीनदयाल गुप्त का यह भी कथन है कि इस समय तक अकबर मे धार्मिक वृत्ति पैदा ही नही हुई थी।

सूर का व्यक्तित्व—महाकवि 'सूर' के व्यक्तित्व की परख करने के लिए हमारे पास जो सबसे बडा साधन उपलब्ध है वह है उनकी रचना, 'सूरसागर' के सहस्रो पद। अत: साक्ष ही उनके व्यक्तित्व पर सबसे अधिक प्रकाश डालता

है। बाह्यसाक्ष, 'वार्त्ता' दंतकथाओ और किंवदन्तियो के आधार पर भी कुछ पहलुओ पर प्रकाश अवश्य पडता है, परन्तु वह सब भी उनके पदों मे तिरोहित हो गया है।

महाकवि एक भावुक व्यक्ति थे। आपने अपने साहित्य मे एक ही भाव को अनेक रूप दिये है और एक से एक मे नवीनता का प्रसार किया है, जान डाल दी है। कवि की भावुकता, वात्सल्य और शृगार के क्षेत्र मे लौकिक-बधन तोडकर बही है और उसके मुक्त प्रवाह मे कौन ऐसा भावुक पाठक होगा जो बह न जाय और बहता-बहता परमानदी सागर मे गोते न लगाने लगे? कवि भावुकता मे अपने व्यक्तित्व को समाप्त कर देता है। कभी वह अपने को नद-यशोदा के रूप मे देखता है तो कभी गोप-गोपी बन जाता है। भावना 'सूर' के शब्द-शब्द मे व्याप्त है और उनकी कविता का प्रत्येक पद भक्ति भावना का वह छल छलाता हुआ कटोरा है जिसमे प्रेम-प्यासा पखेरू चोच डाले और फिर डाले।

भावना के साथ ही साथ कवि मे कल्पना शक्ति का चरम विकास देखने को मिलता है। कवि मे कल्पना की असीम उडान विद्यमान है और वह उनकी कविता मे वह शक्ति पैदा कर देती है कि पाठको के मन कल्पना के परो पर उडते हुए श्रीनाथ जी के आगन मे पहुँच जाते है। उनकी वही कल्पना पाठको को भगवान विष्णु का साक्षात्कार कराती है और भगवान से पाठको की सख्यता स्थापित करती है। काव्य कल्पना का जो तीखा सौंदर्य हमे 'सूर' की कविता मे उपलब्ध है वह अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। सौंदर्य सम्बन्धी प्राय सभी कल्प-नाओ और अनुभूतियो को कवि ने अपनी सरस कविता मे सँजो दिया है। अपने भगवान को कल्पना के आधार पर आपने अनेको रूपो मे वर्णित किया है और और उनकी यह अनेकरूपता ही भगवान के भक्तो के लिए सुगम मार्ग प्रदर्शित करती है। भक्त जिस ओर भी दृष्टि पसारता है, उसे उसक इष्टदेव सामने खड़े मुस्कराते दिखाई देते है। कवि ने कल्पना का वह सुन्दर साज सजाया है कि उसने अपने भगवान को जीवन के हर पहलू मे स्थापित कर दिया है।

भक्त कवि 'सूर' के व्यक्तित्व मे हमे भावना और कल्पना के अतिरिक्त निर्भीकता के भी दर्शन होते है। अकबर ने जब उनसे अपने यश का वर्णन करने को कहा तो उन्होंने भगवान की भक्ति का ही एक पद सुनाते हुए यह बतला दिया कि जो व्यक्ति भगवान का भक्त है वह मनुष्य की प्रशसा नही कर सकता सूरदास जी माया से लिप्त नही थे। मोह उन्हे छू तक नही गया था और वह भगवान के अतिरिक्त अन्य किसी को नही मानते थे, फिर भला अकबर से क्यो डरते?

महाकवि 'सूर' के व्यक्तित्व मे वाग्वैदग्ध्य की प्रधानता है। विद्यापति और केशव जैसे दरबारी कवियो को भी वाग्वैदग्ध्य मे 'सूर' के सामने मात खानी

पड़ती है। सूर का 'भ्रमर-गीत' इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

'सूर' के व्यक्तित्व मे जीवन की सरस कल्पना, सरस भावना, दीनता, भक्ति, गर्व, अभिमान, त्याग, गम्भीरता, वैदग्ग्य आदि गुणो का सामजस्य मिलता है। हासपरिहास के भी सुन्दर सजीव पद आपकी रचनाओ मे मिलते हैं, जिनमे बाल मनोवृत्तियो का साकार चित्रण किया गया है। 'सूर' का निम्न-लिखित पद इस दिशा मे बहुत प्रिय है

मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायो।
मोसो कहत मोल को लीन्हो तू जसुमति कब जायो।।
कहा कहौं या रिस के मारे खेलन हौं नही जातु।
पुनि-पुनि कहत कौन है माता, को है तुमरौ तातु।।
गोरे नंद यशोदा गोरी, तुम कत स्याम सरीर।
चुटकी दै-दै हँसत ग्वाल सब, सिखै देत बलबीर।।
तू मोही को मारन सीखी, दाउहि कबहु न खीझै।
मोहन को मुख रिस समेत लखि जसुमति सुनि सुनि रीझै।।
सुनहु कान्ह बलभद्र चबाई, जन्मत ही को धूत।
'सूर' स्याम मोहि गैय्यन की सौं हौ माता तू पूत।।

इस पद मे कितनी सरस और सरल भावना तथा कल्पना का सगम है। यह 'सूर' के व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब है।

सार निरूपण—महाकवि सूर का जन्म स० १५२५ को बैसाख शु० ५ को दिल्ली के पास सीही नामक ग्राम मे हुआ। इनका परिवार बहुक दरिद्र था और यह जाति के ब्राह्मण थे। हरिराय जी के 'भाव प्रकाश' के आधार पर यह सारस्वतब्राह्मण थे। बाल्यावस्था मे ही यह घर से विरक्त होकर चल दिये थे और सीही से लगभग चार-पाँच मील दूर किसी अन्य गाँव मे तालाब के किनारे एक पीपल के वृक्ष के नीचे बस गये।

सूरदास जी इस पीपल के वृक्ष के नीचे अठारह वर्ष की आयु तक रहे। वहाँ के आस-पास के लोग इहे बडा प्यार करते थे और इनके खाने पीने का आप से आप प्रबन्ध हो जाता था। यह अपने पास आने जाने वालो को शकुन बतलाया करते थे और कहा जाता है कि जो बाते यह बतलाया करते थे वे आम तौर पर सत्य निकलती थी। इसी कारण इनकी आस पास मे बहुत ख्याति हो गई थी और दूर-दूर से लोग इनके पास अपने भविष्य के विषय मे बातें पूछने आया करते थे।

'सूर' का कण्ठ बहुत मधुर था और यहाँ एकात मे बैठकर यह कभी कभी गाया करते थे। यही पर रहकर इन्होने गाने का अच्छा अभ्यास कर लिया था इनका गाना सुनने के लिए भी बहुत से लोग जमा हो जाते थे और ध्यान देकर सुनते थे। जो लोग भी यहाँ आते थे वे उन्हे श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे और

हरिराय जी ने सूरदास जी के प्रारम्भिक जीवन पर प्रकाश डालते समय इस महत्त्वपूर्ण बात पर कुछ भी विचार नही किया और कोई प्रकाश नही डाला। हरिराय जी ने लिखा है कि गऊघाट पर ज्यो ही महाकवि 'सूर' ने श्री वल्लभाचार्य से दीक्षा प्राप्त की त्यो ही उनके हृदय मे 'नाम' और 'समर्पण, की विधि से स्वत श्री मद्भागवत के सम्पूर्ण ज्ञान का उदय हो गया। यह बात पूर्ण रूप से चमत्कार प्रधान है और यो ही इस पर विश्वास नही किया जा सकता। परन्तु यदि विश्वास भी करलें तब भी सूर इस घटना से पूर्व ही काव्य और गायन के क्षेत्र मे ख्याति प्राप्त कर चुके थे। इन्होने पहले भी अनेको विनय पूर्ण पदो की रचना की थी।

सूरदास जी ने जितना भी ज्ञान प्राप्त किया वह सम्भवत सब सत्संग द्वारा ही किया। शायद ही विधिवत कभी उन्होने किसी को गुरू बनाकर अध्ययन किया हो। वल्लभाचार्य से दीक्षित होने से पूर्व सूरदास जी गऊघाट पर रहकर जो पद-रचना करते थे उसमे ज्ञान, वैराग्य और विनय की भावना पाई जाती थी। फिर जब उनका गायन वह अपने मधुर कण्ठ से करते थे तो दूर-दूर से लोग उन्हे सुनने के लिए एकत्रित होते थे। आपकी कविता शक्ति और सगीत लहरी से प्रभावित होकर बहुत से लोग आपके भक्त हो गये और उनके प्रति सद तथा पूज्य भावना रखने लगे। यहाँ भी लोग उन्हे स्वामी जी कहकर सम्बोधित करने लगे थे और उनके शिष्य बन गये थे। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' मे इसका उल्लेख मिलता है।

सूरदास जी के इस प्रारम्भिक जीवन पर दृष्टि डालने से ज्ञात हो जाता है कि वह अपूर्व मेधा और विलक्षण ग्रहण-शक्ति रखते थे। उनके पूर्व जन्म के संस्कार ऊँचे थे। वह बिना परिश्रम और क्रमबद्ध अध्ययन के समस्त विद्याओ मे पारंगत हो गये थे। उनमे कुछ ऐसे दैवी गुण वर्तमान थे कि जिनके कारण वह जहाँ और जिन लोगो के बीच भी रहते थे वहाँ वे लोग उन्हे मान्य मान-कर आदर से व्यवहार करते थे। काव्य और सगीत का सामजस्य उनके जीवन मे ऐसा था कि जनता को विमोहित करने मे थोडा भी समय नही लगता था और उनके श्रोताओं की भीड बहुत शीघ्र जुडने लगती थी। उनके इन गुणो ने न केवल साधारण लोगों को ही अपनी ओर आकर्षित किया वरन् श्री वल्लभा-चार्य को भी उस ओर आकर्षित करने मे इन गुणो का बहुत बड़ा योग था।

श्री वल्लभाचार्य ने सवत् १५६७ मे अपनी तीसरी भ्रमण यात्रा समाप्त की और तदुपरान्त उन्होने ग्रहस्थ मे प्रवेश किया। गृहस्थ मे प्रवेश कर वह अडैल में रहने लगे। इसी वर्ष अडैल से जब वह गोवर्धन जा रहे थे तो मार्ग मे गऊघाट पर रुकग ये। उनसे बहुत से लोगों ने सूरदास जी की चर्चा और प्रशसा की तो उन्होने सूरदास जी से भेट करने की इच्छा प्रकट की। सूरदास जी श्री वल्लभाचार्य से अपरिचित नही थे और उनके पाडित्य की

छाप उनके हृदय और मस्तिष्क पर पहले ही लग चुकी थी। उनके दक्षिण दिग्विजय की जानकारी भी महाकवि सूर को थी, इसलिए उनकी अपने से मिलने की इच्छा का समाचार पाकर वह स्वय उनसे मिलने के लिए उनके पास पहुँच गये।

श्री वल्लभाचार्य ने सूरदास जी का आदर-भाव से स्वागत किया और उनसे श्रीमद्भागवत का यश-गान करने को कहा। सूरदासजी ने उन्हे जो विनय के पाठ सुनाये उनमे वह रस न ले सके और भागवत-पद ही गाने का अनुरोध किया। महाकवि सूर श्री वल्लभाचार्य से बहुत प्रभावित हुए और उन्होने उनसे दीक्षा ले ली। यही से वल्लभाचार्य जी सूरदास को अपने ~ाथ गोवर्धन ले गए।

गोकुल मे सूरदास जी ने 'नवनीत प्रिया जी' के सम्मुख भक्ति के पदो का गायन किया। यही पर सूरदास जी ने वल्लभाचार्य जी के आदेशानुसार लीला-पदो का लिखना और गाना प्रारम्भ किया। श्री वल्लभाचार्य जी श्रीमद्-भागवत के जिस भाग का पारायण करते थे सूरदास जी उसी पर पदो की रचना लिखना प्रारम्भ कर देते थे। वल्लभाचार्य जी के साथ महाकवि सूर कुछ दिन गोकुल मे रहे और फिर उन्ही के साथ गोवर्धन चले गए। गोवर्धन पर श्रीनाथ जी के सम्मुख आपने भक्ति-पदो का गायन किया।

गोवर्धन पर श्रीनाथ जी की मूर्ति इस समय एक छोटे से मन्दिर मे स्थापित थी। वहाँ का कीर्तन-कार्य कुम्भनदास जी करते थे। श्रीनाथजी की सेवा का कार्य बगाली वैष्णवो के हाथो मे था। सवत् १५५६ मे पूरनमल खत्री ने श्रीवल्लभाचार्य से प्रेरणा प्राप्त कर वैशाख शु० ३ को एक विशाल मदिर बनवाया। जब धनाभाव के कारण यह मदिर पूर्ण न हो सका तो वल्लभाचार्य ने अधूरे ही मदिर मे श्रीनाथजी की मूर्ति को स्थापित कर दिया और सूरदास जी को इस मंदिर का कीर्तनिया नियुक्त किया। सवत् १५७६ वैशाख शु० ३ को बाद मे जाकर यह मदिर पूर्ण हुआ।

गोवर्धन आ जाने के पश्चात् महाकवि 'सूर' ने पारसोली को अपना निवास-स्थान बनाया। सूरदास का शेष जीवन यही व्यतीत हुआ। 'सूर' ने अपने अधिकांश पदों की रचना पारसोली मे ही की। पारसोली से रोज़ाना सूरदासजी गोपालपुरा जाते थे और अपने नित्य नये पदो द्वारा श्रीनाथजी के मदिर का कीर्तन करते थे। इन्ही कीर्तनो के वे सहस्त्रो नये-नये पद है जिनके सकलन को 'सूरसागर' नाम दिया गया है।

श्री वल्लभाचार्य को अपने पुष्टिमार्ग को जनता के सामने लाने मे सूरदास जी ने सबसे अधिक योग दिया। इसीलिए उनके शिष्यो मे आपका प्रमुख स्थान था। वल्लभाचार्य और गोपीनाथ जी के पश्चात् सवत् १६०२ मे विट्ठलनाथ जी ने गद्दी पर बैठकर 'अष्टछाप' की स्थापना की, जिसमे पुष्टिमार्ग के आठ सर्वश्रेष्ठ कवि थे। 'सूर' का स्थान इन आठों कवियो मे सर्वप्रथम आता है।

कहते है कि एक बार तानसेन से अकबर ने 'सूर' के किसी पद को सुना तो उसके मन मे 'सूर' से मिलने की जिज्ञासा उत्पन्न हुई। जब उनकी भेंट हुई और अकबर ने उन्हे अपना कोई पद सुनाने का आग्रह किया तो उन्होने निम्नलिखित पद सुनाया।

"मना रे! तू कर माधौ सों प्रीत।"

अकबर सूर का गाना सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ। फिर उसने सूर से अपना यश-वर्णन करते हुए कोई पद गाने के लिए कहा। इस पर उन्होने निम्नलिखित पद गाया

"नाहिं रह्यौ मन में ठौर।
नद-नंदन अछत कैसे आनिए उर और ?
चलत, चितवत, दिवस जागत, सपन सोवत राति।
हृदय तें वह स्याम मूरति छन न इत-उत जाति।।
कहत कथा अनेक ऊधो लोक-लाभ दिखाय।
कहा करौं तन प्रेम-पूरन घट न सिन्धु समाय।।
स्याम-गात, सरोज आनन, ललित अति मृदु हास।
'सूर' ऐसे रूप कारन मरत लोचन प्यास।।

अकबर ने इस पद को सुनकर फिर अपने यश-वर्णन का आग्रह नही किया और सूरदास जैसे निष्पृह महात्मा पर उसे क्रोध भी नही आया। सूर और अकबर की इस भेट से सूर की एकनिष्ठता तथा निस्पृहता और दूसरी ओर अकबर की धार्मिक सहिष्णुता का आभास मिलता है। यह भेट स० १६२३ मे मथुरा मे हुई थी।

सूरदास जी के देहावसान के विषय मे कहा जाता है कि एक दिन अन्तिम समय समीप जानकर यह श्रीनाथजी के मन्दिर मे अधिक देर नही ठहरे, केवल मगल-आरती के दर्शन भर कर वापिस पारसोली को चले गये। वहाँ जाकर उन्होंने श्रीनाथजी की ध्वजा को नमस्कार किया और फिर चबूतरे पर जा लेटे। इस समय उन्होने अपने मन से लौकिक बातो को बिलकुल निकाल दिया था और श्रीनाथजी तथा गोस्वामीजी को मन मे धारण किया। उधर श्री विट्ठलनाथ जी ने जब श्रीनाथजी के कीर्तन मे सूरदास जी को नही पाया तो उन्होने अन्य उपस्थित सेवको से उनके विषय मे पूछा। सूरदास जी नियम से श्रीनाथजी के शृंगार के समय हर रोज कीर्तन करते थे। गोसाई जी उन्हे वहाँ न पाकर सशकित हुए। उन्हे यह पता चला कि उस दिन सूरदास जी केवल मगल-आरती के दर्शन करके ही पारसोली चले गये। उसी समय कुछ सेवको ने आकर कहा कि सूरदास जी अस्वस्थ अवस्था मे अचेत पडे है। गोस्वामी जी ने यह सुनकर सेवको से कहा, "आज पुष्टि मार्ग का जहाज जाने वाला है, जिसको जो कुछ लेना हो, वह ले ले। तुम लोग सूरदास के पास चलो। हम भी श्रीनाथजी के

राजभोग के पश्चात् वही आते हैं ।"

कुछ लोग तभी पारसोली चले गये और विट्ठलनाथ जी अन्य सेवको के साथ पूजा समाप्त कर वहाँ पहुँचे। अष्टछाप के कवि कुभनदास, गोविन्द स्वामी, चतुर्भुजदास इत्यादि उस समय उनके साथ थे। रामदास प्रभृत्ति सेवक भी साथ मे थे। जब ये लोग पहुँचे तो सूरदास अचेत पडे थे। उनकी अवस्था मरणासन्न थी। विट्ठलनाथ जी ने उनका हाथ पकडकर हिलाते हुए पूछा, "सूरदास जी ! कैसा जी है ?" सूरदास जी ने गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के शब्द सुनकर नेत्र खोले और फिर दण्डवत प्रणाम किया। फिर दीन-भाव से कहा, "महाराज ! मैं आप के दर्शनो की ही प्रतीक्षा कर रहा था ।" फिर सूरदास जी ने निम्न पद का गायन किया और प्राण त्याग दिये।

खजन नैन रूप-रस माते।
अतिसै चारु चपल अनियारे, पल पिंजरा न समाते ॥
चलि चलि जात निकट स्त्रवनन के, उलटि'उलटि ताटक फंदाते ।
'सूरदास' अजन गुन अटके, नतरू अबहि उड़ि जाते ॥

सवत् १६४० के आस-पास पारसोली मे आपका देहावसान हुआ। जिस कुटिया मे आप रहा करते थे वह आज भी बनी हुई है। निधन की निश्चित् तिथि अज्ञात है, उसका कही पर भी उल्लेख नही मिलता।

□

२ सूरकालीन परिस्थितियाँ तथा विचारधाराएँ

जिस काल मे महाकवि 'सूर' ने जन्म लिया उस काल की राजनैतिक, सामाजिक, साहित्यिक और धार्मिक परिस्थितियो तथा विचारधाराओ पर विचार कर लेना 'सूर' के व्यक्तित्व और साहित्य को समझने के लिए नितान्त आवश्यक है। इसके बिना न तो उनकी मान्यताओ का ही पता चल सकता है और न उनके सिद्धान्तो को ही तौला-परखा जा सकता है। समय की प्रवृत्तियाँ कवि के साहित्य पर अपना असर डालती है और इसी प्रकार प्रभावशाली कवि भी उन पर अपना प्रभाव डाले बिना नही रहता। 'सूर' हिन्दी-साहित्य के उन्ही इने-गिने मेधावी कवियो मे है जिन्होने समाज के अधकारपूर्ण पथ को प्रकाशित किया है और भूली-भटकी जनता को राह दिखलाई। आपने अपनी कविता के द्वारा जनता के नैराश्य को समेटा और आशा के वातावरण से देश मे एक बार उत्साह और आनन्द की हिलोर पैदा कर दी।

राजनैतिक परिस्थितियाँ . महाकवि 'सूर' का जन्म-काल हम पीछे सवत् १५३५ निर्दिष्ट कर चुके हैं। यह समय भारतीय इतिहास मे एक उथल-पुथल का युग था। कोई सारभौम सत्ता शासन को सभाले हुए नही थी। इसलिए स्थान-स्थान पर बदअमनी, आतक और भय का साम्राज्य था सूरदास जी के भाइयो की मृत्यु मुसलमानो द्वारा हुई, यह बात प्रसिद्ध ही है। इसके आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि जनता मे उत्साह नही था, लोग घबराये हुए थे और ऐसी ही दशा मे मनुष्य विरक्ति, दीनता और विनय की बात सोचता है। महाकवि 'सूर' के जीवन का प्रारम्भिक काल इसी अव्यवस्थित दशा मे व्यतीत हुआ और उसका उनके जीवन तथा साहित्य पर प्रभाव पडा। अकबर के शासन-काल तक भारत की राजनैतिक दशा बहुत खराब रही। धर्माचार्यों को अपने धर्म-प्रसार और प्रचार मे हर प्रकार की बाधा दिखलाई देती थी परन्तु फिर भी वे जनता मे उत्साह पैदा करने के लिए निरन्तर अपना कार्य कार्य चले जा रहे थे। बाबर का आक्रमण, हुमायूँ का भारत से जाना और फिर आक्रमण करके आना तथा उसके पश्चात् अकबर का शासन स्थापित होना—बस यही

वह काल था जिसमें महाकवि 'सूर' का प्रादुर्भाव हुआ।

सामाजिक परिस्थितियाँ : कबीर-काल से लगाकर इस समय तक धर्म-प्रवर्तक बराबर जनता के साथ सहानुभूति रखते हुए राजनैतिक उलझनो मे उसे सहारा देने का प्रयत्न कर रहे थे। हिन्दू-समाज की दशा अच्छी नही थी। महाकवि कबीर और जायसी इत्यादि के प्रयत्नो से जनता मे कुछ पारस्परिक सहिष्णुता की भावना तो पैदा हुई थी, परन्तु राजकीय अधिकारी और आक्रमण-कारी मुसलमान बराबर अपने स्वार्थों की सिद्धि के लिए जनता को उकसाकर धर्म के नाम पर उत्पात मचा रहे थे। धर्म के नाम पर यह प्रवृत्ति अंग्रेजी शासन-काल मे भारत के अन्दर पाई जाती थी कि जनता को मूर्ख बनाकर सरकार साम्प्रदायिक दगे करा देती थी। उस समय भी समाज की यही दशा थी। परन्तु मुसलमान जो भारत मे बस गये थे वे अब अपने को दूसरे देश का नहीं समझते थे। वे अपने को हिन्दुओं का राजा और हुक्मराँ तो मानते थे परन्तु साथ ही समाज मे कुछ हिल-मिल भी गए थे। बहुत से कारोबार भी मिलकर करने प्रारम्भ कर दिए थे और उनके फलस्वरूप आपस का लगाव पहले की अपेक्षा अधिक घनिष्ठ हो गया था। मुल्ला-मौलवियों के उकसाने और फुसलाने का जनता पर कोई प्रभाव ही नही होता हो, ऐसी बात तो नही आपाई थी परन्तु फिर भी समझ का इस्तेमाल करना शुरू कर दिया था और योही खामखा कबीर-काल की भाँति खून खराबा करना मात्र ही उनका ध्येय नही रह गया था। हिन्दुओ मे फिर से कुछ-कुछ स्फूर्ति का संचार होने लगा था।

देश मे बाहरी आक्रमणो का जोर होने के बावजूद भी परिस्थिति कुछ ठीक सी बनने लगी थी। हुमायूँ के हारकर भारत छोडने तथा फिर आक्रमण करने से समाज की स्थिरता और बनावट को ठेस लगी, परन्तु उसके बाद अकबर के कुशल शासन-काल ने समाज के नये ढाँचे के बनने मे योग प्रदान किया। हिन्दुओ और मुसलमानो के पारस्परिक सम्बन्ध जुड रहे थे, दोनो ने एक-दूसरे को समझना प्रारम्भ कर दिया था, एक-दूसरे का रहन-सहन एक-दूसरे को प्रभावित करने लगा था। पहले जैसी कटुता का धीरे-धीरे लोप हो रहा था।

धार्मिक परिस्थितियाँ बाबर और हुमायू के जमाने मे साम्राज्य का स्थायित्व खतरे मे था, इसलिए धर्म-व्यवस्था की ओर कोई विशेष ध्यान नही दिया जा सका। परन्तु फिर भी इतना अवश्य था कि हिन्दुओं का धर्मान्ध कत्ले आम इस समय मे नही हुआ। इनके पश्चात् अकबर के जमाने मे तो बादशाह ने पूर्ण रूप से धार्मिक सहिष्णुता लाने का प्रयत्न किया। अकबर ने अपने नए मज़हब दीनेइलाही मे हिन्दू तथा मुसलमान दोनो को शामिल किया। धर्म का यह नया पहलू अकबर ने पेश किया। हिन्दू और मुसलमान न होकर वह एक सच्चा इन्सान था और उसका धर्म इन्सानियत के आदर्शों पर चलना चाहता था।

धार्मिक क्षेत्र मे जो विश्रृंखल विचारधारा व्याप्त होगई थी वह धीरे-धीरे

अपना रूप निर्धारित करने लगी थी। बहुत-सी बिखरी-बिखरी शाखाएँ कुछ निश्चित् धाराओ मे बधकर बहने लगी थी।

समाज के उच्च और सामान्य वर्गो मे जो कटुता पीछे धर्म को लेकर चलती थी, वह इस युग तक आते-आते सामाजिक रूप धारण कर चुकी थी। धर्म के नाम के पीछे सामाजिक वर्गो का खेल खेला जाने लगा था। इस खेल के खेलने मे हिन्दू तथा मुसलमान समान रूप से शामिल थे।

हिन्दू-धर्म की मूर्ति-पूजा का प्रभाव भी धीरे-धीरे इस्लाम-परस्तो पर पडता जा रहा था। मठ और मुरीदो की प्रथा चल पडी थी और हिन्दू तथा मुसलमान-मठो पर दोनो ही मतावलम्बी अपने रोगो ओर गुनाहो को लेकर जाने लगे थे।

धार्मिक विचारधारा के क्षेत्र मे ईश्वर के मूर्त्त और अमूर्त्त रूप को लेकर काफी बखेडे थे। आस्तिक और नास्तिक को लेकर भी पीर-पैगम्बरवादी और ब्रह्मवादी अपनी चर्चा चला रहे थे। परन्तु यह सब-कुछ होने पर भी बोल-बाला मूर्ति-पूजको का ही था और उसी मे उन्हे भगवान् के प्रत्यक्ष दर्शन होते थे। संकट-मोचन का सामने खडा स्वरूप हर मोटी अक्ल मे स्थिर हो उठता था और घण्टे तथा घडियालो के साथ कीर्तन की मधुर ध्वनि आत्मा को परमात्मा के बिलकुल समीप पहुचा देती थी।

नास्तिको का प्रभाव पूर्ण रूप से समाप्त हो चुका था। मुसलमानो के चाहे और जो मतभेद हिन्दुओ से थे और उनका धर्म भी दूर-देश का था, परन्तु था यह आस्तिक धर्म और इसीलिए ईश्वर तथा खुदा का भेद केवल शाब्दिक मात्र था, वास्तविक नही। जगतगुरू शकराचार्य ने बौद्ध धर्म को भारत भूमि से करीब-करीब खदेड दिया था। उसके पुनरुद्धार की अब कोई आशका नही थी। ब्राह्मण धर्म चारो ओर फैल रहा था। इस समय देश की जनता के सम्मुख केवल ब्राह्मण-धर्म ओर इस्लाम धर्म, दो ही प्रधान धर्म थे। इस्लाम-धर्म की ज्यादती कही-कही राजनैतिक सत्ता होने के कारण अमल मे आई, परन्तु अकबर के राज्य मे उसकी सम्भावना नष्ट हो गई।

ब्राह्मण-धर्म के प्रचारक तथा आचार्यों का जोर शकराचार्य के पश्चात् ही देखने मे आता है, परन्तु शकराचार्य के पश्चात् आने वाले आचार्यों ने उनके मत-का समर्थन नही किया। वे सभी अपने मतो को शंकराचार्य के मत की प्रतिक्रिया के रूप मे लेकर खडे हुए। इन आचार्यों मे प्रधान रूप से श्री रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य और वल्लभाचार्य उल्लेखनीय हैं। इन सभी आचार्यों के दार्शनिक वादो मे काफी अन्तर पाया जाता है परन्तु एकता केवल भक्ति के क्षेत्र मे है। साधना के क्षेत्र मे सभी ने भक्ति को अपनाया है। रामानुजाचार्य ने ज्ञान को प्रधानता दी है। नीचे हम उक्त आचार्यों की विचार-धाराओ का संक्षेप मे विवरण देते हैं।

शकराचार्य शकराचार्य अद्वैतवादी आचार्य थे। आपने अपने मत मे अद्वैत

ब्रह्म का प्रतिपादन किया है। मायावाद का आपके ही द्वारा प्रतिपादन हुआ। आपके अनुसार जगत् मिथ्या है और आत्मा तथा परमात्मा मे कोई तात्विक भेद नही है। माया के ही कारण दोनो मे भेद प्रतीत होता है। माया का आवरण और विक्षेप आचार्य शकराचार्य ने दो रूप मे चित्रित किया है। आपने प्रतिपादित किया है कि माया का आवरण ब्रह्म की वह शक्ति है जो जीवात्मा की दृष्टि से परमात्मा के विशुद्ध स्वरूप को छिपा लेती है। यह शक्ति ब्रह्म को एक प्रकार से अपने प्रभाव मे दबाकर ढक लेती है और वह आत्मा को दिखलाई देना बन्द हो जाता है। विक्षेप माया की वह शक्ति है जिसके द्वारा ब्रह्म समस्त सृष्टि का निर्माण करता है, रचना करता है। आचार्य के मतानुसार आत्मा का ब्रह्म से सर्वदा तादात्म्य रहता है और इन दोनो को एक-दूसरे से माया सर्वदा के लिए पृथक नही कर सकती। परमात्मा से आत्मा का एक्य आचार्य ने सर्वदा ही माना है। परमात्मा की ही भाँति आत्मा भी चैतन्यस्वरूप है। जीवात्मा शरीर का अध्यक्ष है[1] और उसका शरीर मे प्रवेश कर्म-फल के आधार पर होता है। कर्मो का फल प्राप्त करने के लिए ही आत्मा शरीर धारण करता है। जब जीव कर्म-फल भोग लेता है तो शरीर त्याग देता है। जीव की अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी दो प्रवृत्तियाँ होती है। जब जीव अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के अधीन होकर चलता है और कार्य करता है तो वह ब्रह्म की ओर झुकता है और उसकी तल्लीनता ईश्वर की ओर बढ़ती जाती है। दुनियादारी की झझटो से उसे आप-से-आप विरक्ति मिलती जाती है। और जब इसका झुकाव बहिर्मुखी प्रवृत्तियो की ओर होता है तो वह माया मे लिप्त होने लगता है और ब्रह्म उसकी दृष्टि से दूर होता चला जाता है। वह ससार मे फँस जाता है और ससार का माया-जाल उसकी दृष्टि पर ऐसा पर्दा डालता है कि वह ससारी चीजो के अतिरिक्त और कुछ देख ही नही पाता। इस दशा मे जीव ब्रह्म से विमुख होकर ससार मे भटक जाता है। शकराचार्य ने ब्रह्म-प्राप्ति के साधनो मे कर्म, भक्ति और ज्ञान तीनो के अन्दर ज्ञान को प्रधानता दी है। महाकवि कबीर की विचारधारा पर शकराचार्य की इस मान्यता का अधिक प्रभाव था।

रामानुजाचार्य शकराचार्य की भाति रामानुजाचार्य श्रुति-प्रमाण मे पूर्ण मान्यता रखते थे परन्तु उनके दर्शन मे तीन पदार्थो की मान्यता थी,—चित्, अचित और ब्रह्म, अर्थात् जीव, प्रकृति और ईश्वर। आपने ईश्वर कोस र्वान्तर्यामी माना है। परन्तु इसके साथ-ही-साथ जीव और प्रकृति मे नित्य और स्वतत्र है। ये भी सृष्टि के आदि-काल से चले आते है और अन्त काल तक चले जायेगे। ईश्वर की ही भाति ये भी नाशवान् नही है। परन्तु केवल इतना ही है कि इनकी स्वतत्रता ईश्वराधीन हो जाती है। उसके नियत्रण मे इन्हे रहना पड़ता है। आपने उपनिषदो के प्रतिपादित ब्रह्म को केवल सगुण रूप मे ही ग्रहण

१. श्री भाष्य ६-१-२

किया है। जहाँ ईश्वर चिद्-चिद् के सम्बन्ध का प्रश्न है वहाँ भी श्रीभाष्य मे' चिद्-चिद् को विशेषण और ईश्वर को विशेष्य माना है । केवल इसी आधार पर श्रीरामानुजाचार्य के मत का नाम भी विशिष्टाद्वैतवाद पडा। आपका मत है कि ईश्वर स्वेच्छा से जब चाहता है तब सृष्टि का उत्पादन करता है। जगत् की सृष्टि ब्रह्म अपनी लीला के लिए ही करता है। उसका उद्देश्य केवल उसकी लीला मात्र ही रहता है। जिस समय प्रलय होती है और सभी चीजो का विनाश दिखलाई देने लगता है तो जीव और प्रकृति सूक्ष्म रूप धारण कर ब्रह्म मे विलीन हो जाते है। वह समय एक ऐसा आता है जब उनकी स्वतत्र सत्ता समाप्त हो जाती है और वे ब्रह्म के रूप हो जाते है। इस प्रकार सूक्ष्म चिद्-चिद् विशिष्ट ब्रह्म को 'कारणवस्थ ब्रह्म' तथा सृष्टि काल के स्थूल रूप को 'कार्यावस्थ ब्रह्म' कहा जाता है। परिणामवादी विशिष्टाद्वैत मे ही कार्य-कारण का भेद मिलता है। रामानुजाचार्य जीव को अनन्त और अणु रूप मानते है। जीव उनके मतानुसार ब्रह्म से पृथक नही है। उनका मत है कि जीव का प्राथक्य केवल गुणो के कारण होता है।

रामानुजाचार्य ने भी आचार्य शकराचार्य के समान मनुष्य का मुख्य लक्ष्य मुक्ति माना है। अन्तर केवल साधनो का है। शकराचार्य ने जहाँ ब्रह्म-प्राप्ति का प्रधान साधन ज्ञान माना है वहाँ रामानुजाचार्य ने भक्ति को अपनाया है। आपने ज्ञान की अवहेलना नही की, वरन् प्रधानता भक्ति को दी है।

महाकवि कबीर और उनकी परम्परा मे चलने वाले अन्य कवियो को शकराचार्य के ज्ञान-मार्ग और रामानुजाचार्य के भक्ति-मार्ग, दोनो ने प्रभावित किया, परन्तु उनके सर्वांगीण साहित्य पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि वे जितने रामानुजाचार्य की भक्ति और प्रपत्ति-भावना से प्रभावित हुए उतने ज्ञान से नही। यो ज्ञान की पुट भी कम नही है परन्तु आधिक्य भक्ति का ही है। महाकवि तुलसी पर आप की विचारधारा का प्रधान रूप से प्रभाव पडा।

मध्वाचार्य—मध्वाचार्य ने जनता के सम्मुख द्वैतवाद का दर्शन रखा और इस प्रकार आप रामानुजाचार्य से प्रत्यक्ष भिन्न-मार्गी बनकर सामने आये। द्वैत दर्शन के आधार पर आपके विचारो से बल पाकर ही ब्रह्म-सम्प्रदाय का प्रारम्भ हुआ। द्वैत मतानुसार विष्णु ही परम ब्रह्म है और वही सर्वगुण-सम्पन्न है। उन्ही के अन्दर अनन्त-गुण निवास करते है और वही सृष्टि के कर्ता धर्ता है। सजातीय तथा विजातीय, सभी गुणो से वह सम्पन्न है और सभी शक्तियाँ उनमे विद्यमान है। ससार के जीवो से वह विलक्षण ही प्रकार की शक्ति है जो समय-समय पर नाना रूप धारण करते रहते है। लक्ष्मी परमात्मा की वह शक्ति है जो यों तो परमात्मा के अधीन ही है परन्तु अपने सभी कार्यों मे स्वतत्र है और परमात्मा से भिन्न भी है। मध्वाचार्य के मतानुसार जीव ससार की माया मे फँसकर ससारी ही हो जाता है और उसका परम लक्ष्य मुक्ति प्राप्त करना है।

जब जीव संसार के माया-जाल से अपना पल्ला छुड़ाकर मुक्त हो जाता है तो वह परम ब्रह्म को प्राप्त करता है और तभी उसे इश्वर का साक्षात्कार होता है। साधना के क्षेत्र मे योग, ज्ञान और भक्ति में आपने रामानुजाचार्य का अनुकरण करते हुए भक्ति को प्रधानता दी है। आपका अटल विश्वास था कि ज्ञानी मे अहम् पैदा हो जाता है जो उसके मुक्ति-प्राप्ति के मार्ग मे बाधक है। इसलिए मुक्ति प्राप्ति का एकमात्र साधन उन्होने भक्ति को ही माना है। आपकी विचारधारा का कविता-क्षेत्र मे भक्त कवियो पर प्रभाव पडा। कबीर के बाद वाले कवियो ने भक्ति के जिस रूप को अपनाया उसमे किसी न किसी रूप मे इनकी मान्यताओ की पुट आ जा जाती है। महाकवि सूर की कविता मे विष्णु भगवान् का वह रूप तो नही मिलता जो मध्वाचार्य ने प्रतिपादित किया परन्तु भक्ति और विष्णु भगवान् की प्रधानता पूर्ण रूप से विद्यमान है। मध्यकालीन आध्यात्मिक विचारधारा को आपने काफी दूर तक प्रभावित किया है।

निम्बार्काचार्य—श्री निम्बार्काचार्य ने द्वैताद्वैत मत का प्रतिपादन और प्रचार किया। आप ने ब्रह्म के द्वैत और अद्वैत दोनो ही रूपो को स्वीकार किया है और दोनो के ही प्रति अपनी आस्था प्रदर्शित की है। जीव को निम्बार्काचार्य ने कर्म करते समय स्वतत्र माना है, परन्तु जब योग का क्षेत्र सामने आता है तो जीव स्वतत्र नही रहता, वरन् उसे ईश्वर के नियत्रण मे रहकर चलना होता है। इस विचारधारा के अनुमार जीव नियम्य है और ईश्वर नियन्ता भी। जीव को आपने ईश्वर का ही अश माना है, परन्तु सभी जीवो को एक-सा नही माना। जीव के भी आपने अनेक प्रकार माने है। इसी प्रकार आपने अचित् के भी तीन प्रकार माने है—प्राकृत, अप्राकृत और काल।

निम्बार्क-मत मे ईश्वर के निर्गुण रूप का प्रतिपादन न होकर केवल सगुण रूप का ही प्रतिपादन किया गया है। सगुण साकार ब्रह्म मे आपने मान्यता प्रदर्शित की है। निम्बार्काचार्य के विचार से जीवात्मा सासारिक क्लेशो और कष्टो से केवल भक्ति के मार्ग पर चलकर ही मुक्ति प्राप्त कर सकता है। भक्ति ही वह साधन है जिसके द्वारा आत्मा माया का आवरण हटाकर ईश्वर का साक्षात्कार प्राप्त करे, प्रपत्तिमूलक भक्ति द्वारा ही जीव को भगवानानुग्रह प्राप्त हो सकता है। द्वैताद्वैत आध्यात्मिक विचार का भी भक्त कवियो की रचनाओ पर कम प्रभाव नही हुआ।

विष्णु स्वामी—विष्णु स्वामी प्रधान रूप से मध्वाचार्य के ही मतावलम्बी थे। आपने अद्वैतवाद से माया को पृथक् करने का प्रयास किया है। राधा और कृष्ण की भक्ति को आपने अपनी विचारधारा मे विशेष महत्त्व दिया है। विष्णु स्वामी की विचारधारा का प्रभाव हमे विद्यापति और चण्डीदास की कविताओ मे मिलता है।

विष्णु स्वामी तक आनेवाले धर्माचार्यों और उनकी मान्यताओं पर सांकेतिक

दृष्टि डाल लेने के पश्चात् हम इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि धर्माचार्यों का झुकाव ज्ञानमार्गी विचारधारा की ओर से भक्तिमार्गी विचारधारा की ओर बढता जा रहा था। इस झुकाव को हम देश की पराधीनता के फलस्वरूप मानते है। विचार-शक्ति पराधीनता के वातावरण मे कुंठित हो जाती है और उस दशा मे केवल कुछ मान्यताओ या हृदय-पक्ष का ही सहारा लेना होता है। 'निर्बल के बल राम' वाली यात की सार्थकता का इससे गहरा प्रमाण और क्या मिलेगा? परन्तु फिर भी इन धर्माचार्यों की भक्ति-भावना मे हमे विचारात्मकता का लोप नही मिलता। भक्ति मे जो दृढता है वह विचार मे नही आ सकती फिर सगठन के क्षेत्र मे जो मजबूती भक्ति पैदा करती है और जो एकाग्रता और मेल तथा दृढ विश्वास की भावना भक्ति ला सकती है, वह ज्ञान के लिए नितान्त असम्भव है। मुसलमानी प्रभाव के विरुद्ध धर्माचार्यों का यह एक सुदृढ मोर्चा था जिसमे भक्ति के आधार पर साक्षात् ब्रह्म को सामने बिठलाकर सगठन की भावना को जनता मे भरने का प्रयास किया गया। जनता इस समय अपने को निराश्रित अनुभव कर रही थी। राजनैतिक सत्ता अपने हाथो मे न रहने से हर समय भय बना रहता था। इसीलिए धर्माचार्यो को आवश्यकता महसूस हुई कि वे भगवान् को लाकर जनता के बीच स्थापित करें और उसकी निराशा मे आशा की लहर दौडा दे।

इस युग के भक्त-कवियो ने यही सब कुछ करके, चाहे धार्मिक दृष्टिकोण से ही सही जनता को केवल अपनी ओर आकर्षित ही नही किया वरन् उसके सकट काल मे उसे सहारा भी प्रदान किया। इस काल के कवियो को जनता ने अपना पूज्य कहकर और मानकर अपनाया, केवल इसलिए कि उन्होने उस अन्धकार-पूर्ण समय मे उसका मार्ग-प्रदर्शन किया और उसकी अशक्तता मे उसे बल प्रदान किया। आज के युग का कवि जनता से बहुत दूर है। वह जनता की प्रवृत्तियो को न समझकर अपने वादो की झोक मे आगे बढता चला जा रहा है। जो कुछ वह कहता है वह जनता की बात नही और इसीलिए जनता तक उसकी पहुँच नही। जिनका साहित्य वह लिखता है उसके पढने वाले वे नही जिनके विषय मे वह लिखा गया है। परन्तु भक्त कवियो ने ऐसा नही किया। उन्होने उन्ही का साहित्य लिखा जिनको उसकी आवश्यकता थी, और इसलिए वे उनके पूज्य इष्टदेवों के ही समान उनके आदर के पात्र बने।

वैष्णव सम्प्रदाय—सूर साहित्य विशेष रूप से वैष्णव-विचारधारा से प्रभावित हुआ है। वैष्णव धर्म की इस काल मे क्या रूपरेखा थी, यहाँ इसे भी जान लेना नितात आवश्यक है। ऊपर हम कह चुके हैं कि शकराचार्य से बाद मे आने वाले आचार्य रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य और विष्णुस्वामी के मत प्रतिक्रिया के रूप मे आये। शकराचार्य के अद्वैत सिद्धान्त और मायावाद का इन आचार्यों ने विरोध किया। वैष्णव सम्प्रदाय शकराचार्य के सिद्धान्तो का विरोधी

था । इस समय वैष्णव धर्म भी प्रधानतया चार धाराओ मे विभक्त था और इन चारो ही धाराओ के पृथक्-पृथक् सम्प्रदाय थे । इन सम्प्रदायो मे कुछ बातो पर पारस्परिक मतभेद था और कुछ बाते समान्य रूप से मान्य थी । मान्यता के क्षेत्र मे सभी सम्प्रदाय भक्ति को उपासना के क्षेत्र मे सर्वोच्च स्थान देते थे। दूसरी सैद्धान्तिक एकता इन सभी सम्प्रदायो की यह है कि ये ब्रह्म के ही समान प्रकृति को भी सत् मानते है जबकि शकर ने प्रकृति को ब्रह्म की सत्ता से पृथक् स्वीकार किया है । इन दो प्रधान बातो के अतिरिक्त इनमे पारस्परिक अनेको मतभेद और एकता की बाते है, जीव और ब्रह्म की मान्यताओ तथा पारस्परिक सम्बन्धो को लेकर न जाने कितनी पृथक्-पृथक् प्रकार की कल्पनाएँ दोनो मे मिलती है । वेदान्त के चार प्रमुख सिद्धान्त इन्ही मतभेदो को लेकर सामने आये । चार वैष्णव सम्प्रदायो के व्यवस्थापक, उनके सम्प्रदाय तथा सिद्धान्त निम्नलिखित है .

(१) रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादन किया और इनके द्वारा चालित सम्प्रदाय श्री सम्प्रदाय कहलाया ।

(२) विष्णु स्वामी ने शुद्धाद्वैत का प्रतिपादन किया और इनका सम्प्रदाय रुद्र सम्प्रदाय कहलाया ।

(३) निम्बर्काचार्य ने द्वैताद्वैत का प्रतिपादन किया और इनके द्वारा चालित सम्प्रदाय सनकादि सम्प्रदाय कहलाया ।

(४) मध्वाचार्य ने द्वैत मत का प्रतिपादन किया और इनका सम्प्रदाय ब्रह्म-सम्प्रदाय कहलाया ।

शुद्धाद्वैतवाद की प्राचीनता उक्त सम्प्रदायों मे यो तो सभी अपने को सबसे प्राचीन मानते है, परन्तु यदि प्राचीनता की दृष्टि से देखे तो विष्णुस्वामी द्वारा प्रतिपादित शुद्धाद्वैत ही सबसे प्राचीन है । कुछ लोगो का तो मत है कि विष्णुस्वामी का प्रादुर्भाव शकर से भी पूर्व हुआ था । परन्तु क्योकि इसका मत भी शकर विरोधी मतो मे आता है इसलिए इसे हम वैष्णव-सम्प्रदायो मे सर्वप्रथम मान्यता देकर ही रह जाते है । विष्णुस्वामी के होने का काल अनिश्चित् है । विष्णुस्वामी किसी द्रविडदेशीय राजा के ब्राह्मण मत्री के बेटे थे । प्रतिभाशाली विद्वान् थे और शास्त्रो के प्रकाण्ड पडित थे । तपस्वी योगी थे और यहाँ तक भी कहावत प्रसिद्ध है कि आपने अपनी तपस्या के बल से ब्रह्म का साक्षात्कार किया था । यह ब्रह्म को मानते अद्वैत ही थे, परन्तु साकार कल्पना करते थे । वह ब्रह्म की भगवान् कृष्ण के रूप मे उपासना किया करते थे ।

विष्णुस्वामी-सम्प्रदाय . शुद्धाद्वैत के आदि प्रवर्तक भगवान् शकर माने जाते हैं और विष्णुस्वामी सम्प्रदाय का दार्शनिक सिद्धान्त शुद्धाद्वैत था इसलिए इस

सम्प्रदाय की प्रसिद्धि रुद्र-सम्प्रदाय के नाम से हुई। यह कहावत प्रसिद्ध है की भगवान् शकर ने सर्वप्रथम शुद्धाद्वैत का ज्ञान बालखिल्य ऋषियो को दिया और कालान्तर मे वही ज्ञान फिर विष्णु स्वामी को प्राप्त हुआ। जनता मे शुद्धाद्वैत दर्शन की प्रतिष्ठा प्रतिपादित करने का श्रेय श्री विष्णुस्वामी को ही पहुँचता है। वादरायण कृत ब्रह्मसूत्र का भाष्य करके आप ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। विक्रम की नवी शताब्दी मे विष्णुस्वामी-सम्प्रदाय के किसी आचार्य को शकराचार्य के अद्वैतवादी महानुभाव ने हरा दिया था। इस हार के कारण इस सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा कम हो गई थी।

जिस काल मे श्री वल्लभाचार्य का आविर्भाव हुआ, शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय की कोई प्रतिष्ठा नही थी और उसके उच्छिन्न मठ मे बिल्वमगल नामक आचार्य प्रतिष्ठित थे। जब वल्लभाचार्य ने विद्यानगर के प्रसिद्ध शास्त्रार्थ मे अपने विरोधियो को हराकर 'साकार ब्रह्म' की प्रतिष्ठा की तो इन्हे शुद्धाद्वैत का प्रधान आचार्य माना गया और इन्ही के हाथो मे विष्णु स्वामी -सम्प्रदाय की खोई हुई प्रतिष्ठा को बनाने का कार्य सौपा गया। वल्लभाचार्य विष्णु स्वामी सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य घोषित हुए। इस प्रकार वल्लभाचार्य ने श्री विष्णु-स्वामी के शुद्धाद्वैतवादी दर्शन को लेकर एक बार उसमे फिर जान डाली और पुष्टिमार्ग की स्थापना की। यह सच है कि शुद्धाद्वैत दर्शन के जन्मदाता भगवान् शकर और फिर प्रतिपादक विष्णु स्वामी है परन्तु उसकी वास्तविक ख्याति और प्रसार का श्रेय जो आचार्य वल्लभाचार्य को पहुँचता है वह उस समय के अन्य किसी आचार्य को नही पहुँचता।

साहित्यिक परिस्थितियाँ—ऊपर हमने सूरकालीन राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियो, विचारधाराओ का सक्षेप मे अध्ययन किया। इन सभी का प्रभाव कवि की कविता पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे पडा।

सूर एक वैष्णव भक्त थे और शुद्धाद्वैती दर्शन का उन्होने प्रतिपादन किया। शुद्धाद्वैती दर्शन मे साकार ब्रह्म की उपासना कर जनता के नैराश्य को आपने एक बार आनन्द और मगल मे तबदील कर दिया। जहाँ एक ओर आपका साहित्य परमानन्द की प्राप्ति के लिए था, वहाँ दूसरी ओर उसमे जन-कल्याण की भावना निहित थी। आपत्ति-काल मे जनता स्वय भी सगठित हो जाती है। फिर उसे सूर जैसे कवि और उसके साहित्य का वह प्रेम-बधन प्राप्त हुआ कि जिसमे बँधकर वह नाच उठी। जनता की हृदय-वीणा पर भक्ति का स्वर झकार उठा और प्रेम का सागर हिलोरे लेने लगा।

भक्ति-कालीन साहित्य मे सूर से पूर्व कबीर ने जहाँ एक ओर सामजस्य और सहिष्णुता की भावना का प्रसार किया था वहाँ दूसरी ओर जायसी ने सूफी प्रेम धारा प्रवाहित की। जनता के अन्दर से पारस्परिक कटुता का धीरे-धीरे

लोप हो रहा था और हिन्दू तथा मुसलमान एक-दूसरे के निकट आने का विचार कर रहे थे। महाकवि तुलसी और सूर की भक्ति-भावना का प्रसार यो पूर्ण रूपेण हिन्दू-जनता के लिए ही था परन्तु रसखान जैसे मुसलमान भी हमे वहाँ देखने को मिलते है, जिन्होने कृष्ण और राधा को अपना इष्ट देव बनाया।

महाकवि सूर, जैसा कि हम ऊपर भी सकेत कर चुके है, उपासना के मार्ग मे भक्ति को ही सर्वप्रथम साधन मानते थे। भक्ति के द्वारा ही उनका मत था कि भगवान् की प्राप्ति सबसे सहज भाव से हो सकती हे। ज्ञान और योग की जो खिल्लियाँ आपने 'भ्रमर-गीत' मे उडाई है वे देखते ही बनती हे और व्यंग्यात्मक साहित्य की शायद उससे अच्छी उपमाएँ हमे हिन्दी-साहित्य मे खोजने पर न मिले। वैष्णव लोगो की भक्ति-भावना का ऊपर हम सक्षेप मे उल्लेख कर चुके है। वही सब विशेषताएँ हमे सूर साहित्य मे देखने को मिलती है। श्री वल्लभा-चार्य के सिद्धान्तो का प्रतिपादन ही सूर साहित्य है। उनके गूढ दार्शनिक विचारो को सरल और मधुर रूप मे जनता को कण्ठस्थ करा देना सूर का ही काम था। साकार ब्रह्म की जो झाकियाँ हमे सूर-साहित्य मे उपलब्ध होती है वह अन्यत्र नही मिल सकती।

सार-निरूपण—सूर-जीवन-काल के पूर्वार्द्ध मे देश राजनैतिक उथल-पुथल का क्षेत्र बना हुआ था परन्तु उत्तराधिकाल मे शान्त व्यवस्था कायम हो चुकी थी। अकबर का राज्य था जिसने धार्मिक सहिष्णुता के साथ ही साथ अपनी कला प्रियता का भी परिचय दिया। वह स्वय साहित्य और कला का प्रेमी था और कलाकारो का आदर करता था।

इस काल मे समाजिक व्यवस्था भी ठीक हो चली थी। हिन्दू और मुसलमान आपसी मतभेद के रहते हुए भी मिलकर जीवन-सचालन की व्यवस्था करने लगे थे और आपसी द्वेष-भाव की भी कमी दिखलाई देने लगी थी। महाकवि कबीर जैसे विचारको के प्रचार स्वरूप आपसी भेदभाव कम हो गया था। अकबर ने धर्म के क्षेत्र मे दीनेइलाही धर्म की स्थापना करके पारस्परिक मन-मुटाव को कम करने का मौलिक प्रयत्न किया।

धर्म क्षेत्र मे राज्य की ओर से स्वतन्त्रता मिल जाने के कारण वैष्णव भक्त कवियो ने निराश हिन्दू जनता को भक्ति-भावना का सहारा दिया और उनके उन्मत्त जीवन मे आनन्द और उत्साह की लहर दौडा दी। वैष्णव भक्त ने ऊच-नीच की भावना को भुलाकर अपना मार्ग सबके लिए उन्मुक्त कर दिया। समाज के उच्च और सामान्य वर्गों की कटुता का धीरे-धीरे लोप प्रारम्भ हो गया।

इस काल मे नास्तिकता का ह्रास और आस्तिकता का प्रभाव बढ़ा। मुसलमान लोग भी आस्तिक थे मुसलमान पर हिन्दुओ की मूर्ति पूजा का भी प्रभाव पड़ा। हिन्दुओं मे वैष्णव सम्प्रदाय की मान्यता बढ़ी और कृष्ण भक्ति ने जनता मे बैठ

पैदा की । ज्ञान-प्रधान विचार धारा भक्ति-प्रधानता की दिशा मे मुड़ गई ।

इसी समय महाप्रभु वल्लभाचार्य ने प्राचीन मत शुद्धाद्वैतवाद का पुनरूद्धार किया और पुष्टि मार्ग की स्थापना की जिसके अन्तर्गत वात्सल्य, सख्य और मधुर भक्ति के स्रोत को बहाया । इस विचारधारा का सूर साहित्य पर प्रभाव ही नही पडा वरन कहना चाहिए कि सूर साहित्य उक्त सभी परिस्थितियो विचारधाराओ, और भावनाओ का प्रतिबिम्ब है । हिन्दी साहित्य का यह अमूल्य ग्रन्थ अपने समय की भावना,कल्पना और सामाजिक परिस्थितियो का सार है और इस सार को संग्रहीत करने वाले हैं हमारे महाकवि भक्त सूरदास जी ।

□

३ | पुष्टि-मार्ग के आचार्य और पुष्टि-मार्ग

गत अध्याय मे हम सक्षेप मे उल्लेख कर चुके हैं कि शकर के शुद्धाद्वैत दर्शन का, जिसका प्रतिपादन विष्णु स्वामी ने किया, किस प्रकार वल्लभाचार्य ने पुनरुत्थान किया और विष्णु-सम्प्रदाय की नष्ट-प्राय प्रतिष्ठा को एक बार फिर अपने पाडित्य से सुदृढ रूप प्रदान किया। श्री वल्लभाचार्य ने पुष्टि-मार्ग की स्थापना की और इसी के द्वारा शुद्धाद्वैती दर्शन का प्रसार हुआ।

वल्लभाचार्य . वश और जन्म—श्री वल्लभाचार्य भारद्वाज गोत्र के तैलग ब्राह्मण थे। दक्षिण मे गोदावरी के तटवर्ती 'काँकरवाड' नामक ग्राम मे आपके पूर्वज निवास करते थे। इनका परिवार 'वेलनाट' या 'वेलडुना' कहलाता था। वल्लाभाचार्य के पिता का नाम लक्ष्मण भट्ट और माता का नाम इल्लाम्मागारू था। लक्ष्मण भट्ट एक धर्मनिष्ठ विद्वान् ब्राह्मण थे।

एक बार लक्ष्मण भट्ट अपनी स्त्री को साथ लेकर उत्तर भारत के तीर्थों की यात्रा को निकले और प्रयाग गया इत्यादि का भ्रमण कर बनारस पहुँचे। बनारस मे रहते अभी कुछ ही दिन हुए थे कि वहाँ इब्राहिम लोदी के आक्रमण की अफवाह फैल गई और यह कुछ दक्षिणी लोगो के साथ दक्षिण को चल दिए। इस समय इनकी स्त्री गर्भवती थी।

जब ये लोग अनेको आपत्तियो को सहन करते हुए रायपुर जिले के चम्पारण्य बन से होकर जा रहे थे तो इनकी स्त्री प्रसव पीडा से आगे न बढ सकी। इनके साथी लोग चौडा नगर में चले गए और यह पति-पत्नी वही जंगल मे ही रुक गए। वल्लभाचार्य का जन्म यही पर हुआ परन्तु जब बच्चा हुआ तो वह मरा हुआ जान पडा और ये पति-पत्नी उसे वही पर छोडकर रात्री को समीप के गाँव मे चले गये।

प्रात:काल उन्हे समाचार मिला कि लोदी काशी पर आक्रमण नही कर रहा। ये दोनो फिर काशी की ओर लौट लिए। मार्ग मे जब ये दोनो उसी वृक्ष के नीचे से गुजरे, जिसके नीचे बच्चे का जन्म हुआ था, तो बच्चा इन्हे वही पर खेलता हुआ मिला। माता ने बच्चे को उठाकर छाती से लगा लिया। यही

वल्लभाचार्य थे जिनका जन्म संवत् १५३५ शाके १४०० का वैशाख कृ० ११ रविवार के दिन हुआ था।

शिक्षा—लक्ष्मण भट्ट दुबारा काशी मे आकर बस गए और ब्राह्मणोचित कार्यो से अपने परिवार का निर्वाह करने लगे। अध्ययन और अध्यापन करना आपको विशेष अभीष्ट था।

वल्लभ बाल-काल से ही कुशाग्र बुद्धि का बच्चा था और विद्याध्ययन में विशेष रुचि थी। कहा जाता है कि ग्यारह वर्ष की अल्प आयु मे ही आपने वेद, वेदांग, दर्शन और पुराणो के अध्ययन मे विशेष योग्यता का परिचय दे दिया था और इनमे निपुणता हासिल कर ली थी। काशी मे आपकी प्रसिद्धि इस अल्पायु मे ही योग्यता के कारण हो गई थी। वह काशी मे होने वाले शास्त्रार्थों में भाग लेने लगे थे और पडित-मण्डली उनके तेज और गुणों से प्रभावित होने लगी थी।

सवत् १५४६ में वल्लभाचार्य के पिता का देहान्त हो गया। माताजी को अपने मामा जी के पास भेज वल्लभाचार्य भारत-यात्रा पर निकल पडे और जिस दर्शन का आपने प्रतिपादन किया वह शुद्धाद्वैत था। शुद्धाद्वैत भक्ति-मार्ग का आपने भारत भर मे प्रचार किया और समस्त भारत की तीन बार यात्रा की।

दक्षिण-यात्रा—वल्लभाचार्य का दक्षिण की यात्रा करते समय विजयनगर मे एक बडा शास्त्रार्थ हुआ। विजयनगर दक्षिण का एक बहुत बडा राज्य था। वहाँ जो राजा उस समय राज्य करते थे उनका नाम कृष्णदेवराय था। राजकीय आज्ञा से विभिन्न मतावलम्बी पंडितो की सभा का आयोजन हुआ और उसमे बहुत से सम्प्रदायों के पडित आये। सभी मतो के पंडितो ने अपने-अपने मत की श्रेष्ठता प्रमाणित करने का प्रयास किया, परन्तु प्रधान मोर्चा भक्ति-सम्प्रदाय के वैष्णव आचार्यों और अद्वैतवादी लोगों का ही था। एक ओर माध्व, निम्बार्क, विष्णु स्वामी और रामानुजाचार्य मतावलम्बी डटे हुए थे तथा दूसरी ओर शकराचार्य के अनुयायी अद्वैतवादी और शैव-शाक्त इत्यादि थे। वैष्णव-सम्प्रदायो के प्रमुख वक्ता आचार्य व्यास तीर्थ थे। यह शकराचार्य मतावलम्बी अद्वैतवात के हामी थे। प्रबल वाद-विवाद के बाद परिस्थिति ऐसी आई कि वैष्णव-पक्ष की हार होने लगी।

वल्लभाचार्य ने जब इस शास्त्रार्थ की चर्चा सुनी तो वह भी वहाँ जा पहुँचे। वल्लभाचार्य ने वैष्णव-पक्ष की गिरती हुई दशा को अपने प्रकाड पाडित्य का सहारा देकर ऐसा ऊपर उठाया कि अद्वैतवादी लोग उनके प्रश्नों को सुन-सुनकर बगलें झांकने लगे। अन्त मे अद्वैतवादियो को हार माननी पडी और वैष्णवो की विजय हुई। वल्लभाचार्य का इस शास्त्रार्थ मे बडा सम्मान हुआ और उनका राजा कृष्णदेवराय ने भी बडा आदर सत्कार किया। यही से वल्लभाचार्य की प्रतिष्ठा को चार चाँद लगे और जहाँ एक ओर अवैष्णवों ने उनका लोहा

माना वहाँ दूसरी ओर वैष्णव आचार्यों मे भी उनकी बहुत प्रतिष्ठा हुई, तथा उनकी मान्यता बहुत ऊपर उठ गई।

इस विजय के पश्चात् माध्व-सम्प्रदाय तथा विष्णु-सम्प्रदाय दोनो ने अपनी गद्दिया वल्लभाचार्य के लिए खाली कर दी। जैसा हम पीछे भी कह चुके है कि इस समय विष्णु-सम्प्रदाय केवल नाम-मात्र के लिए ही भारत मे चल रहा था। क्योकि वल्लभाचार्य का वेदाग सिद्धान्त विष्णु-स्वामी के अनुकूल था। इसलिए उन्होने विष्णु-स्वामी-मत के आचार्य विल्वमगल के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। शास्त्रार्थ की विजय का सेहरा वल्लभाचार्य के सिर बधा और विजयनगर के राजा ने आपका कनकाभिषेक किया। इस घटना का निश्चित् सवत् पुष्टि-सम्प्रदाय के ग्रन्थो मे उपलब्ध नही। सम्भवत यह सवत् १५६६ की घटना है। इस समय वल्लभाचार्य की अवस्था ३१ वर्ष की थी और यह समस्त भारत की तीसरी बार यात्रा करके उत्तर भारत की ओर लौट रहे थे।

वल्लभाचार्य की तीन यात्राएँ निम्नलिखित है :

(१) प्रथम यात्रा सवत् १५४८ की वैशाख कृ० २ को आरम्भ हुई। उस समय वल्लभाचार्य केवल १३ वर्ष के थे। यह यात्रा सवत् १५५४ वैशाख शु० ३ को समाप्त हुई, सात वर्ष की रही। इम यात्रा मे आप मथुरा-गोवर्धन आये और श्रीनाथ जी की पूजा की व्यवस्था ठीक की।

(२) सवत् १५५५ की ज्येष्ठ २ रविवार को दूसरी यात्रा प्रारम्भ हुई और छ. वर्ष रही। वह सवत् १५६१ मे समाप्त हुई। इमी यात्रा के दौरान मे काशी मे आपने अपना विवाह किया।

(३) तीसरी यात्रा सवत् १५६' की अक्षय तृतीय को प्रारम्भ हुई और छ. वर्ष चली। सवत् १५६८ मे यह यात्रा समाप्त हुई। इस यात्रा मे उनका कनकाभिषेक हुआ।

अन्तिम यात्रा ३१ वर्ष की आयु मे समाप्त की। ये यात्राये आपने भक्ति मार्ग के प्रचारार्थ ही की और जहाँ भी आप गए आपने शुद्धाद्वैतवाद का प्रचार किया। यात्रा के दौरान मे जिन-जिन स्थानो का कुछ विशेष महात्म्य श्रीपद्भागवत मे बतलाया गया है वहाँ-वहाँ आपने बैठके स्थापित की। भारतवर्ष-मे महाप्रभु जी की ये ८४ बैठकें है और ये पुष्टि-मार्ग के पवित्र और दर्शनीय स्थान समझे जाते है। इनमे से २२ ब्रज भूमि के अन्दर है। सबसे पहली बैठक गोकुल के गोविन्द घाट का है। इसकी स्थापना सवत् १५५० मे हुई।

संवत् १५४८ मे श्री वल्लभाचार्य जी अपनी पहली यात्रा प्रारम्भ कर मथुरा आये और ब्रज की परिक्रमा की। गोवर्धन के अन्यौर ग्राम मे श्रीनाथ जी की मूर्ति प्रकट हुई थी। यहाँ के लोग उस मूर्ति के प्रति बडी श्रद्धा रखते थे और वैष्णव भक्त मध्वानन्द जी उसकी सेवा-पूजा करते थे। सवत् १५४९ मे वल्लभाचार्य गिरिराज गए और वहाँ श्रीनाथ जी के दर्शन किए। तभी से आप उनकी

यथाचित सेवा-पूजा के प्रबन्ध की बात सोचने लगे। फिर आपने वही पहाडी पर एक छोटा मन्दिर बनवाकर उसमे श्रीनाथ की मूर्ति को स्थापित कर दिया और फिर वह अपनी यात्रा पर चले गए। पूरनमल खत्री ने सवत् १५५६ मे वल्लभाचार्य की प्रेरणा से श्रीनाथ जी का विशाल मन्दिर बनवाया। वह मन्दिर बीस वर्ष मे बना। तब वल्लभाचार्य ने कुम्भनदास जी को मदिर का कीर्तनिया तथा कृष्णदास को अधिकारी नियुक्त किया और स्वय काशी के पास चरणाट स्थान को चले गए।

वल्लभाचार्य का गृहस्थ वल्लभाचार्य की दूसरी यात्रा के समय आपका विवाह काशी मे हुआ। यह ब्रह्मचारी रहना चाहते थे, परन्तु अपने बाद अपने मत का उत्तराधिकारी बनाने के निमित्त आपने विवाह किया। आपकी पत्नी का नाम महालक्ष्मी और श्वसुर का नाम मधुमगल या देवव्रत था। विवाह ठीक २५ वर्ष की आयु मे हुआ। उस समय उनकी स्त्री की आयु आठ वर्ष की थी। सवत् १५६६ मे विवाह के पाच वर्ष बाद स्त्री का द्विरागमन हुआ। उस समय आप अपनी तीनो यात्राएँ समाप्त कर वापस आ चुके थे। गृहस्थाश्रम-निर्वाह के लिए आप प्रयाग के पास जमना के दूसरी ओर अडैल नामक ग्राम मे रहने लगे।

वल्लभाचार्य के दो पुत्र हुए। बडे बेटे का नाम गोपीनाथ जी था और छोटे का नाम विट्ठलनाथजी। दोनो पुत्र पिता के ही समान विद्वान् और धर्मनिष्ठ थे।

धर्म प्रचार—वल्लभदास जी का सम्पूर्ण जीवन धर्म-साधना और धर्म-प्रचार मे ही व्यतीत हुआ। अपनी तीनो यात्राओ मे आपने प्रधानतया धर्म-प्रचार ही किया। आप वैष्णव धर्म की पुष्टिमार्गी शाखा के प्रवर्तक है और शुद्धाद्वैत दर्शन के मृतक शरीर मे आपने एक बार फिर से प्राणो का सचार किया।

वल्लभाचार्य एक तार्किक भक्त थे और जहाँ विपक्षियो का मुंह बन्द करने की आप मे क्षमता थी वहाँ भक्तो को भक्ति-रस मे प्रवाहित करना भी आपको खूब आता था। वल्लभाचार्य के भारत भर मे अनेको शिष्य हुए, परन्तु उनमे ८४ प्रसिद्ध हैं। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' मे इन्ही चौरासी शिष्यो का जीवन-चरित वर्णित है। पुष्टि सम्प्रदाय की शिष्य-परम्परा मे वल्लभाचार्य 'आचार्य महाप्रभु' और विट्ठलनाथ जी के नाम प्रसिद्ध है।

वल्लभाचार्य के ग्रन्थ—श्री वल्लभाचार्य ने बहुत से ग्रन्थो की रचना की। उन ग्रन्थो की सख्या ३५ से ८४ बतलाई जाती है आपके ग्रन्थो मे 'सुबोधनी और 'अणुभाष्य' विशेष उल्लेखनीय है। इन दोनो ग्रन्थो मे वल्लभाचार्य के वेदान्त और मत का स्पष्टीकरण मिलता है। आपके ग्रन्थ सस्कृत-भाषा में है।

देहावसान—सवत् १५८७ को ज्येष्ठ कृ० १० को वल्लभाचार्य ने अड़ैल से प्रयाग नारायणेन्द्र तीर्थ पर विधिवत सन्यास लिया। आपने अपना सन्यासी-

जीवन काशी मे बिताया। यहाँ आपने योग-समाधि भी लगाई। संवत् १५८७ की आषाढ शु० ३ को आपने गगा की बीच धारा मे जल-समाधि ली। समाधि के समय आपकी आयु ५२ वर्ष की थी।

गोपीनाथ जी तथा पुरुषोत्तम स्वामी—गोपीनाथ जी का जन्म सवत् १५६८ की आश्विन कृ० १९ मे हुआ। आप वल्लभाचार्य के बडे बेटे थे, इसलिए उनके उत्तराधिकारी यही बने। गोपीनाथ जी गम्भीर और सात्विक प्रकृति के भक्त थे। शिक्षा-दीक्षा आपकी वल्लभाचार्य के सरक्षण मे हुई थी। एकान्त वास आपको विशेष प्रिय था। श्रीनाथजी की सेवा तथा सम्प्रदाय के कार्य का भार यह विट्ठलनाथ जी पर छोडकर स्वय दूर गुजरात इत्यादि प्रदेश की यात्रा पर चले जाते थे। आपका विवाह दक्षिण देश मे हुआ था और आपके एक पुत्र तथा दो पुत्री थी। आपका लिखा हुआ केवल 'साधना-दीपिका' एक ही ग्रन्थ मिलता है। कहते है, उनकी मृत्यु के पश्चात् उनकी स्त्री गो० विट्ठलनाथ जी से लडकर उनके सब ग्रन्थ अपने मैके ले गई।

सवत् १५९९ मे गोपीनाथ जी का निधन हुआ।

गोस्वामी विट्ठलनाथ जी—सवत् १५९९ मे गोपीनाथ जी के निधन के समय उनके पुत्र पुरुषोत्तम की आयु केवल दस वर्ष की थी। इसलिए सम्प्रदाय के अधिकाश व्यक्तियो के मतानुसार गोपीनाथ जी के उतराधिकारी विट्ठलनाथ जी ही हुए। गोस्वामीजी की स्त्री चाहती थी कि उनका पुत्र पुरुषोत्तम ही उत्तराधिकारी हो। गोस्वामी जी की स्त्री के मत का समर्थन करने वालो मे श्रीनाथजी के मदिर के अधिकारी कृष्णदास जी भी थे और उन्होने एक दिन इसी प्रसग को लेकर विट्ठलनाथ जी को श्रीनाथजी के मदिर मे आने से रुकवा दिया।

यह पारिवारिक कलह इस घटना के छ महीने पश्चात् पुरुषोत्तम जी की मृत्यु से अपने आप समाप्त हो गई। पति और पुत्र के निधन के पश्चात् गोस्वामी जी स्त्री गगाबाई अपनी सम्पत्ति सहित अपने मैके (दक्षिण प्रदेश) चली गई। अधिकारी कृष्णदास बाद मे गो० विट्ठलनाथ जी के ही भक्त हो गए। इस प्रकार पुष्टि सम्प्रदाय का पूर्ण अधिकार विट्ठलनाथ जी के ही हाथो मे आ गया। वल्लभाचार्य के सम्प्रदाय को विट्ठलनाथ जी के समय मे बहुत जबरदस्त उन्नति मिली। इनके समय मे यह सम्प्रदाय वैष्णव-धर्म की एक प्रधान शाखा माना जाता था। उत्तर भारत मे इसका बहुत अधिक प्रचार हुआ और असख्य लोगो ने इस मत को अपनाया।

जन्म और शिक्षा—गो० विट्ठलनाथ जी का जन्म सवत् १५७२ (शाके १४३७) की पौष कृ० ९ की, शुक्रवार को काशी के निकटवर्ती ग्राम चरणाट मे हुआ। आठ वर्ष की आयु मे आपका उपनयन सस्कार काशी मे हुआ और वही पर आपका अध्ययन-कार्य भी चला। वल्लभाचार्य के सुयोग्य सहवास का विट्ठलनाथ ने पूर्ण लाभ उठाया और शास्त्रो का गम्भीर अध्ययन किया। सागोपाग

वेद, उपनिषद, वेदान्त-दर्शन, भागवत् पुराणादि ग्रन्थो का पठन तथा अनुशीलन किया।

आपके दो विवाह हुए। प्रथम से छ पुत्र और तीन कन्याएँ हुई तथा दूसरे से एक पुत्र। इन सातो पुत्रो के ही कारण बाद मे पुष्टिमार्ग की सात गद्दिया प्रचलित हुई।

श्री वल्लभाचार्य ने श्रीनाथजी के मदिर की सेवा-पूजा का भार बगाली ब्राह्मणो को दिया था और कृष्णदास जी को अधिकारी बनाया था। महाप्रभ वल्लभाचार्य के देहावसान के पश्चात् कृष्णदास जी वह व्यवस्था बदलना चाहते थे। उन्हे बगाली ब्राह्मणो से शिकायत थी कि वे श्रीनाथजी की मूर्ति के साथ एक देवी का भी पूजन करते थे और श्रीनाथजी के पूजने मे आए हुए द्रव्य को गलत इस्तेमाल करते थे। इस बात की शिकायत अडैल मे जाकर कृष्णदास जी ने गोपीनाथ जी तथा विट्ठलनाथ जी से की और उन्होने इन्हे हटाने की अनुमति दे दी। कृष्णदास जी ने धीरे-धीरे बगाली ब्राह्मणो के हाथ से मन्दिर की सेवा-पूजा लेली। इसके बाद गो० विट्ठलनाथ जी ने तैलग ब्राह्मणो को यह सेवा-पूजा देनी चाही परन्तु उन्होने स्वीकार नही की। फिर यह साँचौरा ब्राह्मणो के सुपुर्द की गई और तब से यही लोग पुष्टि सम्प्रदाय के मन्दिरो की सेवा-पूजा करते हैं।

वल्लभाचार्य के पश्चात् गोपीनाथ जी पुष्टि सम्प्रदाय के अधिकारी हुए और उनकी मृत्यु पर सम्प्रदाय मे जो मतभेद पैदा हुआ उसका सक्षेप मे वर्णन ऊपर दे चुके है। गोपीनाथ जी की मृत्यु के बाद उनके पुत्र पुरुषोत्तम जी की मृत्यु से स्थिति साफ हो गई और विट्ठलनाथ जी सम्प्रदाय के एकछत्र अधिकारी हुए।

अष्टछाप की स्थापना पुष्टि-सम्प्रदाय के आचार्य पद की गद्दी सँभालने पर गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने 'अष्टछाप' की स्थापना करके एक बहुत बडा महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इस विषय मे हम ऊपर भी सकेत कर चुके है कि वल्लभाचार्य ने समस्त भारत मे अपनी यात्रा के दौरान मे ८४ शिष्य बनाये थे जिनका जिक्र 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' मे आता है। गो० विट्ठलनाथ जी ने इन शिष्यो की सख्या मे और वृद्धि की और वह उसे ८४ से बढाकर २५२ तक ले गये। इनका जिक्र 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' मे आता है।

स० १६०२ मे गो० विट्ठलनाथ जी ने चार अपने पिता के समय के और चार अपने समय के शिष्यो से 'अष्टछाप' की स्थापना की। अष्टछाप के आठ शिष्य इस प्रकार है—

१ कुम्भनदास	महाप्रभु वल्लभाचार्य के शिष्य
२ सूरदास	,,
३ परमानन्ददास	,,
४ कृष्णदास	,,
५. गोविन्द स्वामी	विट्ठलनाथ के शिष्य

६. नन्ददास — विट्ठलनाथ के शिष्य
७. छीत स्वामी — ,,
८. चतुर्भुजदास — ,,

उक्त आठो महानुभाव 'अष्टछाप' के शिष्य पुष्टिमार्ग के प्रधान स्तम्भ थे। सम्प्रदाय के ये अनन्य सेवक और भक्त थे। ये सभी सुप्रसिद्ध कवि, सगीतज्ञ और गायक थे। जनता तक पुष्टिमार्ग को ले जाने का जितना श्रेय सम्प्रदाय के आचार्यों की पहुँचता है उससे किसी भाँति कम इन लोगो को भी नही पहुँचता। श्रीनाथजी के मन्दिर मे कीर्तन के निमित्त जो रचनाएँ ये लोग गाते थे उससे पुष्टमार्गी साहित्य बना और ब्रजभाषा को तो उस पर नाज़ है। 'अष्टछाप' ने इस प्रकार धर्म के क्षेत्र मे जितना महत्त्वपूर्ण कार्य किया उससे कही अधिक उसका सम्मान साहित्य के क्षेत्र मे है। हिन्दी साहित्य को उस पर गर्व है और वह ससार के किसी भी ऊँचे-से-ऊँचे साहित्य के समक्ष रखा जा सकता है।

ब्रज मे गिरिराज के पश्चात् गोकुल पुष्टि-सम्प्रदाय का प्रधान-स्थान बना। यों वल्लभाचार्य प्रधानतया प्रयाग के पास अडैल और बनारस के पास चरणाट मे ही रहते थे परन्तु ब्रजभूमि में आकर वह गोकुल मे ही निवास करते थे। वल्लभाचार्य के अनन्तर विट्ठलनाथ जी ने गोकुल को ही अपना प्रधान निवास-स्थान बनाया। उनके अष्टछापी तीन प्रधान कवि गोविन्दस्वामी, नन्ददास और छीतस्वामी ने गोकुल मे ही गो० विट्ठलनाथ जी से दीक्षा ली। सवत् १६२३ मे यवनो के उपद्रवो के कारण विट्ठलनाथ जी अडैल छोड़कर यहाँ आ बसे थे। कुछ दिन गोकुल रहकर आप मथुरा चले गये। मथुरा मे रानी दुर्गावती ने उनके लिए एक विशाल भवन बनवाया, जो बाद मे उनके सातो पुत्रो मे विभाजित होने पर सतघरा कहलाया। जब मथुरा मे भी यवनो का उत्पात हुआ तो यह अपने परिवार को लेकर फिर गोकुल जाने का विचार करने लगे। इसी समय उनका महाराज अकबर से परिचय हुआ। अकबर विट्ठलनाथ जी से बहुत प्रभावित हुआ और उसने गोकुल की भूमि उन्हे दे दी। तब उस भूमि पर गोकुल ग्राम की स्थापना हुई और गो० विट्ठलनाथ जी अपने परिवार तथा भक्तजनो के साथ वहाँ चले गए। सवत् १६२८ मे यहाँ आपने नवनीतप्रिया जी तथा अन्य मन्दिरो का निर्माण कराया। इसी समय गोकुलपुरा की भूमि भी अकबर ने गो० विट्ठलनाथ जी को दे दी। यही पर पहले गिरिराज जी का मन्दिर था।

वल्लभाचार्य की भाँति आपकी भी भारत मे २८ बैठकें थी। इनमे से १६ ब्रज-भूमि मे तथा अन्य देश के अन्य भागो मे थी। इन बैठको के स्थानो पर गो० विट्ठलनाथ जी ने श्रीमद्भागवत की व्याख्या की थी।

गो० विट्ठलनाथ जी ने छोटे-बडे मिलाकर ५० ग्रन्थो की रचना की है। परन्तु इनमे निम्नलिखित १३ ग्रन्थ मुख्य है—

(१) अणुभाष्य का अन्तिम डेढ़ अध्याय
(२) सुबोधिनी की पूर्ति और टिप्पणी
(३) विद्वत्मण्डन
(४) शृगार-रस मण्डन
(५) भक्ति-हस
(६) भक्ति-निर्णय
(७) विज्ञप्ति
(८) निर्णय-ग्रन्थ
(९) भक्त हेतु
(१०) निबन्ध-प्रकाश टीका
(११) षोडश ग्रन्थ टीका
(१२) स्फुट स्तोत्रादि ग्रथ और टीकाएँ
(१३) सस्कृत आर्याएँ और पद

अन्तिम समय जब विट्ठलनाथ जी ने देखा कि उनका अन्तिम समय समीप है तो उन्होने अपनी चल तथा अचल सम्पत्ति को अपने सातो पुत्रो मे विभाजित कर दिया। विट्ठलनाथ जी के पास सात देवमूर्तियाँ थी। वे भी उन्होने अपने सातो बेटो को एक-एक दे दी। बटवारा 'सप्रदाय कल्पद्रुम' के अनुसार सवत् १६४० मे हुआ।

देहावसान—गोसाई जी के देहावसान के निश्चित् सवत् के विषय मे विद्वानो मे मतभेद है। 'सप्रदाय कल्पद्रुम' आपका देहावसान सवत् १६४४ की फाल्गुन कृ० ७ को बतलाता है। साप्रदायिक विद्वान् आजकल सवत् १६४२ मे उनका निधन मानते है। श्री महावीरसिह गहलौत संवत् १६५१ तक उनका जीवित रहना और सवत् १६५५ मे उनका लीला प्रवेश मानते हैं। हम पुष्टि सम्प्रदाय के अधिकाश विद्वानो द्वारा माने जाने वाले संवत् १६४२ को ही उनके निधन को अधिक प्रामाणिक सवत् मानते हैं।

सम्प्रदाय की व्यवस्था—यो तो शुद्धाद्वैत सिद्धान्त बहुत पुराना था, परन्तु उसके वास्तविक उन्नायक वल्लभाचार्य जी ही थे। उसी प्रकार यह सच है कि पुष्टिमार्ग की स्थापना वल्लभाचार्य ने की परन्तु उसको व्यवस्था देने का कार्य विट्ठलनाथ जी का ही था। वल्लभाचार्य की ही भाति आपने देशाटन और अपने सिद्धान्तो का प्रचार किया। आपने अपने पिता के विचारो का प्रातपादन किया और उनका अधिकाधिक प्रचार किया। अपने अलौकिक व्यक्तित्व, पाडित्य तथा उदार भावनाओ से जनता मे अपने सम्प्रदाय के प्रति आकर्षण पैदा कर दिया। आपने वल्लभाचार्य के समय की अपेक्षा पुष्टि-सम्प्रदाय के शिष्यो तथा भक्तो की सख्या में वृद्धि की। आपके शिष्य बहुत से विद्वान्, धनी, राजे-महाराजे, कवि और गायक बने। आपने भक्ति के क्षेत्र से ऊँच-नीच, जाति-पाँति के बधनो को खोल दिया और समान रूप से मानव मात्र को भगवान् विष्णु की उपासना करने का सुअवसर प्रदान किया। इससे सम्प्रदाय की व्यापकता और भी बढ गई और उसका आकर्षण अधिकाधिक लोगो के लिए हो गया। इस आकर्षण को विट्ठलनाथ जी ने यहाँ तक स्वच्छन्दता प्रदान की कि द्विज जातियो के अतिरिक्त अछूत और मुसलमान तक राधाकृष्ण के भक्त हो गए। तानसेन और रसखान जैसे लोक प्रसिद्ध मुसलमान गायक और कवियो ने राधाकृष्ण

के गीत गाये और कविताएँ की तथा मोहन जैसे अछूत इससे प्रभावित हुए।

गो० विट्ठलनाथ जी कोरे प्रकाण्ड पण्डित और आचार्य मात्र ही नही थे। वह स्वय एक गुणी कलाकार थे। काव्य तथा सगीत के मर्मज्ञ थे। आपका चित्र-कारिता मे भी दखल था। ब्रजभाषा के प्रति आपके हृदय मे अपार श्रद्धा थी और उसके उत्थान के लिए आपने कवियो को हर प्रकार का प्रोत्साहन दिया। आपके ही प्रयास और प्रोत्साहन से 'अष्टछाप' की स्थापना हुई जिसने हिन्दी साहित्य को ब्रज-साहित्य की अमर थाती सौपी।

कृष्ण-भक्ति का प्रसार—मध्यकाल मे या जिसे हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे भक्तिकाल के नाम से पुकारा जाता है उसमे कृष्ण-भक्ति का प्राधान्य रहा है। यो तो हम रामभक्ति को भी कम नही मान सकते, परन्तु जीवन का जो मुक्त-प्रवाह कृष्ण-भक्ति मे देखने को मिलता है वह राम-भक्ति की दास्य-भावना मे दब कर कुठित हो जाता है। कृष्ण-भक्ति के रग ने भारतीय जनता से नैराश्य को एकदम खीच कर बाहर कर दिया। अकबर के राज्य मे भक्ति के प्रसार को जो सहयोग मिला उसका पूर्ण उपयोग विट्ठलनाथ जी ने कृष्ण-भक्ति प्रसार के क्षेत्र मे किया। कृष्ण-भक्ति प्रसार और पुष्टिमार्ग के सदेश को जन-जन तक पहुँचाने का कार्य गो० विट्ठलनाथ जी का ही है। कलिकाल मे द्वापर को प्रस्तुत करने वाले इस आचार्य ने भारत को एक नवीन युग प्रदान किया, नवीन जाग्रति दी, नवीन उत्साह दिया और पुरानी भावना मे नये प्राण डालकर जनता के जीवन मे उल्लास की तरगें पैदा कर दी। उस काल की जनता और उससे प्रभावित होकर परम्परागत आगे बढने वाला समाज आपका सदैव आभारी रहेगा।

शुद्धाद्वैत के सिद्धान्त—ऊपर हमने जहाँ श्री विष्णुस्वामी के विषय मे उल्लेख किया हे उसके पश्चात् शुद्धाद्वैती के विषय मे भी सक्षेप मे उल्लेख किया है। शुद्धाद्वैती मार्ग की प्राचीनता का भी उल्लेख पीछे कर चुके है। हम यह भी बतला चुके है कि किस प्रकार विष्णुस्वामी द्वारा प्रतिपादित शुद्धाद्वैत का पुनर्जन्म वल्लभाचार्य द्वारा हुआ और फिर उसका प्रसार गो० विट्ठलनाथ जी ने किया। यहाँ हम शुद्धाद्वैत मत का साधारण स्पष्टीकरण प्रस्तुत कर देना उचित समझते है। शुद्धाद्वैत को समझे बिना सूर-साहित्य को समझने का प्रयास करना असफल प्रयास होगा।

शुद्धाद्वैत सिद्धान्त का विस्तार के साथ विवेचन न करके हम केवल सार रूप मे उसे प्रस्तुत करने का प्रयास करेगे। सिद्धान्त की प्रधान बातो को जान लेने के पश्चात् सूर-साहित्य की ठीक से विवेचना हो सकेगी और कवि की भावना मे पैठ करने मे भी पाठक को कठिनाई का अनुभव नही होगा।

विष्णुस्वामी ब्रह्म और जीव को एक मानते है। इनमे शुद्ध अद्वैत-भावना निहित है। शकराचार्य भी मानते अद्वैत को ही है परन्तु आपने ब्रह्म के साथ माया की और कल्पना की है। विष्णुस्वामी ब्रह्म को माया से पृथक् बतलाते है इसी-

लिए उनका मत शकर के मत से भी और शुद्ध अद्वैतवादी कहलाया। श्री वल्लभाचार्य ने भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और इनका भी शकराचार्य से यही मतभेद रहा।

शकर ब्रह्म को छोडकर शेष सब चीजो को माया मानते है। इस प्रकार वैष्णव-भक्ति भी माया ही हुई। वल्लभाचार्य ने इस मायावाद को नही माना और अन्य वैष्णवो के ही समान इसका खण्डन तथा विरोध किया। वल्लभाचार्य शुद्धाद्वैती सिद्धान्त के अनुसार माया का कोई अस्तित्व नही मानते और यदि माया कोई वस्तु है भी तो वह ब्रह्म के ऊपर हावी नही हो सकती, उसे ब्रह्माधीन रहकर चलना होगा।

वल्लभाचार्य के मतानुसार जीव ब्रह्म से इस प्रकार पृथक् होता है जिस प्रकार अग्नि से छोटी-बडी बहुत प्रकार की चिनगारियाँ और लपटे निकलती हैं। जिस तरह अग्नि और चिनगारी मे कोई भेद नही उसी प्रकार जीव और ब्रह्म एक है। उनके बीच मे माया नही आ सकती। जीव को शुद्धाद्वैतवादी उतना ही सत्य मानते है जितना ब्रह्म को, परन्तु इस पर भी जीव ब्रह्म नही है। जीव ब्रह्म का अश मात्र है। जीव की शक्तियाँ सीमित है केवल इसलिए कि उसकी सत्ता सीमित है, इसके अतिरिक्त वह वही तत्त्व है जो ब्रह्म है। निम्बार्क और रामानुजाचार्य जीव को अणु मानते है। वल्लभाचार्य भी जीव को अणु मानते है और 'अणुभाष्य' मे आपने इसी दर्शन का प्रतिपादन किया है।

विष्णुस्वामी तथा वल्लभाचार्य जगत् की भी उत्पत्ति ब्रह्म से ही मानते है और ब्रह्म से जिस वस्तु की उत्पत्ति होती है वह उतनी ही सत्य है जितना स्वय ब्रह्म। शकराचार्य जगत् को मिथ्या मानते हे। वह ससार को मायाजन्य कहते है, परन्तु शुद्धाद्वैतीदर्शन जगत् को सत्य कहता है। ब्रह्म और जगत् की अनन्यता कार्य और कारण के भेद के कारण है,—यह शुद्धाद्वैत कहता है और इस अनन्यता को अनन्यता कहना सिद्धान्त रूप से गलत है।

वल्लभाचार्य परमात्मा को साकार मानते है और सृष्टि के उनके मतानुसार दो भेद है, एक जड तथा दूसरा चेतन। सृष्टि जड़ और चेतन के मिलने के फल-स्वरूप ही सामने आती है। जो कुछ भी दिखलाई देता है, वह या तो जड है या चेतन या इन दोनो का सम्मिश्रण। इन तीनो के अतिरिक्त और कुछ नजर नही आता। चीजे जो दिखलाई देती और फिर दिखलाई देनी बन्द हो जाती हैं, यही आविर्भाव और तिरोभाव है। वस्तुओ का दिखलाई देने और लुप्त हो जाने का यही अर्थ है। ससार की कोई भी वस्तु कभी नष्ट नही होती। परमाणु नाशवान वस्तु नही है। रूपान्तर को कम बुद्धि वाले लोग नाश समझ लेते है। परमाणु जब अपना रूप बदलते है तो ऐसा प्रतीत होता है कि विनाश और निर्माण हो रहा है। चीजे जब एक रूप से दूसरा रूप धारण करेगी तो पहली का विनाश और दूसरी का निर्माण होगा। शुद्धाद्वैतवाद मे इसी आविर्भाव और तिरोभाव के

सिद्धान्त के आधार पर निर्माण और विनाश होता है। वैष्णव सम्प्रदायो मे केवल विष्णुस्वामी और वल्लभाचार्य ने ही शकर के अद्वैतवाद का समर्थन किया है। वल्लभाचार्य ने रामानुजाचार्य और मध्वाचार्य के द्वैत मतो को नही माना।

पुष्टि-सम्प्रदाय की स्थापना वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैती दर्शन का साधना-मार्ग भक्ति के क्षेत्र मे पुष्टि-मार्ग कहलाया। दर्शन के प्रनिपादन मे आपने विष्णु-स्वामी का मत ग्रहण किया परन्तु उसे भक्ति के क्षेत्र मे प्रसारित तथा प्रचारित करने का आपने जो रास्ता निकाला वह सर्वथा नवीन था। इस दिशा मे आप किसी के ऋणी नही है। पुष्टि-मार्ग की साधना-व्यवस्था महाप्रभु वल्लभाचार्य की अपनी व्यवस्था थी। इस दिशा मे आपको इस प्रकार प्रेरणा हुई—

"अन्य सम्प्रदायो (रामानुज, माध्व, निम्बार्क) मे नारद पचरात्र वैखानसादि-शास्त्र प्रतिपादित दीक्षा पूजा का प्रचार होने से यद्यपि विष्णु-स्वामी-सप्रदाय मे आत्मनिवेदनात्मक भक्ति की स्थापना की गई है, तथापि वह मर्यादा मार्गीय है। अब आपके इस सम्प्रदाय मे पुष्टि (अनुग्रह) मार्गीय आत्मनिवेदन द्वारा प्रेम स्वरूप निर्गुण-भक्ति का प्रकाश करना है। सप्रति भक्ति-मार्गानुयायी जन-समाज शकर-सिद्धान्त के प्रचार बाहुल्य से पथ-भ्रष्ट हो रहा है, अत उसके कर्तव्य तो आपके द्वारा ही सम्पन्न हो सकते है।"[1]

इस प्रकार वल्लभाचार्य अपने पूर्वाचार्य के मार्ग को छोड़कर नये पथ पर जा खडे हुए और पुष्टि-सम्प्रदाय की स्थापना की। भक्ति के क्षेत्र मे पुष्टि का नया मार्ग घोषित किया और वैष्णव-धर्म-प्रचार को एक नया रूप प्रदान किया।

भारतीय धर्माचार्य मोक्ष प्राप्ति के लिए तीन साधन घोषित करते है कर्म, ज्ञान और भक्ति। वल्लभाचार्य ने इनसे मतभेद प्रकट नही किया परन्तु विशेषता भक्ति को ही दी है। महाप्रभु वल्लभाचार्य के मतानुसार ब्रह्म मे पूरी तरह लीन हो जाने के लिए एक मात्र साधन भक्ति ही है, अन्यथा यदि कर्मकाण्डी कर्म द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति कर लेता है तो ज्ञानी को अक्षुण्ण ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है। कर्मकाण्डी और ज्ञानी भगवान् मे लीन नही हो सकते। वल्लभाचार्य साधना-क्षेत्र मे अवतीर्ण होने पर कर्म, ज्ञान और भक्ति को ब्रह्म-प्राप्ति की तीन अवस्थाएँ मानते है और इनमे अतिम अवस्था भक्ति की ही है जिसके बिना आत्मा का ब्रह्म मे एकीकरण नही हो सकता।

"पुष्टि मार्ग मे आने के लिए यह आवश्यक है कि लोक और वेद के प्रलोभनो से दूर हो जाय—उन फलो की आकाक्षा छोड दे, जो लोक का अनुकरण करने से प्राप्त होते है तथा जिनकी प्राप्ति वैदिक कर्मों के सम्पादन द्वारा की गई है। यह तभी हो सकता है जब कि साधक अपने को भगवान् के चरणो मे समर्पित कर दे। इसी 'समर्पण' से इस मार्ग का आरम्भ होता है और पुरुषोत्तम भगवान्

---

१. अष्टछाप परिचय, पृ० २७, सम्प्रदाय प्रदीप।

के स्वरूप का अनुभव और लीला सृष्टि मे प्रवेश हो जाने पर अन्त । बीच का मार्ग 'सेवा' द्वारा प्राप्त होता है जिससे अहता और ममता का नाश हो जाता है और भगवान् के स्वरूप के अनुभव की क्षमता प्राप्त होती है ।"[1]

भगवान् श्री कृष्ण ही पुष्टिमार्ग के परमब्रह्म है, यही दिव्य गुणो से युक्त 'पुरुषोत्तम' है । यही विष्णु का स्वरूप है जो लोक-रक्षार्थ ससार मे लीला करते है । भगवान् कृष्ण का सतोगुणी विष्णु स्वरूप लोक-रक्षक है । रजोगुणी ब्रह्म-स्वरूप सृष्टि करता है तथा दिव्य तमोगुणी रुद्र स्वरूप सहार करता है । इस प्रकार कृष्ण के तीनो रूप है जिनसे जगत् की सृष्टि, रक्षा और सहार होता है । भगवान् के इसी रूप को पुष्टि मार्ग मे अपनाया गया है और वल्लभाचार्य ने इसी मत का प्रचार किया है । सूर की कविता मे भी भगवान् कृष्ण का यही स्वरूप देखने को मिलता है ।

ब्रह्म-सम्बन्ध . पुष्टि सम्प्रदाय मे ब्रह्म-सम्बन्ध का बहुत बडा महत्त्व माना जाता है । ब्रह्म-सम्बन्ध अथवा आत्म-निवेदन का अर्थ है ससार से सम्बन्ध विच्छेद कर भक्ति द्वारा परमात्मा का अनुग्रह प्राप्त करना । जब साधक ब्रह्म-सम्बन्ध की दीक्षा ले लेता है तो उसे अपना रहन-सहन एक विशेष प्रकार का बना लेना होता है । उस समय उसे न केवल अपनी सबसे प्रिय वस्तुएँ मात्र ही वरन् अपनत्व को भी भगवान् श्री कृष्ण के चरणो मे अर्पण करने के लिए उद्यत हो जाना होता है । भक्तिमार्ग के साधक की सभी वस्तुएँ उसके उपास्यदेव के लिए होती है । उसके पास ऐसी कोई चीज नही होती जिसे वह उपास्यदेव पर चढाने मे सकोच करे । उसके कर्त्तव्य का पालन तो इसी मे होता है कि वह अपनी सबसे प्रिय वस्तु को भगवान् के चरणो पर चढा दे ।

गुसाइयो का स्थान पुष्टिमार्ग मे भगवान् श्रीकृष्ण के स्थान पर होता है और इसीलिए भक्त लोग अपना सर्वस्व गुसाई जी के चरणो मे अर्पण करते है ।

पुष्टिमार्ग की सेवा : पुष्टि मार्ग मे भगवान् श्री कृष्ण की सेवा करना ही भक्त का परम कर्त्तव्य है । पुष्टि-मार्ग परमात्मा का वही स्वरूप मानता है जो उपनिषदो का ज्ञानकाण्ड प्रतिपादित करता है, परन्तु उसके साधना के आधार मे अन्तर है । पुष्टि-मार्गी साधना का आधार विशुद्ध प्रेम को मानता है । जीव के हृदय को भगवान् के प्रति शुद्ध प्रेम केवल अनुग्रह से ही प्राप्त हो सकता है । भगवान् के पोषण स्वरूप ही जीव मे प्रेम का उदय होता है, जब तक जीव के हृदय मे यह शुद्ध प्रेम जाग्रत नही होता, तब तक उसकी भगवान् के प्रति आराधना केवल 'पूजा' मात्र ही रहती है, 'सेवा' नही होती । पूजा को सेवा मे परिणित करना भगवान् के अनुग्रह पर ही आधारित है ।

सेवा-नाम-सेवा और स्वरूप-सेवा, दो प्रकार की होती है । स्वरूप-सेवा के

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कृत 'सूरदास', अष्टछाप परिचय, पृ० २८

भी १. तनुजा, २ वित्तजा और, ३ मानसी, तीन भेद आचार्यों ने किये है। तनुजा वह सेवा है जो शरीर से की जाती है, वित्तजा वह सेवा है जो धन से की जाती है और मानसी वह सेवा है जो मन से की जाती है। मानसी सेवा के भी दो रूप माने गये है, १ मर्यादा मार्गीय और २ पुष्टि मार्गीय, अर्थात् एक मे ससार की मर्यादा मे रहकर इष्टदेव की सेवा होती है और दूसरी मे ससार की सब मर्यादा भगवान् के मदिर मे जाकर समाप्त हो जाती है। दूसरी स्थिति मे ही मीरा लोकलाज तज कर मर्यादा से बाहर भगवान् की भक्ति करती है। मर्यादा-मार्गीय सेवा के लिए भक्त को शास्त्रोक्त मार्ग अपनाना होता है। यह ज्ञान के अधिक निकट है। इसमे भक्त अनेको कष्ट उठाकर पहले आत्मज्ञान प्राप्त करता है। फिर वह लोकार्थी बनकर भगवान्-कृष्ण की सेवा-आराधना करता है और अहकार तथा ममता इत्यादि से सम्बन्ध विच्छेद करता है। इसके पश्चात् ही वह अपना इच्छित फल प्राप्त कर सकता है और उसे भगवान् प्राप्त हो सकते है, परन्तु इस स्थिति मे भी भगवान् के अनुग्रह के बिना उसका काम नही चल सकता। मिलन की अतिम स्थिति मे अनुग्रह का होना नितान्त आवश्यक है। इसके विपरीत पुष्टि मार्गीय भगवान् का भक्त प्रारम्भ से ही अहम् भाव का विनाश करके चलता है और प्रारम्भ से ही वह अनुग्रह का प्रार्थी रहता है। अन्त दोनो मार्गों का एक ही है परन्तु ज्ञान-मार्ग (मर्यादा-मार्ग) की अपेक्षा पुष्टि-मार्ग (भक्ति-मार्ग) अधिक प्रशस्त है, साथ ही यह सुगम भी है। वल्लभाचार्य ने पुष्टि-मार्ग इसलिए अपनाया क्योकि साधारण जनता के बीच ज्ञान की लम्बी चौडी बाते छोकने को उन्होने मूर्खता माना। उन्होने ज्ञान-मार्ग का भी कही पर विरोध नही किया परन्तु अपनाया भक्ति-मार्ग को ही। इसी-लिए वह अपने विचारो के प्रकाशन और स्पष्टीकरण तथा प्रसार मे इतने सफल हो सके। महाकवि सूर ने इसी भक्ति भावना को लेकर भोले भक्त और परमात्मा के पारस्परिक सम्बन्धो और लीलाओ का जो सजीव चित्रण किया है, वह भला मर्यादा मे भिच कुच कर चलने वाली भावना के अतर्गत कैसे सम्भव हो सकता था। काव्य का जो मुक्त प्रवाह इस भोलेपन मे प्रस्फुटित हो सका वह मर्यादा मे बँधकर होना नितान्त असम्भव था। सूर और नन्ददास ने अपने भ्रमर गीतो में ज्ञानी तथा योगी विचारको की चुटकियाँ अवश्य ली है, परन्तु वह सब केवल इसीलिए कि वे योग और ज्ञान पर भक्ति को प्रधानता देना चाहते थे,—वरना उनके आदर-सत्कार मे कोई कमी नही आती। साथ ही उनमे योग तथा ज्ञान के मूल तत्वो का खण्डन नही मिलता। जो कुछ भी उपहासोक्तियाँ है, वे सभी उनके विकृत स्वरूपो की हैं।

पुष्टि सम्प्रदाय की भक्ति सेवा भावना से ओत. प्रोत रहती है। उसमे कर्म काण्ड का महत्त्व बहुत कम रहता है। वह साधारण उपासना या पूजा मात्र नही है। गो० गोकुलनाथ जी तथा गो० हरिराय जी की वार्ताओ मे इस सेवा भावना

का स्पष्टीकरण किया गया है। पुष्टिमार्गी भक्त को यज्ञ इत्यादि कर्मकाण्डी बखेडे मे समय नष्ट करने की आवश्यकता नही। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने उपासना के क्षेत्र से कर्मकाण्डी आडम्बर को हटाने का प्रयास किया है और ऐसे सरल तथा सुगम साधनो की व्यवस्था की है कि भक्त को व्यर्थ की परिपाटियो मे पकड कर अपना समय नष्ट न करना पडे परन्तु कालान्तर मे इस सम्प्रदाय के ठाकुर जी की सेवा का 'भजन' भी कर्मकाण्डियो के यज्ञ इत्यादि को मात कर गया।

पुष्टि-सम्प्रदाय में राधा का स्थान—श्री वल्लभाचार्य ने अपने दर्शन मे राधा की स्थापना नही की। उन्होने तो केवल भगवान कृष्ण को ही अपना इष्ट-देव माना है और उसी की बालरूप मे सेवा की है। उसमे केवल वात्सल्य-भावना की ही प्रधानता है। वात्सल्य के साथ ही साथ सख्य और कात भाव को भी आपने विलकुल नही छोड दिया है। जयदेव और विद्यापति के काव्यो मे राधा की प्रधानता है। इसके प्रभाव से वल्लभाचार्य मुक्त नही रह सकते थे। यो दर्शन मे चाहे उन्होने राधा को कोई स्थान नही दिया परन्तु बाद मे उन्हे राधा को अपनाना ही पडा और उन्होने 'शृगार रस मण्डन' तथा 'स्वामिनि स्तोत्र' मे कात भावना को भी सम्मिलित कर लिया। अष्टछाप के कवियो ने कृष्ण के साथ बराबर राधा को निभाया है और सच तो यह है कि काव्य और भक्ति के क्षेत्र मे माधुर्य का प्रवाह लाने के लिए राधा का समाविष्ट होना नितात आवश्यक था। यदि राधा को समाविष्ट न किया जाता तो काव्य और भक्ति का क्षेत्र नीरस बन जाता और उसमे वह आकर्षण कदापि न आ पाता जो आ पाया।

वैराग्य और सन्यास—शुद्धाद्वैती मत के प्रबल प्रतिपादक श्री विष्णु स्वामी ने जीव के लिए वैराग्य और सन्यास को इष्ट कहा है। परन्तु वल्लभाचार्य ने सन्यास को कोई महत्त्व नही दिया। यो वल्लभाचार्य स्वय अपने जीवन के अतिम काल मे साधु हो गये थे परन्तु उन्होने सिद्धान्त रूप से इसकी न तो आवश्यकता ही समझी और न व्याख्या ही की। वल्लभाचार्य के पश्चात् इस मत के आगामी आचार्यों ने सन्यास आश्रम की महत्ता को एकदम छोड दिया। जैसा हम ऊपर देख चुके है, इस सम्प्रदाय के आचार्य अपना विवाह करते है और गृहस्थ आश्रम का भोग करते है। सिद्धान्तानुसार गृहस्थ का पालन करते हुए आचरण करते है और अपने को परम पद का अधिकारी समझते हैं। यह मत ब्रह्म प्राप्ति के लिए वैराग्य और कठिन तपस्या इत्यादि की आवश्यकता नही समझता। इस मत का आचार्य गृहस्थ मे रहकर वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था का पालन करता है। इसकी भक्ति तनुजा, वित्तजा सेवा से होती है और इसी के द्वारा परम पद की प्राप्ति सम्भव मानी गई है।

प्रमुख ग्रन्थ—भारत के अधिकाश धर्माचार्य अपने मतों को प्रधान रूप

सें उपनिषद ब्रह्मसूत्र और गीता (प्रस्थानत्रयी) पर आधारित करते है। अपने-अपने मतो की प्रामाणिकता प्रतिपादित करने के लिए भी आचार्य लोग इन्ही ग्रन्थो को प्रमाण मे पेश करते है। इसलिए कोई भी मत प्रतिपादित करने से पूर्व इनके भाष्य की आवश्यकता रहती है। श्री वल्लभाचार्य ने पुष्टि मार्ग की साधना करते समय प्रस्थानत्रयी को तो प्रभाणस्वरूप ग्रहण किया ही, साथ ही श्रीमद्‌भागवत को भी अपनाया। पुष्टि मार्ग के सिद्धान्त का आधार मूल रूप से श्री मद्‌भागवत ही है। वल्लभाचार्य ने भागवत को विशेष महत्त्व दिया है और अपने मत के नामकरण की प्रेरणा भी इन्हे श्री मद्‌भागवत से ही प्राप्त हुई है। आपके मत का मूलाधार इस तरह प्रस्थान चतुष्टय बना,—उपनिषद्, ब्रह्म सूत्र, गीता और भागवत।

प्रस्थान-चतुष्टय के भाष्यो और टीकाओ द्वारा महाप्रभु वल्लभाचार्य और उनके परवर्ती आचार्यों ने पुष्टि सम्प्रदाय के सिद्धान्तो का निर्माण किया। पुष्टि सम्प्रदाय के मुख्य ग्रन्थ श्री वल्लभाचार्य कृत 'अणुभाष्य' और भागवन कृत 'सुबोधिनी' टीका है। यही इस सम्प्रदाय के सर्वमान्य धर्म ग्रन्थ है। साम्प्रदायिक सिद्धान्तो के स्पष्टीकरण के लिए सबसे उत्तम ग्रन्थ गो० विट्ठलनाथ कृत 'विद्वन्मडन' है।

महाप्रभु वल्लभाचार्य और विट्ठलनाथ जी के अतिरिक्त विट्ठलनाथ जी के चतुर्थ पुत्र गो० गोकुलनाथ जी तथा पौत्र श्री हरिराय जी महानुभावो ने भी सम्प्रदाय के तत्त्वो तथा लौकिक पक्षो के स्पष्टीकरण किये है। ये लोग भी धर्म ग्रन्थो के प्रकाण्ड पडित और सिद्धान्तो के आचार्य हुए है। इनके पश्चात् गो० पुरुषोत्तम जी के ग्रन्थो का महत्त्व भी कुछ कम नही। बस, यही सब ग्रन्थ इस सम्प्रदाय के तत्त्वो के निरूपण के लिए अपना प्रमुख स्थान रखते है।

सम्प्रदाय का प्रचार—महाप्रभु वल्लभाचार्य ने पुष्टि सम्प्रदाय की स्थापना कर किस प्रकार फिर से श्री स्वामी द्वारा प्रतिपादित शुद्धाद्वैत का पुनुरुत्थान किया, इसका सक्षेप मे हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। और फिर उन्होने अपनी तीन यात्राओ द्वारा तथा शास्त्रार्थों मे विपक्षियो को हराकर प्रेम लक्षण भक्ति का स्रोत बहाया। वल्लभाचार्य ने एक ऐसे सरल तथा मनोरजक धर्म को प्रधानता दी जिससे मानव के ऊब उठने का तो प्रश्न ही नही उठता। आपने धर्म को कर्मकाण्डी मायाजाल से मुक्त करके एक ऐसे क्षेत्र में लाकर खडा कर दिया जहाँ प्राणीमात्र उसे ग्रहण कर सकता था। आपने पुष्टि-मार्ग को मानव मात्र का धर्म बनाया, किसी विशेष वर्ण, जाति अथवा समाज का नही। यही इस धर्म की सबसे बड़ी विशेषता थी, जिसने इसे सबसे अधिक व्यापकता प्रदान की

महाप्रभु वल्लभाचार्य की मृत्यु के पश्चात् उनके पुत्र विट्ठलनाथ जी ने सम्प्रदाय की उन्नति में जो योग दिया वह सराहनीय है। वह अपने पिता के पद्-चिन्हो पर चले और व्यवस्था के क्षेत्र मे आपने विशेष कुशलता प्रदर्शित

की। अष्टछाप की स्थापना करके आपने धर्म के उन सेवको की माला बनायी जिन्होने अपनी कला, सगीत, काव्य और गीतो से भारतीय वातावरण को मधुर भक्ति से गुजायमान कर दिया। वातावरण की जडता को खोकर उसमे स्फूर्ति ला देने और प्रेम रस का सचार कर देने का कार्य जो 'अष्ट छाप' के कवियो ने किया वह अन्य साधनो द्वारा दुर्लभ था। इसके द्वारा जिस साहित्य का निर्माण हुआ उसने सम्प्रदाय को युग-युगान्तर के लिए अमर बना दिया। आज जब हिन्दी भारत की राष्ट्र भाषा बन चुकी है तो भारत की सत्तर करोड जनता के सम्मुख शुद्धाद्वैत के सिद्धान्त अपने सरस और मधुर रूप मे पहुँचेंगे।

गो० विट्ठलनाथ जी ने अपने प्रभाव से राजकीय सहयोग भी पुष्टि मार्ग के लिए प्राप्त किया और महाराजा अकबर ने उन्हे गोवर्धन तथा गिरिराज का इलाका भेट स्वरूप प्रदान किया। वल्लभाचार्य ने कथा प्रणाली और कीर्त्तन द्वारा अपने मत का प्रचार प्रारम्भ किया, जिसका प्रसार विट्ठलनाथ जी के समय मे और भी तीव्र गति के साथ हुआ। साम्प्रदायिक ग्रन्थो की व्याख्या स्थान-स्थान पर की जाने लगी और इससे जनता मे पुष्टिमार्ग का प्रभाव बढा।

पुष्टिमार्ग सम्प्रदाय के भक्तो ने तनुजा, वित्तजा और मानसी तीनो प्रकार के भक्ति के साधनो को अपनाया। वित्तजा सेवा के सम्प्रदाय के पास धन की कमी नही रही और आडम्बरपूर्ण सेवा विधानों का प्रचार बढा। पुष्टिमार्गी वैष्णवो के मन्दिरो का वैभव दिन-प्रति-दिन बढने लगा। उत्सवो पर चमक-दमक दीखने लगी और जनता के लिए यह भी आकर्षण का कारण बनी, परन्तु कहना नही होगा कि इस दिखावे के फलस्वरूप विशुद्ध सात्विक भावना को गहरी ठेस लगी और सम्प्रदाय मे वास्तविकता की अपेक्षा दिखावे का बोल-बाला होने लगा। इन आडम्बरो से जो प्रचार फैला उसमे वासना वृत्ति का प्रसार हुआ और भक्त लोग अपने आचरणो की शुद्धता कायम न रख सके।

इस प्रकार महाप्रभु वल्लभाचार्य का पुष्टिमार्ग आगे बढा और कुछ दिन तक उसकी खूब धूम रही। पुष्टिमार्गी भक्तो की सख्या भी बढी परन्तु इस मार्ग मे पाई जाने वाली सरलता जहाँ एक ओर भक्तो को प्रतिबन्ध मुक्त कर आगे को बढाती किन्तु उन्हे गिरने से रोकने का भी कोई साधन वहाँ उप-लब्ध नही था। कीर्त्तन की तन्मयता और मर्यादा छोडकर कृष्ण भक्ति मे जाना जहाँ आत्मा और परमात्मा के मिलने का महान साधन था, वहाँ तनिक सी चारित्रिक गिरावट आ जाने पर उनके पतन का भी कारण बन सकता था। समाज का प्रत्येक व्यक्ति चरित्र मे इतना ऊपर उठकर भक्ति मार्ग का राही बन सके, यह एक कठिन समस्या थी। इसलिए सम्भावना गिरने की ही अधिक रहती थी। यही कारण है कि धर्म के जो अखाडे एक दिन ब्रह्म प्राप्ति के लिए महाप्रभु वल्लभाचार्य जैसे तपस्वियो ने निर्मित किये वहाँ पर वेश्याओ के नृत्य और मदिरा के दौर चले। गोस्वामियों की गद्दियो पर बैठने वाले मूर्ख और

पाखण्डी हो गये और उनका जीवन वासना की खिलवाड़ बन गया । उसका जनता पर बुरा प्रभाव पडा । ठगों ने उसमे प्रवेश कर पाखण्ड का अड्डा जमा लिया और भोली-भाली जनता उनके द्वारा ठगी जाने लगी । सम्प्रदाय के इन केन्द्रो की यह दुर्दशा हुई ।

सार-निरूपण—विष्णुस्वामी द्वारा प्रतिपादित शुद्धाद्वैत के आधार पर महाप्रभु वल्लभाचार्य ने उसी दर्शन को लेकर पुष्टिमार्ग की स्थापना की । महाप्रभु वल्लभाचार्य ने काशी मे शिक्षा प्राप्त कर तीन बार भारत यात्रा की और ८४ बैठके स्थापित की, जिनका उल्लेख 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' मे मिलता है । पुष्टिमार्ग के मूल सिद्धान्तों का आधार आपने उपनिषद् ,ब्रह्मसूत्र, गीता और श्री मद्भागवत से लिया । दक्षिण मे शास्त्रार्थ के अन्दर आपने शकर सम्प्रदायियो तथा अन्य विपक्षियो को हराया । यही पर विष्णु सम्प्रदाय के मुख्याचार्य ने आपको अपनी गद्दी सौंप दी । १ वर्ष की आयु मे आपने तीसरी यात्रा समाप्त की । आप अधिकतर प्रयाग के पास अडैल या काशी के पास चरणट मे रहते थे ।

वल्लभाचार्य जी ने ३५ से ८४ तक ग्रन्थ लिखे । इनमे 'सुबोधनी' और 'अणुभाष्य' विशेष महत्त्वपूर्ण है । सवत् १५८७ की अषाढ शु० ३ को आपने काशी मे गगा मे जल समाधि ली ।

आपके दो पुत्र गोपीनाथ जी तथा विट्ठलनाथ जी थे । गोपीनाथ जी सवत् १५९९ मे ही मर गये और उनके बाद विट्ठलनाथ जी गद्दी पर बैठे । पुष्टि सम्प्रदाय अपने उच्चतम शिखर पर विट्ठलनाथ जी के ही समय मे पहुँचा । इसी समय मे 'अष्टछाप' की भी स्थापना हुई । आपने भी अपने पिता के ही समान बैठकें स्थापित की । इनके सात पुत्र थे, जिनके बीच आपने अपने जीवन काल मे ही अपनी चल तथा अचल सम्पत्ति बाँट दी ।

पुष्टि मार्ग की स्थापना वल्लभाचार्य ने बिलकुल मौलिक ढग से की थी । इसमें जाति, धर्म, समाज के भेदभाव के बिना मानव मात्र सम्मिलित हो सकता था । ब्रज मे गोवर्धन, गिरिराज और मथुरा ही इसके प्रधान केन्द्र रहे । यही पर इन आचार्यों ने श्रीनाथ जी और नवनीत प्रिया जी मन्दिरो को बनवाया ।

वल्लभाचार्य और विट्ठलनाथ इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक और प्रधान आचार्य हुए हैं और इन्ही के त्याग तथा तपस्या के फलस्वरूप यह बेल फली फूली ।

'अष्टछाप' की स्थापना कर विट्ठलनाथ जी ने कला और साहित्य की उन्नति की । 'सूर' इसी अष्टछाप के एक अमूल्य नगीने थे । आपकी कविता मे इन आचार्यों की वाणी, इनके सिद्धान्त, इनकी भावनाएँ, इनके विचार, इनकी कल्पनाएँ कूट-कूट कर भरी हुई है । सूर वास्तव मे पुष्टि समार्गी विचारधारा का वह दर्पण है कि जिसके अन्दर भगवान की लीलाओ के असख्य चित्र अपनी नवीन तम कल्पनाओ तथा भावनाओ के साथ अकित हैं ।

४ | सूर की रचनाएँ और उनकी भाषा

महाकवि सूरदास के नाम के साथ जिन काव्य-ग्रन्थो की सूची जोडी जाती है उनके सम्बन्ध मे अभी तक विद्वानो का एकमत स्थापित नही हो सका है। सूर के नाम से बहुत से ग्रन्थ प्रचलित है। जो ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं, उनकी सूची निम्नलिखित है—

(१) सूरसागर
(२) सूर-रामायण
(३) सूर-सारावली
(४) सूर-साठी
(५) विनय
(६) बाल-लीला
(७) बिसातन-लीला
(८) सूर-सगीत-सार
(९) मयूरध्वज राजा की कथा।
(१०) सूर-पच्चीसा
(११) राधा-रस-केलि कौतूहल
(१२) भवरगीत
(१३) साहित्यलहरी
(१४) दृष्टिकूट
(१५) गोपाल-गारी
(१६) सूरशतक
(१७) सूरसागर-रतन

इसी प्रकार अप्रकाशित ग्रन्थ भी बहुत हैं :

(१) दशम स्कन्ध-भाषा
(२) ब्याहलो
(३) हरिवश-टीका
(४) भागवत-भाषा
(५) गोवर्धन लीला
(६) दान-लीला
(७) नल-दमयन्ती
(८) सेवाफल
(९) नाग-लीला
(१०) मानलीला
(११) एकादशी-महात्म्य
(१२) सूरदास के पद
(१३) प्राण प्यारी
(१४) सूरसागर-सार
(१५) रामजन्म

ये सभी प्रकाशित तथा अप्रकाशित ग्रथ 'सूरसागर' मे ही है। केवल विषयों के आधार पर पदो को छाँट कर ये पृथक-पृथक ग्रन्थ बना दिए हैं। जो रचनाएँ स्वतन्त्र रूप से लिखी गई हैं, वे निम्नलिखित हैं—

(१) सूरसारावली (४) साहित्य-लहरी (६) नल-दमयन्ती
(२) हरिवश टीका (५) राम-जन्म (७) एकादशी-महात्म्य
(३) सेवाफल ।

इन सभी ग्रन्थो को सूरदास के साथ नत्थी करना कुछ उचित नही जान पडता। कुछ के विषय मे तो उनके सूर-लिखित न होने के स्पष्ट प्रमाण है, जैसे 'हरिवश-टीका' संस्कृत टीका है और सस्कृत का कोई ग्रन्थ सूरदास जी ने नही लिखा। सूरदास ही नही, अष्टछाप के किसी भी कवि ने सस्कृत मे रचना नही की। इसके अतिरिक्त 'नल-दमयन्ती' एक सूफी काव्य है जिसकी रचना किसी सूफी मतावलम्बी सूरदास कायस्थ ने की थी।

'राम-जन्म' और 'एकादशी-महात्म्य' के लेखक सूरजदास जी है, सूरदास जी नही। यह अवधी भाषा की दोहा और चौपाइयो मे लिखी रचनाएँ हैं। सूरजदास जी अवधी के कोई कवि रहे होंगे जिनके ग्रन्थो की सूची व्यर्थ ही अष्टछापी सूर-दास जी के नाम के साथ लगा दी गई है। 'सेवाफल' को भी विद्वान् लोग निश्चित् रूप से सूर की रचना नही मानते। यह रचना बहुत साधारण है, कोई विशेष महत्त्व इसे किसी कला-विषयक श्रेष्ठता के कारण नही दिया जा सकता।

इस प्रकार सूर-सागर के अतिरिक्त केवल तीन ही रचनाए रह जाती हैं जो सूर की मानी जाती है। इन रचनाओ के विषय मे यहा विचार कर लेना नितान्त आवश्यक है।

सूर-सारावली—कुछ लोगों का मत है कि 'सूरसारावली' 'सूरसागर' और 'भागवत' का सक्षिप्त परिचय मात्र ही है। कुछ विद्वान इसे सूर की स्वतत्र रचना भी मानते हैं। डा० मुशीराम और डा० दीनदयाल गुप्त इसे सूर-कृत मानते हैं। डा० ब्रजेश्वर वर्मा इसे प्रक्षिप्त ग्रन्थ मानते हैं। तीनो ही विद्वानो ने इस विषय का खोजपूर्ण अध्ययन किया है। प्रथम दो विद्वान इसे सूर-कृत तथा अन्तिम संदिग्ध मानते हैं।

'सूर-सारावली' के साहित्य पर दृष्टि डालने से वह सूर-साहित्य प्रतीत नही होता। इसका काव्य-सौष्ठव सूर के पदो की अपेक्षा बहुत ही शिथिल है। यह रचना होली के रूपक के रूप मे प्रस्तुत की गई है और इसमे 'दो-तुकए' छन्दों का प्रयोग है। कृष्ण की सयोग-लीला, वसन्त, हिडोला, होली आदि के प्रसग कृष्ण के कुरुक्षेत्र से लौटने के पश्चात् लिखे गए है। सम्भव है कि इन पदो की रचना सूर ने की हो और 'सूर सागर' की भूमिका स्वरूप इन्हे रखा हो, परन्तु दोनो की तुलना करने पर उसमे बहुत से ऐसे स्थल आते हैं जो सूरसागर मे नही है। वे बातें सभी भ्रामक है। आज-कल अधिकांश विद्वानो का मत यही है कि यह सूर-कृत नही है। यदि सूर ने 'सूर-सारावली' को सूरसागर की सूचनिका के रूप मे प्रस्तुत किया होता तो वह मौलिक प्रसगो को नही छोड सकते थे। मौलिक प्रसगों को छोड देना भी इस बात की ही पुष्टि करता है कि इसकी रचना सूर-

दास ने नही की।

साथ ही जहाँ तक सिद्धान्तों की बात है वहाँ भी पुष्टि-मार्गी सूर से इस रचना का मतभेद ठहरता है। सूर के विचारो का प्रतिनिधित्व इस पुस्तक मे नही मिलता। इस रचना को यदि अप्रामाणिक न मानें तो भी यह संदिग्ध अवश्य है।

साहित्य-लहरी—साहित्य लहरी का जो प्रकाशित सस्करण उपलब्ध है उसमे ११८ पद हैं और (क) तथा (ख) उपसहारो मे ५३ (४६+४) पद और जुडे हुए है। साहित्य-लहरी के उपसहार वाले पद सूरसागर मे मिलते है, परन्तु मूल ११८ पद सूरसागर मे उपलब्ध नही। साहित्य-लहरी के पदो मे पहले किसी भाव, नायिका या अलकार का उल्लेख मिलता है और फिर उसका उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है। इसका यह स्वरूप देखने से यह साधारण काव्य-ग्रन्थ सा प्रतीत न होकर लक्षण-ग्रन्थ मालूम देता है। साहित्य-लहरी प्रधान रूप से एक साहित्यिक रचना है और भक्ति का आधार इसमे उस रूप मे नही मिलता जिस रूप मे कि पुष्टि-मार्गी कविता मे मिलता है। सूरसागर की भक्ति-भावना का इसमे नितान्त लोप है। कवि का उद्देश्य भक्ति भावना प्रसार की अपेक्षा चमत्कारवादी रहा है। इस रचना के अधिकाश पद कूट हैं, परन्तु इसके कूट-पदों की समानता सूर सागर के कूट पदो से नही की जा सकती। सूरसागर के कूट-पद सारगर्भित है और इसके बहुत से पद निरर्थक भी हैं। साहित्य-लहरी मे चमत्कार बढाने का प्रयास तो मिलता है परन्तु कवि की भक्ति-भावना, कल्पना और कवित्त शक्ति उतनी प्रखर नही, जितनी सूर-सागर के लिखने वाले कवि की है।

सूर-साहित्य मे कूट पदो की कमी नही और कूट-पद सूर की रचना का महत्त्वपूर्ण भाग है, परन्तु 'साहित्य-लहरी' के कूट पदो मे वह गाम्भीर्य नही जो सूर के कूट पदो मे मिलता है। इस प्रकार यह ग्रन्थ भी प्रामाणिक नही कहा जा सकता।

सूर का प्रामाणिक ग्रंथ केवल सूरसागर ही है। नीचे हम सक्षेप मे सूर-सागर पर विचार करेंगे।

सूरसागर सूरदास जी उक्त रचनाओ के अतिरिक्त अब हमारे सामने केवल 'सूरसागर' रह जाता है और यही सूर का प्रामाणिक 'साहित्य-संग्रह' है। सूर की सारी रचनाओं का यह समुच्चय वास्तव में एक विशाल सागर है जिसमे सूर ने अपने विचारो और अपनी भावनाओ के मुक्ता भर दिए है। इसी सागर मे जाकर सूर के सब विचार और भावनाए गिरी है और इसी मे उन्होने शुद्धाद्वैत-वादी दर्शन का सार और पुष्टि-मार्गी प्रेम-भक्ति का निचोड़ भर दिया है। वात्सल्य, सख्य और कांत भक्ति तथा सेवा का जो सामजस्य इस साहित्य-सागर मे एकत्रित हुआ है, वह अन्यत्र नही।

वल्लभाचार्य स्वय 'सूर' को 'शूर' और 'सागर' कहते थे। वह उन्हे भक्ति का सागर मानते थे। गो० विट्ठलनाथ जी 'सूर' को 'भक्ति का जहाज' मानते

थे। वल्लभाचार्य जी से दीक्षित होने से पूर्व आपने विनय पदों की भी रचना की थी और सम्भव है कि यत्र-तत्र कुछ मुक्तक स्वतत्र पद भी लिखे हो, परन्तु अधिकाश जो उन्होने लिखा है वह क्रमबद्ध ही है। यह सम्भव है कि वल्लभाचार्य के समय मे आपने केवल बाललीला के ही पदो की रचना की हो और बाद में विट्ठलनाथ जी तथा हरिराय और हरिवश के प्रभाव से प्रेमिका विषयक पद लिखे हों और इस प्रकार सूर-सागर का प्रसग आगे बढा हो। इस तरह दशम-स्कन्ध की कथा के पूर्ण होने मे काफी समय लग सकता है और इसी बीच जितने भी पद इस बीच के प्रसग से सम्बन्धित लिखे गए वे सब भी इन्ही के साथ जोड़ दिए गए हो। इसमे एक ही भाव और विकार पर कई-कई पद भी दुहराये गए है। नित्य कीर्तनो मे गाये जाने के लिए जो पद लिखे गए, उनकी सख्या कम नही है और उन्हे सुगमता के साथ कथा से पृथक् किया जा सकता है। इन पदो को कथा से दूर कर लेने पर भी कथा-प्रवाह मे कोई बाधा उपस्थित नही होती। यह पद वास्तव मे कवि ने अपनी स्वच्छन्द कविता-प्रेरणा मे बहकर लिखे है, किसी आदेश की पूर्ति के लिए नही लिखे और इसीलिए यदि कवित्व की दृष्टि से निरखा-परखा जाय तो ये ही पद सूर के बहुत सुन्दर तथा हृदयग्राही बन पडे हैं। इन पदो मे कवि की भावना तथा कल्पना का मुक्त प्रवाह मिलता है। ये कवि की स्वतत्र विचारधारा के प्रतीक है और इनमे भक्ति-भावना की सूक्ष्मतम प्रवृत्ति प्रस्फुटित होती हैं।

महाकवि 'सूर' ने बाद मे सम्भवतः समस्त सामग्री को श्रीमद्भागवत की कथा के आधार पर दोहा और चौपाइयो मे बाँधने का प्रयास किया है। सम्भव है, यह गो० विट्ठलनाथ जी की आज्ञा से किया हो, परन्तु यह सामग्री साहित्यिक दृष्टिकोण से उतनी ऊँची नही बन पाई जितने ऊँचे कि आपके स्वतन्त्र पद है। कवि की प्रतिभा को पौराणिक गाथा ने अपने चक्कर मे फँसाकर कुँठित-सा कर दिया है और उसका मुक्त प्रवाह नष्ट-सा हो गया है। यह गाथा एक कथाकार की तरह कही गई है, जिसमे रस और चमत्कार दोनो का अभाव है।

सूरसागर का जो रूप आज उपलब्ध है उसमे सूर के प्रारम्भिक जीवन के विनय पदो से लेकर उनके अन्तिमकाल तक के लिखे गए सभी पद सग्रहीत है।

सूरसागर के पद—सूरदास के पदों के विषय मे एक कहावत प्रसिद्ध है कि उन्होने एक लाख पद लिखे। आज तक 'सूर' के जो पद उपलब्ध हो सके है उनकी संख्या ५००० के लगभग रहती है। बहुत से पद ऐसे भी हो सकते हैं जो सूरसागर मे न आए हो और वे ब्रज मे अभी तक गाए जाते है, उन्हे भी मिलाकर उनकी सख्या सौ पचास और अधिक हो सकती है। हमारा मत तो यही है कि वे गाये जाने वाले पद भी सूर के नही है। परन्तु यदि उन्हे सूर-रचित मान भी लिया जाय तब भी सवालाख सख्या को छूने की बात सिद्ध नही होती। 'लक्ष-पदा' का निर्देश 'सारावली' मे भी मिला है। कहते हैं कि एक लाख पद

सूर ने लिखे और बाकी २५००० पद सूर की प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए श्रीनाथ जी ने लिखे। हम इन सब कहावतो को व्यर्थ मानते है।

'सूर' के कहे जानेवाले केवल ५ हजार पद मिलते है, जिममे सैकडो पद ऐसे है, जिनके अन्त मे 'सूर' के स्थान पर 'सूरज', सूरजदास', 'सूरस्याम', 'सूर-जन' नामो का उल्लेख है। ये नाम भ्रामक है और इनके विषय मे विद्वानो के दो मत है। कुछ विद्वान् इन प्रयोगो मे से 'सूरस्याम', 'सूरजन' इत्यादि को तो यह कहकर छोड देते है कि इनमे पहले सूर शब्द का ही प्रयोग है और उसके पश्चात् आनेवाले शब्द का पद के अर्थ से सम्बन्ध जुड जाता है। परन्तु यह कुछ उचित नही जँचता। साथ ही 'सूरज' और 'सूरजदास' की समस्या फिर भी ज्यो-की-त्यो बनी रहती है। ये पद तो निश्चित् रूप से प्रक्षिप्त ही है। इन्हे प्रक्षिप्त मान लेने पर ५ हजार की सख्या मे भी काफी कमी आ जाती है।

वर्तमान उपलब्ध 'सूरसागर' से अभी इन भिन्न छापो को पृथक् नही किया गया है और उन्हे ज्यो-का-त्यो सूर के पद मानकर चला जा रहा है इसलिए 'सूरसागर' के असली रूप का अभी सही-सही ब्यौरा देना कठिन है। यह भी सम्भव है कि सूर की मृत्यु के पश्चात् जो कीर्तनिए आये और उन्होने भी 'सूर' जैसे पद बनाने का प्रयास किया और उनमे से जो कुछ-कुछ सूर-जसे बन पडे उनमे 'सूर' या 'सूरदास' की छाप लगा कर 'सूरसागर' मे सग्रहीत कर दिया। नामो की विभिन्नता सूर के असली पदो के विषय मे एक भ्रम पैदा कर देती है। परन्तु इस भ्रम के कारण यो ही बहुत से पदो को अप्रामाणिक भी घोषित नही किया जा सकता। 'सूर-स्याम' नाम से लिखे गए बहुत से पद सूर की प्रतिभा के प्रतीक पद है जिन्हे यो ही सूर साहित्य से पृथक् कर देने पर अनर्थ की सम्भावना है। इसलिए यहाँ निश्चित् रूप से कुछ न कहकर इस विषय मे मौन ही हो जाना पडता है।

सूर सागर का विषय—'सूरसागर' का विषय बहुत स्पष्ट है। 'सूरसागर' के पदो मे कृष्ण-लीला का गायन किया गया है। इस विषय का ज्ञान हिन्दी के प्रत्येक पाठक को है। कृष्ण-लीला का विषय बहुत व्यापक है और कृष्ण-चरित्र का वर्णन भी अनेक ग्रन्थो मे अनेको प्रकार से मिलता है। सूर ने 'सूरसागर' मे कृष्ण के जिस रूप का वर्णन किया है वह वही है जो श्रीमद्भागवत मे मिलता है। भागवत १२ स्कधो मे विभाजित है और सूरसागर मे भी सूर ने बारह ही स्कध रखे हैं परन्तु इसका यह अर्थ नही कि 'सूरसागर' में श्रीमद्भागवत के सभी प्रसग है। सूर ने बहुत-से प्रसग छोड दिए हैं और कई प्रसगों का केवल सकेत मात्र कर दिया है, फिर भी क्रम निभाने का प्रयास किया है। 'सूरसागर' का हर स्कध प्रारम्भ करने से पूर्व सूर ने घोषित किया है कि वह श्रीमद्भागवत के आधार पर अपने ग्रथ की रचना कर रहे हैं। स्कध १ के पद ११३ मे सूर लिखते हैं :

तथा भक्ति-महिमा से भरा पडा है। भागवत के प्रथम स्कंध की सामग्री से इसका कोई सम्बन्ध नही। सूर की प्रारम्भिक रचनाएँ इनमे है और इनसे सूर के व्यक्तित्व पर प्रकाश पडता है। भागवत की कथा इससे सर्वथा पृथक् है।

'सूरसागर' और श्रीमद्भागवत के नवे स्कध की कथाएँ मिलती-जुलती है। दोनो मे समान रूप से परशुराम, अम्बरीप इत्यादि की कथाओं का सविस्तार वर्णन है। 'सूरसागर' मे राजा नहुष, इन्द्र के शाप की कथा और कच तथा देवरानियो की कथा का भी समावेश है, जो भागवत मे नही मिलता।

दसवे स्कध मे श्रीकृष्ण की कथा है और यही सूरसागर का प्रधान अग है, जिसमे पुष्टि-सम्प्रदाय के प्रधान तत्वो का निरूपण मिलता है। कृष्ण-कथा का विकास भागवत के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध भाग मे समान रूप से हुआ है, परन्तु 'सूरसागर' मे ऐसा नही मिलता। भागवत के दसवे स्कध के उत्तरार्द्ध को कवि ने केवल १३८ पदो मे ही समाप्त कर दिया है और पूर्वार्द्ध का वर्णन खूब विस्तार के साथ मिलता है। श्रीमद्भागवत के पूर्वार्द्ध मे कृष्ण के मथुरा जाने और कस वध करने का वर्णन है तथा उतरार्द्ध मे कृष्ण के वैभव का बिस्तार दिया गया है। महाकवि 'सूर' ने अपने पुष्टि-मार्ग के अनुसार पूर्वार्द्ध मे गोपाल, नन्दनन्दन, राधा गोपी-वल्लभ और ग्वालो के स्वरूप का ही विस्तार के साथ चित्रण किया है। उत्तरार्द्ध मे कृष्ण के वैभव का विस्तार के साथ वर्णन करने की आवश्यकता नही समझी। पूर्वार्द्ध के चित्रण मे महाकवि सूर ने बहुत से मौलिक स्थान भी लिये है, जिनके कारण चित्रण मे और भी मनोरजकता, रोचकता और सरसता आ गई है।

इस प्रकार हमने देखा कि 'सूरसागर' श्रीमद्भागवत पर आधारित तो हैं, परन्तु ज्यो-का-त्यो उसका ब्रजभाषा मे रूपान्तर नही है और मूल को अपनी इच्छानुसार घटाने बढाने मे आपने पूर्ण स्वतन्त्रता ली है। पुरानी कथाओ के साथ नई कथाओ को भी अपने मत के प्रतिपादन के लिए काव्य में स्थान दिया है जिससे काव्य और भी रोचक हो उठा है।

'सूरसागर' का दसवा स्कध और दसवे स्कध मे भी उसका पूर्वार्द्ध विशेष महत्त्वपूर्ण है। कृष्ण-जन्म से लेकर मथुरा जाने और वहाँ से उद्धव को ब्रज भेजने की कथा विस्तार के साथ कही गई है। सूर का अपनी बात कहने का ढग निराला ही है। उसका सार कही भागवत से अवश्य मिलता होगा परन्तु उसके ऊपरी रूप मे आकाश-पाताल का अन्तर है। श्रीमद्भागवत मे जिन कृष्ण भगवान् का चित्रण मिलता है वह महान् शक्तिशाली है और स्थान-स्थान पर उन्हें असुरो का सहार करना पड़ता है। कृष्ण की लौकिक-लीलाओ की अपेक्षा उनमे अलौकिक लीलाओ का अधिक महत्व प्रदर्शित किया गया है। 'सूरसागर' में कृष्ण की अलौकिक लीलाये कम है और जो भी हैं वे भी बहुत सक्षेप मे वर्णित है। कृष्ण की लौकिक बाल-लीलाओ का चित्रण कवि ने बहुत कुशलता और विस्तार के

साथ किया है ।

'सूरसागर' के दसवे स्कध को दो भागों मे विभाजित किया जाए तो एक मे लौकिक कथाएँ होगी और दूसरे में अलौकिक कथाएँ । अलौकिक कथाएँ सूरदास ने बहुत ही सरल कर दी है, उन्हे ज्यो-का-त्यो भागवत के आधार पर नही रखा । अलौकिक लीलाओ मे प्रधानतया असुरो के पद्य ही आते है जिनका चित्रण रस की दृष्टि से बहुत फीका है, रसात्मकता उनमे लेश-मात्र भी नही आ पाई । सूरदास जी भागवत से वास्तव मे कथा का सार-मात्र लेते है और फिर उसे अपने मौलिक ढग से रचनाबद्ध करते है । अपने पदो मे भागवत के जटिल भावो को गूँथने का क्लिष्ट प्रयास सूरदास ने नही किया । 'सूरसागर' का कृष्ण भागवत के कृष्ण की अपेक्षा मानव के अधिक निकट है । 'सूरसागर' की लीलाएँ वास्तव मे लीलाएँ है और भागवत की लीलाएँ केवल कृष्ण का ऐश्वर्य और अलौकिकता दिखलाने का साधन मात्र । इसीलिए साहित्यिक दृष्टिकोण से जो सजगता, सरसता, मनोरजकता और भावनानुभूति हमे 'सूरसागर' के पदो मे देखने को मिलती है वह भागवत के श्लोको मे नही ।

सूरदास ने प्राय. सभी असुरो का कस से कुछ न कुछ सम्बन्ध जोडकर कथा मे एकसूत्रता लाने का प्रयास किया है । कुछ नई लीलाओ का भी समावेश आपने किया है, जैसे सिद्धरा वामन की कथा । अलौकिक लीलाओ के चित्रण निम्नलिखित है

(१) कागासुर-वध (भा०) (२) शकटासुर-वध (भा०) (३) श्रीधर वामन (सिद्धरा की कथा) (४) पूतना-वध (५) त्रणावृत-वध (भा०) (६) वत्सासुर-वध (भा०) (७) महराने के पाडे की कथा (८) अघासुर-वध (भा०) (९) बका-सुर-वध (भा०) (१०) धेनुकासुर वध (भा०) (११) प्रलम्बासुर वध (भा०) (१२) गोवर्धन पूजा, इन्द्र मानमोचन लीला (भा०) (१३) वरुणालय से नन्द को छुडाना (भा०) (१४) ऊखलबन्धन और यमन्नार्जुन-उद्धार (भा०) (१५) ब्रह्मावत्सहरण लीला (भा०) (१६) कालिय दमन (भा०) (१७) दावानल-पान-लीला (भा०) ।

प्राय उक्त सभी कथाओ का 'सूरसागर' मे चित्रण करते समय रूप बदल दिया गया है और अपनी मौलिक प्रतिभा के बल से उन्हे पाठको तथा भक्तो के लिए अधिक ग्राह्य बना दिया है । यह अन्तर भागवत और 'सूरसागर' की कथाओ को अपने सामने रखने पर स्पष्ट हो जाता है । वैसे इन कथाओ के निर्वाह मे कोई विशेष साहित्यिक प्रतिभा का विकास देखने को नही मिलता । भक्ति का विकास भी इनके द्वारा इतना मात्र ही समझना चाहिए कि इनमे कृष्ण की अलौकिक शक्ति का आभास मिलता है ।

भागवत के दशम स्कध के २६वे अध्याय की सामग्री को लेकर यदि 'सूरसागर' की कालिय-दमन की लीला से मिलान करें तो अन्तर बहुत ही निखर

कर सामने आता है। डॉ॰ रामरतन भटनागर ने यह अन्तर इस प्रकार स्पष्ट किया है, "सूरदास ने इस प्रसग मे मौलिक कल्पना की है। भागवत की कालिय-दमन लीला से कस का कोई सम्बन्ध नही है। 'सूरसागर' मे नारद जी की योजना की गई है। वह कस के पास जाकर उससे कलिय की बात करते हैं और यमुना के जल से कमल मँगवाने के लिए कहते है। कस दूत को बुलाकर नन्द के नाम पत्र लिखता है। अन्तर्यामी कृष्ण यह बात जान लेते है और दूत के आने के पूर्व ही ग्वालो को बन भेज देते है। इधर दूत नन्द के हाथ मे लाकर पत्र देता है। अब क्या हो ? कौन काली के फूल लाये ? काली क्या ब्रज को छोड देगा ? यशोदा कृष्ण को बाहर नही जाने देती। कृष्ण यशोदा से कारण पूछते है। वह उन्हे नन्द के पास भेज देती है। कृष्ण की बाते सुनकर नन्द का दु.ख कुछ कम होता है। कृष्ण बन को चले जाते है और वहाँ श्रीदामा के साथ गेद खेलते है।

'भागवत मे गौ और गोप काली-दह के जल को पी लेते है और मर जाते हैं। योगीश्वरो के ईश्वर कृष्ण अपनी दृष्टि मात्र मे मृतको मे प्राण डाल देते है। विष का कारण जानकर जल को इस दूषण से मुक्त करने के लिए कृष्ण एक ऊँचे किनारे पर लगे हुए कदम्ब के वृक्ष पर चढ जाते है और वस्त्र सहित कर्धनी ऊपर से कस कर ताल ठोक कर उस विषैले जल मे कूद पडते है। पर सूर इस प्रसग मे एक नई कल्पना करते है। कृष्ण और श्रीदामा गेद खेलते है। कमल का ध्यान किए हुए कृष्ण उसे यमुना तट पर ले जाते है। कृष्ण गेद चलाते है। श्रीदामा अग बचाता है। गेद काली दह मे जा पडती है। श्रीदामा फेंट पकड लेता है—गेद दो। कृष्ण और श्रीदामा मे चल जाती है। अन्त मे कृष्ण फेंट छुडाकर कदम्ब पर चढ जाते है। लडके ताली देकर हँसते है—कृष्ण भाग गए। श्रीदामा शिकायत लेकर यशोदा के पास जाता है। कृष्ण कहते है—लौट आओ, लो गेद। और पीताम्बर काँछ मे बाँधकर वह यमुना मे कूद पड़ते है।'

'भागवत मे कृष्ण के कूदते ही झुण्ड मे हलचल मच जाती है और सर्प परिवार क्रोधित होकर विष उगलने लगता है। शब्द सुनकर काली जानता है कि शत्रु ने उसके भवन पर चढाई की है और वह कृष्ण के निकट आता है। 'सूरसागर' मे कृष्ण अत्यन्त कोमल तन धारण कर उस जगह जाते है जहाँ काली सो रहा है। काली की पत्नी उनकी कोमलता पर मुग्ध होकर उन्हे भाग जाने के लिए कहती है, परन्तु कृष्ण उसे झिडककर साँप की पूँछ पर लात दे, सर्पराज को जगाते है। इस प्रकार इस प्रसग मे कोमलता का समावेश हो गया।'

'भागवत मे सारी लीला जल के ऊपर होती है। ग्वाल बाल और नन्द-यशोदा देखते है। 'सूरसागर' मे कृष्ण और काली का सारा युद्ध-प्रसग जल के भीतर चलता है। ग्वाल-बाल और यशोदा समझते है कि कृष्ण डूब गये। तब अन्त मे कृष्ण काली पर कमल लादे हुए निकलते है।

'भागवत मे नाग-पत्नियाँ भगवान् की प्रार्थना करती हैं। 'सूरसागर' मे

इसका अभाव है। काली की ही स्तुति पर संतोष कर लिया गया है।'

'भागवत मे काली को नचाने और उस पर कमल लादने का प्रसग नही है। यह सब सूरदास जी की मौलिक कल्पना है।'

'इस प्रसग के बाद कृष्ण के कहने पर नन्द गोपो के साथ कस के पास कमल भेज देते है और कस उन्हे किस प्रकार भय और चिन्ता से स्वीकार करता है, इसका 'सूरसागर' मे सविस्तार वर्णन है। 'सूरसागर' का यह प्रसग भागवत् मे कही पर नही मिलता। भागवत के इस प्रसग के पढने पर रसोद्रेक नही होता, परन्तु सूर ने इसमे वात्सल्य और करुणरस का बहुत सुन्दर समावेश किया है। अनेक छोटी-छोटी कथा भगिमाएँ रसस्थल मे सहायक होती है।'

इस प्रकार हमने देखा कि 'काली-लीला' मे भागवत और 'सूरसागर' कहाँ-कहाँ पर खडे है। दोनो की कथा मे बहुत बडा अन्तर है। साम्य केवल यही है कि काली और कृष्ण की कथा है। निर्वहण दोनो का बिलकुल पृथक् है। इसी प्रकार भागवत की जितनी कथाएँ 'सूरसागर' मे सूर ने ली है उनमे से एक को भी बिलकुल ज्यो-का-त्यो नही रखा गया। कुछ-न-कुछ अन्तर कही-न-कही पर रहता ही चला गया है। 'सूर' ने अपनी कल्पना और मौलिकता से भागवत की जिम लीला को भी उठाया है उसे नवीन बना दिया है, उसमे चार चाँद लगा दिये है और उसे रस मे भिगो दिया है।

साहित्यिक दृष्टिकोण से जब हम 'सूरसागर' पर दृष्टि डालते है और इसकी लौकिक तथा अलौकिक लीलाओ को पृथक्-पृथक् दो भागो मे विभाजित कर देते है तो उसका लौकिक पक्ष अलौकिक पक्ष से बहुत ऊपर उठ जाता है। 'सूर' का साहित्य ही वास्तव मे उनके भक्त लोगो और साहित्यकारो तथा सरस-प्रेमी, लौकिक काव्य मर्मज्ञो को उसकी वह अलौकिक देन है जिसका सानी अन्य किसी साहित्य मे प्रस्तुत नही किया जा सकता। साहित्यिक जगत् मे 'सूर' को 'सूर्य' का स्थान प्रदान करने वाली उसकी यही कृतियाँ हैं जिनमे उसने एक असाधारण चित्रकार के नाते असाधारण रगो से साधारण घटनाओ को रगा है। 'सूर' ने कला की वह तूलिका चलाई है कि सूखी शाखाएँ हरी हो उठी है और सूखे जल प्रपातो से सरस-रस-धार झर-झर करके बह निकली है। 'सूर' की प्रतिभा का साकार रूप इन्ही लौकिक लीलाओ मे देखने को मिलता है। इन लीलाओ मे निम्नलिखित प्रमुख है

(१) गोपी-चीर-हरण लीला।	(२) पनघट की रँगरलियाँ।
(३) दान-लीला	(४) गोपी-कृष्ण-रास-लीला।
(५) राधा की मान-लीला।	(६) कृष्ण की बहुनायकत्व लीला।
(७) होली-लीला।	(८) हिंडोल-लीला।

इन लीलाओ के चित्रण मे कवि की भक्ति-भावना, कवित्व-शक्ति, कल्पना, मौलिकता, भाषा-प्रांजल्य, रहस्यात्मकता और दर्शन सभी का खुलासा मिलजाता

है। उन सभी चीजो का ऐसा सुन्दर सामजस्य इन पदो मे हुआ है कि कोई भी एक वस्तु दूसरी वस्तु को दबाकर अपना प्रभुत्व जमाती हुई नही चलती। सभी मुक्त प्रवाह के साथ आगे बढती है और इस काव्य को हर दिशा मे श्रेष्ठता प्रदान करती हुई चलती है।

'सूर' की ये लीलाएँ कोरी लीलाएँ मान ली गई है। इनमे आध्यात्मिक काव्यात्मक चमत्कार भी किसी प्रकार कम नही है। श्रीमद्भागवत मे केवल रास और चीरहरण के प्रसगो मे आये श्लोको से आध्यात्मिक रूप बनाए गए है और उनकी वेदव्यास ने व्याख्या भी दे दी है, परन्तु 'सूर' ने तो अपनी प्राय सभी लीलाओ मे आध्यात्मिक तत्त्वो का निरूपण किया है। यह निरूपण 'सूर' का नितान्त मौलिक है। आध्यात्मिक तत्त्वो का ज्ञान सूर का किसी भी धर्म प्रवक्ता से कम नही था और आपने अपनी कविता मे उनका जो निर्वाह किया है वह तो अद्भुत है। जहाँ तक रास और चीरहरण के पदो का सम्बन्ध है वे भी सूर ने भागवत से ज्यो-के-त्यो उठाकर नही ले लिए है। उनमे भी कवि की अपनी कल्पना और प्रतिभा बराबर कम करती है और साहित्य की दृष्टि से 'सूर' के ये चित्र भी 'भागवत' के श्लोको से कुछ ऊपर ही उठ गए है।

ऊपर हमने भागवत से 'सूरसागर' का जो मिलान करके पाठको के सम्मुख रखा वह इसलिए कि पाठक कही भ्रम मे न रहे कि सूरसागर केवल भागवत का उल्था मात्र है। वरन् इसके विपरीत 'सूर' ने भागवत से उतना लिया नही जितना माना है। 'सूर' ने भागवत से स्फूर्ति ली, इसमे कोई सदेह नही और यह स्फूर्ति इन्हे श्री वल्लभाचाय ने प्रदान की। स्फूर्ति का जहाँ तक सम्बन्ध है वह 'सूर' ने हरिवश, ब्रह्मवैवर्त पुराण इत्यादि से भी ली है।

'सूरसागर' के दशम स्कध के पूर्वार्द्ध की कथा का विकास बहुत क्रमिक है और उसका प्रवाह अविच्छिन्न है। बाल-कृष्ण के जन्म, नन्द-यशोदा के आनन्द-मय वातावरण, कृष्ण की बाल-लीला गोपियो तथा राधा से प्रेम, अक्रूर का आगमन, गोपियो की विरह दशा, कृष्ण का अक्रूर के साथ मथुरा चले जाना, बस इसी प्रकार कथा चलती है। समस्त कथा को दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है। एक चौपई-चौपाइयो मे चलने वाली कथा तथा दूसरे पदो में स्वाभाविक प्रवाह से बहानेवाली कथा। चौपई-चौपाई छन्दावली कथा में साहित्य की वह मार्मिकता नही आ पाई जो पद्यबद्ध कविता मे मिलती है। कथा और साहित्य दोनो दृष्टिकोण से जो कथा पदो मे चलती है, वही अधिक महत्त्व-पूर्ण है।

यह दोनो ही कथाएँ अलग-अलग लिखकर भी आखिर एक पुस्तक मे दो कथाओ को साथ-साथ चलाने की क्या आवश्यकता थी। चौपई-चौपाई छन्द मे लिखी कथा कोरी वर्णनात्मक है। रस के विचार से शायद उसे न लिख कर सूर ने पदो की व्याख्या के लिए लिखा है। इसमें पौराणिक कथा कहने का

ढग अपनाया गया है। साहित्यिक रुचि का प्रयोग उसमे नही मिलता। सामग्री दोनो कथाओ मे एक ही है, दोनो मे कोई भेद नही है। मौलिक उद्भावनाएँ दोनो मे समान रूप से मिलती और चलती है। पदो की बहुत-सी सामग्री दूसरी कथा मे भी नही आपाई है परन्तु वह बहुत कम है और अधिकतर कमी विस्तार की है। सम्भवत· पहले कवि ने पदो की ही रचना की होगी और जब उसका विचार रचना को भागवत के आधार पर रूप देने का हुआ तो उसने चौपाई-चौपाई छन्द को अपनाकर अपनी कथित गाथा को पद्यो मे दोहराना प्रारम्भ कर दिया। यही कारण है कि इस प्रयास से लिखी कथा मे वह मौलिक अनुभूति और प्रवाह नही आ पाया जो पद्यो मे मिलता है। कुछ विद्वानो का यह भी मत है कि यह वर्णनात्मक कथा सूर ने नही लिखी। रचना-सौष्ठव के विचार से सूर के पदो और इस वर्णनात्मक कथा मे कोई साम्य नही। न वह भाषा है, न वह भावना है, न वह कल्पना है, न वह अनुभूति है, न वह मूर्तिमत्ता है, कुछ भी तो नही है उसमे 'सूर' जैसा, फिर वह सूर की रचना भला किस प्रकार हुई ? फिर एक साथ दो प्रकार की कथाओ का एक ही पुस्तक मे चलना भी कुछ युक्ति सगत प्रतीत नही होता है।

इस प्रकार विद्वानो मे दोनो ही मत प्रचलित हैं, परन्तु हमारा मत यही है कि यह रचना 'सूर' की ही है और भागवत के प्रकार की कथा कहने की धुन मे कवि ने इसे लिखा होगा, इसीलिए इसमे काव्य कला का वह सौन्दर्य नही आ पाया जो उनके अन्य पदो मे मिलता है।

'सूरसागर' के प्रथम आठ स्कन्ध—'सूरसागर' के प्रथम आठ स्कन्धो की कथा अधिकॉश चौपई-चौपाई छन्द मे वर्णित है। इनकी लेखन-शैली विवरणात्मक है। इसमे कवि का पौराणिक कथाकार का रूप ही सामने आता है, एक प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार का नही। हिन्दी साहित्य का सूर्य इसमे उदय नही होता। दशम स्कन्ध की छाया भी इन आठो स्कन्धो मे देखने का नही मिलती। कही-कही कविता की धूमिल छाया-सी ऐसे दिखलाई दे जाती है जैसे अरण्य मे और रात्रि के अन्धकार मे कोई जुगनू टिमटिमा रहा हो। प्रह्लाद के प्रसग मे आए हुए एक दो पद इसी प्रकार के है। इसके अतिरिक्त इतिवृत्तात्मक कथा के रूप मे जो कुछ भी मिलता है वह भागवत की कथा का साराश मात्र ही है। कही तो कवि मानो कथा कहता-कहता ऊब जाता है और उसे इतना सक्षिप्त कर देता है कि हास्यास्पद ही बन जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मानो कवि इसकी रचना करते समय कुछ बडी जल्दबाजी मे था। वह करना नही चाहता था परन्तु किसी आज्ञावश उसे करना पड रहा था।

भागवत के प्रथम स्कन्धो मे जिन कथाओं का समावेश है उनमे कोरी भक्ति को प्रश्रय नही मिलता और जिन कथाओ के जिन स्थलो मे भक्त 'सूर' को भक्ति की झलक न दिखलाई देकर ज्ञान की दिमागपच्ची दिखलाई देती थी, उससे वह

खीज उठते थे, और उसे इतना सक्षिप्त कर देते थे कि उसे सार मानने मे सकोच होने लगता है। उदाहरण के लिए कपिल अवतार की कथा को ले सकते है। भागवत ने इस कथा के अन्तर्गत गम्भीरतम विषय का प्रतिपादन किया है और 'सूर' ने इस सामग्री को अपने ढग से सजोया है। 'सूर' की कथा से भागवत का तो मतलब सिद्ध होता ही नही।

इन प्रारम्भिक आठ स्कन्धो मे जो भी कथाएँ आई है उन सबका वर्णन सूर ने उन्हे अपने ही साँचे मे ढाल कर किया है और उनके जिस भाग से जहाँ तक हो सका वैसे ही या उनमे कोई परिवर्तन-परिवर्धन करके किया है। सूर ने अपनी प्रतिभा के अनुसार इसमे फेर-बदल किया है, परन्तु फिर भी इसका पौराणिक रूप ज्यो-का-त्यो उसमे निखरा हुआ आज भी सामने है। सूर की विचारधारा का पूरा प्रतिनिधित्व उनमे नही मिलता और न ही वे पूर्ण रूप से भागवत की विचारधारा से ही मिलती-जुलती रह गई है। पुष्टिमार्ग की शुद्धाद्वैती भावना की झलक उनमे धूमिल-सी ही प्रतीत होती है और चाहे 'सूर' ने इन कथाओ पर अपना रग चढाने का लाख प्रयास किया हो, परन्तु वह रग पूरी तरह से चढ नही पाया। उल्टा कही-कही पर तो कविता को पढकर ऐसा प्रतीत होने लगता है कि पुष्टिमार्गी 'सूर' मत परिवर्तन कर कही पौराणिक 'सूर' तो नही हो गये हैं।

'सूरसागर' के इन स्कन्धो की सामग्री भागवत मे १११६४ श्लोको मे वर्णित है जिसे सक्षिप्त करने मे भी 'सूर' ने हद कर दी है कि कुल १५० छन्दो मे उसे समाप्त कर दिया है। 'सूरसागर' के लगभग १०० पृष्ठो मे यह सब सामग्री आ जाती है। इस सामग्री के आधार पर हम सूर के धार्मिक और दार्शनिक कोणो को खोजने का प्रयास करेगे।

इन स्कन्धो मे जितने भी छन्द मिलते है उनमे कथा-प्रसग के शुरू मे ही 'हरि-हरि, हरि-हरि सुमिरन करौ' पद मिलता है। आपने भागवत-कथा की महिमा का मुक्तकन्ठ से बखान किया है और सूरसागर मे आद्योपान्त यह घोषित किया है कि जो कुछ भी वह लिख रहे है उसका आधार श्रीमद्भागवत ही है। भागवत-कथा की महिमा का बखान भी 'सूर' ने पौराणिक विद्वानो की ही प्रणाली के आधार पर किया है। 'सूर' ने हरि-कथाओ मे श्रीमद्भागवत के प्रति अपनी विशेष श्रद्धा दर्शाई है

श्री भागवत सुनै जो कोई, ताको हरि-पद प्रापति होई।

भक्ति का उन्मुक्त मार्ग—भक्ति के क्षेत्र मे सूर ने पुष्टिमार्गी भावना को ही बल दिया है। भक्ति का क्षेत्र आपने जाति, समाज और धर्म के बन्धनो से मुक्त कर दिया है :

राम भक्तवत्सल निज बानौं।
जाति, गोत, कुल, नाम गनत नहि, रक होइ कै रानौं।
सिव ब्रह्मादिक कौन जाति प्रभु, हौं अजान नहि जानौं।।
—सूरसागर-प्रथम स्कन्ध—पृ० ४।

जाति-पांति कोउ पूछत नाही, श्रीपति कै दरबार।
बैठत सबै सभा हरिजू की, कौन बड़ौ को छोट।।

× × ×

जन की और कौन पति राखै ?
जाति-पाँति-कुल कानि न मानत, वेद-पुराननि साखै।
सूरसागर—प्रथम स्कन्ध—पृ० ५।

सूर ने राम की महिमा का भी बखान किया है[1]। मध्य युग मे वैष्णव-भावना के अन्दर जो यह स्वछन्द विचारधारा प्रवाहित हो रही थी उसका सूर ने पूर्ण रूप से प्रतिपादन किया है। इसी प्रकार भक्ति के बहुत से सिद्धान्त इन प्रथम स्कन्धो मे स्पष्ट रूप से सामने आये है। अहकार के त्याग पर 'सूर' ने विशेष बल दिया है, क्योकि यह भक्ति के मार्ग मे सबसे बडी बाधा उपस्थित करता है। भक्त को चाहिए कि वह अहकार से मुक्त रहे। गर्व को त्याग कर ही कोई व्यक्ति भक्ति-मार्ग पर चल सकता है। ज्ञान-मार्गी और भक्तिमार्गी मे यह सबसे बड़ा अन्तर है।

प्रथम स्कन्ध—मगलाचरण, सगुणोपासना, भक्त-वत्सलता, माया-वर्णन, अविद्या-वर्णन, तृष्णा-वर्णन, नाम-महिमा, विनती, श्रीभागवत-प्रसग, भागवत वर्णन, श्री शुकजन्म कथा, श्रीभागवत के वक्ता श्रोता, सत-शौनक सवाद, व्यास अवतार, श्रीभागवत अवतार का कारण, नाममहात्म्य, विदुर-गृह भगवान् भोजन, भगवान् दुर्योधन सवाद, द्रोपदी सहाय, पाण्डव राज्याभिषेक, भीष्मोपदेश, युधिष्ठिर प्रतिज्ञा, महाभारत मे भगवान् की भक्तवत्सलता का प्रसग, अर्जुन दुर्योधन का कृष्ण-गृह-गमन, दुर्योधन वचन, भीष्म प्रतिज्ञा, अर्जुन के प्रति भगवान् के वचन, भगवान् का चक्र-धारण, अर्जुन और भीष्म का सवाद, भीष्म का देह-त्याग, भगवान् का द्वारिका गमन, कुन्ती-विनय, राजा धृतराष्ट्र का वैराग्य तथा वनगमन, हरि-वियोग, पाण्डव राज्य-त्याग, उत्तर-गमन, अर्जुन का द्वारिका जाना और शोक-समाचार लाना, गर्भ में परीक्षित की रक्षा तथा उसका जन्म,

---

१ अद्भुत राम नाम के अंक।

× × ×

हमारे निर्धन के धन राम।
—सूर सागर-प्रथम स्कन्ध—पृ० २६

परिक्षित-कथा, मन प्रबोध, चित् बुद्धि संवाद ।

द्वितीय स्कन्ध—नाम महिमा, अनन्य भक्ति की महिमा, हरि-विमुख निन्दा, सत्सग महिमा, भक्ति-साधन, वैराग्य-वर्णन, आत्मज्ञान, विराट रूप-वर्णन, आरती, नृप शुकदेव के प्रति परीक्षित-वचन, श्री विचार, श्री शुकदेव-वचन, शुकदेव-कथित नारद-ब्रह्मा-सवाद, चतुर्विशति अवतार वर्णन, ब्रह्मा-वचन नारद के प्रति, ब्रह्मा की उत्पत्ति, चतु श्लोक श्रीमुख-वाक्य ।

तृतीय स्कन्ध—श्रीशुक-वचन, उद्धव का पश्चात्ताप, मैत्रेय विदुर-सवाद, विदुर-जन्म, सनकादिक अवतार, रुद्र-उत्पत्ति, सप्तऋषि, दक्ष प्रजापति तथा स्वायभुव मनु की उत्पत्ति, सुर-असुर-उत्पत्ति, बराह अवतार, जय-विजय की कथा, कपिलदेव अवतार तथा कर्दम का शरीर त्याग, देवहूति-कपिल-सवाद, भक्ति-विषयक प्रश्नोत्तर, भगवान् का ध्यान, चतुर्विधि भक्ति, हरि विमुख की निन्दा, भक्त-महिमा ।

चतुर्थ स्कन्ध—दत्तात्रेय-अवतार, यज्ञपुरुष-अवतार, यज्ञपुरुष-अवतार (सक्षिप्त), पार्वती-विवाह, ध्रुव-कथा पृथु अवतार, पुरजन-कथा ।

पचम स्कन्ध—ऋषभदेव अवतार, जड भारत-कथा, जड भारत रहूगण सवाद ।

षष्ठी स्कन्ध—परीक्षित-प्रश्न, श्रीशुक-उत्तर, अजामिलोद्धार, श्रीगुरु-महिमा, सदाचार-शिक्षा (नहुष की कथा), इन्द्र-अहल्या-कथा ।

सप्तम् स्कन्ध—श्रीनृसिंह-अवतार, भगवान् वा श्रीशिव को साहाय्य, नारद उत्पत्ति-कथा ।

अष्टम् स्कन्ध—गज मोचन-अवतार, कूर्म-अवतार, सुद-उपसुन्द-वध, वामन-अवतार, मत्स्य अवतार ।

नवम् स्कन्ध—प्रथम आठ स्कन्धो मे हमने देखा कि पौराणिक कथाओं और भगवान् की समय-समय पर लीलाओ का चित्रण किया गया है । नवम् स्कन्ध मे भी राजपुरूरवा का वैराग्य, च्यवन ऋषि की कथा, हलधर-विवाह, राधा अबरीष की कथा, सौभारि-ऋषि की कथा, श्री गगा-आगमन, श्री गगा विष्णु-पदोदक-स्तुति, परशुराम-अवतार और बस उसके उपरान्त फिर रामावतार की कथा प्रारम्भ हो जाती है । इस प्रकार नवम् स्कन्ध मे भी बहुत-सी कथाएँ है परन्तु प्राधान्य राम कथा का ही है ।

रामकथा मे बाल काण्ड, अयोध्या काण्ड, अरण्य काण्ड, किष्किन्धा काण्ड, सुन्दर काण्ड और लका काण्ड हैं । बस इसके उपरान्त दशम् स्कन्ध प्रारम्भ हो जाता है । इसमे पूतना-वध से भगवान् श्री कृष्ण की कथा प्रारम्भ होती है ।

इस प्रकार हमने देखा कि वैष्णवो की सभी धर्मों की मान्यताओ का समन्वय करके चलने वाली मध्यकालीन प्रणाली का 'सूर' ने पूरी तरह से प्रतिपादन किया है । हिन्दू धर्म मे प्रचलित प्राय. सभी कथाओ का थोड़ा-बहुत

समावेश जो भागवत में मिलता है, उसे उस विस्तार के साथ न सही, कुछ अशों मे निभाने का सूर ने प्रयत्न किया है। काशी नागरी प्रचारिणी से प्रकाशित 'सूर सागर' के प्रथम भाग मे ८६० पृष्ठ है। उसमे से २५० मे प्रथम ६ सर्ग है और शेष मे दशम् स्कन्ध। २५० पृष्ठो मे इतनी कथाओ का वर्णन करना कुछ सरल काम नही, परन्तु फिर भी सूर ने अपनी समकालीन धार्मिक प्रणाली को निभाया है। इन नौ स्कन्धो की कविता को पढने पर भी यही ज्ञात होता है कि 'सूर' ने केवल कर्तव्य-निभाने के लिए ही इन कथाओ का चित्रण किया है; वरना इसके चित्रण मे न तो उनकी रुचि ही थी और न ही उनके मानस ने उन पर कविता लिखने की उन्हे प्रेरणा प्रदान की। इसीलिए यह कविता प्राणहीन सी जान पडती है, नीरस-सी। कवि ने कुछ कहना चाहा और वह उसने इति-वृत्तात्मक रूप से कहा है।

'सूर' की प्रतिभा का प्रारम्भ दशम् स्कन्ध से होता है जहाँ से उसकी साहित्यिक प्रेरणा और धार्मिक भावना का प्रतीक वह बाल-गोपाल कृष्ण यशोदा आँगन मे आकर किलकारी मारता है तथा अपनी लौकिक और अलौकिक लीलाओं से ब्रज के वातावरण मे स्वर्गिक सुख तथा शाँति और उत्साह का साम्राज्य बिछा देता है। ब्रज के ग्वाल-बाल, गोपियाँ, राधा, नन्द और यशोदा सभी उनके दर्शन का सुख पाते हैं और अपने को धन्य समझते है।

सूर-साहित्य का वास्तविक विकास दशम् स्कन्ध मे ही आकर होता है। इस स्कन्ध की कथा का सार संक्षेप मे नीचे दिया जाता है।

दशम स्कन्ध—'सूरसागर' के दशम स्कन्ध की कथा भगवान् कृष्ण के बाल-काल, गउओ का चराना तथा ब्रज-भूमि मे रहकर ग्वाल-बालो तथा गोपियो के साथ रास-क्रीडा इत्यादि का चित्रण है। कृष्ण-जन्म का वर्णन 'सूर' ने भागवत के पौराणिक आधार पर ही किया है और उसी प्रकार उनका यशोदा के घर मे आगमन भी दिखलाया है; परन्तु यशोदा के घर मे आकर कृष्ण बाल रूप मे जिस प्रकार विकसित होता है यह 'सूर' की अपनी ही मौलिकता है, अपनी ही कल्पना है। बीच-बीच मे भागवत का आधार बराबर आता चला आता है, परन्तु वर्णन बिलकुल मौलिक ढग से ही चलता है। इस वर्णन मे पौराणिक वृत का अभाव है। कवि अब रसानुभूति से वर्णन करता है।

यशोदा के घर मे कृष्ण का आगमन होते ही मगल और आनन्द से वहाँ का वातावरण आच्छादित हो जाता है। ब्रज का जीवन ही नया हो जाता है, उसमे आनन्द की लहर दौड जाती है। ब्रज के गोपी और गोप हल्दी और दही लुटाते हैं और कृष्ण को देखने के लिए नन्द के द्वार आते है।[1] इस शुभ अवसर पर

---

१. आजु नन्द के द्वारे भीर।
इक आवत इक जात बिदा ह्वै, इक ठाडे मदिर के तीर।
—'सूरसागर'—स्कन्ध १०—पृ० २६/७

ढाढी के रूप मे स्वय 'सूर' भी वहाँ जा पहुंचते है।[1] यशोदा और रोहिणी कृष्ण के मुख पर बलिहारी जाती है। बच्चे के लिए पालना गढा जाने लगता है। बढई पालना गढने मे संलग्न है और फिर यशोदा कृष्ण को उस पर लिटाकर झुलाने लगती है·

जसोदा हरि पालनै झुलावै।
हलरावै दुलराइ, मल्हावै जोई सोई कछु गावै।।
....

यशोदा का पूरा ध्यान कृष्ण के लालन-पालन मे लग जाता है। कृष्ण के सोते जागते समय उसे उसी का ध्यान बना रहता है।

माता यशोदा कृष्ण को पाल-पोस कर बडा करने मे प्रयत्नशील है और दूसरी ओर कस के मन मे भय व्याप्त हो रहा है :

कंसराइ जिय सोच परी।
कहा करौं, काकौं ब्रज पठवौं, विधना कहा करी।
बारम्बार बिचारत मन मैं, नींद भूख बिसरी।
'सूर' बुलाइ पूतना सौं कह्यो, करु न बिलम्ब घरी।।

सूरसागर—पृ० २७७

कृष्ण के बडे होने की यशोदा के मन मे अपार उत्कठा है। उसके मन के हावभावो को कवि ने बहुत ही सजीवता के साथ चित्रित किया है। कृष्ण का घुटने चलना, लडखडा कर चलना, फिर गिर जाना, तुतलाकर बोलना इत्यादि इस प्रकार वर्णित किये गये है कि बालक के साकार चित्र सामने आ जाते हैं।

धीरे-धीरे कृष्ण बडे होने लगते है। अन्नप्राशन इत्यादि के सस्कार भी होते हैं। वह फिर आँगन मे ही फिरते नही रहते। घर बाहर ग्वालो के सग जगल मे गाय चराने यमुना-तट पर भी जाने लगते है। कृष्ण का गाय-चराने जाना और यशोदा का उनके लिए चिन्तित होना, ऐसी भावनाएँ है जिनका साधारण कवि चित्रण नही कर सकता, परन्तु 'सूर' ने इन भावनाओ को साकार रूप देने मे कमाल किया है। यशोदा जब कृष्ण को गाय चराने भेजती हैं तो अपनी ओर से हर ग्वाले को उन्हे सौपकर उनकी सुरक्षा के लिए प्रार्थना करती है। माता के प्रेम का कितना उदार चित्र है?

इस कथा मे कृष्ण-सौदर्य के, सुकुमारता के, यश के, चाचल्य के, नटखटपने के बहरहाल हर प्रकार के चित्र कवि ने उपस्थित किये हैं। कृष्ण अब किशोर हो

---

१ मैं तेरे घर कौ हौ ढाढी, मो सरि कोई न आन।
सोई लैहौ जो मो मन आवै, नन्द महर की आन।।
—'सूरसागर'—स्कन्ध १०—पृ २७२।

जाते हैं तो राधा और गोपियों से प्रेम लीलाएँ चलने लगती हैं। गोपियाँ यशोदा के पास कृष्ण के नटखटपन के उलाहने लेकर आती है परन्तु यशोदा उन पर विश्वास नही करती। माँ भला अपने पुत्र को नटखट कैसे समझे और फिर कृष्ण को, जिनपर यशोदा बलिहारी जाती थी।

इसी काल मे कृष्ण द्वारा कस के भेजे हुए अनेक राक्षसो का दमन होता है। कृष्ण उनका सहार करते है। फिर इन्द्र द्वारा की गई वर्षा से गोवर्धन को उबार कर कृष्ण इन्द्र-गर्व का दमन करते हैं।

इन्ही अलौकिक कथाओ के साथ-साथ लौकिक हास-विलास भी योगिराज का चलता रहता है। राधा इसी समय सामने आती है। एक दिन चकई खेलते हुए अचानक राधा की माधव से भेंट होती है। कृष्ण राधा को देखते ही उसपर मुग्ध हो जाते हैं। फिर निकट जाकर कृष्ण उससे उसका परिचय जानने का प्रयत्न करते है :

बूझत स्याम कौन तू गोरी।
कहाँ रहति, काकी है बेटी, देखी नहिं कहूँ ब्रज-खोरी॥

इसके उत्तर मे राधा कहती हैं :

काहे कौ हम ब्रज तन आवति, खेलति रहति आपनी पौरी।
सुनत रहति स्रवननि नँद-ढोटा, करत फिरत माखन -दधि चोरी॥

यह सुनकर कृष्ण कहते है

तुमरौ कहा चोरि हम लैहै, खेलन चलौ संग मिलि जोरी।
'सूरदास' प्रभु रसिक सिरोमनि, बातन भुरइ राधिका भोरी॥

'सूरसागर'— दशम स्कंध, पृ० ४९७

दोनो के हृदयो मे एक-दूसरे के प्रति यही से आकर्षण पैदा हो जाता है :

प्रथम सनेह दुहुँनि मन जान्यौ।
नैन-नैन कीन्ही सब बातें, गुह्य प्रीति प्रगटान्यौ॥

प्रीति का यह सम्बन्ध दिन-प्रति-दिन दृढ होता चला जाता है। प्रेम अनेको परिस्थितियो को पार करता हुआ आध्यात्मिक तत्व-निरूपण तक पहुँच जाता है। धीरे-धीरे दोनो एक-दूसरे से मिलने और देखने के लिए आकुल हो उठते है माँ से आँख बचाकर कृष्ण राधा से मिलने जाते है और कही-न-कही उसे खोजही लेते हैं। कवि ने 'सूरसागर' के इन पदो मे बाल-लीला और प्रेम-लीला का वह सम्मिश्रण किया है कि जिसमे वासना नाम की किसी वस्तु का उदय ही होना असम्भव है। राधा और कृष्ण का यह प्रेम और आगे बढता है और यौवन की स्थिति को भी प्राप्त होता है। इसी स्थिति मे कृष्ण 'नागर' और राधा 'नागरी' के रूप मे सामने आते है।

ब्रज मे कृष्ण और राधा की सयोग-लीला का जो चित्रण कवि ने किया है उसमे हास-विलास, प्रेम-विनोद, रूप-सौदर्य और मुग्ध-यौवन के सुन्दरतम चित्र

अंकित किये हैं। मान और मन-मोचन के प्रसंगों की भी कमी नही की। खडिता प्रसगो की भी योजना है। चीर-हरण, दान-लीला, पनघट-लीला, रास और जल-क्रीडा के वर्णन अवर्णनीय है। रास प्रसग से पूर्व सूरदास ने राधा-कृष्ण के गंधर्व-विवाह की भी योजना की है। परन्तु यह सयोग-लीला अधिक दिन नही चलने पाती। अक्रूर के ब्रज मे आकर कृष्ण को मथुरा ले जाने से इनका अन्त हो जाता है।

कृष्ण के मथुरा चले जाने से ब्रज-भूमि पर तो मानो शोक का पहाड ही टूट पडता है। राधा, यशोदा, ब्रज की गोपियाँ कृष्ण के विरह मे विह्वल हो उठती हैं। ब्रज का समस्त वातावरण शोक-सागर मे डूब जाता है। यशोदा दु:ख से पागल हो जाती है। कृष्ण को मथुरा मे छोड कर जब नन्द ब्रज लौटते है तो यशोदा उन्हे उलाहना देती है। अन्त मे दोनो ही बेहोश होकर गिर जाते है। कृष्ण के वियोग को न केवल वहाँ के रहने वालो ने ही महसूस किया वरन् मूक पशु-पक्षी तथा वृक्षो ने भी उसे अनुभव किया और आँसू बहाये।

कथा थोडी और आगे बढती है। कृष्ण को भी मथुरा मे पहुँच कर ब्रज-वासियो की याद आती है। वहाँ से वह अपने सखा उद्धव को गोपियो के पास योग द्वारा उनकी विरहाग्नि को शान्त करने के लिए भेजते है। ज्ञानी उद्धव ब्रज मे आकर अपने ज्ञान का उपदेश जब गोपियो को देते है तो गोपियाँ उनकी खूब खबर लेती है। यह कथा 'भ्रमर-गीत' के नाम से प्रसिद्ध है जिसमे गोपियाँ उद्धव से जो कुछ भी कहती है वह भ्रमर को सम्बोधित करके कहती है। वास्तव मे कवि ने अपने इस भाग मे पुष्टि-मार्गीय प्रेम-भक्ति का जो निखरा हुआ रूप प्रस्तुत किया है वह शायद अन्यत्र नही बन पडा। शकराचार्य के ज्ञान और माया-वाद का इस भाग मे खूब जी खोलकर खण्डन किया गया है।

विरह की सुन्दरतम अभिव्यंजना 'भ्रमर-गीत' भाग मे मिलती है। सूर की कथा 'भ्रमर-गीत' से भी और आगे बढकर कुरुक्षेत्र के अवसर पर राधा-कृष्ण का मेल कराती है।

अन्त में यही समझना चाहिए कि 'सूरसागर' भागवत के केवल एक ही स्कन्ध की विस्तार के साथ कही गई कथा है, परन्तु वह ज्यो-की-त्यो सामने नही आती। कवि की मौलिक कल्पना के आधार पर ही 'सूर' सागर की कथा चली है और इसकी अन्तर कथाएँ भी कवि की अपनी मौलिक कल्पना पर ही आश्रित है। काली की कथा को विस्तार के साथ पीछे दिखलाया गया है कि 'सूरसागर' तथा भागवत की कथा में कितना अन्तर है। इसी प्रकार राधा की कथा भी 'सूर' ने अपने ही ढंग से कही है। इसका आदि मध्य और अन्त सब कवि की अपनी कल्पना है। कथा मुक्तक रूप से चली है इसलिए कथाबद्धता में अनेकों स्थान पर कमी रह गई है। वास्तव में कथा कहना उनका उतना बडा अभिप्राय नहीं था जितना अपनी भावना को व्यक्त करना और भावना की उड़ान के कारण

यदि कथा की शृखला कही टूटती थी तो उसकी उन्हे कोई चिन्ता नही थी ।

सूर-साहित्य की भाषा : सूरदास ने अपने साहित्य मे जिस भाषा का प्रयोग किया है वह विशुद्ध ब्रज है । 'सूर' से पहले हिन्दी-साहित्य का सृजन डिंगल या अपभ्रंश मे हुआ है । ब्रज को सर्वप्रथम साहित्य के क्षेत्र मे ले आने का श्रेय सूरदास जी को ही है । 'सूर' ने जिस ब्रज-भाषा का प्रयोग किया है वह कोमलकात पदावली से युक्त है और उसमे स्वाभाविक तथा प्रचलित शब्दो का ही प्रयोग मिलता है । भाषा का प्रवाह और सजीवता उसके प्रत्येक पद से झलकती है। भाषा साफ-सुथरी मंजी हुई है । वह कही पर भी ऊबड-खाबड तरीके से नही चलती और उसकी गति मे कही अन्तर नही आता । दृष्टान्तो को छोडकर शेष सभी रचनाओ मे प्रसाद और माधुर्य गुणो से युक्त भाषा का प्रयोग कवि ने किया है । 'सूर' की भाषा लडखडाती नही, इसका प्रधान कारण यही है कि वह आडम्बरो मे अपने को लपेट कर नही चलती, सीधी-सादी बहती है, अपने रास्ते पर चलती है, बनावट से दूर, कृत्रिमता से पृथक ।

सूर ने ब्रज की चलती भाषा का प्रयोग किया है । उसमे कही-कही संस्कृत के तत्सम शब्द भी देखने को मिल जाते हैं । इसके फलस्वरूप वह समस्त उत्तर-प्रदेश मे समझी जानेवाली भाषा बन जाती है और व्यापक रूप ग्रहण कर लेती है । सत्य तो यह है कि इस काल मे ब्रज को हिन्दी की भाषा बना देने का श्रेय 'सूर' को ही पहुँचा है और 'सूर' के पश्चात् फिर ब्रज भाषा का जो रीतिकाल में अपनाया गया उसका महत्त्व इस समय आँकना ही कठिन है । भाषा को एकरूपता प्रदान करने मे सूर ने जो स्वाभाविक परिश्रम किया है हिन्दी साहित्य उसके लिए 'सूर' का ऋणी है । ब्रज भाषा को 'सूर' ने जन भाषा बना दिया, धार्मिक भाषा बना दिया, साहित्यिक भाषा बना दिया और तदानन्तर लगभग ४०० वर्ष तक भारत के इस प्रधान भू-खण्ड की यह मुख्य-भाषा के रूप मे मानी जाती रही ।

'सूर' ने ब्रज-भाषा को व्यापक बनाने के लिए उसमें सस्कृत के तत्सम शब्दों के अतिरिक्त फारसी, अवधी, पजाबी इत्यादि शब्दों का भी प्रयोग किया है। फारसी इत्यादि के शब्द कवि ने तत्सम रूप मे न लेकर तद्‌भव रूप मे लिए है। इस प्रकार भाषा को बनाने मे कवि ने महान् योग दिया । भाषा का कवि ने अपने साहित्य मे जिस रूप मे प्रयोग किया है वह विशुद्ध ब्रज है । परन्तु ब्रज होने पर भी वह हर प्रसग में एकसी नही रहती, उसमे अन्तर आ जाता है । हम सूर की भाषा को पाँच भागो में विभाजित कर सकते है

१. विनय-पदो की भाषा ।

२. चौपई-चौपाई छन्द में मिलने वाली भाषा ।

३. दशम स्कन्ध के साधारण पदो की भाषा । बालकृष्ण और किशोरकृष्ण का लगभग पूरा साहित्य इसी शैली के अतर्गत लिखा गया है ।

४. दृष्टकूट पदों की भाषा। इनमे कवि की कौतुकप्रिय और पाडित्य-पूर्ण रुचि का चमत्कार दिखालाई देता है।

५ भ्रमर-गीत की भाषा। इस शैली मे वाक्चातुर्य की प्रधानता है, रस-परिपाक पर उतना ध्यान नही दिया गया।

इन शैलियो के अतर्गत सूर का पूरा साहित्य आ जाता है।

विनय-पदों की भाषा : 'सूर' की वे प्रारम्भिक रचनाएँ जिनकी रचना सम्भवत उन्होने वल्लभाचार्य से दीक्षित होने से भी पूर्व की थी, विनय-पदो के अतर्गत आती है। इनका सकलन हमे सूरसागर के प्रथम स्कन्ध मे मिलता है। ये पद अपने ढग के पृथक् ही है जिनका वैष्णव धर्म के शुद्धाद्वैती सिद्धान्त या पुष्टि-मार्गीय विचारधारा से कुछ सम्बन्ध नही है और न ही इस आशय की कोई चीज हमे श्रीमद्भागवत मे ही मिलती है। ये 'सूर' के स्वतत्र विनय-पद है।

इन पदो मे दास्य-भाव का प्राधान्य है और कही-कही पर इनमे तुलसी की सी रमक दिखलाई देने लगती है। विनय की इस शैली पर सत-साहित्य का भी प्रभाव कम नही है। यह भी सम्भव है कि वल्लभाचार्य के शिष्य होने से पूर्व इनके हृदय मे राम-भक्तो की सी दास्य-भक्ति रही हो। ये पद 'सूर' को बहुत प्रिय थे इसलिए पुष्टि-मार्ग पर आने के पश्चात् भी उन्होने इन्हे नष्ट नही किया।

इन पदो की भाषा मे न तो वह सरसता ही है जो सूर-काव्य की प्राण है ओर न वह हृदयग्राही प्रवाह ही है जो कविता मे होना चाहिए। इनकी भाषा रूखी-सूखी है और प्रवाहहीन है। हाँ, तथ्य का निरूपण इनमे अच्छा खासा हुआ है और विषय का विवेचन भी बुरा नही है। काव्य-सौदर्य की खोज के लिए इस साहित्य का अध्ययन करना व्यर्थ है। फिर भी आखिर यह 'सूर' की लेखनी का प्रसाद है इसलिए कही-न-कही भूले भटके अपना चमत्कार दिखलाती ही है। माया के चित्रण मे अच्छे रूपक बाँधे है

हरि तुव माया को न बिगोयौ ?
सौ जोजन मरजाद सिंधु की, पल मै राम बिलोयौ।

—सूरसागर, स्कन्ध १, पृ० १५

ऊपर दिये गये पद मे कितनी सुन्दर शब्द-योजना है और उपमाएँ देने मे कवि ने अनोखी प्रतिभा का परिचय दिया है।

'सूर' के साहित्य का अनुशीलन करने से पता चलता है कि उनकी प्रतिभा का विशेष विकास परिस्थितियो तथा भावनाओं के चित्र प्रस्तुत करने मे हुआ है। 'सूर' मे विशेष रूप से चित्रात्मक प्रतिभा का विकास पाया जाता है। विनय-पदो मे भी आपने बहुत-सी कल्पनाओ के साकार चित्र प्रस्तुत किये है। उनकी भाषा उन पदो मे बहुत सधी तथा मजी हुई सामने आई है। एक-एक शब्द मोती की तरह टका हुआ है, नही तो चित्र ही बने, अधूरा रह जाय या गलत

हो जाय। इन पदों में कही उपमा, उत्प्रेक्षा और कही सुन्दर सगरूपक प्रस्तुत किये है। राम नाम का वर्णन देखिए

> **अदभुत राम नाम के अक।**
> **धर्म-अंकुर के पावन द्वै दल, मुक्ति-बधू ताटक।**
>
> **—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, पृ० २६**

उक्त पद मे साहित्यिक सौष्ठव पूर्णरूप से वर्तमान है। न भाषा ही रूखी है और न साहित्यिकता का ही अभाव है। परन्तु विनय-पद सभी ऐसे नही है। रूखे-सूखे और पिछले पदो की भी कमी नही है जिनमे सहित्यिकता छू तक नही गई, केवल नीरस वर्णनात्मकता मात्र है। उन पदो पर सत-साहित्य का प्रभाव है और वे 'सूर' के जीवन मे उस समय तक आना स्वाभाविक भी है जब वह अपना घर त्याग कर वैराग्य की भावना से चल दिये थे। वल्लभाचार्य जी से यदि उनकी भेंट न होती तो सम्भवत उनके काव्य को वह सरसता न मिलती जो हमे आज उनके साहित्य में उपलब्ध है तथा 'सूरसागर' का दशम स्कन्ध जिससे भरा पडा है। विनय-पदो मे 'सूर' की ईश्वर-भक्ति के अच्छे उदाहरण मिलते हैं।

चौपई-चौपाई छन्दों की भाषा—चौपई-चौपाई की शैली का कवि ने 'सूरसागर' मे आद्योपात कही-कही प्रयोग किया है। विश्रृखल रूप इसका सम्पूर्ण 'सूरसागर' मे यत्र-तत्र देखने को मिल जाएगा। प्रबन्ध काव्य लिखने की यह शैली है जिसका अनुकरण 'सूर' से ठीक भी नही बन पडा है। इसमे कोई विशेष प्रबन्धात्मकता नही आ पाई है और उल्टा 'सूर' की कविता मे हलकापन आ गया है। काव्य लिखने की यह पौराणिक शैली है जिसका निर्वाह 'सूर' ने किया है। परन्तु यह निर्वहण साहित्य की दृष्टि से कोई विशेष महत्त्व नही रखता। उसे पढकर ऐसा प्रतीत होता है कि मानो कवि के अन्दर बहने वाला रसस्रोत सूख गया है और वह कथा-निर्वाह के लिए यह सब लिखता चला जा रहा है। मानो एक बोझा है उसके सिर पर जिसे उसे उतारना है, और उसी के फलस्वरूप उसने इस प्रकार की रचना की है। बडे प्रयास के बाद कवि इस शैली मे भागवत की कथा के प्रसगो का सक्षिप्त लेखा-जोखा उपस्थित कर पाया है। इसका पढना और अध्ययन करना पाठक के लिए बोझिल है।

जहाँ तक सम्भव है महाप्रभु गोसाई विट्ठलदास जी की आज्ञा से सूर ने यह रचना की होगी। सूर जैसे भावुक कवि के लिए सक्षेप मे किसी वस्तु को प्रस्तुत करने का कार्य कठिन था। उसने तो एक-एक भाव के कई-कई पद, एक से एक सरस और विचित्र कल्पना के साथ रचे है। वस्तु को विस्तार देने मे 'सूर' जितना निपुण था उतना संक्षिप्त करने मे नही। यही कारण है कि कही-कही पर सक्षिप्त करने की भी हद हो गई है।

यह सामग्री 'सूरसागर' मे बहुत अधिक नही है—बहुत कम है। अधिकाश

'सूरसागर' पदो से ही भरा पडा है और पद्य ही वास्तव मे 'सूरसागर' के प्राण है, वही उसका साहित्य है। इस शैली का एक उदाहरण देखिए

पुरजन कथा—

हरि-हरि, हरि-हरि, सुमिरन करौ। हरि चरनारबिन्द उर धरौ।
कथा पुरंजन की अब कहौं। तेरे सब सदेहनि दहौं।
प्राचीनर्बाहि भूप इक भए। आयु प्रजत जज्ञ तिन ठए।
ताकै मन उपजी तब ग्लानि। मै कीन्ही बहु जिय की हानि।
यह मम दोष कौन विधि हरै। ऐसी भाँति सोच मन करै।
इहि अन्तर नारद तहँ आए। नृप सौं यौ कवि बचन सुनाए।
—सूरसागर, स्कध चतुर्थ, पृ० १४६।

'हरि-हरि, हरि-हरि' कहकर कथाएँ प्रारम्भ हो जाती है और फिर उनका साधारण इतिवृत्तात्मक वर्णन प्रारम्भ हो जाता है। सीधी-साधी गद्यात्मक कथा को व्यर्थ पद्य बना दिया गया है। केवल 'सूर' की छाप लग जाने से ही उसमे से रस प्रवाहित नही होने लगता। एक-एक प्रसग मे एक-एक कथा ली गई है। आधार इन कथाओ का भागवत ही है परन्तु उसका वर्णन करने का ढग 'सूर' का अपना है। उसमे से कौन भाग लेना और कौन छोडना है या किसे तनिक विस्तार देना है और किसे केवल सकेतमात्र करके छोडना है, यह 'सूर' का अपना काम है। यह सब किसी निर्दिष्ट आधार के अनुसार नही किया गया। कवि की स्वेच्छा से हुआ है।

चौपई-चौपाई छन्द मे जो रचना की गई है उसके बीच-बीच पदो को भी रखा गया है। इससे प्रतीत होता है कि कथा कहते-कहते जहाँ कवि में काव्यात्मक या भावनात्मक उद्रेक हुआ है वहाँ उन्होने कथा लिखना बन्द करके कविता करनी प्रारम्भ कर दी है। भीष्म-प्रतिज्ञा, प्रहलाद-चरित्र इत्यादि के बीच मे ऐसे पद पाठको को देखने को मिलेंगे। जिस प्रकार चौपाई में कथा लिखते समय कवि 'सूर' पौराणिक 'सूर' के नीचे दब जाता है, ठीक उसी प्रकार जब 'सूर' के पद सामने आते हैं तो उनका पौराणिक स्वरूप काफ़ूर हो जाता है। इस कथाबद्ध कविता से 'सूर' की प्रतिभा का कोई सदेश पाठक को नही मिलता। यह उल्टा गलत ही पडता है और यदि कोई 'सूर' का पाठक इसके केवल इसी भाग को पढकर रह जाए तो वह सूर-साहित्य की छाया तक प्राप्त नही कर सकता।

दशम स्कन्ध की भाषा—दशम स्कन्ध मे लिखे गये पदो मे कवि की जो शैली मिलती है उसी के अतर्गत उसकी सबसे अधिक कवि-प्रतिभा का विकास हुआ है। भक्ति-भावना का जो प्रवाह पदो मे कवि ने प्रवाहित किया है वह 'सूरसागर' के अन्य किसी भाग में नही मिलता। भक्ति और कविता का सुन्दर सामञ्जस्य इस शैली मे हुआ है। काव्य-मर्मज्ञता, सगीत-प्रयता, गीति-काव्यकारिता, रीति कुशलता, भावुकता, प्रेम-भक्ति और रस-निर्वाह के जो उदा-

हरण इन पदो मे मिल सकते है, उनके समक्ष समस्त हिन्दी-साहित्य को खोजने पर भी शायद उदाहरण न मिल सके। बाल, किशोर और यौवन पूर्ण जीवन की सुन्दरतम झाँकियाँ और चित्र, जिनका कि 'सूर' हिन्दी-काव्य का सबसे बडा चितेरा है, इन्ही पदो मे प्रस्तुत किये हैं। इन्ही पदो मे बच्चे के घुटुनियो चलने, पाँवो चलने, कलेवा करने, आँगन मे क्रीडा करने, गौचारण, राधा-कृष्ण मिलाप, चीरहरन-लीला, राम-पचाध्यायी, रास-नृत्य तथा जल-क्रीडा, गोपी-गीत, वृन्दावन-विहार, प्रेम-लीलाएँ, उद्धव-ब्रजागमन इत्यादि अनेको प्रसग मिलते है जिनका चित्रण करके कवि ने हिन्दी-साहित्य के कोष मे वृद्धि की है। यही वह शैली है जिसमे 'सूर' ने भगवान् की लौकिक तथा अलौकक लीलाओ का समावेश किया है। अनूठे रगो से उन्हे रग-रगकर चमत्कृत कर दिया है। इन पदो की भाषा जहाँ सरल, सरस और सारगर्भित है वहाँ इनमे आलकारिक चमत्कार भी कम पैदा नही किया है कवि ने। उपमाओ पर उपमा और उत्प्रेक्षाओ पर उत्प्रेक्षा का जाल बिछाना तथा सागरूपको के सुन्दर उदाहरण पेश करना जितना 'सूर' को आता है उतना अन्य कवि नही जानते। यह सब इसी शैली मे किया गया है। भाव और सगीत का सगम इन पदो मे कवि ने एकत्रित किया है। इन पदो मे काव्य की प्राचीन रूढ़ियाँ तो मानो कवि की चेरी बनकर जहाँ वह चाहता है खिची चली आती है।

कृष्ण-लीलाओ का जो प्रवाह इन पदो मे कवि कर पाया है वह अन्य शैली मे नही पाया जाता। 'वार्ता' मे लिखा है कि सूरदास लीला गाते समय कभी-कभी साठ-साठ पद गाते चले जाते थे और अघाने का नाम तक न लेते थे। वह लीला गाते समय ऐसे तन्मय हो जाते थे कि अपनी सुध-बुध ही भूल जाते थे और ऐसा प्रतीत होता था कि मानो उनका भगवान् श्रीकृष्ण से तादात्म्य हो गया है। इन पदो को लिखते समय कवि स्वय उसी काल मे ब्रज के अन्दर पहुँच जाता है और वास्तव मे चित्रण और वर्णनो को पढकर तो ऐसा प्रतीत होता है कि वे सब 'सूर' ने अपनी आँखो से ही देखे होगे। लीला गाते समय जो मिठास और स्वाभाविक प्रवाह 'सूर' के पदो मे मिलता है वह 'सूर' के अतिरिक्त केवल मीरा के ही पदो मे मिलना सम्भव है। 'सूर' की साहित्य-निष्ठा और काव्य-मर्मज्ञता इन्ही ४ हजार पदो पर आधारित है जिनमे रसिक-प्रिय कवि के भावनात्मक व्यक्तित्व का विकास हुआ है। साहित्य के क्षेत्र मे इन पदो का जहाँ अपार मान है वहाँ सगीत के क्षेत्र मे भी इनका साथी मिलना कठिन है। यही कारण है कि तानसेन जैसे गायक ने भी इन्हे अपनाया और अपने मधुर कठ की सान पर रखकर इतना पैना किया कि स्वयं कला मर्मज्ञ अकबर भी इससे प्रभावित हुए बिना न रह सका। इस शैली के अतर्गत सयोग और वियोग दोनो प्रसगो को कवि ने लिया है और खूब निभाया है। शैली के उदाहरण देखिए :

यह ब्रज के आनन्दमय वातावरण का एक सजीव चित्र है जो कृष्ण के ब्रजा-

गमन पर उपस्थित होता है। आज नन्द के द्वार पर भीड लगी है। नन्द आनन्द मे भर कर दान कर रहे हैं

> इक आवत, इक जात बिदा ह्वै, इक ठाड़े मदिर कै तीर।
> कोउ केसरि कौ तिलक बनावति, कोउ पहिरति कचुकी सरीर।
>
> —सूरसागर, दशम स्कन्ध, पृ० २६७

बाल-कृष्ण के रूप का वर्णन और उन्हे गोद लेने की आसपास की स्त्रियो की आकाक्षा का मनोरजन चित्र देखिए

> नैक गोपालहि मोको दै री।
> देखो बदन कमल नीकै करि, तो पाछै तू कनियाँ लै री।
> अति कोमल कर चरन सरोरुह, अधर-दसन-नासा सोहै री।
>
> —सूरसागर, दशम स्कन्ध, पृ० २७९-२८०

यशोदा कृष्ण को चलना सिखला रही है। इस लीला को देखिए कवि कितना साकार चित्र चित्रित करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि जब यशोदा मैया कृष्ण को सचमुच चलना सिखा रही होगी तो 'सूर' भी ड्योढी पर खडे वह दृश्य देख रहे होगे

> सिखवति चलन जसोदा मय्या।
> अरबराइ कर पानि गहावत, डगमगाइ धरनी धरे पय्या।
> कबहुँक सुन्दर बदन बिलोकति, उर आनन्द भरि लेति बलैया।
> कबहुँक बल कौं टेरि बुलावति, ईहि आगन खेलौ दोउ भैया।
> 'सूरदास' स्वामी की लीला, अति प्रताप विलसत नंदरैया।
>
> —सूरसागर, दशम स्कन्ध, पृ० ३००

कृष्ण भगवान् यशोदा से लीला करते हुए कहते है कि माता मुझे तू बड़ा कर दे। कितना मन-मोहक चित्रण है —

> मय्या, मोहि बडौ करिलै री।
> दूध दही घृत माखन मेवा, जो माँगौं सो दै री।
> कछू हौस राखै जनि मेरी, जोइ-जोइ मोहि रुचै री।
> होऊँ बेगि मै सबल सबनि मै, सदा रहौ निरभै री।
> रंगभूमि मै कस पछारौं, घीसि बहाऊँ बैरी।
> 'सूरदास' स्वामी की लीला, मथुरा राखौ जै री।
>
> —सूरसागर, दशम स्कन्ध, पृ० ३२०

इस प्रकार 'सूर' की यह पद-रचना शैली सबसे उत्तम, सरल और सरस है। इसमे जो रस-प्रवाह हुआ है वह बहुत ही मधुर है।

भ्रमरगीत की शैली—भ्रमरगीत की शैली मे 'सूर' ने अपनी वाग्विदग्धता की मनोरम परिचय प्रस्तुत किया है। इस शैली का प्रयोग कवि ने भ्रमरगीत के पदों मे तो किया ही है, इनके अतिरिक्त मुरली और नयन के लिए भी किया

है। इनमे प्रेम रस पूर्ण वह मीठी तर्क-शैली मिलती है कि जिसको लोभवश पढते ही बनता है। अपने प्रतिद्वन्द्वी को हटाने का प्रयास करने मे भी उसकी प्रशसा ही झलकती है। सखियाँ आपस मे कहती हैं कि यह मुरली यद्यपि कृष्ण को नाना प्रकार से रिझाकर तग करती है तब भी यह गोपाल को बहुत प्रिय है। कहने का ढग देखिए 'सूर' का। मुरली की सीधे तरीके से प्रशसा न करके बुराई करने मे भी प्रशसा ही कर रहे है —

मुरली तऊ गुपालहिं भावति।
सुनि री सखी जदपि नन्दलालहिं नाना भांति नचावति।
राखति एक पाइ ठाढौ करि, अति अधिकार जनावति।

—सूरसागर, दशम स्कन्ध, पृ० ४६१-४६२

गोपियो के मन मे मुरली के प्रति सौतिन-डाह का उत्पन्न करना 'सूर' जैसे कलाकार की ही कल्पना है और फिर मुरली के अधर पर लेटने तथा कृष्ण द्वारा पैर दबाने की कल्पना का भी जरा मुलाहिजा कीजिए। कृष्ण को एक पैर पर खडा रखने और कृष्ण की कमर तिरछी हो जाने से मुरली बजाने वाले का कितना सही चित्र पाठक के मस्तिष्क पर उतरता है यह भी देखने योग्य चीज है। क्या ससार के किसी साहित्य मे इतनी सजीव चित्रकारिता और वाग्वैदग्ध-पूर्ण पद का सृजन कभी हुआ है? उलाहने का एक पद और देखिए :

मुरली के ऐसे ढंग भाई।
जब तै स्याम परे बस वाकै, हम सब दिन बिसराई॥

—सूरसागर, दशम स्कन्ध, पृ० ७००

इन पदो मे भावना के साथ-ही-साथ 'सूर' की बुद्धि का भी चमत्कार देखने को मिलता है। कही बुद्धि अनुभूति पर सवारी गाँठती है, तो कही फिर भावना ऊपर उभर आती है और बौद्धिक तत्त्व दब जाता है। भ्रमरगीत के अन्दर गोपीविरह के पदो मे जहाँ दार्शनिक उद्धव और गोपियो के आपस मे सवाल-जवाब होते है वहाँ तो निश्चित् रूप से बुद्धि और तर्क को ही प्रधानता मिलती है परन्तु वह चित्रण भी है बहुत रोचक। इन पदो मे श्रेष्ठ ध्वनि काव्य के उदाहरण मिलते है। कल्पना और तर्क का निर्वाह इन पदो मे कवि ने बहुत ही सुन्दर किया है। परन्तु 'सूर' की विशेषता यह है कि ज्ञान की बाते करते समय भी वह इन पदो मे नीरस नही हुए हैं। पदो मे रस प्रवाह की गति रुकने नही पाती।

दृष्टकूट पदों की भाषा—'सूरसागर' मे जो अन्तिम प्रकार की शैली है वह दृष्टकूट पदो की शैली है। इन पदो मे काव्य-सौन्दर्य कोई विशेष नही है। 'सूर' के स्वभाव की झाँकी अवश्य इनमे हमे मिलती है। इन पदो मे कवि ने बुद्धि की कसरत सी की जान पडती है। न यह कुछ गाम्भीर्य के लिए है और न रस-प्रवाह या अनुभूति के निमित्त ही। सूर की भक्ति-प्रेरणा और काव्यात्मकता के इसमे दर्शन नही होते।

'सूर' की इन पाँचो प्रकार की साहित्य-रचना शैलियो के अन्तर्गत कवि का अपना व्यक्तित्व छिपा हुआ है। ये शैलियाँ कवि की भावना और कवि की कल्पनाओ की प्रतीक है। कवि का जीवन इन शैलियो के रूप मे हमारे सामने आता है। इनके आधार पर हम सूर को भक्त-सूर, विनयी-सूर, पौराणिक-सूर, रसिक-सूर, काव्य प्रेमी-सूर, चितेरा सूर इत्यादि के रूप मे देखते है। 'सूर' के सभी प्रकार के दृष्टिकोणो की छाप इन शैलियो पर पडी है और इन्ही के फल-स्वरूप इनका विकास हुआ है। 'सूर' के समस्त साहित्य से उसका अपना व्यक्तित्व झलकता है।

सार-निरूपण सूरदास की रचनाओ का जहाँ जिक्र आता है अनेको ग्रन्थ उनके नाम के साथ जुडे पाते है परन्तु उनमे से अधिकाश खोज करने पर 'सूर-सागर' मे मिल जाते है। इस प्रकार स्वतत्र ग्रन्थ केवल तीन ही ठहरते हे। 'सूरसारावली', 'सूर साहित्य-लहरी' तथा 'सूरसागर'। इन तीनो ग्रन्थो मे भी प्रथम दो के विषय मे अभी तक पद निश्चित् नही हो सका है कि ये ग्रन्थ 'सूरदास' के लिखे हुए है या प्रक्षिप्त है। डॉ० मुन्शीराम और डॉ० दीनदयाल गुप्त 'सूर सारावली' को प्रामाणिक मानते है तथा डॉ० ब्रजेश्वर बर्मा इसे प्रक्षिप्त कहते हे। काव्य-रचना के विचार से इनकी भाषा, इनके भाव कुछ भी तो सूर-साहित्य से साम्य नही खाता। 'साहित्य-लहरी' के मूल मे ११८ पद तथा उपसहार मे ५३ हैं। ५३ पद तो 'सूरसागर' मे मिलते है परन्तु मूल के पद 'सूरसागर' मे नही पाये जाते।

इस प्रकार सूर का प्रामाणिक ग्रन्थ केवल 'सूरसागर' ही है। 'सूरसागर' के प्रथम आठ स्कन्धो मे अनेको पौराणिक कथा तथा विनय के पद है। नवम स्कन्ध मे राम कथा तथा दशम स्कन्ध मे कृष्ण लीला का चित्रण है। वास्तव मे यदि देखा जाए तो 'सूरसागर' का सार यह दशम स्कन्ध ही है और सूर के यदि किसी साहित्य के कारण हिन्दी मे अन्तर है तो वह भी यही है। इसम कृष्ण की ब्रजपति, बाल तथा किशोर और यौवन की क्रीड़ा, राधा-प्रम, लौकिक तथा अलौकिक कथाएँ और इसी प्रकार मथुरा जाना, उद्धव का गोपियो को समझाने के लिए भेजना इत्यादि लीलाओ से मुक्त कृष्ण का भक्तिमय चित्रण है।

'सूरसागर' ब्रज भाषा का ग्रन्थ है और इसकी लेखन-शैली मे सूर ने पाँच शैलियाँ अपनाई है—(१) विनय पद लिखने की शैली। (२) चौपई-चौपाइयो मे पौराणिक कथाओ का बखान करने की शैली। (३) दशमस्कन्ध के सरल-सुन्दर और रस-पूर्ण पदो की शैली। (४) भ्रमरगीत इत्यादि की वाक्चातुर्य प्रधान शैली और (५) दृष्टकूट पदो की शैली। इन सभी शैलियो का कवि ने उचित निर्वाह किया है और इस निर्वहण मे कवि का अपना व्यक्तित्व उभर आया है, निखर आया है। यह स्पष्ट हो गया है कि वह क्या है और क्या लिखने के लिए उसने क्या लिखा है।

□

५ | सूर की रचनाओं में साहित्यिक अभिव्यक्ति

किसी भी रचना मे, जिसे साहित्य की सज्ञा दी जा सके, कुछ-गुणो का होना अनिवार्य है। उन गुणो का निर्वाह कोई कवि, लेखक या कलाकार कहाँ तक अपनी कृति मे कर पाता है, यही रचना के स्तर को पहिचानने का साहित्याचार्यों ने मापदण्ड अपनाया है। भारतीय आचार्यो के प्राचीन और नवीन मापदण्डो की तुलनाएँ अलकार और रस है। पाश्चात्य विद्वान् रचना को बुद्धितत्त्व, मानवतत्त्व और शैली के आधार पर परखने का प्रयास करते है। इस अध्याय मे हम सूर की रचनाओ को भारतीय तथा पाश्चात्य दोनो तत्वो के आधार पर परखने का प्रयास करेंगे और देखेंगे कि उनकी रचनाओ मे उक्त गुण या तत्त्व किस-किस मे उपलब्ध होते है।

बुद्धि-तत्त्व—सूर-साहित्य का सम्पूर्ण अध्ययन करने वाले विद्यार्थी को समझना चाहिए कि सूर एक भावना-प्रधान भक्त कवि था, जिसने अपने इष्टदेव की स्तुति और विशेष रूप से कीर्त्तन इत्यादि के लिए ही साहित्य-रचना की है। सूर के जीवन चरित्र पर हम पीछे सक्षेप मे प्रकाश डाल चुके हैं। उसके आधार पर भी यह सरलतापूर्वक समझा जा सकता है कि उनका साहित्य किन प्रधान तत्त्वो को ग्रहण कर सकता है। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि न समझ लेना चाहिए कि सूर साहित्य मे बुद्धि तत्त्व है ही नही। कम होने पर भी जहाँ है वहाँ काफी तीखा और सैद्धान्तिक है। भक्ति-कालीन जितने भी प्रधान व्यक्ति हुए है उनके साहित्य मे साहित्यिक अनुभूति के साथ-साथ धार्मिक प्रेरणा प्रधान रूप से रही है। और इस धार्मिक प्रेरणा के मूलाधार धर्म के वे सिद्धान्त हैं जिनका सम्बन्ध धर्म के सूक्ष्मतम विवेचनो से रहता है। महाप्रभु वल्लभाचार्य और विट्ठलनाथ जैसे धुरधर विद्वानो के सम्पर्क में रहनेवाला कवि अपनी कविता को बुद्धि-तत्त्व से मुक्त रख सके यह असम्भव ही था।

'सूरसागर' के भ्रमरगीत भाग मे ज्ञान और भक्ति का सुन्दर निरूपण मिलता है। इसकी विस्तार के साथ व्याख्या हम आगे 'सूर के आध्यात्मिक तत्त्व

निरूपण' अध्याय मे करेगे। यहाँ केवल इतना ही कह देना पर्याप्त है कि सूर ने इस प्रकार के पदो मे जिस तर्क शैली को अपनाया है वह बुद्धि-तत्त्व के सुन्दरतम उदाहरणो के रूप मे प्रस्तुत की जा सकती है। उद्धव और गोपियो की पारस्परिक वार्ता मे बुद्धि तत्त्व निखर कर सामने आया है।

पुष्टि-मार्ग के सिद्धातो को लेकर आपने प्रेमा भक्ति, विष्णु-भक्ति, परम पद की एकता, विनय भक्ति, सख्य भक्ति, जीव, जीव-ईश्वर की एकता, माया, काल, सृष्टि, कर्म और भाग्यवाद इत्यादि अनेको बौद्धिकतत्त्वो का निरूपण किया है। इनका भी विस्तृत विवरण हम आगे ही पेश करेगे। बुद्धितत्त्व के कुछ सुन्दरतम रूप देखिए

निर्गुण ब्रह्म का कृष्ण मे समाहृत रूप ·

अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यौं गूँगे मीठे फल कौ रस अन्तरगत ही भावै।

माया से बचने के लिए कवि मन से कहता है

रे मन, अजहूँ क्यो न सम्हारै।
माया-मद मे भया मत्त, कत जनम बादही हारै॥
तू तौ विषया रंग रँग्यो है, बिन धोए क्यों छूटै।
लाख जतन करि देखौ, तैसै बार-बार विष घूटै॥

—सूरसागर, प्रथम स्कंध, पृ० २१

सूर-साहित्य मे बुद्धितत्व है तो अवश्य, परन्तु उसकी प्रधानता नही है। कबीर साहित्य मे जिस प्रकार बुद्धि तत्त्व की प्रधानता है और मानव तत्त्व गौण रूप से आता है उसी प्रकार सूर-साहित्य मे मानवतत्त्व प्रधान रूप से आता है और बुद्धि तत्व गौण रूप से।

भ्रमरगीत का एक पद देखिए। कितनी चतुर बुद्धि का द्योतक है :

ऊधो ! मन नहि हाथ हमारे।
रथ चढाय हरि संग गए लै मथुरा जबै सिधारे।
नातरु कहा जोग हम छाँड़हि अति रुचि कै तुम ल्याए।
हम तौ झकति स्यात की करनी, मन लै जोग पैठाए॥
अजहूँ मन अपनौ हम पावै तुमतें होय तो होय।
'सूर' सपथ हमै कोटि तिहारी कहौ करैगी सोय॥

भावना-तत्त्व—'सूर' हिन्दी-साहित्य मे भावना के विशाल भंडार है और यदि उनकी किसी प्रकार आशिक रूप से समानता मे कोई आ सकते है तो वह विद्यापति और मीरा के ही नाम लिए जा सकते है। सूर-साहित्य मे भक्ति के जिस रूप को अपनाया गया है और उसके आधार पर जिस रूप मे महाप्रभु वल्लभाचार्य ने पुष्टि मार्ग का निर्माण किया है उसके अन्तर्गत प्रेमाभक्ति का

स्वरूप खडा करके सूर ने भक्ति और भावना का वह स्रोत प्रवाहित किया है कि जिसमे स्नान करके रूखा-से-रूखा जीवन का पहलू भी सरस हो उठता है। नीरसता को साकार सरसता प्रदान करने वाला हिन्दी-साहित्य मे कोई साहित्य है तो वह सूर-साहित्य ही है। गत अध्याय मे सूर के प्रधान ग्रन्थ 'सूरसागर' की सामग्री पर विचार करते समय हम देख चुके हे कि उसका प्रधान साहित्यिक भाग दशम स्कन्ध ही है। दशम स्कन्ध मे कृष्ण-जीवन की लीलाओ का पदो मे कवि ने गायन किया है और कृष्ण जीवन के उन स्थलो को अपनी कविता का विषय बनाया है जिसमे भावना के अतिरिक्त और कुछ पनप ही नही सकता। कल्पना बहती है तो भावना को लेकर, विचार चलता है तो भावना मे बहकर और फिर भाषा और शैली वह तो सूर की भावना के अनुरूप है ही।

कृष्ण-जीवन के विविध रूपो को लेकर प्रेम और भक्ति से ओत प्रोत कवि की भावना का जो प्रसार सूर-साहित्य मे मिलता है वह ससार के साहित्य मे अपना विशेष स्थान रखता है। बालक की भावना, माता की भावना, पिता की भावना, सखाओ की भावना, भक्त की भावना, सखियो की भावना, राधा की भावना, इन सभी के सुन्दर साकार चित्र कवि ने प्रस्तुत किये है

पुत्र और माता के भावो का सुन्दर चित्र देखिए

मैया मैं नहिं माखन खायो।
ख्याल परै ये सखा सबै मिलि, मेरे मुख लपटायौ॥

× × ×

डारि साँटि, मुसकाइ जसोदा, स्यामहिं कंठ लगायौ।
'सूरदास' जसुमति कौ यह सुख, सिब विरंचि नहि पायौ॥

—'सूरसागर' दशम स्कन्ध, पृ० ३७१

जसोदा माता के हृदय की भावना का चित्रॉकन देखिए .

कब मेरौ लाल घुटुरुवनि रेंगै, कब धरनी पग द्वैक धरै।
कब द्वै दॉत दूध के देखौ, कब तोतरे मुख बचन झरै॥
कब नदंहि बाबा कहि बोलै, कब जननी कहि मोहि ररै।

माता बालक के भविष्य के विषय मे किस प्रकार भावनामय होकर विचार करती है उसका इससे सुन्दर भी क्या वर्णन हो सकता है ? उसी प्रकार नन्द के मन मे कृष्ण को उल्टा लेटा देखकर वात्सल्य का उदय होता है और वह उस सुन्दर अनुभूति को अपने मानस मे बटोरने मे असमर्थ रहकर जसोदा को पुकारते है

हरषे नन्द टेरत महरि।
आइ सुत मुख देखि आतुर, डारि दधि-डहरि॥

—'सूरसागर दशम स्कन्ध', पृ० २९४

भावना के चितेरे सूर ने कृष्ण के विरह मे गोपियो, राधा और ब्रज के पशु-पक्षी और वृक्षो का जो सजीव चित्रण किया है वह देखते ही बनता है। गोपियाँ, ऊधव से कहती है .

ऊधो ! इतनी कहियो जाय।
अति कृस गात भई हैं तुम बिनु बहुत दुखारी गाय ।।
जल-समूह बरसत अँखियन तें, हूँकत लीनैं नाँव।

—'भ्रमरगीत सार' रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ६६

इसी प्रकार सूर-साहित्य मे भावना को कवि ने प्रधान स्थान दिया है। मानव का भावना-तत्व जितना निखर कर आपके साहित्य मे ऊपर आया है, उतना कम कवि ही कर पाये है, यह हम ऊपर भी सकेत कर चुके है। भक्ति रस से परिप्लावित आपका प्रत्येक पद भावना के समुद्र मे गोते लगाकर ही मानो आपके कण्ठ से बाहर हुआ है। भावना-पक्ष को प्रस्फुटित करने के लिए आपने विषय भी उसके अनुरूप ही चुना है और सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से आपकी धर्म-आस्था भी उसमे सहायक सिद्ध हुई है।

कल्पना-तत्व जैसा कि साहित्य मे कुछ विद्वानो का विचार है, यदि सूर को जन्म से ही अधा मान लिया जाय तो उनका समस्त साहित्य ही कल्पना पर आधारित हो जाता है, परन्तु यह न मानने पर भी कल्पना का प्रयोग आपके स हित्य मे आद्योपान्त मिलता है। उपमा और उत्प्रेक्षा अलकारो का सुन्दर प्रयोग कल्पना का ही प्रतीक है। कृष्ण के स्वरूप का चित्रण करने मे कवि ने जो सौदर्य की सृष्टि की है वह सब कल्पना पर ही आधारित है और इसमे उसे कितनी सफलता मिली है यह तो वह पारखी ही समझ सकता है जिसने सूर के नगीने-जडे पदो को पढा और परखा है। कल्पना को एक-से-एक सुन्दर, मन-ग्राही और चमत्कार पैदा करने वाली उडान हमे सूर-साहित्य मे देखने को मिलती है। कल्पना का एक चित्र देखिए .

कहाँ लौं बरनौ सुन्दरताई !
खेलत कुँवर कनक-आंगन मैं नैन निरखि छबि पाई ।।
कुलही लसति सिर स्याम सुन्दर कें, बहु विधि सुरंग बनाई।
मानौ नव घन ऊपर राजत मघवा धनुष चढ़ाई ।।
अति सुदेश मृदु हरत चिकुर मन मोहन-मुख बगराई।
मानौ प्रकट कज पर मजुल अलि अवली फिरि आई ।।
नील, सेत अरु पीत, लाल मनि लटकन भाल सलाई।
सनि, गुरु-असुर देवगुरु मिलि मनु भौम सहित समुदाई ।।

—'सूरसागर' दशम स्कन्ध, पृ० २६८

इसी प्रकार कल्पनापूरित अन्य अनेको चित्र सूरसागर में भरे पड़े हैं जिनमे

कवि ने अपनी अद्वितीय प्रतिभा का परिचय दिया है। कल्पना के सहयोग से आपका भावना-पक्ष बहुत निखर कर सामने आया है और उसके अन्दर चमत्कार पैदा हो गया है। साग रूपको मे भी कल्पना का प्रयोग बहुत सुन्दर हुआ है। मुरली मे सौतिन की कल्पना करके जो चित्र 'सूर' ने खडे किये है उनमे कल्पना का साकार साक्षात्कार हो उठता है। कवि का कल्पना-पक्ष बहुत सबल है और वह अन्य पक्षो की अपेक्षाकृत साहित्यिक सौंदर्य की वृद्धि मे हर स्थान पर पूरा ही उतरा है।

मुन्शीराम शर्मा लिखते हैं—'वैसे तो प्रत्येक बात मे सूर की कान्त कल्पना दृष्टि गोचर होती है, पर मुरली और नेत्र सम्बन्धी पदो मे वह विशेष चमत्कार को लेकर अग्रसर हुई है।'

—'सूरसौरभ, पृ० ४२६

'सूर की कल्पना अलकारो का प्रयोग करती हुई किसी-न-किसी भाव या चेष्टा का चित्र-निर्माण करती है। कही-कही निरावरण होकर भी भावाभिव्य-जन की साधिका बनी है। सूर के रचे हुए ये भाव-चित्र चार सौ वर्षों से भावुक हृदयों को आकर्षित करते रहे है।'

—'सूरसौरभ, पृ० ४३१

गोपियो के नेत्रो से निकलते हुए आँसुओ का एक कल्पना-चित्र देखिए :

मेरे नैना बिरह की बेल बई।
सींचत नैन नीर के सजनी मूरपताल गई॥
विकसित लता स्वभाइ आपने छाया सघन भई।
अब कैसे निरुवारो सजनी, सब तन पसरि छई॥

'भ्रमरगीत' मे सूर ने कृष्ण-पक्ष को काली नागिन बना दिया है। कल्पना की ऐसी मूर्तिमत्ता कदाचित् ही कही उपलब्ध हो। सूर लिखते है :

पिया बिन नागिन कारी रात।
कबहुँक जामिनि उअति जुन्हैया डसि उलटी ह्वै जात॥

—'सूरसौरभ', पृ० ४२६

सूर के प्रत्येक पद मे कुछ-न-कुछ कल्पना की पुट रहती ही है। कोरी कल्पना के आधार पर साहित्य का निर्माण कवि ने नही किया है और जो चित्र उपस्थित किये है उन से सजीव दुनिया का रूप सामने आता है परन्तु साहित्यिक सौदर्य की सृष्टि के लिए जहाँ कल्पना की आवश्यकता हुई है वहाँ कल्पना को बहुत सरल तथा सुन्दर ढग से प्रयोग मे लाया गया है। कल्पना की भरमार से भी साहित्यिक सौदर्य मे वृद्धि नही होती, यह सत्य सूर की कविता मे झलकता है। सोने पर कही-कही नगीना काटने से उसमे जो सौदर्य-वृद्धि होती है वह नगीने-ही-नगीनो की भरमा कर देने से कभी उपलब्ध नही हो सकती। सूर की कल्पना

सरल परन्तु कही-कही बहुत तीखी भी बन पडी है। विशेषरूप से 'भ्रमरगीत' के पदो मे कवि की कल्पना का वह तीखा स्वरूप सामने आता है जो भावुक हृदय मे गडता चला जाता है।

काव्य-शैली जहाँ तक सूर की काव्य शैली का सम्बन्ध है इसका उल्लेख हम सूर की भाषा के साथ कर चुके है, परन्तु शैली मे जो-जो चीजे आती है उनका विश्लेषणात्मक परिचय वहाँ तो पाठक को प्राप्त नही हो सकेगा। वहाँ तो हमने केवल छन्दो और थोडा-सा विषय के आधार पर ही शैलियो का विभाजन किया था जिससे सूर की रचनाओ, उनके विषयों और उन विषयो का स्पष्टीकरण कवि ने किस प्रकार किया है, इसका पता लग सके। यहा हम शैली के उन सभी तत्वों के आधार पर सूर की कविता का निरीक्षण करेंगे जिनको मिला कर शैली की सज्ञा दी जाती है। पीछे हमने शैली का जो रूप सामने रखा, वह केवल शैली का बहिर रूप कहा जा सकता है। यहा हमे शैली के उन गुणो को देखना है जिनके आधार पर कवि अपने विचारात्मक और कल्पनात्मक साहित्य का सृजन करता है। शैली के इस रूप मे भाषा की शब्द-योजना, शब्द-शक्ति, अलंकार, भाषा के गुण, छन्द इत्यादि सभी कुछ आ जाते हैं। शैली को परखने का यह शास्त्रीय आधार है। इन्ही विशेषताओ के आधार पर शैली का नामकरण होता है और उसकी कोटि निर्धारित की जाती है।

भाषा · सूर की भाषा ब्रज भाषा है, यह हम पीछे भी स्पष्ट कर चुके हैं। भाषा बहुत सरल, मँजी तथा सधी है। उसका जो रूप चलता है वह स्थिरता के साथ चलता है। प्रचलित शब्दो के प्रयोगो ने कविता के चित्रो मे प्राण फूँक दिए है। परिस्थिति के अनुरूप शब्दो की फौज मानो आप-से-आप सूर के मस्तिष्क से उतरती चली आती है। क्या मजाल जो कही भी कोई ३नुपयुक्त शब्द देखने को मिल जाय। भाषा ही वास्तव मे यदि देखा जाय तो साहित्य की अनुभूति को मुखरित करने का प्रधान यत्र होती है। यदि भाषा नही तो कुछ नही। भाव और विचार बेचारे पर-विहीन पक्षी के समान उडने और आगे बढने के लिए तडफडाते है। वह पाठक के पास तक पहुँच नही सकते। दोनो के बीच का यह एक माध्यम है।

सूर-साहित्य में प्रधानतया गीति-काव्य की रचना हुई है। इस गीति-काव्य की रचना मे आपने जिस भाषा का प्रयोग किया है वह प्रधान तथा प्रसाद-गुण सम्पन्न है। माधुर्य-भाव इसमें आद्योपात मिलता है। कही-कही श्रृ गार के चित्रण में वीर रस के आ जाने से ओज भी प्रस्फुटित हुआ है। सूर की भाषा कही-कही हास्यप्रिय शब्दो के साथ क्रीडा भी करती है। उद्धव और गोपियो के सम्वादो मे यह भाषा मिलती है। इसमे व्यग्य रूपी भावनाएँ प्रकट होती हैं। यहाँ यह कह देना उचित होगा कि सूर के दृष्टकूट पदो को छोड कर शेष प्रायः सम्पूर्ण साहित्य सूर ने प्रसाद-गुण-सम्पन्न भाषा मे ही सृजित किया है। जहाँ कही अल-

कारो का भी कवि ने प्रयोग किया है वहाँ अर्थ के स्पष्टीकरण में उनसे बाधा न आकर उल्टा उसका स्पष्टीकरण ही होता है। दुरूहता तो मानो सूर की भाषा को छू तक नही गई। माखन-चोरी, दान-लीला, बाल-लीला इत्यादि के पद तो इतने स्वाभाविक भाषा मे लिखे गए है कि मानो नित्य प्रति की प्रचलित भाषा को ही कवि ने सँजो दिया है। प्रसाद और माधुर्य का सामजस्य हमे सूर की भाषा मे मिलता है।

ब्रज भाषा मे सूर से पूर्व हमे कोई कवि नही मिलता जिसने ब्रज भाषा को साहित्यिक रूप दिया हो और उसमे इस प्रकार के अमर साहित्य का सृजन करना तो दूर की बात है साधारण रचनाएँ भी की हो।

सूर-साहित्य की भाषा प्रवाहमयी है। भाषा का प्राजल रूप उनकी रचनाओ मे मिलता है। भाषा द्रुत गति के साथ बहती है। प्रवाह के साथ-ही-साथ भाषा मे मुहावरो और लोकोक्तियो का प्रयोग होने से उसमे जान पड़ गई है। सूर ने ध्वन्यात्मक शब्दो का भी भाषा मे ऐसा सजीव प्रयोग किया है कि भाषा भाव को शब्द-ध्वनि से ही स्पष्ट करने मे सफल हो जाती है। शब्दो का प्रयोग देखिए :

लटकत मुकुट, मटक मोहनि की, चटकत चलते, मन्द मुस्कात।

× × ×

अटपटाइ कलबल करि बोलत।

× × ×

सनक झुनक कर ककन बाजै, बाँप डुलावत ढीली।

भाषा के गुण : उन पक्तियो मे सूर ने जिन शब्दो का प्रयोग अपनी भाषा मे किया है उन्होमे भाषा मे जान डाल दी है। इस प्रकार भाषा की दृष्टि से सूर-साहित्य अपनी सानी नही रखता। भाषा प्रसाद और माधुर्य गुणो से युक्त है, प्राजल है, शब्द-ध्वनि युक्त है और उपयुक्त शब्दो के प्रयोगो से पूर्ण है, इसीलिए भावव्यजना और चित्राकन मे सूर को इतनी सफलता मिल पाई।

अलंकारो का प्रयोग सूर-साहित्य मे अलकारो का प्रयोग बहुत ही सन्तुलित ढग से मिलता है। इसीलिए सूर की शैली मे अलकारो का वह रूप नही जोकि साहित्य को ही अपनी ओर खीच ले और पाठक विषय तथा भावना को भूल कर अलकार की लपेट मे अपने को खो बैठे या उससे चमत्कृत हो उठे। अलकारो का प्रयोग कवि ने पाडित्य-प्रदर्शन के लिए नही किया। उसका उद्देश्य तो अलकार द्वारा भी भाव, गुण, रूप इत्यादि का प्रकाशन ही रहा है। उसने एक भी अलकार का प्रयोग अलकार के लिए नही किया वरन् इसलिए किया है कि उसकी भावना तथा कल्पना को उत्कर्ष मिले और काव्य की प्रभावात्मकता को बल प्रदान हो सके। अलकारो के इस स्वाभाविक प्रयोग ने भाषा और विषय

दोनो का गम्भीर्य प्रदान किया है और भावों के प्रकाशन में सहयोग मिला है। सूर के अलकारो का प्रयोग बहुत स्पष्ट और आसानी से समझ मे आने वाला होता है। इसीलिए पाठक उसे पढ और समझ कर उसकी गहराई तक सरलता-पूर्वक पहुँच जाता है। कविता के रसास्वादन मे उसे तनिक भी कठिनाई नही होती। कवि के उद्देश्य को मैं यही पर पूर्ण मानता हूँ। जिस कला मे समझने वाला उलझ कर रह जाय उस कला का तो प्रयोजन ही नष्ट हो जाता है। फिर न तो वह श्रोता तथा पाठक के हृदय पर ही अपना प्रभाव जमा सकती है और न उसके मस्तिष्क का ही उससे कोई सम्बन्ध स्थापित हो सकता है।

सूर ने अपने साहित्य मे रूपक, रूपकातिशयोक्ति, उपमा तथा उत्प्रेक्षा इत्यादि अलंकारो का प्रयोग किया है। इनके अतिरिक्त कुछ शब्दालकार भी बिना अर्थ कविता मे आ गये हैं, जिनका उल्लेख करना कुछ अधिक महत्वपूर्ण नही। अनुप्रासों का प्रयोग तो सूर की कविता के जिस पदो मे चाहो खोज लो। उपमा के अलावा यमक, तथा वक्रोक्ति के भी उदाहरण मिलते है।

यमक—कमलनयन के कमल-बदन पर वारिज वारिज वारि।

श्लेष—दूहूँ कूल तरुन मिली तरन न लागी बार।

वक्रोक्ति—साँच कहौ तुमको अपनी सौं बूझति बात निदाने।
सूर श्याम जब तुमहि पठायो तब नेकहु मुसकाने।

'सूर सौरभ' पृ० ४०५-४०६

उपमा—हरि-दरशन की साध मुई।
उडियै उड़ी फिरति नैननि सँग फर फूटे ज्यों आक रुई॥

× × ×

निरखि रहों फणिक की मणि ज्यों सुन्दर श्याम विनोद तिहरे।

लुप्तोप्मा—चन्द्रकोटि प्रकाश मुख अवतंस कोटिक भान।
भृकुटि कोटि कोदण्ड रुचि अवलोकनी संधान॥

ललितोपमा—देखियत दोऊ घने उनये।
उत घन वासव भक्ति वश्य इत नर इक रोष भये॥
उत सूर चाप, कला प्रचण्ड इत, तडित पीतपट श्याम नये।
उत सेनापति बरसि मुसल सम-इत प्रभु अमिय दृष्टि चितये॥

मालोपमा—श्याम भये राधा वश ऐसे।
चातक स्वांति, चकोर चन्द्र ज्यों,चक्रवाक रवि जैसे॥

रूपक—तट बारु उपचार चूर, जल परी प्रसेद पनारी।
बिगलित कच कुच कास पुलिन पर पंकज काजल सारी॥

सांगरूपक—मथुरा ऐसी आज बनी

जैसे पति कौ आगम सुनि कै, सजनि सिंगार धनी ।।
कोटि मनौ कटि कसी किंकनी, उपवन बसत सुरंग।
भूषन भवन विचित्र देखियत, सोभित सुन्दर अग ।।
सुनत स्रवन धरिया घोर धुनि, पाइनि नूपुर बाजत।
अति सभ्रम अचल, चंचल गति धामिनि धुजा विराजत ।।
ऊँध अरनि पर छत्रन की छवि, सीसफूल मनौ फूली।
कनक-कलस कुच प्रगट देखियत, आनन्द कंचुकि भूली ।।
विद्रुम-फटिक रचित परदनि पर जालरंध्र की रेख।
मनहुँ तुम्हारे दरसन कारन, भूले नैन निमेष ।।
चित दै अबलो कहु नंदनदन, पुरी परम रुचि रूप।
सूरदास प्रभु कस मारिकै दोहु दूहाँ के भूप ।।

इसी प्रकार रूपकातिशयोक्ति, प्रतीप, अतिशयोक्ति, वस्तूप्रेक्षा, हेतूप्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, सदेह, शुद्धापन्हुति, भ्रान्त्यापन्हुति, दृष्टान्त, परिकर, समासोक्ति, मालोत्प्रेक्ष", स्वभावोक्ति, सहोक्ति, आक्षेप, लोकोक्ति, विभावना इत्यादि बहुत से अलकारो के उदाहरण खोज कर मुशीराम जी ने 'सूर सौरभ' मे दिये हैं। इतने विस्तार मे जाना इस पुस्तक मे हमारा उद्देश्य नही। सूर-साहित्य मे अलकारो की खोज करने वाले जिज्ञासु को बहुत से अलकार बिना प्रयास ही मिल सकते हैं।

छन्द-प्रयोग - सूरसागर की रचना चौपाई, छन्द तथा पदो मे हुई है। चौपाई के साथ कही-कही चौबोले का भी प्रयोग कवि ने किया है। यह छन्द प्रयोग सौष्ठव तथा परिमार्जन से रहित है। विशेष रूप से वर्णनात्मक कथा का ही प्रसार इन छन्दो मे मिलता है। कुछ गाने योग्य नये छन्दो का भी प्रयोग कवि ने किया है। सूर की अधिकाश रचना गेय पदो मे ही रची है। गीति-काव्य प्राचीनता के विचार से सामवेद मे भी मिलता है परन्तु इसके प्रचार और महत्त्व के बढाने का श्रेय विशेष रूप से जयदेव और विद्यापति को ही है। सूर एक गायक थे, इसी लिए अपने अपनी कविता की रचना पदो मे की और विभिन्न प्रकार की राग-रागनियाँ लिखी। सूर की गीत-शैली पर जयदेव, गोवर्धनाचार्य, विद्यापति और कबीर का स्पष्ट प्रभाव है। वीरगाथा-काल की वीर-प्रशस्तियो का प्रभाव सूर पर बिलकुल नही है। सूर अधिक छन्द-योजना की ओर नही गये क्योकि उनके भावना-पक्ष को इस ओर ध्यान खिंच जाने से ठेस लगती।

रस-प्रवाह—भारतीय शास्त्रकार रस को काव्य की आत्मा मानते है। जिस रचना मे रस नही वह नीरस है, साहित्य की दृष्टि से प्रयोजन विहीन है। सूर साहित्य पर जब रस की दृष्टि से नजर डालते है तो एक अथाह सागर लहराता हुआ दिखलाई देता है जिसमे मानो रस-ही-रस भरा हुआ है। यो सूरसागर मे

वात्सल्य रस और शृंगार रस के अतिरिक्त वीर, रौद्र, भयानक, करुण, हास्य, अद्‌भुत, शात सभी मिलते है परन्तु प्रधानता वात्सल्य और शृगार की ही है। वात्सल्य रस माता यशोदा के हृदय से प्रवाहित होता है और शृंगार राधिका रानी के जीवन से। दोनो ही एक दूसरे से आगे बढने का प्रयास करते है।

सूर ने मानव की भावनाओ को बहुत गहरी पकड के साथ परखा है और भावना जगत मे जो पैठ सूर कर पाया है वह हिन्दी का अन्य कोई कवि नही कर पाया। यही कारण है सूर ने जिस भाव को भी पकडा है उसका सही चित्र अपने पद मे खीच कर रख दिया है। यह चित्र इतना स्पष्ट है कि पाठक के सम्मुख वास्तविकता को लाने मे उसे तनिक भी कठिनाई नही होती। जहाँ तक वात्सल्य और शृंगार भावनाओ का सम्बन्ध है वहाँ तक सूर की तूलिका खूब चली है। सूरसागर मे अनेको ऐसे सूक्ष्म भावो का चित्रण मिलता है जहाँ तक साधारण कवि की पैठ होना असम्भव है। इसका आधार भाव ही है। जब कोई व्यक्ति किसी भाव मे तन्मय हो जाता है और वह भाव साधन रूप धारण कर लेता है तो व्यक्ति का हृदय उस शाव में रमण करता है। रस की यही से सृष्टि होती है। अनेको भावो से बहुत से रस प्रवाहित होते है। भरत मुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में शृगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स तथा अद्‌भुत आठ रस माने है, बाद मे नवाँ रस 'शात' समझा गया। परन्तु सूर इन नौरसो से भी आगे बढ गये। एक तो उनका शृगार ही दाम्पत्य प्रेम की कोटि मे नही आता। शात रस का साथी एक भक्ति रस है और उसका प्रयोग हमे सूर की कविता में मिलता है। चैतन्य की उपासना पद्धति भी इसी कोटि मे आती है और वल्लभाचार्य की भक्ति को भी हम इस क्षेत्र से बाहर नही रख सकते। इसी प्रकार वात्सल्य रस भी है।

वात्सल्य रस—रस की निष्पत्ति के लिए स्थायी भाव, अनुभाव, विभाव और सचारी भावो की आवश्यकता होती है। वात्सल्य में बाल प्रेम स्थायी भाव है। आलम्बन बालक है, तथा अन्य परिवार और गोपिकाएँ इत्यादि हैं, उद्दीपन मे कृष्ण की क्रीडाएँ, लीलाएँ, सौदर्य इत्यादि आते हैं तथा अनुभाव मे प्रसन्नता, हास्य, चूमना, गोद मे लेना इत्यादि आते हैं। सूर ने वात्सल्य रस के इन सभी अग और उपागो को अपने साहित्य मे खूब निभाया है।

वात्सल्य रस के उदाहरणो से सूरसागर भरा पडा है। बालक के हाव-भाव, तोतली बोली, आभूषणो की शोभा, माता-पिता तथा अन्य ग्रामवासियो द्वारा इस शोभा को देखना, इस प्रकार के बहुत से पद सूर ने लिखे है :

> **झुनक स्याम की पैजनियाँ।**
> **जसुमति सुत को चलन सिखावति, अँगुरी गहि गहि [illegible] जनियाँ।**
> **स्याम बरन पर पीत छँगुलिया, सीस [illegible] चौतनिया**
>
> **—'सूरसागर, दशम स्कन्ध, पृ० ।३०५**

बालक के हाव-भावों का चित्रण करने मे सूर को जो दक्षता मिली है वह हिन्दी साहित्य मे अपनी सानी नही रखती। ऊपर देखिए, कितने सुन्दर चित्र कवि ने खडे किये है। वात्सल्य रस का जैसा अनुभव मातृ-हृदय द्वारा होता है वैसा अन्य कोई व्यक्ति अनुभव नही कर सकता। मातृ-हृदय मे ही वात्सल्य का स्रोत पैदा होता है। इसलिए वात्सल्य रस के अनुभव के लिए मातृ हृदय की परख होना नितान्त आवश्यक है। माता के हृदय मे जो ममता व्याप्त रहती है वह अन्यत्र नही मिल सकती। बच्चे के तनिक भी कष्ट का अनुभव करके वह व्याकुल हो उठती है। जिस प्रकार शृंगार के सयोग और विप्रलम्भ पक्ष शास्त्रज्ञो ने वर्णित किए है उसी प्रकार सूर ने वात्सल्य रस को भी दो भागो मे विभाजित कर दिया है। जिस समय कृष्ण का ब्रज मे आगमन होता है तो सयोग वात्सल्य का सागर लहरें मारने लगता है और समस्त ब्रज भूमि मे आनन्द की लहरें उठने लगती हैं। सारा वातावरण कृष्ण की सुन्दर छवि से भर जाता है। परन्तु जब कृष्ण मथुरा चले जाते हैं तो इस वियोग से केवल राधा और गोपियो का शृगार पक्ष ही उद्वेलित नही होता वरन् यशोदा भी शोक रस मे डूब जाती है और सुख के हृदय का वात्सल्य रस देखिये कितने दीन भाव से प्रवाहित होता है।

यशोदा उद्धव से कहती हैं :

सदेसों देवकी से कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की कृपा करत ही रहियो॥

—'भ्रमर गीत सार'—रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १४६

शृंगार रस—सूर साहित्य मे वात्सल्य के बाद शृगार की ही सृष्टि कवि ने प्रेम भावना मे बहकर की है। पुष्टि मार्ग की भक्ति का यह दूतरूप है जिसके स्पष्टीकरण मे सूर ने विशेष दक्षता दिखलाई है। शृगार के दोनो पक्षो सयोग और विप्रलम्भ का चित्रण करने के पश्चात् भी कही दाम्पत्य प्रेम मे वासना का उदय नही होता। यही सूर की अनोखी सृष्टि है। कृष्ण और राधा को लेकर विद्यापति ने जिस साहित्य की रचना की है उसमे वासना को प्रधानता मिलती है और उसी प्रकार रीतिकालीन कवियो ने भी राधा और कृष्ण के साहित्य का जो निर्माण किया है वह वासना से मुक्त नही माना जा सकता परन्तु सूर-साहित्य मे वासना की कल्पन भी सामने आकर खडी नही होती। सूर ने शृगार का उदय ही बाल्यावस्था के उस रूप मे किया है जहाँ यौवन पूर्ण रूप से विकसित नही है, विकास सामने है और यौवन कलिका खुलना चाहती है। फिर भी उसमे जो प्रवाह है वह पूर्ण दाम्पत्य मे मिलना कठिन है।

कृष्ण जब तक गोकुल मे रहते हैं तब तक उनकी गोपियो के साथ की गई लीलाओ मे शृगार का आशा और कल्पनातीत रूप स्थिर होता है। यमुना तट पर विहार तथा रास लीलाओ मे जो रस प्रवाहित हुआ है वह अनोखा ही है।

कवि ने सयोग शृगार मे आतरिक तथा बाह्य-पक्ष दोनों को समान रूप से निभाया है। राधा और कृष्ण के बीच जिस प्रकार स्वाभाविक तरीके से सूर ने प्रेम का विकास किया है उसमे मनोविज्ञान की कसौटी पर कसने से और निखार तथा चमक ही आती है। यहाँ यदि हम महाकवि जायसी के प्रेम विकास पर सरसरी दृष्टि डाले तो दीखता है कि उनकी रत्नसेन तथा पद्मावती की प्रेम कल्पना मनोविज्ञान की कसौटी पर खरी नही उतरती। गोपियाँ कृष्ण प्रेम मे पूरी तरह रग जाती है·

श्याम रंग राची ब्रजनारी। और रंग सब दीनी डारी।

कृष्ण प्रेम मे प्रवाहित होकर राधा की दशा देखिए .

जब ते प्रीति श्याम सों कीन्हीं।
ता दिन तें मेरे इन नैनन्नु नींद न लीन्हीं।
सदा रहै मन चाक चढ़यौ सो और न कछू सुहाई।
करत उपाय बहुत मिलिबे को इहै विचारत जाई॥

—सूर सौरभ, पृ० ४६४

मयोग शृंगार के सूर ने नग्न चित्र भी चित्रित किये है। ऐसा ही एक अनुपम चित्र निम्नाकित है :

हरिषि पिय प्रेमतिय अक लीन्ही।
पियै बिन बसन करि उलटि धरि भुजनि भरि,
सुरति रति पुर प्रति निबल कीन्हीं॥

—सूर सौरभ; पृ० ३९८

विप्रलम्भ शृंगार—सूर ने जितनी निपुणता एव रसिकता और साहित्यिकता के साथ सयोग शृंगार को अपने साहित्य में निभाया है उससे कम किसी प्रकार उनका विप्रलम्भ शृगार भी नही है। भावनाओ का जैसा उद्रेक संभोग मे मिलता है उतना ही विप्रलम्भ में है। आतरिक और बहिर दशाओं का चित्रण करने मे कवि वियोग-पक्ष मे पूर्ण सफल रहे हैं। कृष्ण के मथुरा चले जाने पर नागमती के विरह के समान ही राधा, गोपियो और यशोदा की दशा होती है। इनके साथ ही-साथ ब्रज की गाये और बेलबल्लरियाँ भी कृष्ण-वियोग को उसी प्रकार महसूस करती हैं जिस प्रकार मानव करते हैं। यमुना विरह-ज्वर से काली हो जाती है। शृगार मे संयोग की अपेक्षा विप्रलम्भ का स्थान उच्चतर है। वियोग ही वास्तव मे खरे-खोटे प्रेम की कसौटी है। कृष्ण की उपस्थिति में उसे राधा और गोपियों द्वारा प्रेम किया जाना एक साधारण बात है। बात तो वास्तव में तब है जबकि उसके चले जाने के पश्चात् भी उनका प्रेम उसी धरातल पर खडा रहे। सूर ने विप्रलम्भ का अद्वितीय वर्णन किया है। जायसी के विरह-वर्णन की समा-

नता यदि हमे हिन्दी साहित्य मे अन्यत्र कही मिलती है तो वह सूर मे ही है। तीव्र तडपा देने वाली भावनाएँ कवि ने उपस्थित की है और उनके चित्रण मे तो मानो कवि ने जादू कर दिया है।

गोपिया कृष्ण को जाते देखकर मानो पत्थर की पुतलियाँ बनकर स्थिर हो गईं :

रही जहाँ सो तहाँ सब ठाड़ी।
हरि के चलत देखियत रोसी, मनहुँ चित्र लिखि काढ़ी।।
सूखे वदन, स्रवन नैनन ते जलधारा उर बाढ़ी।।
कधनि बाँह धरे चितवति द्रुम मनहुँ बेलि दव-डाढ़ी।।

कृष्ण जिन दिनो ब्रज मे थे उन दिनो उनके साथ जो वस्तु सुखदायक थी वही आज उनकी अनुपस्थिति मे दुखदायिनी बन गई है। उन्हे देखकर गोपियो के उर मे ज्वाला जलने लगती है :

बिनु गोपाल वैरिन भई कुंजै।
तब ये लता लगति अति शीतल अब भईं विषम अनल की पुंजै।।
वृथा बहति यमुना तट कगरी, वृथा कमल फूलें अति गुंजै।।
पवन पानि घनसार सुमन दै दधिसुत करन भानु भईं भुंजै।।

विप्रलम्भ शृंगार की आचार्यो ने अभिलाषा, चिन्ता, स्मरण, गुण-कथन, प्रलाप, उद्वेक, व्याधि, उन्माद, भू-जडता, मूर्छना और मरणदशाओ का उल्लेख किया है। सूर ने गोपियो का इन सभी परिस्थितियो मे चित्रण किया है। भ्रमर-गीत के अतर्गत विप्रलम्भ शृंगार का कवि ने बहुत ही मनोहर वर्णन किया है। वाग्वदग्धता के कारण सूर-साहित्य का यह भाग और भी आकर्षक बन पड़ा है।

अन्य रस—वात्सल्य और शृंगार के अतिरिक्त अन्य रसो के भी उदाहरण हमें सूर-साहित्य मे मिलते है। परन्तु प्राधान्य उक्त दो रसो का ही है। अन्य रसो के भी उदाहरण देखिए :

वीर-रस—**देखि नृप तमकि हरि चमकि तहाँई गये,**
दमकि लीन्हो गिरह बाज जैसे।
धमकि मार्‌यौ घाउ घुमिक हृदय रह्यो,
झमकि गहि केश लै चले ऐसे।।
ठेलि हलधर दियो, झेलि तब हरि लियो,
महल के तले धरणी गिरायौ।
अमर जय—**ध्वनि भई, धाक त्रिभुवन गई,**
कस मारयो निदरि देवरायौ।।

रौद्र-रस—प्रथमहिं देउँ गिरिहि बहाइ।
वज्र घातनि करो चूरन देउँ धारणि मिलाइ ।।
मेरी इन महिमा न जानी प्रगट देउँ दिखाइ।
जल बरसि ब्रज धोइ डारों लोग देऊँ दिखाई ।।
खात खेलत रहे नीके करि उपाधि बनाइ।
बरस दिवस मोहिं देत पूजा दई सोई मिटाई ।।
रिस सहित सुर राज लीन्हे प्रबल मेघई बुला ।।
सूर सुरपति कहत पुनि-पुनि परो ब्रज पर धाइ ।।

इसी प्रकार भयानक, करुण, हास्य तथा शान्त रस के अच्छे उदाहरण मिलते है। सूर ने अपने साहित्य मे सभी रसो में रचना करने का प्रयास नही किया परन्तु फिर भी परिस्थितियाँ इतनी अधिक है कि कही-न-कही रसो के उदाहरण मिल जाते है।

□

६ | सूर का भक्ति-निरूपण

धर्म की साधारण स्थिति—महाकवि सूर के काव्य-काल से पूर्व भारत मे आन्तरिक साधना तथा विचारधारा का विकास और बाह्याडम्बरो की दिशा से विरक्ति होती जा रही थी। बौद्धधर्म के प्रसार ने जातिगत बन्धन ढीले कर दिए थे। और वर्ण-मर्यादा तथा शास्त्रीय विधि-विधानो का मानना कुछ कम होता जा रहा था। भागवत-धर्म भी इनकी मान्यता के प्रति ढिलाई बरतने लगा था। और इस प्रकार बाह्याचार का स्थान धीरे-धीरे आतरिक साधना लेती जा रही थी। इस विचारधारा का प्रभाव जायसी के सूफी सिद्धातो पर भी पडा और उन्होने गोरख का उल्लेख कई स्थानो पर अपने ग्रन्थ मे किया है। इस काल मे आकर भागवत् की भक्ति और प्रेम के साथ योग की साधना भी समाविष्ट हो चुकी थी। इस काल मे जितने भी पथ प्रचलित हुए सभी ने सभी को मान्यता दी है, एक-दूसरे की निन्दा करके आगे नही बढे। किसी ने योगमार्ग की कुण्डलिनी, अमृतस्राव, अनहद नादद, शून्य गगन आदि की सराहना की है, तो दूसरो ने प्रेम, भक्ति, जप, तप, ध्यान और अपना सर्वस्व न्यौछावर करने पर बल दिया है। कबीर, तुलसी, जायसी सभी मे इसकी झाँकी मिल जाती है। वर्ण-भेद और ऊँच-नीच की विषमता का प्राय. इस काल के सभी धर्माचार्यों ने खण्डन किया है। इस काल मे जिस भक्ति का विकास हुआ वह परम पुरुषार्थ से प्राप्य है। इसलिए उसके मार्ग मे कुलीनता[1] कही आती ही नही। इस काल के भक्त-शिरोमणि महापुरुषो ने भगवद्भक्ति के बिना शास्त्र-ज्ञान; पाण्डित्य इत्यादि को भी व्यर्थ माना है। यह भक्ति वेद-शास्त्रो की मर्यादा से मुक्त थी और क्योकि इसमे जटिलता कम थी। इसीलिए यह लोक-हृदय पर अधिकार जमाती

---

१. जापर दीनाानथ ढरै।
सोई कुलीन, बडो सुन्दर, सोई जिंहि कृपा करै।
कौन विभीषन रक-निसाचर, हरि हँस छत्र धरै॥
—'सूरसागर', पृ० १२; पद ३५

चली जा रही थी। भक्ति मे साधना की मान्यता होने पर भी निर्गुण पथियो से भक्ति मार्गियो का प्राथक्य था। प्रथम तो सभी भक्ति-मार्गी, वेद-शास्त्रो के विरोधी नही थे और दूसरे इन्होने भगवान् के सगुण रूप को मान्यता प्रदान की। तप, व्रत, तीर्थ इत्यादि का खण्डन भक्ति मार्गी भी निर्गुण-पथियो के ही समान करते थे।

प्रेमा-भक्ति—महाकवि सूरदास ने प्रेमा-भक्ति का जो निरूपण किया है उसके अन्तर्गत प्रेम के प्रायः सभी रूप समाविष्ट है— वात्सल्य, सख्य, माधुर्य और दास्य। सूर भगवान् को प्रेममय मानते है और अपने इसी प्रेम के फल-स्वरूप वह जन्म लेकर ससार मे अपने भक्तो के बीच लीला करते है।

प्रीति वश देवकी गर्भ लीन्हो बास, प्रीति के हेतु ब्रज भेष कीन्हो।
प्रीति के हेतु कियो यशुमति-पय-पान, प्रीति के हेतु अवतार लीन्हो॥
प्रीति के हेतु बन धेनु चरावत कान्ह, प्रीति के हेतु नन्द सुवन नामा।
'सूर' प्रभु की प्रीति के हेतु पाइये, प्रीत के हेतु दोउ श्याम-श्यामा॥

महाकवि सूर प्रेम की परिभाषा देते हुए लिखत है

प्रेम-प्रेम ते होइ पेम ते पारहि पइये।
प्रेम बध्यौ ससार प्रेम परमारथ लहिये॥
एकै निश्चय प्रेम को जीवन-मुक्ति रसाल।
साँचौं निश्चय प्रेम को जेहिरे मिले गोपाल॥

भक्ति को आपने चार प्रकार की माना है .

माता, भक्ति चारि परकार। सत, रज, रम गुन सुद्धा सार।
भक्ति एक पुनि बहुबिधि होइ। ज्यौ जल रँग-मिलि रँग सु होइ॥

—'सूरसागर'; पृ० १३५

महाकवि सूर ने भक्ति की महिमा का मुक्त कण्ठ से बखान किया है :

भक्त सकामी हू जो होई। क्रम-क्रम करिकै उधरै सोई।
सनै-सनै बिधि-लोकहि जाइ। ब्रह्म संग हरि पदहि समाइ।
निष्कामी बैकुण्ठ सिधावै। जनम-जनम तिहि बहुरि न आवै॥
त्रिबिध भक्ति कहौ सुनि अब सोइ। जातै हरि-पद प्रापति होइ॥

—सूरसागर; पृ० १३७; पद ३९४

प्रेम भक्ति का मूल स्रोत है। प्रेम से समस्त ससार बधा हुआ है। प्रेम और भक्ति से ही परमार्थ और मोक्ष की प्राप्ति होती है। प्रेम जीवन मे रस की धार प्रवाहित करता है और इसी रस-धार मे डूबकर भक्त भगवान् मे लीन होता है। प्रेम भगवद्-प्राप्ति का सबसे सुलभ साधन है। प्रेम प्रेम से उत्पन्न होता है परन्तु उसका अनुभव विरह मे अधिक निखार लाता है। सूर कहते हैं :

ऊधौ विरही प्रेम करै।

वास्तव मे विरह-व्यथा का अनुभव करने पर ही हृदय मे वास्तविक प्रेम

की उद्भूति होती है। सभी सत महात्मा अपने हृदय मे भगवान् के वियोग को अनुभव करते है। और स्त्री तथा पुरुष के वियोग का रूपक बाँधकर उसका वर्णन करते है। इस प्रेम के क्षेत्र मे कोई वर्ण, जाति या धन व्यवस्था नही आती।

निर्गुण भक्ति – निर्गुण भक्ति के प्रवंतक महाकवि कबीर ने ब्रह्म की खोज अपने अन्तर मे ही करने की प्रेरणा दी है और बहिर्जगत् मे परमात्मा को खोजते फिरने वालो को मूर्ख कहा है। महाकवि तुलसी ने कबीर की इस धारणा के विरुद्ध लिखा है

अन्तर्जामिहुते ते बड़ बाहिर—
जामि है राम जे नाम लिये तें।
पैज परे प्रहलाद हुँ को प्रकटे,
प्रभु पाहन तै न हिये तें॥

परन्तु महाकवि सूर ने अन्तर्यामी भगवान् की बात मे मान्यता प्रकट की है। यो साधारणतया तो वह सगुण भक्ति के उपासक है परन्तु हृदय मे बास करने वाले भगवान् की ओर भी इनकी कविता मे सकेत मिलता है :

नैननि निरखि स्याम स्वरूप।
रह्यौ घट-घट व्यापि सोई, जोति रूप अनूप॥

—सूरसागर, पृ० १२३; पद ३७०

सूर ने उक्त पदो मे अन्तर्मुखी वृत्ति का ही मण्डन किया है और बहिर्मुखी वृत्ति को माया का प्रपच-मात्र माना है निर्गुण भक्ति की मान्यता भी ठीक इसी प्रकार की है। महाकवि सूर ने भी बहिर्जगत् की मृगतृष्णा और सेवर के फूल से उपमा दी है। वही उपमा सूर के उक्त पद मे आगे चलकर मिलती है.

ज्यो कुरग जल देखि अवनि को, प्यास न गई चहूँ दिश धायौ।

+ + +

ज्यो शुक सेमर सेव आश लगि, निशि बासर हठि चित्त लगायौ।

कबीर की ही भाँति सूर ने भी माया का निरूपण किया है परन्तु यह अधिकाश मे हमे सूर के विनय पदो मे ही मिलता है और सम्भवत. इनकी रचना भी कवि ने वल्लभाचार्य से दीक्षित होने से पूर्व ही की होगी। सूर की माया का चित्रण देखिए.

हरि तुव माया को न बिगोयौ ?

+ +

सूरदास कंचन अरु कॉचहिं, एकहि धगा पिरोयौ॥

—सूरसागर; पृ० १५

माया के उक्त पदो को देखने से पता चलता है कि सूर के प्रारम्भिक जीवन की भक्ति-भावना पर आचार्यत्व और वल्लभाचार्य की मधुर साधना का प्रभाव

नही था। साधु-सतो की ससार के प्रति मायामय कल्पना तक ही वे अपनी विचाराधारा को ले जा सके थे। विश्व के जीवन की सार्थकता और उसमे आनन्द की कल्पना करने वाली सगुण भक्ति की धारणा उनके मस्तिष्क मे प्रवेश नही कर सकी थी। कवि के हृदय का वह प्रेमाकुर जिसने वात्सल्य, सख्य और मधुर प्रेम की सृष्टि की वह इस प्रारम्भिक स्थिति मे पैदा नही हो पाया था। पुष्टि मार्ग मे अवतीर्ण होने के पश्चात् कवि ने भक्ति का जो चित्रण किया उसमे अतर्मुखी वृत्ति की सीमा तोडकर कवि की भक्ति-भावना विश्व के कण-कण और तृण-तृण मे व्याप्त हो उठी।

नाम स्मरण और हरि पूजा—सूर जब एक समय साधू बनकर घर से निकल गये तो उन पर निर्गुण पथी साधुओं का जहाँ एक ओर प्रभाव था वहाँ राम और हरिनाम मे उनकी अगाध श्रद्धा भी थी और राम-नाम के महत्त्व का आपने अपनी प्रारम्भिक कविताओ मे मुक्त-कठ से गुणगान किया है। प्रारम्भिक स्कन्धो मे पदो को छोडकर चौपाइयो का प्रारम्भ जहाँ भी होता है वहाँ "हरि हरि, सुमिरन करो" पद से ही होता है। सूरसागर मे पृ० ७३ पद २२४, पृ० ७४ पद २२६, पृ० ७७ पद २३६, पृ० ७६ पद २४५, पृ० ८३ पद २६०, पृ० ८४ पद २६१ मे इस पद की आवृत्ति मिलती है। भगवान् के नाम का स्मरण और हरि-पूजा मे जब सूर का ध्यान रहा तो इसी प्रकार की विनय-भावना पूर्ण कविता की रचना हुई। सूरसागर के द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पचम, षष्ठ, सप्तम, अष्टम और द्वादश स्कन्धो का प्रारम्भ 'हरि' नाम से होता है।

भगवान् का नाम लेने से ही भक्त के मन की मलिनता दूर होती है और उसका हृदय भगवान् मे विलीन होने लगता है। राम-नाम की भक्ति का गोस्वामी तुलसीदास ने भी बखान किया है। सूरदास नाम-महिमा का बखान करते हुए लिखते है

को को न तर्यौ हरि नाम लिएँ।
सुवा पढावत गनिका तारी, ब्याध तर्यौ सर-घात किएँ॥
अंतर-दाह जु मिट्यौ ब्यास कौ इक चित ह्वै भागवत किएँ।

—सूरसागर, पृ० २६, पद ८६

सूरदास जी अपने समय के प्रसिद्ध वैष्णव कीर्तनिये थे और इनकी प्रसिद्धि भी इनके समय मे कम नही हुई थी। कृष्ण-कीर्तन ही उनके लिए जप-तप, ध्यान-ज्ञान सब कुछ था। सूरदास ने यो सूरसागर में भगवान् की परम्परा का निर्वाह करते हुए अन्य मान्य देवी-देवताओ पर भी रचना की है परन्तु इनका मन तो कृष्ण को छोडकर अन्य किसी पर अटकने वाला नही था :

मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै ?
जैसे उड़ि जहाज को पंछी फिरि जहाज पै आवै॥

वैष्णव सम्प्रदाय की मान्यताओं को मानकर सूर की अन्तर्मुखी वृत्ति बहिर्मुखी हो जाती है और वह यहाँ तक उसमे लवलीन होता है कि तीनो लोक उसके लिए त्याज्य हो जाते है। वह भगवान् के लीला-स्थान को छोडकर अन्य नही जाना चाहता।

भक्ति के प्रवाह मे बहकर ही भक्त को परम पद की झाँकी प्राप्त होती है। भक्त कवि जब भक्ति की इस स्थिति मे पहुँचते है तो राम और कृष्ण का भेद समाप्त हो जाता है और एक के स्थान पर दूसरा नाम प्रयुक्त कर डालते है। सूर ने कृष्ण के अलावा गोपियो से शिव, सूर्य, और गौरी की भी उपासना कराई है। गोस्वामी तुलसीदास ने भी इसी प्रकार राम के अतिरिक्त अन्य देवताओ मे मान्यता प्रदर्शित की है। सूरदास जी एक भक्त होने के नाते सकुचित वृत्ति वाले साम्प्रदायिक विचारक नही थे। राम मे कृष्ण और कृष्ण मे राम की भावना को सन्निहित करने का इससे सुन्दर उदाहरण भला अन्यत्र कहाँ उपलब्ध होगा ? जब यशोदा द्वारा पालने पर झूलते हुए माता से राम-कथा के मध्य सीता-हरण का प्रसग आने पर कृष्ण की निद्रा टूट जाती है और वह चौक कर लक्ष्मण से अपना धनुष बाण माँगने लगते है :

रावण हरण कर्यौ सीता को सुनि करुणामय नीद विसारी।
सूर श्याम कर उठे चाप कों, लछिमन देहु, जननि भ्रम भारी॥

उत्प्रेक्षा अलकार द्वारा कृष्ण का महेश के रूप मे चित्रण देखिए

बरनों बाल-वेष मुरारि।
थकित जित-तित अमर मुनि-गण नन्दलाल निहारि॥
केश शिर बिनु पवन के चहुँ दिशा छित के झारि।
शीश पर धरे जटा मानो रूप कियो त्रिपुरारि।

सूर की भक्ति मे सकाम और निष्काम भक्ति के भी उदाहरण मिलते है। सकाम भक्ति द्वारा भक्त धीरे-धीरे भगवान् मे लीन होकर विष्णु पद प्राप्त करता है और निष्काम भक्ति मे वह सीधा ही बैकुण्ठ पहुँचता है।

सूर ने भागवत के अनुसार कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग की व्याख्या दी है। सूर ने तीनो ही मार्गों से भगवान् की प्राप्ति सम्भव कही है परन्तु सुलभ भक्ति मार्ग द्वारा ही मानी है। भगवद्भक्ति के मार्ग मे साधना पर भी सूर ने बल दिया है।

विनय-भक्ति—जैसा हम ऊपर भी स्पष्ट कर चुके है, वल्लभाचार्य से दीक्षित होने से पूर्व सूरदास जी ने विनय-पदो की रचना की। इन पदो मे गोस्वामी तुलसीदास की दास्य-भक्ति के उदाहरण मिलते है। इनमे दासता, दीनता, पश्चात्ताप इत्यादि भावो का स्पष्टीकरण मिलता है। प्रथम स्कन्ध के अन्दर विनय-भक्ति के सभी प्रधान लक्षण उपलब्ध हैं। भयदर्शन, पश्चात्ताप, व्याकुलता, दैन्य, भर्त्सना, अपने बुरे कृत्यो तथा पापो की याद, अनन्य श्रद्धा, समर्पण की

भावना को लेकर बहुत से पदो मे भाव व्यक्त किये है। कही-कही तो एक ही पद मे कई-कई लक्षण मिलते है·

दीनता और आत्मसमर्पण

मेरौ मन मति हीन गुसाईं।
सब सुख-निधि पद कमल छाँडि, स्रम करत स्वान की नाईं॥

—सूरसागर, पृ० ३३, पद १०३

पतित की लाज बचाने की प्रार्थना

कीजै प्रभु अपने विरद की लाज।
महा पतित, कबहुँ नहि आयौ, नैकु तिहारे काज॥

—सूरसागर, पृ० ३५, पद १०८

भगवान की उदारता :

प्रभु को देखो एक स्वभाव।
अति गम्भीर उदार उदधि सरि, जान शिरोमणि राइ॥
तिनका सो अपने जन को गुण मानत मेरु समान।
सकुचि समुद्र गनौ अपराधहि बूँद तुल्य भगवान॥

भर्त्सना .

इहि विधि कहा घटैगो तेरौ।
नंदनंदन करि कर को ठाकुर आपुन ह्वै रहु चेरो॥
विरथा जनम लियो ससार।
करी न कबहूँ भक्ति हरि की मारी जननी मार॥

दैन्य

प्रभु हौं बड़ी बेर को ठाढ़ो।
और पतित तुम जैसे तारे तिनही में लिखि काढ़ो॥

—सूर सौरभ, पृ० २५०

भक्त और भक्ति का महत्त्व—सूर-साहित्य का अध्ययन करते समय हमने सूर की कविता के रस-परिपाक पर विचार किया। परन्तु सूर की कविता वास्तव मे रस-परिपाक के लिए न होकर भक्ति-परिपाक के लिए हुई। सूर का ध्येय काव्य-रस न होकर अध्यात्म-रस की साधना ही था। अध्यात्म-रस ही भक्ति है। शास्त्रों मे भक्ति के अनेको भेद किये गये है। "भक्ति भगवान के प्रति आसक्ति का नाम है। विशुद्ध रूप मे भक्ति धर्म-भावना का भावनात्मक या रसात्मक विकास है। यह विकास उपास्य ईश्वर के स्वरूप की प्रतिष्ठा के उपरान्त होता है।" (रामचन्द्र शुक्ल) भक्ति-भगवान् के सगुण और निर्गुण दोनो स्वरूपो के प्रति हो सकती है। मूलत. निर्गुण वस्तु भी भक्त की भावना और कल्पना का सहारा पाकर सगुण बन जाती है। यही अद्वैत-भक्ति भी है। सूरदास ने भक्ति की इसी अद्वैत भावना का इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है .

अविगत गति कुछ कहत न आवै ।
ज्यौं गूंगे मीठे फल कौ रस अन्तरगत ही भावै ।।

यहाँ कवि ने 'अगम अगोचर', 'निर्गुण-ब्रह्म' और 'सगुण-लीलाधर' में तादात्म्य स्थापित किया है। सगुण की उपासना सरल है इसीलिए भक्त लोगो ने सुगम मार्ग को अपनाया है। परन्तु जब प्रेम की स्थिति विरहाकुल होने पर अपने को अपने इष्टदेव भूल जाने वाली बन जाती है तब तो वहाँ स्पष्ट रूप से रहस्यवादी विचारधारा प्रवाहित होने लगती है। जब साधक सगुण के लिए विरहाकुल होकर अपनत्व को भुला बैठता है तो उसकी स्थिति उन गोपियो-जैसी होती है जिन्हे कृष्ण छोडकर मथुरा चले जाते है। यह स्थिति निर्गुण-साधक से किसी भी प्रकार भिन्न नही है। राधा-कृष्ण की प्रेम-लीला मे जो रहस्य छुपा है वही 'कबीर के राम और उसकी बहुरिया' के अन्दर विद्यमान है। केवल बाहरी रूप का अन्तर है, सो वह केवल मान्यता की बात है, विचार और भावना की नही। सौदर्य, प्रेम, मिलन और विरह सभी का चित्रण सूर ने किया है। ठीक वैसा ही हमें कबीर और जायसी में भी मिलता है और इन तीनो में ही अलौकिकता प्रदर्शित की गई है। सगुण-साधना होने पर भी स्पष्ट रूप से ये चित्रण लौकिक नही कहे जा सकते। इसी अलौकिकता के कारण इन चित्रणो मे रहस्य की सृष्टि होती है। वल्लभाचार्य ने लीला को मोक्ष माना है। यह सच है कि लीला-स्थल ससार ही है परन्तु लीला-समय मे उस स्थल का ससार से कोई सम्बन्ध नही रहता। इसी कल्पना के आधार पर पुष्टिमार्ग के भक्तो ने ब्रज को ससार से पृथक् माना है। वे ब्रज को गोलोक कहते है।

आसक्ति के प्रकार-भेदो की दृष्टि से कृष्ण-लीला को ग्यारह भेदो मे विभाजित किया जा सकता है :

१. गुण-माहात्म्यासक्ति	भ्रमर-लीला
२. रूपासक्ति	दान-लीला
३. पूजासक्ति	गोवर्धन-धारण
४. स्मरणासक्ति	विनयपद, मुरली-स्तुति
५. दास्यासक्ति	मुरली-स्तुति, विनय-पद
६. सख्यासक्ति	गोचारण
७ कान्तासक्ति	गोपिका-विरह
८. वात्सल्यासक्ति	यशोदा-विलाप
९. आत्मनिवेदनासक्ति	भ्रमर-गीत
१०. तन्मयासक्ति	,,
११. परम विरहासक्ति	,,

सूरदास ने कृष्ण-भक्ति में नवधा-भक्ति के सभी अगो की पुष्टि की है। श्रवण, कीर्तन, वन्दन, चरण-सेवा, अर्चन, स्मरण, दास्य, सख्य, आत्म-निवेदन

सभी का समावेश साहित्य में हुआ है। यो समावेश सभी का है परन्तु विशेष रूप से कवि ने बाल-लीला, यशोदा-विलाप, गोचारण, गोवर्धन-धारण, मान-लीला, गोपिका-विरह, भ्रमर-गीत इत्यादि को ही लिया है और इनके अतर्गत वात्सल्य-भक्ति, सख्य-भक्ति तथा मधुर-भक्ति को प्रधानता मिलती है।

सूरदास जी एक उच्च कोटि के सन्त होने के नाते भगवद्-भक्ति के सभी कामों को साधिका स्वरूप ग्रहण करते थे। भक्ति के साथ ही उनके मत से जप, तप, वेद-पाठ लाभप्रद होते है अन्यथा नही। भक्ति के बिना ये सब निरर्थक हैं। वह "ज्ञान के बिना मुक्ति नही" सिद्धान्त को न मानकर "भक्ति बिना मुक्ति नही" सिद्धान्त को मानते थे। वह कहते हैं ·

सूरदास भगवन्त भजन बिन कर्म रेख न कही।

सूर ने भक्ति को सर्वोपरि स्थान दिया है। उनके लिए तो भक्ति ही "यहै जप, यहै तप, यम, नियम, व्रत यहै, यहै मम प्रेम फल यहै पाऊँ।" सब कुछ थी। उनका विश्वास था कि मनुष्य को आवागमन के चक्र से केवल भक्ति ही मुक्त कर सकती है। बिना भक्ति के मनुष्य तेली के बैल की तरह चक्कर लगाता रहता है :

भक्ति बिन बैल बिराने ह्वै हो।
पाँउ चारि शिर श्रृंग, गुंग मुख, तब कैसे गुण गैहो॥

आनन्द-कन्द भगवान् के अखड-कीर्तन का वर्णन भी महाकवि सूर ने बहुत ही व्यापक ढग से किया है। यह विशाल ब्रह्माण्ड, सारा संसार अपने प्रभु का गुण कीर्तन कर रहा है। यह अद्भुत् आरती है जिसकी रचना भी विचित्र है। भक्त कवि ने अपनी कल्पना का पूरा विकास किया है :

हरि जू की आरती बनी।
अति विचित्र रचना रचि राखी परति नगिरा गनी॥
कच्छप अध आसन अनूप अति डाँड़ी शेष फनी।
मही सराव, सप्त सागर घृत, बाती शैल घनी॥
रवि-शशि-ज्योति जगत परिपूरण, हरत तिमिर रजनि।
उड़त फूल उड्डगन नभ अन्तर, अंजन घटा घनी॥
गणादि सनकादि प्रजापति सुर नर असुर अनी।
जाके उदति नचत नाना विधि गति अपनी-अपनी॥
काल कर्म गुण अरुण अन्त कछु प्रभु इच्छा रचनी।
यह प्रताप दीपक सु निरन्तर लोक सकल भजनी॥
सूरदास सब प्रकृति भानुमय अति विचित्र सजनी।

यह भगवान् की विराट आरती है। लोक-लोकान्तरवासी इसी भगवान् का भजन और उपासना कर रहे हैं। कवि की कल्पना का जो अलौकिक स्वरूप सूर की कविता मे मिलता है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

पुष्टिमार्गीय भक्ति : यहाँ यह कहने की आवश्यकता नही कि पुष्टिमार्गीय भक्ति मे भगवान् के सगुण रूप की स्थापना की गई है। सगुण ब्रह्म मे भगवान् कृष्ण उनके इष्ट देव के और उनकी उपासना के नित्याचार मे मगलाचरण, भगवान्-का शृगार, रजयोग, सध्या, आरती और नैमित्तिका चार मे हिडोला, बसन्त, फाग इत्यादि की प्रधानता रही है। सूर-साहित्य मे हमे इन सभी पर सुन्दर पदो की सृष्टि मिलती है। गोवर्धन-स्थित श्रीनाथ जी के मन्दिर मे यह कीर्तनिये का कार्य करते थे, यह हम पीछे स्पष्ट कर चुके है। सूरदासजी यहाँ स्वरचित पदो द्वारा नित्याचार और नैमिवितकाचार निभाते थे।

महाकवि सूर ने भक्त के लिए गुरु-सेवा, मथुरा या ब्रज मे रहना, कृष्ण की उपासना करना, कीर्तन करना, प्रभु-गुण-गान करना, श्रीमद्भागवत् का पठन-पाठन और श्रवण करना, भक्तो की सेवा करना, हरि नाम गाना इत्यादि बतलाया है।

> **बादहिं जनम गौ सिराइ।**
> **हरि-सुमिरन नहिं गुरु की सेवा मधुवन बस्यो न जाइ।**
> **अबकी बेर मनुष्य देह धरि भजो न आन उपाइ।**
> **मटकत फिरयो श्याम की नाईं नेक जूँठ के चाई।।**
> **कबहुँ न रिझये लाल गिरिधरन, विमल विमल यश गाइ।**

—सूरसागर; प्रथम स्कन्ध

आचार्य वल्लभाचार्य ने पुष्टि मार्ग की स्थापना 'पोषण' शब्द से की थी। पोषण भक्तो पर भगवान् की कृपा का नाम है। पुष्टि मार्ग मे सबसे अधिक बल भगवान् की कृपा पर ही दिया गया है। भगवान् के 'पोषण' अनुग्रह के बिना जीव की मुक्ति असम्भव है, उसका कल्याण नही हो सकता। प्रभु की कृपा के बिना जीव का निस्तार नही। बिना कृपा के कुलीन नीच है और कृपा प्राप्त करने पर नीच भी कुलीन हो जाता है। प्रभु जिस पर प्रसन्न हो गए बस समझ लो उसी का भवसागर से निस्तार हो गया।

> **सूर पतित तरि जाय तनक में जौ प्रभु नेक ढरैं।**
> **तीन लोक विभव दियौ तदुल के खाता।**
> **सर्वस प्रभु रीझि देत तुलसी के पाता।।**

भगवत्कृपा-प्राप्ति के लिए भोग, ज्ञान, कर्म और उपासना तक से काम नही चलता। उसके लिए तो विशुद्ध भक्ति का ही होना आवश्यक है।

> **कर्म योग पुनि ज्ञान उपासन सब ही भ्रम भरमायो।**
> **श्री वल्लभ गुरु तत्त्व सुनायो लीला भेद बतायो।।**

—सारावली

पुष्टिमार्ग में जन्माष्टमी, अन्नकूट, होरी, हिंडोला आदि वर्ष दिन के त्यौहारो पर की गई लीलाओ मे भाग लेना भक्ति-फल दायक है। इन लीलाओ मे भाग लेना ही जीवन का चरम फल है। इस लीला का पूरा कार्यक्रम इस प्रकार है :

'प्रात काल उठते ही कृष्ण को जगाना, मुंह धुलाना, कलेऊ कराना, श्रृंगार कराना आदि गहनो और उपासको का कार्य समझा जाता था। इसके बाद मदिर के कपाट बन्द हो जाते थे, क्योकि वह समय कृष्ण के गोचारण का था। मन्दिर बन्द है, पर भक्त अपने कन्हैया के साथ गोचारण मे योग दे रहे है। दधि, माखन और गोदोहन के प्रसंग चलते है। यमुना-तट पर क्रीडा होती है। दोपहर के समय भगवान् को भोग लगाया जा रहा है। कृष्ण-भक्त एक-एक क्रिया मे अपने भगवान् के साथ तन्मय होकर लगे हुए है। सन्ध्या हुई। कृष्ण घर लौटे। मन्दिर के कपाट खुले, आरती होने लगी। कृष्ण थक गए है। उनके शयन का प्रबन्ध हो रहा है। भगवान् सुला दिए गए। भक्त भी सो गए। यह थी श्रीनाथ मन्दिर की प्रतिदिन की चर्या। इस नित्य-क्रिया के साथ नैमित्तिक उपचार भी चलते थे। मन्दिर में वसन्तोत्सव मनाया जाता था, फाग खेला जाता था। वृन्दावन, गोकुल और मथुरा के मन्दिरों में श्रावण मास के हिंडोले और झूलने की झाँकियाँ तो अतीव प्रख्यात हैं। आश्विन के दिनो मे रास-लीला मनाई जाती थी। इस प्रकार कृष्ण-भक्तों का जीवन रग-रहस्य और विनोद-प्रमोद मे व्यतीत हो जाता था। इन अवसरों पर प्रत्येक क्रिया के अनुकूल भक्त गीत भी बनाकर गाया करते थे। सूरसागर सूर के बनाए हुए ऐसे ही गीतो का संग्रह है।'

—सूरसौरभ, पृ० २६०-२६१

पुष्टिमार्गीय भक्ति की साधारण व्यवस्था पर संक्षेप में विचार कर लेने के पश्चात् अब हम महाकवि सूर की भक्ति-क्षेत्र के अन्तर्गत आई उन विशेष प्रवत्तियो पर विचार करेंगे जिनका उल्लेख पीछे किया जा चका है। सूर की भक्ति-भावना के प्रधान क्षेत्र वात्सल्य, सख्य और मधुर-भक्ति ही रहे हैं, यह भी उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं।

वात्सल्य-भक्ति—वात्सल्य भक्ति में नन्द-यशोदा और ग्वालिनें अनुकम्पाहित हैं। बाल कृष्ण को ब्रज-भूमि मे प्राप्त करके सब व्रजवासी आनन्द-मग्न हो जाते हैं। ब्रज में स्वर्ग उतर आता है। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने वात्सल्य-भक्ति को ही अपने सिद्धांतो में प्रधानता दी है। श्रीनाथ जी की 'नवनीत प्रिय' के रूप में कल्पना उनकी इसी भावना की पुष्टि है। सूरदास जी ने वात्सल्य में भी सयोग और वियोग दोनो पक्षों को लिया है, और आध्यात्मिक सुख-दुख की अनुभूति प्रस्तुत की है। वात्सल्य मे भी श्रृंगार के संयोग और वियोग की भांति संचारियों और व्यभिचारियो के अनेको भेद मिलते हैं। इसी वात्सल्य-भक्ति मे वात्सल्य संरस का चार हुआ है।

वात्सल्य-भक्ति के वात्सल्य-रस संचार में कृष्ण आलम्बन स्वरूप सामने आते है। यह आलम्बन लौकिक न होकर अलौकिक है। यह रहस्य नन्द, यशोदा, गोप, गोपी सभी जानते है। भक्त के वात्सल्य रूप का उदय इसी भावना से होता है। परन्तु इसी मे रस-परिपाक की कही कमी नही आती और उसके पूरे लक्षण समय-समय पर उपस्थित होते है।

सूरदास जी ने बाल कृष्ण का वर्णन करते समय कही पर भी यह नही भुलाया कि वह उनका इष्ट देव है। प्रत्येक पद मे जहाँ भी कृष्ण शब्द का प्रयोग किया है, वहाँ उससे पूर्व 'प्रभु', 'स्वामी' इत्यादि शब्दो का योग दिया है। इसमे पाठक तथा श्रोता लौकिक क्षेत्र मे उतरने नही पाता, अलौकिक वातावरण का ही आनन्द-लाभ करता रहता है। कृष्ण का अलौकिक रूप ही आखो मे नाचता रहता है।

फिर कृष्ण भगवान् की अलौकिक लीलाएँ ऐसी हैं कि जिनके सामने आने पर अलौकिक वातावरण आपसे आप निखर जाता है। कोई भी लौकिक बालक इस प्रकार के चमत्कार प्रदर्शित नही कर सकता और उनके सामने आते ही भक्ति का श्रोत और भी वेग के साथ उमडने लगता है।

उक्त तीनो अलौकिक बातो के साहित्य मे समाविष्ट होने पर भी बाल-चरित्र के चित्रण की सजीवता में कही कमी नही होने पाई है। माता, पिता, ग्वाल-बाल और स्वय बालक कृष्ण के चित्रण बहुत ही स्वाभाविक बन पडे हैं। कही-कही पर उनमे उक्त कल्पनाओ का समावेश होने से कथा अपनी अलौकिकता को नही खोती और साथ ही उसके स्वाभाविक चरित्र-चित्रण मे भी दोष नही आता।

कृष्ण आलम्बन है और उसका रूप-सौदर्य, जीवन विकास, सस्कार, भोलापन, चपलता, जिज्ञासा, उत्सुकता इत्यादि उद्दीपन। इस रस के भोक्ता नन्द-यशोदा इत्यादि हैं। भक्त लोग भी प्रकारान्तर से इस रस के भोक्ता बन जाते हैं। सूर की कविता को जब साधारण पाठक पढता है तो उसके लिए उसमे वात्सल्य रसानुभूति होती है परन्तु सूरदास ने तो यह रचना वात्सल्यासक्ति के लिए की है। वात्सल्यानुभूति मे जब पाठक या श्रोता को यह पता चलता है कि कृष्ण बालक नही है, ससार को वात्सल्य-सुख प्रदान करने के लिए बालक बनकर लीला कर रहा है तो उसके अन्दर भक्ति का उद्रेक होना स्वाभाविक है। सूर की यह बात है कि वह समस्त पद मे वात्सल्य का चित्रण करके अन्तिम पक्ति मे भगवान् कृष्ण के वास्तविक रूप की झाँकी अवश्य प्रकट कर देते है :

> **चलत देखि जसुमति सुख पावै।**
> **ठुमुकि-ठुमुकि पग धरनी रेंगत, जननी देखि दिखावै॥**
>
> —**सूरसागर; पृ० ३०३; पद ७४४**

पलना झूलौ मेरे लाल पियारे।
सुसकनि की बारि हौ बलि बलि, हठ न करहु तुम नन्द दुलारे ॥
—सूरसागर; पृ० ३१३; पद ७७८

सूर ने इस प्रकार लौकिक वात्सल्य और अलौकिक आध्यात्मिक चिन्तन का समन्वय करके जो रचना की है वह अपने ढग की अद्भुत रचना है। इस रचना को पढकर पाठक जहाँ एक ओर वात्सल्य रस का लाभ उठाता है, वहाँ दूसरी ओर भक्ति सागर भी उसे गोते लगाने के लिए मिल जाता है। अलौकिक चित्रण के नीचे कवि ने न तो वात्सल्य-चित्रण को ही दबने दिया है और न ही वात्सल्य की लौकिक भावना इतनी प्रबल हो पाती है कि पाठक अलौकिक भक्ति के क्षेत्र से निकल कर बाहर खडा हो जाये। कृष्ण कह रहे है।

मैया मै नहिं दधि खायो।
ख्याल परे ये सखा सबै मिलि मेरे मुख लपटायो ॥

उक्त पद मे बच्चे और माता का स्वाभाविक चित्रण देने के पश्चात् अन्त मे कवि ने जो अलौकिक पुट दी है उससे भक्ति-भावना मे पूरा निखार आ जाता है। सूरदास ने बाल्यावस्था की प्राय सभी परिस्थितियो का चित्रण किया है। पैदा होने के बिलकुल बाद से लेकर यौवनावस्था तक पहुँचने की विभिन्न स्थितियाँ उसमे वर्तमान है। भक्ति क्षेत्र मे भगवान् के वात्सल्य-स्वरूप के चित्रण मे जो सफलता सूर को मिली है वह अन्य किसी कवि को नही मिल पाई। अष्ट-छाप के अन्य कवियों ने भी वात्सल्य-प्रधान भक्ति का चित्राकन किया है और कुछ पद सुन्दर भी बन पडे है परन्तु सागोपाग का चित्रण जो सूरदास जी प्रस्तुत कर सके है वह अन्यत्र उपलब्ध नही।

सख्य भक्ति—पुष्टिमार्ग मे, जैसा कि हम ऊपर वात्सल्य-भक्ति के अन्तर्गत लिख चुके है, लीला को विशेष स्थान दिया गया है। महाप्रभु वल्लभाचार्य को दास्य-भक्ति और विनय-उपासना पसन्द न थी। इसीलिए उनके सम्पर्क मे आने पर महाकवि सूर का भी सम्बन्ध विनय और दास्य-भावना से छूट गया। सूरसागर मे मिलने वाले विनयपद वल्लभाचार्य के सम्पर्क में आने से पूर्व के ही है। कहते है जब वल्लभाचार्य ने इन्हे कीर्तनिये के पद पर नियुक्त किया तो ये अपने विनय-पदों का मोह त्याग न सके और विनय-पदो से ही कीर्तन प्रारम्भ किया। परन्तु श्री वल्लभाचार्य को यह पसन्द नही था। वह सूर को चिढाते हुए बोले—'जो सूर हो तो ऐसो घिघियात काहे हो?"—फिर सूर ने दास्य-भावना के पदों की रचना नही की। वल्लभाचार्य का कहना था कि जब भगवान् से निष्कपट प्रेम है तो फिर डरने और घबराने की की क्या बात? भगवान् को सखा स्वरूप मानकर अपनी सब कमजोरियाँ उन पर प्रकट कर देनी चाहिएँ। छल के लिए वहाँ कोई गुजाइश ही नही है। आपने पुष्टिमार्ग में कृष्ण का सान्निध्य सखा-भाव से ही प्राप्त करने का आदेश दिया है। वल्लभाचार्य के इसी

आदेश का पालन हमें अष्टछाप के कवियो में मिलता है। प्राय अष्टछाप के सभी कवियो ने सख्य-भावना प्रधान भक्ति-साहित्य को ही प्रवाहित किया है। सख्य भक्ति दो रूपो मे मिलती है :

१ जिसमे गोप, ग्वाले और कृष्ण का प्रसग आता है।

२ जिसमे समस्त सूरसागर की रचना सख्य-भाव से हुई है।

गोप, ग्वाले और कृष्ण का सम्बन्ध—गोप और ग्वाले कृष्ण से मिलकर आनन्द-विभोर हो उठते है। कृष्ण उनके सखा है और उनके जीवन का कोई भी राज ऐसा नही है जो कृष्ण से छुपा रहता हो। इनके मनो मे कभी भी ईर्ष्या द्वेष, मनो-मालिन्य, कलह, कुटिलता इत्यादि पैदा नही होती। एक दूसरे के प्रति सर्वदा सदय, सहानुभूतिपूर्ण और सहायक के रूप मे सिद्ध होते है। आपस मे झगडते भी है परन्तु फिर मिलकर एक हो जाते है। जगल जाते समय कृष्ण को बुलाये बिना जाना उन्हें रुचिकर नही लगता। कृष्ण को वे अपना अभिन्न समझते है, उनसे किसी भी प्रकार का सकोच नही करते। जब कृष्ण मथुरा चले जाते हैं तो उनके विरह मे न केवल गोपियाँ ही अश्रुपात करती है वरन् उनके सखा ग्वाले भी विरहाकुल हो जाते है। उनके नित्य-कर्म छूट जाते है और उनका जीवन ही नीरस हो जाता है। महाकवि सूर ने ग्वाल-बालो को कृष्ण के सखा के रूप मे ही सम्बोधित किया है

सखा सहित गए माखन चोरी।

—सूरसागर; पृ० ३५१; पद ८८८

आपु गए हरुएँ सूनै घर।
सखा सबै बहिर ही छाँडै, देख्यौ दधि-माखन हरि भीतर।

—सूरसागर; पृ० ३५५; पद ९००

खेलत स्याम सखा लिये संग।
इक मारत इक रोकत गेंदहिं, इक भागत करि नाना रग।

—सूरसागर; पृ० ४४४; पद ११५१

इस प्रकार ग्वालो के साथ सखा के रूप मे जीवन व्यतीत करने पर सख्य-भावना का ही उदय होता है। भक्त लोग भी इसी ग्वालो के रूप मे अपने को रखकर कृष्ण से प्रेम करते है। कृष्ण की किशोरावस्था की लीलाएँ इन्ही ग्वालो के साथ होती है। इन्ही के साथ यह बन मे गाय चराने जाते है। माखन-चोरी करते है तथा इनके अतिरिक्त अलौकिक लीलाएँ भी दिखलाते है। यह इन ग्वालो के सखा भी है और सरक्षक भी।

सूर-सागर की रचना सख्य-भाव से यदि व्यापक दृष्टिकोण से देखा जाय तो महाकवि सूर ने समस्त सूरसागर की रचना सख्य-भाव से ही की है। कृष्ण जो भी लीला करते है उनके भक्त उनके साथ दिखलाई देते है। जिस प्रकार भक्त का कुछ भगवान् कृष्ण से छुपा हुआ नही है उसी प्रकार भगवान् कृष्ण का

भी कुछ भक्तो से छुपा हुआ नही है। भक्त भगवान् के अन्त.पुर मे भी प्रवेश कर सकता है। सूर ने कृष्ण के प्रेम-प्रसगो का भी चित्रण एक अभिन्न मित्र की तरह किया है। कृष्ण-राधिका के केलि- कौतूहल वह तटस्थ होकर नही देखता, उनमे रस लेता है, आनन्द-लाभ करता है। इस भक्ति-भावना मे विला-सिता या गदी शृगारिकता की भावना का खोजना मूर्खता की बात है। यो तो स्वय सूर ने ही कही अपनी कविता मे अशिष्टता का समावेश नही होने दिया है परन्तु जहाँ राधिका और कृष्ण के प्रेम तथा विरह का मर्मस्पर्शी वर्णन मिलता भी है वहाँ भी उसमे गन्दगी नही दिखलाई देती। महाकवि सूर या अन्य कोई भी भक्त जब भक्ति-भावना से कृष्ण के अत्यन्त निकट पहुँच जाता है तो उसके लिए लौकिकता और अलौकिकता मे कोई भेद ही नही रह जाता। वह कृष्ण की लीलाओ को लौकिक क्षेत्र मे ही रखकर देखता है। इस स्थिति मे पहुँचकर जिस शृगारिक भावना का उदय होता है उसे ही मधुर भक्ति कहा गया है। इसमे विषय-वासना और गन्दगी की खोज करना मूर्खता की बात है।

मधुर-भक्ति—भगवान् और आत्मा के प्रियतम और प्रियतमा के रूप मे मिलन को मधुर भक्ति कहा जाता है। इस मधुर भक्ति का रूप हमे कबीर, जायसी, सूर और अष्टछाप के अन्य कवियो की रचनाओ मे मिलता है। विद्या-पति, मीरा और रसखान की कविताओ मे भी यही मधुर भक्ति का स्वरूप कवियो ने खडा किया है। ऊपरी तरीके पर देखने से इन सभी मे कोई भेद प्रतीत नही होता परन्तु वास्तव मे सभी के दृष्टिकोणों मे काफी-काफी मतभेद पाया जाता है। महाकवि सूर ने कृष्ण-भक्ति मे जो मधुर भक्ति का रूप स्थापित किया है उसमे गोपियो और कृष्ण के प्रेम की लीला अन्य कवियो के नायक और नायिकाओ की प्रेम-कथाओ से सर्वथा विपरीत है। भक्त के लिए गोपियाँ सूर-साहित्य मे एक आदर्श उपस्थित करती है। पुष्टिमार्गी भक्त स्वय गोपी नही बनता और न ही गोपी बनकर वह कृष्ण को रिझाने का ही प्रयास करता है। वह तो अपने हृदय मे गोपियों के समान प्रियतम कृष्ण से मिलने की विरह-ज्वाला प्रज्वलित करता है।

सूर ने गोपियों तथा कृष्ण के मिलन में अपने संकल्पात्मक मिलन-प्रेम की कल्पना की है और वियोग में विप्रलम्भ शृंगार की सृष्टि। मधुर काव्य का यही रूप पुष्टिमार्ग के अष्टछापी कवियों ने भी अपनाया है। भक्त और कवि इस मिलन और वियोग को तटस्थ होकर देखते हैं और उसी से प्रभावित होकर उनके हृदय में भगवान् की भक्ति का उदय होता है। वह तटस्थ भक्ति-भावना पुष्टि-मार्ग की विशेषता है।

सूर के संयोग और वियोग-पक्षो पर जयदेव और विद्यापति का प्रभाव मानना कुछ अनुचित ही जान पडता है। विद्यापति की पद्यात्मकता का सूर पर प्रभाव हो, यह कुछ हद तक माना जा सकता है परन्तु मधुर भक्ति-निरूपण का

नही। भक्ति की जो सीमा पुष्टिमार्ग के आधार पर श्री वल्लभाचार्य ने बाँधी उसको सूर ने सागोपॉग मान्यता प्रदान की है। सूर के चित्रणो मे कही पर भी लौकिकता, अलौकिता के प्रभाव को दबाने मे समर्थ नही हो सकी है। दान-लीला, पनघट-लीला, जल-क्रीडा, मान, रास-होली, फाग, हिंडोला के प्राय सभी प्रसग मधुर-भक्ति के अतर्गत आते है

सयोग पक्ष के उदाहरण प्रथम मिलन

खेलत हरि निकसे ब्रज खोरी।
कटि कछनी पीताबर बाँधे, हाथ लए भौंरा, चक, डोरी॥
मोर-मुकुट, कुंडल स्रवननि बर, दसन-दमक दामिनि-छबि छोरी।
गये स्याम रबि-तनिया कै तट, अग लसति चदन की खोरी।
औचक ही देखी तहँ राधा, नैन बिसाल भाल दिये रोरी॥
नील बसन फरिया कटि पहिरे, बेनी पीठि रलति झकझोरी।
सग लरकिनी चलि इत आवति, दिन-थोरी, अति छवि तन-गोरी।
'सूर' स्याम देखत ही रीझे नैन-नैन मिलि परी ठगोरी॥
—सूरसागर; पृ० ४६६-४६७; पद १२६०

सुख-विलास

नवल गुपाल, नवेली राधा, नये प्रेम रस पागे।
अन्तर बन-बिहार दोऊ कीड़त, आपु-आपु अनरागे॥
सोभित सिथिल बसत मनमोहन, सुखवत स्रम के पागे।
मानहुँ बुझी मदन की ज्वाला, बहुरि प्रजारन लागे।
—सूरसागर; पृ० ५०१; पद १३०४

रास-नृत्य तथा जल-क्रीडा

मोहन रच्यौ अदभुत रास।
सग मिलि बृषभानु-तनया, गोपिका चहुँ पास॥
—सूरसागर, पृ० ६४६; पद १७५१

मोहन मोहिनी रस भरे।
भौंह मोरति, नैन फेरनि, तहाँ तै नहि टरे॥
अंग निरखि अनग लज्जित, रुकै नहिं ठहराइ।
—सूरसागर, पृ० ६५४, पद १७६३

वियोग पक्ष—

बिन गोपाल बैरिन भई कुंजै।
तब ये लता लगति अति सीतल, अब भई विषम ज्वाल की पुंजै॥
—भ्रमरगीत सार; पृ० ३७, पद ८५

इस प्रकार हमने देखा कि सूर ने मधुर भक्ति की जो हमारे यहाँ परम्परा स्थापित हो चुकी थी उसका पालन न करके अपना नया रूप अपनाया परन्तु

उसके अदर रसात्मकता की कमी हमे दिखलाई नही देती। मधुर भक्ति का रूप हमे सत, भक्त और वैष्णव विचारको, सभी मे मिलता है। विद्यापति ने इसे काव्यगत सौन्दर्य और आकर्षण के लिए अपनाया परन्तु सूर ने नही। कृष्ण, गोपी और राधा को मधुर भक्ति का सर्वप्रथम इतना व्यापक प्रसार हमे सूर की कविता मे ही देखने को मिलता है। भक्ति का जो मधुर रूप हमे निर्गुण धारा मे देखने को मिलता है उसको सगुण क्षेत्र मे लाने का श्रेय महाकवि सूर को ही मिलना चाहिए और इस प्रकार सूर ने मधुर भक्ति का चित्रमय स्वरूप जनता के सामने प्रस्तुत करके उनके जीवन की सूखी वाटिका मे रस की धार बहा दी। आम लोगो की आशा-आकाक्षाओ मे एक ऐसे रस का सचार किया कि जिसके फलस्वरूप न केवल साहित्य को वरन् भक्तो को भी सौन्दर्य की कल्पना करने मे सुगमता प्रतीत हुई। सूर के पश्चात् अष्टछापी अन्य कवियो के अतिरिक्त दूसरे कवियो ने भी मधुर साहित्य का सृजन किया और राधा तथा कृष्ण को एक युग के लिए काव्य का आलम्बन मानकर साहित्य सृजन होता रहा। पुष्टि मार्ग के पश्चात् अन्य कई मधुर भक्तिमार्गी सम्प्रदायो ने भी इसके पश्चात् जन्म लिया और देश के कुछ विभागो मे उनका भक्ति क्षेत्र के अतर्गत प्रसार हुआ।

सूर की कविता मे कुछ शृगारिक कवियो तथा समालोचको ने शृंगार-भावना खोजने का भी प्रयास किया परन्तु उन्हे उसमे ऐन्द्रियता का प्रच्छन्न रूप उपलब्ध न हो सका। कवि की कविता मे कही भी उनका शृगार चित्रण उनकी धार्मिक कल्पना और भावना की सीमा को उल्लघन नही कर पाया है। सूर का कृष्ण परम ब्रह्म है और राधा उसकी शक्ति। जितनी भी गोपियाँ है वे सब जीवात्मा है। मुरली योगमाया है। रासलीला मे आत्माएँ परमात्मा के साथ मिलकर मगलमय हो जाती है। वह स्थिति है जब आत्मा और परमात्मा का द्वैत भाव समाप्त हो जाता है। भक्त इसी रासलीला की प्राप्ति के लिए प्रेम-मग्न होता है। प्रेममग्न होकर कृष्ण के प्रति आत्मसमर्पण द्वारा ही इस रास-लीला की प्राप्ति सम्भव है। पुष्टि की यही पराकाष्ठा है।

चीरहरण और दानलीला द्वारा भागवत मे यह प्रदर्शित किया गया है कि भक्त अपनी गोपनीय से गोपनीय और अमूल्य से अमूल्य वस्तु अपने इष्ट देवता के चरणो मे अर्पित कर देता है। सूर ने इस प्रसगों को आध्यात्मिक दृष्टिकोण से ही चित्रित किया है। कृष्ण जब सहस्र रूप धारण करके सब गोपियो की पीठ पर हाथ रखते है तो उससे ब्रह्म और जीवो की कल्पना स्पष्ट हो जाती है मतलब यह है कि ईश्वर जीवात्मा के सर्वदा इतना निकट है कि उसका कोई भी भाव उससे छुपा नही है। भक्त अपनी सब इन्द्रियो के भागो को भगवान के ऊपर अर्पण कर देता है।

शुद्धाद्वैत मे ब्रह्म अनुकम्पा करता है। इसीलिए कृष्ण स्वयं गोरस छीनते

और दान माँगते है। ये सभी सूर ने आध्यात्मिक रूपको के रूप मे प्रकट किये है। पनघट इत्यादि के प्रसग भी इसी प्रकार के है। भगवान भक्त को स्वय अपनी ओर आकर्षित करते और खीचते है। भक्त भगवान और ससार के बीच रहता है। वह दुविधा मे पडकर अपना मार्ग निश्चित नही कर पाता। यह कर्म और अकर्म की दुविधा है

ग्वारिन तब देखे नंद-नदन।
मोर मुकुट पीताम्बर काछे खौर किए तनु चन्दन॥
तब यह कह्यौ कहाँ अब जैहौ आगे कुँवर कन्हाई।
यह सुन मन आनद बढ़ायौ मुख कहै बात उराई।
कोउ-कोउ कहति चलौ ही जाई कोऊ कहै फिर जाइ।
कोउ-कोउ कहति कहा करिहै हरि इनकौ कहा पराइ।
कोउ कहति कालि ही हमकौं लूट लई नन्दलाल।
सूर स्याम के गुन ऐसे है धरहि फिरौं ब्रजलाल॥

इस दुविधा से भगवान कृष्ण स्वय भक्त को निकालते है और अपनी अनुकम्पा प्रदान करते है। पुष्टिमार्ग की अध्यात्म साधना मे इस प्रकार वात्सल्य सख्य और मधुर भक्ति का प्रसार हुआ। पुष्टिमार्गी आचार्यों का विचार है कि केवल भक्त की ओर से चेष्टा मात्र कर लेने पर ही मुक्ति सम्भव नही है। उसके लिए इष्टदेव की कृपा और अनुकम्पा आवश्यक है। इनका विश्वास है कि भगवान की इस कृपा के बिना भक्ति अकुरित ही नही हो सकती। भगवान की पुष्टि मिलने पर ही सदाचार तथा शुद्धाचरण अपना प्रभाव दिखला सकते है। इसका अर्थ यह भी न समझ लेना चाहिए कि पुष्टिमार्ग नितान्त साधन निरपेक्ष नही। पुष्टिमार्गी भक्त को भी गुरु-भक्ति, कीर्तन, लीला, गान, नित्य के नैमित्तिक कर्म, ब्रह्म के रूप का ध्यान, ब्रजभूमि की महिमा का गान इत्यादि करना परम आवश्यक है।

सार-निरूपण—सूर साहित्य काल से पूर्व भारत मे जो भक्ति का विकास हुआ उसमे निर्गुण और सगुण दोनो ही पक्षो को लेकर विचारको तथा भक्तो ने साहित्य रचना की। कबीर, जायसी, तुलसी और सूर भक्ति साहित्य के, अपने-अपने दृष्टकोण के अन्दर, दैदीप्यमान सितारे है। सूर ने प्रेमाभक्ति को निर्गुण और सूफी मार्गी मधुरता से भरकर साकार ब्रह्म के रूप मे सर्वप्रथम उपस्थित किया। प्रेमाभक्ति मे भक्ति के प्राय सभी रूप विद्यमान थे।

सूरदास जी ने वल्लभाचार्य से दीक्षा प्राप्त करने से पूर्व जिस साहित्य की रचना की उस पर विनय और दास्य भक्ति का प्रभाव है। परन्तु वल्लभाचार्य के सम्पर्क मे आने के पश्चात् इनके काव्य की धारा ही बदल गई। इसके पश्चात सूर ने जिस साहित्य का सृजन किया वह पुष्टिमार्गी भक्ति का साहित्य था

जिसके अतर्गत वात्सल्य, सख्य और मधुर भक्ति का प्रसार हुआ। श्री वल्लभाचार्य द्वारा दास्य भावना से पूर्ण भक्ति को प्रश्रय नही मिला क्योकि आप दीन भावना से प्रेरित भक्ति के पक्षपाती नही थे।

वात्सल्य, सख्य और मधुर भक्ति के क्षेत्र मे कवि ने सयोग और वियोग दोनो ही पक्षो को लिया है। और इसके अतर्गत लौकिक तथा अलौकिक चित्रणो द्वारा भक्ति की पुष्टि की है। शुद्धाद्वैती भक्ति ऊँच-नीच के भेद भाव से मुक्त है। जो भगवान की भक्ति करता है और जिस पर भगवान कृपा करते है वही मोक्ष का अधिकारी है। वात्सल्य भक्ति के अंतर्गत कृष्ण की बाल लीला, सख्य भक्ति गोपी-गोपो के सग बिहार तथा मधुर भक्ति में गोपियो और राधा के सग प्रेम लीलाएँ आती है। महाकवि सूर पुष्टिमार्ग के सबसे बड़े भक्त कवि है जिनकी परम्परा पर अष्टछापी कवियो ने साहित्य की रचना की है। पुष्टिमार्गी भक्ति मे रास और लीला को ही प्रधानता दी जाती है और इसमे ही बैकुण्ठ का सुख प्राप्त होता है।

□

७ | सूर की आध्यात्मिक मान्यताएँ

महाकवि सूर के जीवन और साहित्य का हम कोई भी स्थिर दर्शन उस समय तक नही मान सकते जब तक कि वह महाप्रभु वल्लभाचार्य द्वारा दीक्षित होकर शुद्धाद्वैत वादी पुष्टिमार्ग के अनुयायी नही हो गये । इससे पूर्व इन्होने जो रचना की उसमे भक्ति भावना तो विद्यमान है परन्तु वह विनय और दास्य-भावना से ओत-प्रोत है । सूरसागर के प्रथम स्कध मे विनय के पदो मे इसी भावना को लेकर चित्रण मिलता है, यह हम गत अध्याय मे विस्तार के साथ वर्णित कर चुके है । इस अध्याय मे हम महाकवि की ब्रह्म, प्रकृति, जीव, माया, काल, कर्म और भाग्यवाद इत्यादि के विषय मे सक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करेगे ।

ब्रह्म—ब्रह्म के रूप मे सूर ने कृष्ण की उपासना की है और कृष्ण को सगुण मानकर उसके अन्दर निर्गुण ब्रह्म के सभी गुणो का समावेश किया है । सूर का ब्रह्म या भगवान भक्त वत्सल है और जब-जब भी भक्तो को कष्ट में देखता है तभी अपनी लीला द्वारा उनके कष्टो को हरता है । सूरसागर मे श्रीमद्भागवत मे मिलने वाले भगवान के प्राय सभी रूपो मे प्रकाश डाला गया है और उनके सगुण रूप मे आस्था प्रदर्शित की गई है। महाकवि ने भगवान के विराट रूप की कल्पना की है। यह कल्पना अथर्ववेद के 'तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नम' की टेक के कई मत्रो मे मिलती है । सूर लिखते है :

> **नैन निरखि श्याम स्वरूप ।**
> **रह्यौ घट-घट व्यापि सोई ज्योति रूप अनूप ।।**
> **चरण सात पताल जाके, शीश है आकाश ।**
> **सूर, चन्द्र, नक्षत्र, पावक सर्व तासु प्रकाश ।।**
>
> **—सूरसागर; पृ० १२३; पद ३७०**

महाकवि सूर का विश्वास था कि उनके इष्टदेव भगवान कृष्ण के लिए **कुछ भी करना असम्भव कार्य नही है .**

हरि जू, तुमतै कहा न होई ?
बोलै गूंग; पगु गिरि लघै, अरु आवै अधो जग जोई।

—सूरसागर पृ० ३६; पद ६५

सगुण और निर्गुण की जितनी भी मान्यताएँ है वे सभी सूर ने अपने भगवान मे समाविष्ट की है। यो लीला के रूप मे पुष्टिमार्ग के अन्तर्गत भगवान के वात्सल्य रूप पर ही आस्था प्रकट की गई है परन्तु सूर ने तो उनका कस को मारने और अनेको अलौकिक लीलाओ के करने मे भी पूरा-पूरा योग दिया है। सूर के कृष्ण जहाँ अपना वात्सल्य, सख्य और मधुर रूप प्रकट करते है वहाँ वही तो द्रोपदी के सहायक अर्जुन का सारथी, पूतना का हनन करने वाले, बकासुर के विनाशक, अघासुर के प्राण दण्ड देने वाले, दावानल पान करने वाले, गिरि धारण लीला दिखाने वाले, शेष नाग को नथाने वाले, इत्यादि भी तो वही है। सूर ने अलौकिक लीलाओ के अन्तर्गत अपने इष्टदेव की इन सब महत्ताओ पर प्रकाश डाला है जिनके पढने से पाठक के मन मे भक्ति की भावना का उदय होता है। सारावली मे ब्रह्म को निर्गुण और सगुण मानकर कवि लिखता है

आदि सनातन एक अनूपम अविगत अल्प अहार।
ओ३म्कार आदि वेद असुर हन निर्गुण सगुण अपार॥
चतुरानन पंचानन अरु पुनि षटआनन सम जान।
सहसानन बहु आनन गावत पार न पाय बखान॥

जीव—शकराचार्य ने एक ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य सब कुछ मिथ्या माना है परन्तु वैष्णव सम्प्रदाय वाले जीव को मिथ्या न मानकर सत्य मानते है। महाकवि सूर जीव का वर्णन इस प्रकार करते है

जिय करि कर्म जन्म बहु पावै। फिरत-फिरत बहुतै श्रम आवै॥
तनु स्थूल अरु दूबर होइ। पर आतम को ऐ नहि बोइ॥
तनु मिथ्या क्षणभंगुर मानो। चेतन जीव सदा थिर जानो॥

—सूरसौरभ—पृ० २७०

यहाँ सूरदास जी ने जीव को 'स्थिर' और देह को 'क्षणभगुर' माना है। शरीर बराबर घटता जाता है और जीवात्मा 'कृश' नही होता। जीवात्मा कर्म करता है और यही कर्म उसके शरीर धारण करने के कारण बनते हैं। जीव अज्ञानवश योनियो मे भ्रमता रहता है और जो ज्ञानी पुरुष होते है वे इस अज्ञान को चीरकर ब्रह्म के दर्शन कर लेते है। जीवात्मा का यहाँ सूर ने जो चित्रण किया है वह वेद, उपनिषद् और भागवत् के अनुरूप ही है।

सूर ने जीवात्मा और परमात्मा के प्रेम-सम्बन्ध की बात 'नित्य' कही है। वह कहते है—"सुनि राधिके तोहि माधौ सो प्रीति सदा चलि आई।" इसमे राधिका जीवात्मा है और माधौ परमात्मा। वेद के 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'

वाक्य से भी यही ध्वनि प्रतिध्वनित होती है।

गोपी ग्वाल, कान्ह दुइ नाही, ये कहुँ नेक नयारे।

× × ×

सकल तत्त्व ब्रह्माण्ड देव पुनि माया सब विधि काल।
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायण सब है अ श गोपाल ॥

—सूर-सारावली

सूरदास जी ने जीव की व्याख्या इस प्रकार की है कि जब ब्रह्म ससार मे आता है तो उसका नाम जीव पड जाता है

"जब ते जग जन्म लियो जीव है कहायो।"

सृष्टि—वैष्णव सम्प्रदाय ने सृष्टि की उत्पत्ति के लिए साख्य के पुरुष प्रकृतिवाद को अपनाया है। पुरुष को सृष्टि का निमित्त कारण माना है और प्रकृति का उत्पादन कारण कहा गया है। प्रकृति मे सत, रज और तम तीन गुण वर्त्तमान है। प्रलय काल मे ये तीनो गुण साम्यावस्था मे रहते है परन्तु सृष्टि का रूप धारण करते समय इनकी विषय अवस्था हो जाती है, प्रकृति और विकृति दो रूप बन जाते है। प्रकृति के विभिन्न रूप मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर इत्यादि होते है। सूरदास ने सूरसागर मे इनका इस प्रकार उत्पत्ति-क्रम बतलाया है·

माया कौ त्रिगुनात्मक जानौ। सत, रज, तम ताके गुन मानौ ॥
तिन प्रथमहि महतत्त्व उपायौ। तातै अहकार प्रगटायौ ॥
अहकार कियौ तीनि प्रकार। सत तै मन सुर सातडरचार ॥
रजगुन तै इद्रिय विस्तारी। तमगुन तै रान्मात्रा सारी ॥
तिनतै पच तत्त्व उपजायौ। इन सब कौ इक अड बनायौ ॥
अड कौ जड़ चेतन नहि होइ। तब हरि-पद-छाया मन पोइ।
ऐसी बिधि बिनती अनुसारी। महाराज बिन सक्ति तुम्हारी ॥
यह अडा चेतन नहि होइ। करहुँ कृपा सो चेतन होइ ॥

—सूर सागर पृ० १३४, पद ३६४, पक्ति ४-२५

यहाँ कवि ने स्पष्ट चित्रित किया है कि माया त्रिगुणात्मक है और आदि पुरुष चेतन तथा तीनो गुणो से मुक्त है। महत्तत्व की उत्पत्ति माया से होती है और उससे अहकार जन्म लेता है। अहकार के तीन प्रकारो पर सूर ने यहाँ प्रकाश नही डाला परन्तु भागवत् मे जहाँ सृष्टि का वर्णन है वहाँ अहकार के वैकारिक तैजस और तामस तीन भेद किये गये है। वैकारिक अहकार से मन और दस इन्द्रियो के अधिष्ठात् देवताओ की उत्पत्ति हुई, और तामस-अहकार से पच तन्मात्राओ ने जन्म लिया। पाँच-तन्मात्राओ मे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश है। फिर भगवान् की प्रेरणा से इन सबका सगठन हुआ और सृष्टि की

उत्पत्ति हुई। इनसे ब्रह्माण्ड रूपी अडा बना, वह जड था। ब्रह्म ने उस अडे को अपनी शक्ति प्रदान की। चौदह लोको की इसी से उत्पत्ति हुई। सूर का द्वितीय स्कध मे चतुर्विशत अवतार वर्णन मे सृष्टि-उत्पत्ति का यह चित्रण देखिए :

> **जो हरि करै सो होइ, करता राम हरी।**
> **ज्यों दरपन प्रतिबिम्ब, त्यौं सब सृष्टि करी॥**
> **आदि निरजन, निराकार, कोउ हुतौ न दूसर॥**
> **रचौ सृष्टि-बिस्तार, भई इच्छा इक औसर॥**

यहाँ भी ब्रह्माण्ड रूपी अडे के निर्माण की वार्ता है। इस अडे मे आदि पुरुष प्रवेश करते है। इसी के गर्भ मे तीनो लोकों का निवास है। यही आदि पुरुष की नाभि से कमल की उत्पत्ति होती है और कमल से ब्रह्मा ने जन्म लिया। फिर ब्रह्मा को आदि पुरुप ने सृष्टि बनाने के लिए कहा और ब्रह्माने सृष्टि का निर्माण किया। यह क्रम श्रीमद्भागवत् मे भी दिया गया है। सूर का यह पद विशुद्ध शुद्धाद्वैती विचारधारा से लिखा गया है। यहाँ ब्रह्म और ससार मे द्वैत की भावना किंचित् मात्र भी नही है। दर्पण के प्रतिबिम्ब के समान ही प्रकृति मे ब्रह्मा का प्रतिबिम्ब व्याप्त है।

ऐतरेय उपनिषद् के प्रथम अध्याय के प्रारम्भ में सृष्टि-रचना मे तपरूप इच्छा, उससे हिरण्य गर्भ उससे ब्रह्म की उत्पत्ति—ऐसा क्रम मिलता है। अथर्ववेद १।५३८ मे भी कुछ-कुछ इसी प्रकार का उल्लेख है। इस हिरण्य गर्भ रूप अण्ड मे बीज स्थापना परमात्मा करता है। पौराणिक कल्पनाओ का विकास इससे आगे चलकर मिलता है।

माया—महाप्रभु शकराचार्य ने माया को अनिर्वचनीय शक्ति के रूप में ग्रहण किया है। ईश्वर माया से अविभूति ब्रह्म को कहते है। सृष्टि की रचना भी ईश्वर ही करता है। ब्रह्म तटस्थ रहता है क्योंकि वह निर्विशेष और निर्गुण है। इस प्रकार शकराचार्य ने विचार से इस मिथ्या ससार के मूल मे माया का ही स्थान स्थिर होता है। वैष्णव सम्प्रदायो ने माया का यह रूप ग्रहण नही किया। मान्यता वहाँ भी माया की है परन्तु साँख्य की प्रकृति के रूप में। सत, रज, तम की सामान्यावस्था को प्रवृत्ति कहते है। जो कि त्रिगुणात्मिका है। ससार की उत्पत्ति इसी त्रिगुणात्मिका प्रकृति से मानी गई है। सूर ने अपनी माया का भी यही रूप ग्रहण किया है :

> **माया को त्रिगुणात्मक जानों। सत, रज, यम ताको गुण मानों॥**
> **जड़ स्वरूप सब माया जानो। ऐसो ज्ञान हृदय में आनों॥**
>
> **—सूरसागर; पृ० १३४**

सूर ने माया को जड प्रकृति के रूप मे ही ग्रहण किया है। भगवानाधीन है और उन्हीं की दासी के समान कृत्य करती है :

"माया हरिपद माँहि समावै'

× ×

"परमपुरुष अवतार, माया जिनकी है दासी।"

माया के मोहक रूप का भी सूर ने चित्रण किया है जिसकी सुन्दर दृश्यावलियाँ मोहक प्रपच प्रसार का जीवात्मा को भरमाने मे सफल होती है। माया का यही पाश जीवात्मा को गृह, धन, सन्तान, मित्र इत्यादि के बन्धन मे बाँधता है। यही वह बन्धन है जो आत्मा को परमात्मा के पास पहुँचने मे बाधा उपस्थित करता है। सूर ने माया को कबीर की ही भाँति, मोहिनी, भुजगिनी इत्यादि कहकर पुकारा है। सूर ने काम, क्रोध, लोभ, मोह, छल, कपट, दम्भ इत्यादि सब माया के ही रूप माने है। माया ने बडे-बडे ऋषि-मुनियो के तप नष्ट कर दिए और अपने रूप-जाल मे फँसाकर उन्हे किसी दीन का नही छोड़ा :

हरि तेरी माया को न बिगोयौ।
सौ जोजन मरजाद सिंधु की, पल मै राम बिलोयौ॥

—सूरसागर; पृ० १५; पद ४३

मनुष्य के मन मे पाप की उत्पत्ति माया के ही प्रभाव से होती है। सूर ने इसी माया को तृष्णा और अविद्या भी कहा है। माया ही जीव को जन्म-मरण के बंधन में बाधती है। इन बन्धनो से तभी मुक्ति मिल सकती है जब जीव माया के भ्रम को तोड डाले। माया को सूरदास ने असत्य माना है और कहा है कि यह झूठी होने पर भी सत्य-सी प्रतीत होती है।

काल—महाकवि सूर ने काल का काल-व्याल अर्थात् शेषनाग के रूप मे वर्णन किया है। काल सर्प के ही समान सबको खाता है। मनुष्य भगवान् की अनुकम्पा से ही काल-मुक्त हो सकता है

सूरदास भगवन्त भजन बिन।
कालव्याल लै आय डसायो।

सूर ने काल की अग्नि से भी उपमा दी है। समुद्र, नदी और भँवर के रूप मे भी ग्रहण किया है। अर्थात् ये सभी चीजे ऐसी है कि जिनमे फँसकर मनुष्य का मुक्त होना कठिन हो जाता है। केवल साधक ही उनसे पार निकल सकते है।

कर्म और भाग्यवाद—जीवात्मा कर्म करने के लिए स्वतत्र है परन्तु उसके कर्म-विपाक अर्थात् पुराने जन्मो के कर्मो का परिणाम भोगने का क्रम एक अंकुश की तरह उसके सिर पर बना रहता है और उन्ही कर्मो के अनुसार उसके सस्कार भी बनते है। बस इसी को भाग्यवाद कहा जाता है। इन स्वभावो के अनुकूल काम करने पर मनु तक स्वतत्रता कहाँ रह पाती है। यही स्वभाव उसके विविध योनियो मे जन्म लेने और मरने का कारण बनता है। भगवान् की कृपा

से भोग-योनियो मे मनुष्य के बहुत से सस्कार नष्ट होते रहते हैं । भोग-योनियो मे परतत्रता के कारण आत्मा की वासनाएँ दबकर स्वय नष्ट हो जाती है और उनके नष्ट होने पर उसे मानव-जन्म प्राप्त होता है । और फिर कर्म का वही क्रम बन जाता है । इस चक्र से छुडाने वाली भगवान् की भक्ति ही है ।

"बिनु हरि भक्ति मुक्ति नही होई । कोटि उपाय करौ किन कोई ॥

महाकवि सूर का विश्वास है कि जो कुछ भी होता है वह भगवान् की इच्छा के बिना नही हो सकता । मूल प्रेरणा भगवान् से ही प्राप्त होती है

करी गोपाल की सब होई ।
जो अपनौ पुरुषारथ मानत अति झूठौ है सोई ॥

उक्त पद मे सूर के भाग्यवाद की पूरी छाप मिलती है । इनके अनुसार तो प्रत्येक जीव के चलन का कार्यक्रम ही भगवान् निश्चिन् करते हैं । जो उन्होने भाग्य मे लिख दिया है उसे कोई मिटा नही सकता । सूर फिर कहते है .

भावी काहू सौं न टरै ।
मुनि वसिष्ठ पडित अरु ज्ञानी रचि-रचि लगन धरै ॥

भाग्यवाद की यह धारा किसी भी पराधीन राष्ट्र मे फैल जानी असम्भव नही । यवन-काल में भारत का वातावरण ही दीनता और दासता का बन चुका था जिसमे पनपने वाली भक्ति ही और क्या हो सकती थी । दास्ता के वातावरण मे स्वतंत्रता की बात सोचना नितान्त कठिन था और वही दासता और प्रारब्ध के पीछे हाथ बाधकर खडे रहने की बात कविवर सूर ने भी कही है । भाग्य का सन्देश गीता मे यदि कृष्ण ने दिया होता तो पाडवो से कहना था कि लगोटी लगाकर साधू बन जाओ, बस भाग्य मे यही लिखा है । परन्तु भगवान् कृष्ण उन्हे वहा कर्मों का ही उपदेश करते हैं । भाग्य पर किसी भी बात को छोड बैठना कायरता की बात है । निवृत्ति की यह भावना राष्ट्र के पतन का ही कारण बन सकती है उत्थान का नहीं । सूरसागर मे प्रवृति पदो की भी कमी नही है । यों भगवान के साकार रूप की आस्था को ग्रहण करके ब्रज भूमि को ही बैकुण्ठ की क्रीडा-स्थली बना देना क्या कभी निवृत्ति-पथ कहला सकता है । इसमें तो साक्षात प्रवृत्ति के ही दर्शन होते हैं और जीवन में जिस आनन्दमय कल्पना का साम्राज्य छाता है वह अन्य किसी कवि की कविता मे मिलना असम्भव है । यह तो निराश-से-निराश हृदय में भी आशा का सचार करता है । नवम तथा दशम स्कन्ध मे बहुत-सी प्रवृत्ति-परक कथाएं कही गई है और कृष्ण की अलौकिक लीलाऐं तो सभी इस प्रकार की है कि जिसमे दयनीयता या भाग्यवाद के लिए कोई स्थान ही नही है ।

मोक्ष—जितने भी आस्तिक सम्प्रदाय है सभी की मान्यताओं में किसी-न-किसी रूप मे मोक्ष की कल्पना की ही गई है । मनुष्य अपने जिस इष्टदेव की उपासना करता है वह उसी के साम्राज्य मे सदा सुख-चैन से रहने के लिए पहुंच

जाना चाहता है। सासारिक झझटों से मनुष्य का मन कभी-कभी ऐसा ऊब उठता है कि वह इनसे मुक्त होना चाहता है। मुक्त होने के लिए वह छटपटाता है और मार्ग भी खोजता है। जप, तप, योग, भक्ति, नाम ये सभी साधन मनुष्य मुक्ति प्राप्त करने के लिए ही प्रयोग मे लाता है। मोक्ष वह स्थिति है कि जिसमे पहुँचकर आत्मा आवागमन के चक्र से छूट जाती है और ससार मे उसकी पुनरावृत्ति नही होती। उपनिषदो मे 'न च पुनरावर्तते' कहकर इस ओर सकेत किया है। वेद मे इसे परमपद या तृतीयधा कहा है। गीता मे भी, 'यद्-गत्वा न निवर्तन्ते' कहकर मोक्ष-पद की पुष्टी की है। इस स्थिति को वेद, गीता और उपनिषदो ने स्थायी तथा अविनश्वर माना है।

महाकवि सूर ने भी परम पद की प्राप्ति की ओर सकेत किया है

चकई री चल चरण-सरोवर जहाँ न प्रेम वियोग।
जहँ भ्रम निशा होत नहिं करहूँ वह सागर सुख जोग॥

—सूरसागर; प्रथम स्कन्ध

सूर ने परम पद को हरिपद और बैकुण्ठ नाम से पुकारा है। इसकी अभिव्यक्ति सूर ने सरोवर, निधि और समुद्र के रूप में की है।

अविद्या—महाकवि सूर का विश्वास है कि मनुष्य अविद्या के ही कारण अपने इष्टदेव को नही पहचानता और अविद्या के ही कारण ससार की मोह-माया मे लिप्त रह कर अपना अमूल्य समय नष्ट करता है। वह लिखते है:

किते दिन हरि सुमिरन बिन खोए।
पर निन्दा रसना के रस करि, केतिक जनम बिगोए॥

—सूरसागर, पृ० १८ पद ५२

यह सब अविद्या के ही कारण मनुष्य करता है। साँसारिक विषय-वासनाओ मे फँसकर भगवान् का सुमिरन करना भूल जाता है। अन्त मे भक्त अपने आपको भगवान् के सुपुर्द कर देता है और कहता है कि अब आप ही इसके वर्णकार है:

माधौ जू, यह मेरी इक गाइ।
अब आज तैं आप आगैं दई, लै आइयै चराइ।

गाय के रूप मे कितनी सुन्दरता से कवि अपने को अज्ञानी मानकर भगवान् के अर्पणा करता है। कहता है कि भगवान् मेरी यह गाय भटककर कुमार्ग पर चली जा रही है। यह अच्छी चीजो को नष्ट कर डालती है। कृपया इसे आप अपने गोधन मे शामिल करले। अर्थात् अपनी शरण मे ले ले। गाय के रूप मे कवि का यह भगवान् को अपनत्व का समर्पण कितना कलात्मक है।

गुरु महिमा—भारतीय सस्कृत मे उपनिषदो के समय से लेकर सूर के समय तक गुरु का महत्व अबाध रूप से स्वीकार किया है। सत कवियो ने भगवान् और गुरु की महिमा को एक ही श्रेणी मे लाकर खडा कर दिया है। महाकवि

कबीर ने गुरु की महिमा का अपार गुणगान किया है ।[1] भगवान् और गुरु को पास-पास खडे देख कर वह असमजस मे पड जाते है कि किसके पाँव पडे।

गुरु गोविन्द दोनों खड़े,
काके लागू पाँव।
—कबीर

बिलकुल यही भावना हमे सूर के उस कथन से मिलती है जो शैली के स्थान पर चतुर्भुजदास के 'सूरदास जी ने बहुत भगवद् जस वर्णन कियौ यदि आचार्य जी महाप्रभून कौ वर्णन नही कियौ।' इस वाक्य के उत्तर में कहा, 'मैने तो सब श्री आचार्य जी महाप्रभून को ही जस वर्णन कियौ। कछु न्यारौ देखूं तौ न्यारौ करूँ।' यहाँ सूर ने अपने इष्टदेव कृष्ण और महाप्रभु वल्लभाचार्य के बीच का अन्तर ही समाप्त कर दिया है। उन्हे अपने गुरु मे वे ही गुण दिखलाई देते है जो इनके इष्टदेव मे विद्यमान हैं। सूर कहते है.

भरौसौ दृढ इन चरनन केरौ।
श्री वल्लभ नखचन्द छटा बिन सब जग माँझ अँधेरौ॥

इस प्रकार महा कवि सूर ने गुरु-महिमा-गान मे सतो की परिपाटी को ही अपनाया है और गुरु का स्थान किसी भी प्रकार अपने इष्टदेव भगवान् से कम नही माना।

सार-निरूपण—महाकवि सूर की आध्यात्मिक मान्यताएँ शुद्धाद्वैतवाद की ही मान्यताएँ है। सूर सागर की कविता मे जहाँ कही भी उनमे कुछ प्राथक्य दीखता है वह उस समय से पूर्व का है जब सूर ने महाप्रभु वल्लभाचार्य से दीक्षा प्राप्त की। सूर ने ब्रह्म के रूप मे कृष्ण भगवान् का चित्रण किया है और इनके अन्दर निर्गुण तथा सगुण दोनों प्रकार के गुणो को समाविष्ट कर दिया है। सूर ने ब्रह्म के विराट रूप की कल्पना की है।

सूर ने जीवात्मा को स्थिर और देह को अस्थिर माना है। जीवात्मा का शरीर धारण करना उसके कर्मों पर आधारित है। सृष्टि की रचना का जो क्रम सूर ने दिया है वह बहुत कुछ साख्य के पुरुष प्रकृतिवाद से मिलता है। उनका मत है कि ब्रह्माड रूपी जड अण्डे मे ब्रह्म ने अपनी शक्ति डालकर चौदह लोको का निर्माण किया। यह हिरण्य-गर्भ रूप अण्ड मे परब्रह्म द्वारा बीच की स्थापना का रूप है जिसे पुराणो मे अपनाया गया है। ऐतरेय उपनिषद् और अथर्ववेद में भी इसका वर्णन है।

---

[1] सतगुरु की महिमा अनन्त, अनन्त किया उपकार।
लोचन अनन्त उघोडिया, अनन्त दिखावण हार॥
—कबीर

माया के विषय मे सूर को शंकराचार्य का मत मान्य नही। वह इसे कबीर के समान भ्रामक तो मानते है वरन् मिथ्या ससार का आधार नही मानते। सूर ने माया को प्रकृति के त्रिगुणात्मिका रूप मे मान्यता दी है। सूर माया को जड प्रकृति मानते है। यही जड माया का मोह आत्मा को परमात्मा की तरफ जाने से रोकता है और विविध प्रकार के आकर्षण उसके मार्ग मे प्रस्तुत करता है। जो व्यक्ति माया के चक्र से नही बच सकता उसे काल खा जाता है। काल का चित्रण सूर ने सर्प इत्यादि के रूप मे किया है।

सूर ने कर्म और भाग्यवाद को मान्यता दी है परन्तु यह मान्यता केवल ब्रह्म को महानता देने के लिए ही प्रतीत होती है, क्योकि भक्ति का जो मगलमय साकार रूप कवि ने प्रस्तुत किया और कृष्ण की जो अलौकिक लीलाएँ वर्णित की हैं उनमे अकर्मण्यता की भावना का आना असम्भव है।

भवसागर से मुक्त होकर मोक्ष-प्राप्ति की ओर सूर ने सकेत किया है और इस मोक्ष-प्राप्ति का साधन उन्होने भक्ति बतलाया है। जितने भी आस्तिक सम्प्रदाय पाये जाते है उन सभी मे मोक्ष पद को आस्था दी गई है। इसी स्थिति मे पहुँचकर मनुष्य आवागमन के चक्र से मुक्ति प्राप्त करता है। महाकवि सूर का विश्वास है कि अविद्या के कारण आत्मा माया के जाल मे फँसकर ब्रह्म-मार्ग से भटक जाती है।

महाकवि सूर ने गुरु को वही मान्यता दी है जो परम्परागत सत कवियो मे मिलती है। उन्होने भगवान् कृष्ण और श्री वल्लभाचार्य को एक ही रूप मे देखा है।

□

८ | भावना और प्रेम-कला

भावना से हमारा मतव्य है कि जिस शक्ति से कवि विचार, कल्पना और अनुभूति द्वारा भाषा को साहित्य का रूप देकर कला का निर्माण करते हैं, प्रेम से हमारा सम्बन्ध भक्ति के उस रूप से है जिसे कवि ने अपनाया और कला सूर-साहित्य का वह माध्यम है जो पाठक को सूर की भक्ति-भावना के पास तक ले गया और दोनो का पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित कराया।

मोटे रूप से गत अध्यायो मे इन तीनो ही चीजो पर विचार हो चुका है। परन्तु सूर-साहित्य की खिडकी से जब-जब भी मैंने सूर को झाँकने का प्रयास किया है तो मुझे उसके उन सरल, स्वाभाविक, मीठे और सुकुमार पदो मे भावना, प्रेम और कला के ही दर्शन हुए है। यही है वे तीन वस्तुएँ जिनकी सूर ने जीवन भर साधना की है और उसका सम्पूर्ण साहित्य इसका ज्वलत प्रमाण है।

भावना—सूर भगवान की भक्ति-भावना मे लीन एक मुक्त प्राणी था, जो ससार मे रहते हुए भी हर समय विधाता मे विलीन रहता था। उसकी भावना में हर समय भगवान् कृष्ण का रूप समाया रहता था। वह कृष्ण से प्यार करता था, बालक के रूप मे झगडता था सखा के रूप में परन्तु स्नेह से, नटखटी करते थे तो उसमे भी नगरी का आमोद-प्रमोद छुपा रहता था, वह उसे रक्षक के रूप मे देखते थे और उसके चमत्कारो की उनके दिल पर छाप थी, उन्हे विश्वास था, जीवन का उतना गहरा विश्वास जो सासारिक बन्धनों से मुक्ति दिला दे।

व्यक्ति के जीवन का विकास होता है। उसमे समझ आती है। विचार जागता है, बदलता भी है पारस्परिक सम्पर्कों से प्रभावित होकर। इसी प्रकार सूर की भी भावना जीवन के प्रारम्भिक काल से एकसी नही रही। मिथ्यावाद, लोक मायावाद और कुछ-कुछ वैराग्य की भावना सूर के शुरू के साहित्य, विनय-पद इत्यादि मे मिलती है। अपने प्रारम्भ के साहित्य मे सूर ने जहाँ एक ओर अपनी इन्द्रियो पर नियत्रण रखने का राग गाया है वहाँ दूसरी ओर भगवान् से प्रार्थना की है कि वह उन्हे उनके कार्य मे पूर्ण होने की शक्ति प्रदान करे। यही

सूर का विनय-साहित्य है।

मन का नियत्रण देखिये ·

रे मन, छाँडि विषय को रचिबौ।

कत तू सुआ होत सेमर को, अन्तहि कपट न बचिबौ।

—सूरसागर, पृ० २०, पद ५६

महाकवि सूर ज्यो ही वल्लभाचार्य के सम्पर्क मे आये तो उन्होंने कवि के चारो ओर घिरे निराशा के वातावरण को चीरकर उन्हे सार-पूर्ण जगत् मे लाकर खडा किया। आचार्य ने उन्हे समझाया कि यह ससार भगवान् कृष्ण के ही सत् और ये जीव-जन्तु उसके चित् अश से बने है। उन्हे चाहिए कि वह भगवान् के प्रति आत्मसमर्पण कर दे। फिर जैसे वह रक्खे वैसे रहे। और सूर ने आत्म-समर्पण कर दिया। कवि ने भगवान् कृष्ण की लीलाओ मे मन लगाया और उन्ही लीलाओ को अपनी भाषा के मोतियो की माला से सजाया। कृष्ण के रूप पर मुग्ध होकर कवि ससार के मायाजाल से मुक्त हो गया क्योकि भगवान् के लीलामय रूप से सुन्दर कहाँ था ?

आलम्बन—आचार्य वल्लभाचार्य से ज्ञान प्राप्त करके 'सूर' ने भगवान् कृष्ण को अपने हृदय-मन्दिर मे बसा लिया। अब वही उनका बच्चा था, वही उनका साथी था, वही उनका रक्षक था और वही भगवान् था। इसीलिए अपने सम्पूर्ण साहित्य मे कवि कृष्ण के साथ ही खेला, खिलाया, झगडा, झगडवाया और उसकी रक्षा का सहारा भी वही रहा है। कवि की प्रतिभा ने कृष्ण को अनेको रूपो मे चित्रित किया है। कृष्ण को कवि ने अपनी कविता मे समस्त भावो का आलम्बन माना। कवि ने कृष्ण को सौंदर्य का प्रतीक मानकर साहित्य की रचना की है। कवि को अपना भगवान् बाल-क्रीडा करता, सखी सहेलियो और साथियो के साथ खेलता, युवा काल की ओर अग्रसर होते समय प्रेम का सुन्दर साम्राज्य रचता, शत्रुओ का संहार करता, ब्रज की रक्षा करता और इन्द्र तक को भयभीत करता सुन्दर लगता है। वह उन सभी रूपो मे उसका सौन्दर्य निहारता है और उनसे उठने वाली भावनाओ का साकार चित्र उपस्थित करता है। यही है 'सूर' का वह अनुपम साहित्य जिसका हर रूप मे आलम्बन भगवान् कृष्ण ही रहा है।

'सूर' के कृष्ण परब्रह्म हैं। ब्रह्म मे जब एक से अनेक होने की इच्छा उत्पन्न होती है तो वह अपनी माया-शक्ति से चराचर जगत् को बनाता है और वह अनेकों रूपो में सामने आता है। परन्तु ब्रज मे आनन्द-कन्द भगवान् कृष्ण स्वय अवतार लेते है। 'सूर' ने कृष्ण के अन्दर कोई ऐसा गुण नही जिसका समावेश न किया हो। भक्त ने जिस रूप मे भी भगवान् की भक्ति करनी चाही है वह उसने की है और उसका वही रूप भक्त को दिखलाई दिया है।

पौराणिक परम्परा के आधार पर कृष्ण विष्णु के अवतार हैं —

को सूर ने पूर्णावतार के रूप मे चित्रित किया है। इसीलिए वह अंशावतार ब्रह्मा, विष्णु और महेश की पहुँच से दूर हैं।

कवि ने कृष्ण के युगल रूप अर्थात् 'राधा-कृष्ण' को ग्रहण किया है। यह उसी प्रकार है जैसे ब्रह्म और जगत् या पुरुष और प्रकृति। राधा और कृष्ण का भिन्न-भिन्न दिखलाई देना केवल ब्रज-लीला के ही निमित्त था। लीला की पूर्ति पर राधा और कृष्ण भी अभिन्न हो जाते है .

राधा माधव भेंट भई।
राधा माधव, माधव राधा, कीट भृंग गति है जु गई।

यहाँ यदि हम चाहे तो कृष्ण के चरित्र को तीन भागो मे विभाजित कर सकते है। एक कृष्ण का वह रूप जिसमे बालापन और उसके पश्चात् एक सफल प्रतिभा तथा यश-सम्पन्न व्यक्ति जो अपने व्यक्तिगत जीवन को चलाता है। उसमे आमोद प्रमोद का विशेष स्थान है। बालकपन मौज से कटता है। उसके पश्चात् केलि-क्रीडा के लिए भी पूर्ण स्वच्छन्दता है। और फिर जीवन का वैभव-काल आता है जिसमे मधुरता-ही-मधुरता है। कृष्ण के जीवन का दूसरा पहलू उसके विचार और साहस तथा कर्तव्य परायणता से सम्बन्ध रखता है। सूर ने अपने साहित्य मे कृष्ण-जीवन के इस दूसरे पहलू को छूने का प्रयास नही किया। केवल कुछ प्रचलित कथाओ के आधार पर यश-गान गाने के बाद ही जीवन के इस वास्तविक अग को छोड दिया है। इसीसे कृष्ण का जो रूप सूर-साहित्य से सामने आता है वह बहुत अधूरा है और उसमे जीवन की कमनीयता का सकेत न मिलकर आमोद-प्रमोद और हर प्रकार की मधुर भावना का ही सदेश मिलता है। जीवन का यो समझिये कि सुन्दर-ही-सुन्दर पहलू लेकर कवि रचना करता चला गया है। कितना सुन्दर होता यदि कवि ने इस सौदर्य-कल्पना के साथ-साथ महाभारत और श्री मद्भगवत गीता का दृष्टिकोण भी मिला दिया होता।

कृष्ण का जो रूप 'सूर' ने अपनी रचनाओ के लिए स्वीकार किया है वह काफी प्राचीन है। हरिवश तथा विष्णुपुराण मे कृष्ण का गोपाल रूप मिलता है। क्रीडा-प्रिय गोपाल की भावना को लेकर ब्रज में अनेको कथाएँ प्रचलित हैं। लोक-गीतो में भी कृष्ण के इस रूप का वर्णन मिलता है। मधुर मुरली की कल्पना भी काफी प्राचीन है। पुराणो में कृष्ण के इस रूप की झलक मात्र मिलती है, विकास नही होता। कृष्ण के इस रूप का विकास वास्तव मे भागवत् और महाभारत में आकर होता है। हिन्दी-साहित्य के भक्ति-कालीन कवियो की रचनाओ मे हमे कृष्ण का जो रूप मिलता है वह यही बाद का रूप है, जिसमें ग्रामीणता की पुट है और जिस पर लोक-कथाओ तथा गीतो का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित है।

गोपाल कृष्ण का जो रूप हिन्दी-साहित्य में अपनाया गया है वह उन्हे भक्ति-कालीन आचार्यों से मिला था। ये आचार्य लोग कृष्ण के उस रूप का प्रचार

धार्मिक भावना को लेकर करते थे, इसीलिए इसका प्रभाव अतर प्रादेशिक पडता था। इसीलिए अन्य प्रादेशिक भाषाओ मे भी कृष्ण के इस रूप की कथाएँ विद्यमान है, इस प्रकार के अनेको आख्यान प्रचलित है।

जैसा हम ऊपर कह चुके है, सूर ने कृष्ण का मर्यादा स्वरूप न अपनाकर उसे रसेश्वर के रूप मे ग्रहण किया। जब तक कृष्ण ब्रज मे रहते है उनका जीवन ग्रामीण है और ग्रामीण साथियो के हर दुख-दर्द में वह शामिल रहते है। मथुरा जाने पर उनके जीवन का दूसरा स्तर आता है जो ग्रामीणता से ऊपर उठकर राजसी हो जाता है। यह वैभव और भोग-विलास का वातावरण है। जीवन का यह शात और आनन्दमय रूप है, सघर्षमय नही। सूर को यही पसन्द था। इसीलिए 'सूर' ने समस्त भागवत् पर कुछ-न-कुछ लिखने के बावजूद भी विस्तार के साथ कृष्ण के इसी रूप का चित्रण किया है। कृष्ण-काव्य के कवियो ने भगवान् का रसेश्वर-रूप ही अपनाया है। रामभक्ति-शाखा वाला मर्यादावादी स्वरूप नही। रसेश्वर कृष्ण के ग्रामीण और नागरिक स्वरूपो मे विरोधी भावनाओ का दर्शन भी होता है। जहाँ एक ओर सरलता और अकृत्रिमता है वहाँ दूसरी ओर कठोरता और पूर्ण कृत्रिमता के दर्शन होते हैं, जहाँ एक ओर मानवीय भावनाओ का स्नेहशीलता के साथ चित्रण मिलता है, वहॉ दूसरी ओर बनावटी शिष्टाचार और आडम्बर दिखलाई देता है। तो कृष्ण का यह दूसरा स्वरूप सूर की स्वच्छद कविता का आलम्बन नही बन सकता था। कृष्ण के इस रूप को लेकर एक महाकाव्य लिखा जा सकता है परन्तु 'सूर' और 'मीरा' के पदो की रचना सम्भव नही। गोपाल कृष्ण के मधुर और ललित स्वरूप मे ही 'सूर' ने अपनी कविता का विकास पाया और उसे ही विषय के रूप मे अपनी भावनाओ के साथ साहित्य के धागे मे पिरोया। उसमे भोलापन चचलता, कौतुकप्रियता सभी का समावेश किया।

सूर-काव्य की भावना मे हमे वात्सल्य, सख्य और माधुर्य तीनो भावो का विशेष रूप से समावेश मिलता है। इसके अतिरिक्त शम, दैत्य और विस्मय का भी चित्रण कवि ने किया है, परन्तु यह उनके साहित्य की मूल भावना के रूप मे ग्रहण नही किया जा सकेगा।

वात्सल्य भाव 'सूर' के वात्सल्य-भाव के अन्तर्गत उनके पैदा होने से लेकर सखा-रूप मे प्रवेश करने तक का पूरा चित्रण है और कवि तो उसे और भी आगे तक ले गया है। जब कृष्ण युवा होकर कस को मथुरा मे मारकर राजा बन जाते है तब भी माता यशोदा की भावनाओ का चित्रण करते समय कवि ने कमाल किया है। माता अपने लाल को उसी छौना के रूप मे देखती है जो प्रातः उठकर कलेवर किया करता था। माता यशोदा को भय है कि कही देवकी वहाँ उसके लाल को वह लाड न लडा रही हो जो वह लडाती थी, परन्तु फिर भी इस पद् मे प्रेम और दीनता की पराकाष्ठा है।

सँदेसो देवकी सो कहियो।
हौ तो धाय तिहारे सुत की, कृपा करत ही रहियो।।

—भ्रमरगीत सार, पृ० १४६-पद ३७५

माता की भावना से वात्सल्य उमड़ा आ रहा है। कवि की बाल-कल्पना किसी समय हमे कुंठित दिखलाई नही देती। जहॉ भी उसे अवसर मिलता है वह निखर कर सामने आ जाती है। कृष्ण के बाल-काल के चित्र कवि ने हर रूप मे चित्रित किए है, और वात्य-भावना का कोई रूप ऐसा रह नही गया है जिसका समावेश किसी-न-किसी रूप मे किसी-न-किसी समय कवि ने कर न दिया हो। कृष्ण का वात्सल्य भी माता, पिता, बन्धु, सखा, सखियां, शत्रु, मित्र, ग्रामवासी सभी से सम्बन्धित है। अपने-अपने ढग से सभी वात्सल्य-भावना से उद्वेलित होते है और वात्सल्य रसानुभूति भी इस प्रकार काव्य मे विशेष मात्रा मे मिलती है।

ब्रजग्वालिनो की वात्सल्य-भावना .

सखी री सुन्दरता को रग।
छिन-छिन मॉहि परति छवि औरे, कमल नैन कें अंग।

—सूरसागर, पृ० ४८७-पद १२५८

बच्चो के खेल-कूद की भावना ·

खेलत श्याम सखा लिए संग।
इक मारत इक रोकत गेंदहि, इक भागत करि नाना रंग।

बच्चो की शैतानी देखिए

नन्द-घरनि सुत भलौ पढ़ायौ।
ब्रज-बीथिनि, पुर गलिनि, घरॅ-घर, घाट-बाट सब सोर मचायौ।
लरिकनि मारि भजत काहू कें, काहू को दधि-दूध लुटायौ।

—सूरसागर-पृ० ३७३-पद ६५८

महाकवि 'सूर' ने बाल-भावना के अनेको पहलुओ पर प्रकाश डाला है। एक-एक भावना को कही-कही तो कई-कई पदो मे इस सरलता और मधुरता से कह गया है कि उन्हे पढ कर आज भी पाठक तन्मयता के साथ उसके चित्रित स्वरूपो को अपनी कल्पना के सहारे ऑखो के सामने खड़ा कर लेते है। ग्राम्य जीवन का वह स्वरूप, जिसमे कृष्ण सब ग्वालों मे एक, परन्तु अपने चमत्कारो के साथ दैविक तथा मानवीय भावना के ऐसे सम्मिश्रण कि जिनके प्रकाश मे चरित्र आप से आप निखर कर सामने आ जाते हैं। कृष्ण का एक ही रूप है जो 'सूर' को पसन्द है और उसी का उन्होने बाल तथा युवावस्था तक चित्रिण किया है।

सख्य भावना : कृष्ण और सुदामा की कथा इस दिशा मे अपना विशेष महत्त्व रखती है। कृष्ण अपने सखा सुदामा को अपने पास आने पर अपने बराबर बना लेते है। धार्मिक दृष्टिकोण से इसका अर्थ बिल्कुल स्पष्ट है कि भगवान्

भक्त को अपने पास आने पर अपने मे मिला लेते है क्योकि वह तो उनका अपना ही रूप है । कृष्ण जब तक ब्रज मे रहते है तब तक उनका व्यवहार ग्वाल-बालो के साथ भी सखा जैसा ही रहा है । वहाँ श्रीदामा उनके साथ झगड कर उनसे अपनी वही गेद लेने का आग्रह कर सकता है । आखिर वह क्यो न अपनी खोई हुई गेद माँगने का अधिकारी हो ? नन्द ब्रज का राजा था और उनके पुत्र कृष्ण से श्रीदामा अपनी गेद माँगे । सख्य-भावना की पराकाष्ठा है, और हद तो वहाँ हो जाती है जहाँ कृष्ण कालीदह मे कूद पडते है । वहाँ फिर 'सूर' ने ईश्वरीय और मानवीय भावना को एक स्थान पर लाकर कलात्मक ढग से मिला दिया है । श्रीदामा सखा की गेद को लेने के लिए कृष्ण कालीदह मे कूदते है, और दूसरी और कालीय-मद-मर्दन भी हो जाता है ।

यही सखा कृष्ण-वियोग मे व्याकुल हो उठते है । ब्रज के लडके कृष्ण के सखा है और यहाँ की लडकियाँ उनकी सखी है । वह सभी को प्रिय है । सब साथ-साथ खेलते-कूदते थे । जीवन के जिस सजीव पहलू को यहाँ 'सूर' ने अपने नायक के इर्द-गिर्द चित्रित किया है उसमे एक आदर्श स्वच्छन्द जीवन का विकास मिलता है । सारे ब्रज के बालक आपस मे प्रेम से साथ-साथ खेलते थे । किसी के मन मे किसी के प्रति राग-द्वेष नही है । यदि सखाओ मे आपस मे झगडा भी होता है तो प्यार की अबाध धारा उसके पीछे बहती रहती थी ।

सूर ने कृष्ण का यह सखा-स्वरूप बहुत ही सरल और मीठे ढग से चित्रित किया है ·

फेंट छांड़ि मेरी देहु श्रीदामा ।
काहे कौं तुम रारि बढावत, तनक बात कै कामा ।
मेरी गेंद लेहु ता बदलै, बाहे गहत हौ धाई ।

—सूरसागर-पृ० ४४५-पद ११५४

'सूर' के इष्टदेव भगवान् कृष्ण उनके सखा है, जिनसे वह लड झगड सकते हैं, राड कर सकते है, उनके साथ खेल-कूद सकते है, उनमें पारस्परिक स्पष्टता है, भेद-भाव नही, छुपाव नही, दुराव नही। एक का जीवन दूसरे पर स्पष्ट है और दूसरे की शक्ति से पहिला परिचित है । जहाँ दोनो मे पारस्परिक-स्नेह है बडे और शक्तिशाली की मान्यता और अमान्यता देने मे भी 'सूर' ने चूक नही की ।

वही कवि जिसने अपने इष्टदेव को शिशु के रूप मे गोद, पालने और आँगन मे खेलते देखा है, घुटुवन रेगते, खडे होते और फिर 'अरबराई' कर गिर पड़ते देखा है तथा खिलाया और प्यार किया है उसी पर :

हौं बलि जाऊँ छबीले लाल की ।
धूसर धूरि घुटुरुवनि रेंगनि, बोलनि बचन रसाल की ।

सूरसागर-पृ० २९७-पद ७२३

श्री कृष्ण सखा के रूप में बन-बन ग्वालो के साथ गैयाँ चराता है :

चरावत वृन्दावन हरि गाइ ।
सखा खिए संग सुबल, सुदामा, डोलत है सब पाइ ।

—सूरसागर पृ० ४३४-पद ११११८

सख्य-भावना का मिश्रण देखिए कवि ने किस चातुर्य के साथ किया है

मैया हौं न चरैहो गाइ ।
सिगरे ग्वाल घिरावत मोसौं, मेरे पाइ पिराइँ ।

सूरसागर पृ० ४३७-पद ११२८

इसी सख्य-भावना के साथ-साथ जीवन के माधुर्य का उदय होता है। युवा अवस्था का ललित आकर्षण अपने आनन्द और मगलमय रूप मे विविध कलाओ के साथ प्रस्फुटित होता है। कृष्ण के जीवन का यह विकास अपने पूर्ण रूप को मथुरा मे जाकर प्राप्त होता है परन्तु उसका स्वच्छ स्नेह, प्रेम और तपस्या-स्वरूप का उद्गम स्थान ब्रज ही है, जहाँ राधा और कृष्ण का मधुर मिलन होता है।

प्रेम भाव : सूर ने कृष्ण के जिस प्रेम-भाव का चित्रण किया है उसका उदय सखा-प्रेम से ही होता है और राधा से उनका मिलन भी एक सखी के रूप मे ही कवि ने प्रदर्शित किया है। उनके प्रथम मिलन और पारस्परिक वार्तालाप इतने मधुर तथा व्यग्यपूर्ण है कि किसी भी सरस पाठक के हृदय मे गुदगुदी उठा सकते हैं और यदि किसी ने वे दिन देखे है और उस प्रकार के जीवन मे प्रवेश किया है या उस प्रकार के जीवन की कल्पना की है और उसके अन्दर क्षमता है तो वह कृष्ण के कलामय चित्र को निश्चित रूप से अपने हृदय मे उतार लेगा।

प्रेम भावना के अतर्गत कवि ने मिलन ओर बिछोह, दोनो ही परिस्थितियो का सजीव चित्रण किया है और भावनाओ के भी विभिन्न पहलुओ पर प्रकाश डाला है। यहाँ यह मानना ही होगा कि प्रेम के मिलन स्वरूप की कल्पना करने मे कवि जितना सफल हुआ है विद्रोह के चित्रण मे उसे उससे कही अधिक सफलता मिली है।

श्रीमद्भागवत के आधार पर 'सूर' ने जिस प्रेम का चित्रण किया है उसमे दाम्पत्य विषयाशक्ति को आत्मसमर्पण की भावना के नीचे दबा दिया गया है। 'सूर' द्वारा गोपियो के माधुर्य-भाव का विकास बहुत ही क्रमिक ढग से किया गया है। गोपियाँ विश्व मे विचरने वाली आत्माएँ है और कृष्ण परब्रह्म परमात्मा। गोपियाँ धीरे-धीरे पति, पुत्र, सम्बन्धी बंधु-बाँधव आदि का मोह त्यागकर, उनमे सम्बन्ध विच्छेद करके भगवान् श्रीकृष्ण की शरण मे आ जाती हैं। ऐसी दशा में शास्त्रीय विधिनिषेध और लोकापवाद उनके लिए नगण्य हो जाता है, उसकी उन्हे चिन्ता ही नही रहती, ध्यान ही नही रहता। अहम का नाश करके वे श्रीकृष्ण भगवान् की शरण मे जाती हैं, और कृष्ण प्रेम मे विलीन

होकर साधारण विषयाशक्ति को खो देती है। इसी आत्मसमर्पण मे उन्हे वास्तविक आनन्द की प्राप्ति होती है।

श्रीमद्भागवत मे राधा का वर्णन नही है। केवल एक नारी विशेष का चित्रण है। 'सूर' ने राधा का चित्रण एक आदर्श प्रेमिका के रूप मे किया है, जो गोपियो के लिए अनुकरणीय हे। यही कृष्ण भगवान् की ह्लादिनी शक्ति है और इसी के द्वारा ब्रह्म ने अपने परमानन्द स्वरूप को विविध रूपो मे प्रकट किया है।

'सूर' ने राधा-कृष्ण को अभिन्न माना है। परन्तु उनके मिलन का कवि ने सुन्दर विकास चित्रित किया है। मानव-जीवन मे घटने वाली घटनाओ के ही समान वह उसे सामने लाते है। एक दिन यमुना-किनारे खेल मे दोनो की भेट होती है। भेट अचानक होती है। यहाँ दोनो के रूप-सौदर्य का कवि वर्णन करता है जिसका प्रवाह एक-दूसरे के हृदय पर हाता है

खेलत हरि निकसे ब्रज खोरी।
कटि कछनी पीताम्बर बाँधे, हाथ लिए भौरा, चक डोरी॥
मोर-मुकुट, कुंडल स्रवननि वर, दसन-दमक दामिनी-छवि छोरी।
गये स्याम रति तनया कें तट, अग लसति चदन की खोरी॥
औचक हरि देखि तँह राधा, नैन विशाल भाल दिय रोरी॥
नील बसन फरिया कटि पहिरे, बेनि पीठि रुलति झक झोरी॥
सग लरिकिनी चलि इत आवति, दिन थोरी, अति छवि, तन गोरी।
सूर स्याम प्रभु रसिक-सिरोमनि, बातनि भुरइ राधिका भोरी।

इस प्रकार राधा-कृष्ण का प्रथम मिलाप होता है। दोनो एक दूसरे पर आसक्त हो जाते हैं और कृष्ण राधिका से पूछते है कि हे गोरी, तू कौन है? कहाँ रहती है? किसकी पुत्री है? और हमने पहिले तुझे कभी ब्रज की गलियो मे घूमते नही देखा।' राधा इसके उत्तर मे कहती है। 'हमारा ब्रज की ओर आने का क्या काम पडता है? मै तो हमेशा अपने घर की पौड़ियो पर ही खेलती रहती हूँ, और वही पर यह भी सुनती रहती हूँ कि नन्द का लडका ब्रज मे मक्खन की चोरी करता फिरता है।' कितनी मीठी चुटकीली है। यहाँ भक्त शिरोमणि 'सूर' ने अपने भगवान् से कितना मीठा व्यग्य किया है, प्रथम मिलन के अवसर पर प्रेमी और प्रेमिका के बीच। राधिका के इस मजाक का कृष्ण उससे भी सुन्दर परन्तु पैना उत्तर देते हैं। 'चलो ठीक है। हम नन्द के डोटा माखन-चोर ही सही, परन्तु तुम्हारे पास तो माखन नही है। फिर तुम हमारे साथ चलने मे क्यो सकुचाती हो? तुम्हारा भला क्या चुरा लेगे? आओ चलो हमारे साथ जोडी बनाकर खेलने चलो।' और इस प्रकार राधिका को कृष्ण ने बहका लिया। कृष्ण ने अपना घर उसे बतलाया और कहा कि यहाँ आकर मेरा नाम 'कान्हा' लेकर द्वार पर बुला लेना। अन्त मे कृष्ण राधा को वृषभानु की

सौगन्ध दिलाकर सध्या और सवेरे आने का आग्रह करते है। यही प्रेम धीरे-धीरे विकसित होता है इसका विकास कवि ने बहुत ही सुन्दर ढग से चित्रित किया है। यशोदा इस प्रेम-कहानी से अन्दर-ही-अन्दर परिचित हो जाने पर भी अपरिचित ही बनी रहती है। परन्तु दूसरी ओर राधा की माता का राधिका का यह स्वच्छद प्रेम सहन न करके उसमे बाधा उपस्थिति करती है। राधा और कृष्ण के इस प्रेम मिलन मे व्यवहारिक लोक लज्जा और छुपाव मिलता है। यह समाज की प्रचलित मान्यताओ का प्रभाव है जिससे उस वातावरण मे रहते हुए भी सर्वथा मुक्त नही हो सकते थे। सूर की राधा परिजनो के साथ-साथ समाज की दृष्टि बचाकर यह प्रेमालाप करती है। कृष्ण भी उसके इस प्रेम-सम्बन्ध को गुप्त ही रखने का आदेश करते है। गोपियाँ इस सम्बन्ध को जानकर राधा से डाह करती है, परन्तु राधिका इसे छुपाने का ही प्रयास करती है। इसी प्रकार प्रेम-सम्बन्ध आगे बढता है। एक समय वह भी आता है जब यह प्रेम लोक-लाज कुल की मर्यादा' इत्यादि का खडन करके स्वतत्र हो जाता है। वह समय वह होता है जब राधा और कृष्ण का एकीकरण हो जाता है और तब कृष्ण यदि सभी गोपियो को प्रेम करते है तो राधा भी उन्हे प्रेम करती है। वह पहली स्थिति समाप्त हो जाती है। प्रेम की यह पराकाष्ठा है। यहाँ राधिका एक आदर्श के रूप में उन गोपियो के सम्मुख आती है। राधा का प्रेम गोपियो के लिए प्रेरणास्वरूप सामने आता है।

राधा अपने प्रेम-व्यवहार मे मान करती है और कृष्ण उसके विरह में व्याकुल हो उठते है। राधा को मनाते है। इस मनाने मे गोपियो की सहायता लेते है। यह सयोग-प्रेम का स्वरूप है जिसका निर्वाह कवि ने बहुत सुन्दर तथा कलात्मक ढग से किया है। माधुर्य-प्रेम का प्रसार हमे कृष्ण की माखन-चोरी की लीलाओ से ही मिलना प्रारम्भ हो जाता हे। कृष्ण इस समय बालक ही है परन्तु कवि ने यहाँ किशोरी और युवती गोपियो का चित्रण करके उसमे माधुर्य लाने का सफल प्रयास किया है। यह भावना हमे भागवत मे नही मिलती। कृष्ण की मुरली का जादू तो प्रारम्भ से ही गोपियो को वशीभूत करता जाता है। कृष्ण की मुरली सभी पर ठगोरी डालती है, उसका शब्द सुनते ही कृष्ण-मिलन की कामना उत्पन्न होने लगती है:

मुरली-धुनि स्रवन सुनत, भवन रहि न परै।
ऐसी को चतुर नारि, धीरज मन धरै॥

—सूरसागर पृ०, ४६१-पद १२७०

इसके पश्चात् कृष्ण और राधा-मिलन के बहानो का चित्रण भी कवि ने खूब किया है। एक दिन कृष्ण के साथ जब उसे बहुत देर हो गई तो घर जाकर उसने देर होने का बहाना बतलाया कि मार्ग मे एक लडकी को काले सर्प ने काट लिया था। उसी समय वहाँ नन्द का लड़का आ पहुँचा और उसने गारुड़-मंत्र

पँढकर उसे ठीक कर दिया। वास्तव मे राधा कृष्ण को अपने घर बुलाना चाहती थी और यह उसका एक बहाना मात्र था। कवि ने आने वाली घटना की सूचना इस प्रकार बहुत ही नाटकीय ढग से दी है। राधा कुछ दिन बाद स्वय साँप द्वारा काटी जाने का बहाना करती है और उसके उपचार के लिए कृष्ण को बुलाया जाता है। गोपियाँ इस प्रेम-रहस्य को ताड जाती है।

'सूर' ने कृष्ण, राधा और गोपियो के प्रेम का विकास जहाँ एक ओर स्वाभाविक सरलता के साथ किया है, वहाँ उसमे दूसरी ओर से मनोवैज्ञानिक कमी भी नही आने पाई है। मनोवैज्ञानिक आधार पर ही आपका भागवत की कथा से कही-कही पर प्राथक्य हो जाता है और उसके कारण चित्रण मे मानवीय भावनाओ का विशेष चित्रण निखर कर सामने आता है। इसका प्रभाव पाठको पर स्थायी रहता है और अधिकाधिक माधुर्य का प्रभाव पडता है।

प्रेम मे स्वाभाविक डाह का चित्रण कवि ने बहुत सुन्दर किया है। राधा से ही नही, वरन् गोपियाँ जब कृष्ण के अधरो पर मुरली को लगा हुआ देखती है तो उन्हे उससे भी डाह होने लगती है

मुरली तऊ गुपालहि भावति।
सुनि री सखी जदपि नन्दलालहि, नाना भाँति नचावति ॥
—सूरसागर-पृ० ४९२-पद १२७३

गोपियो को कृष्ण पर तरस आ रहा है और साथ ही मुरली की कृष्ण द्वारा विशेष सेवा देखकर मन-ही-मन क्रोध भी है। फिर कुछ सोचकर वे आपस मे कहती है

सखी री, मुरली लीजै चोरि।
जिन गुपाल कीन्हे अपनै बस, प्रीति सबनि की तोरि ॥
सूरसागर, पृ० ४९२-पद १२७५

इसके पश्चात्-चीर हरन-लीला के द्वारा तो सूर ने लोक-मर्यादा को बिल्कुल ही समाप्त कर दिया। यह घटना सूर ने भागवत से अवश्य ली है परन्तु इसका जैसा चित्रण कवि ने किया है वह पूर्ण रूप से मौखिक है। आत्मसमपर्ण की भावना की यही आखिरी कसौटी है। पति-प्रेम भी यहाँ भगवान की भक्ति पर न्यौछावर हो जाता है। चीर-हरण-लीला द्वारा कृष्ण गोपियो को काम-वासना से मुक्ति प्रदान करते है। गोपियो का प्रेम राम-लीला से आरम्भ होकर चीर-हरण तक पहुँच जाता है। इन दो स्थितियो के बीच मे अनेको ऐसे स्थल आते हैं जिनमे पारस्परिक प्रेम मिलन द्वारा माधुर्य का विकास होता है। यक्षपती की लीला को भागवत से लेकर उसका चित्रण भी सूर ने कात भावना से ही किया है। सासारिक पतियो का गोपियाँ भगवान के लिए तिरस्कार करती है। मीरा के पदो मे भी हमे यही भावना मिलती है:

लोक-लाज कुल-शृंखला, तजि मीरा गिरधर भजी।
सदृश्य गोपिका प्रेम प्रकट कलिजुगहि दिखायो॥
निरंकुश अति निडर रसिक जल रसना गायो।
—मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ, पृ० ११२

लोक-लज्जा को त्यागते समय गोपियाँ अपने गर्व और अहम को सर्वथा छोड़ देती है। दानलीला मे सूर ने इसी भावना को पुष्ट किया है। इस लीला के फल-स्वरूप गोपियो की काम-भावना और प्रवृत्ति को एकमात्र अपनी ओर आकृष्ट कर लेते है। श्याम के प्रेम मे मतवाली गोपियाँ उन्मत्त हो जाती है

तरुनी स्याम रस मतवारि।
प्रथम जोवन इस चढ़ायी अतिहि भई खुमारि।
—ठा० सूरसागर-पृ० ८२३-४०-२२४२

कृष्ण के इस महारस मे पूरित होकर गोपियो की दशा देखिए

रीती मटुकी सीस धरें।
बन को घर को, सुरति न काहू, लेहु दही यह कहति फिरें॥
—सूरसागर, पृ० ८२३ ४४-२२४१

प्रेम का विकास इस स्थिति को पहुँचता है कि :

नैंक नहिं घर सौं मन लागत।
पिता-मातु, गुरुजन पर बोधत, नीके बचन बान सम लागत॥
—सूरसागर, ८२६ पद-२२५१

अन्त मे प्रेम की स्थिति इतनी गम्भीर होती है कि गोपियाँ ज्योंही मुरली का नाद सुनती है त्योंही वे अपने को भूलकर दूध पीते बच्चो और खाना खाते पतियो को छोडकर वन की ओर चल पडती है। प्रेम-माधुर्य का यह चरम विकास है। यह वेद-धर्म और लोक-मर्यादा की सीमा को उल्लंघन करके परब्रह्म मे विलीन होने की स्थिति है। कृष्ण बार-बार गोपियो को वेद-ज्ञान की सीमा मे लाकर खडा करने का प्रयास करके उनकी परीक्षा लेना चाहते है और गोपियाँ परीक्षा मे उत्तीर्ण होती है। अन्त मे कृष्ण को ही झुकना पड़ता है और वह अपना प्रेमाचल पसार देती है। गोपियो को परमानन्द देने के लिए ही कृष्ण ने रास-रचना की और अमर मुनियो को भी दुर्लभ आनन्द की उन्हे प्राप्ति कराई। राधा ने मनुहार मान, मिलन, सयोग और विरह द्वारा गोपियो को मधुर-भाव से भक्ति करने का आश्रय मिलता है। यहाँ ईर्ष्या के स्थान पर गोपियाँ राधिका के प्रेम मे आनन्द ग्रहण करती है।

यहाँ तक रही 'सूर' के सयोग-प्रेम के चित्रण की बात जिनमे कवि को असाधारण सफलता मिली है। परन्तु विरह वर्णन में कवि की कला कुशलता और आगे बढ़ी है, इसकी मान्यता से इन्कार नही किया जा सकता। 'भ्रमर गीत' के

पदो मे कवि ने वियोग पक्ष का चित्रण किया है पीछे हम इसके विषय मे लिख चुके है ।

'सूर' ने माधुर्य को प्रधानता काम-वासना के ही आधार पर दी है और उनकी मान्यता भी यही रही है कि यही भावना मनुष्य के जीवन की प्रधान भावना है। बात कुछ अशों मे सत्य भी है क्योकि जिस वर्ग के पात्रो को लेकर 'सूर' ने अपने काव्य का सृजन किया है उसमे माधुर्य-भावना का ही प्राधान्य हो सकता था। यह एक सम्पन्न परिवार की कहानी है इसलिए इसके जीवन मे धन या रोटी और कपडे की समस्याओ का आ जाना सम्भव नही था। फिर कवि ने तो अपने राम का लिया ही वह रूप है जिसमे माधुर्य के अतिरिक्त और मानो कुछ है ही नही और कवि को उसके चित्रण मे आशातीत सफलता मिली है।

कला—पीछे हमने कवि की भावना और प्रेम प्रगति पर साधारण रूप से प्रकाश डाला है। भावना के क्षेत्र मे माधुर्य को प्रधानता देकर कवि ने प्रेम की वात्सल्य, सत्य और कात रूप मे सृष्टि की है कवि की यह सृष्टि ही उसकी अनुपम कला है जिसमे उसे वह सफलता मिली कि जिसके द्वारा उसके निर्मित चित्र आज भी पाठको की आखो मे गडे हुए हैं और आज भी उनका स्थान हृदयो के गहरे-से-गहरे स्थान मे सुरक्षित हैं।

जहाँ तक कला का सम्बन्ध है और काव्य-कला का वहाँ काव्य की शैली, भाषा, काव्यालकार, कल्पना, अनुभूति और चित्रण की सजीवता मे सभी आ जाते है। चौथे अध्याय मे 'सूर' की रचनाओ मे साहित्यिक अभिव्यक्ति का स्पष्टीकरण करते समय हमने इसके बाहरी रूप का निरीक्षण किया है। उसके आधार पर 'सूर' की रचना को परखने तथा समझने का प्रयास किया है। चितेरा कितनी दक्षता से अपनी भावनाओ के चित्र अकित कर सका है इस पर भी हल्का-सा प्रकाश डाला है। यहाँ इस अध्याय मे हम केवल इतना ही कहेगे कि कल्पना द्वारा कवि सौदर्य की सृष्टि करता है और यही सौदर्य पाठको का स्थायी आकर्षण है, इसी प्राप्ति के लिए वह बार-बार काव्य को पढता तथा उसकी गहन कल्पना मे प्रवेश करने का प्रयास करता है। सुन्दरता से आनन्द की सृष्टि होती है और उसी के द्वारा रस-प्रवाह भी सम्भव है। यदि हम अपने भारतीय रस-सिद्धान्त का आश्रय लें तो कला द्वारा ही सौदर्य और आनन्द के पश्चात् रस प्रवाहित होता है।

सौदर्य की कल्पना कवि किसी विशेष वातावरण मे ही रखकर कर सकता है और उसके प्रति जागरूक हुए बिना पाठक उस सौदर्य की कल्पना नही कर सकता। उदाहरण स्वरूप यदि हम नारी के सौदर्य की ही कल्पना करें तो उसकी वेष-भूषा का चीन, रूस, अफ्रीका तथा भारत मे रहकर करने वाले कवियो का कभी साम्य नही हो सकता। यहाँ देखना केवल यही होगा कि कवि ने जिस वातावरण मे रहकर उसका चित्रण किया है उसमे सजीवता आ पाई है अथवा

आकर्षक बन पडा है । कृष्ण को गोपियाँ अपने रूप में देखती हैं, नन्द यशोदा अपने रूप मे देखते है और सूर अपने रूप मे । कृष्ण का वर्ण श्याम माना गया है । राम का वर्ण भी श्याम ही था । यह पौरुष का प्रतीक है । वहा सीता गोरी थी तो यहाँ राधा गोरी है । शारीरिक सौदर्य का चित्रण करते समय कवि ने कृष्ण और राधा के अग-अग पर नजर डाली है । पुरुष मे पुरुषत्व और स्त्री-मे-स्त्री-प्रधान गुणो का समावेश किया है । अगो की बनावट पर भी ध्यान दिया है और फिर उम अग के अनुरूप वस्त्रो का भी उल्लेख किया है । सुन्दर शरीर पर सुन्दर वस्त्र पहिनकर व्रज के सुन्दर सजीव वातावरण मे जब कृष्ण निकलते है और गोपियो के साथ राम करते है तो बैकुण्ठ पृथ्वी पर उतर आता है । वह दृश्य देवताओ के लिए भी दुर्लभ हो जाता है ।

'सूर' की कल्पना ने ब्रज को सौदर्य प्रदान किया है वह वास्तव मे अलौकिक है । हम पहिले भी कह चुके है कि 'सूर' ने भाषा से चित्र बनाये है और उनमे इतने स्वाभाविक रग भरे है कि चित्र न प्रतीत होकर साक्षात् साकार सामने आ जाते है ।

'सूर' कथा-प्रसार के साथ-साथ कही भी यह नही भूलता कि उनका प्रधान लक्ष्य सौदर्य की सृष्टि करना है । अपने हर दस पाँच पदो के पश्चात् वह कृष्ण का सौदर्य रूप सामने ले आते हैं और यही उनके लिए सुखदायक है ।

सार-निरूपण—सूर-साहित्य मे भावना, प्रेम और कला का सुन्दरतम सामजस्य देखने को मिलता है । भक्ति-भावना के क्षेत्र मे सूर ने अपने इष्टदेव को बाल, सखा और कान्त के रूप मे देखा है । कृष्ण के जीवन का मधुरतम पहलू ही 'सूर' को पसद है । गीता से प्रस्फुटित कृष्णचरित्र की झाँकी सूर-साहित्य मे देखने को मिलती हैं । कृष्ण के पैदा होने के पश्चात् बाल-क्रीडाओ मे लिप्त तथा फिर सख्य-भावना से युक्त और फिर राधा-कृष्ण की प्रेम लीलाओ का मगलमय चित्रण कवि ने किया है । प्रेम मे सयोग और वियोग पक्ष दोनो को ही कवि ने उभारा है । जीवन के इन तीन पहलुओ के जो चित्र 'सूर, ने उपस्थित किये है वे अन्य कोई भी हिन्दी कवि नही कर पाया है । 'सूर' का आलम्बन कृष्ण और राधिका ही रहते है और अपनी कविता की हर रूप मे उनकी आधार-शिला भी ये ही दोनो हैं ।

प्रेम-भावना मे कवि ने जो राधा की कल्पना की है वह उसकी मौलिक है । भागवत मे राधा नाम की कोई सखी नही मिलती । एक विशेष सखी का उल्लेख अवश्य है । 'सूर' की राधा अन्य गोपियो के लिए डाह का विषय नही है वरन् अनुकरणीय है । राधा का प्रेम आदर्श है । लोक-लाज कुल की मर्यादा को खोकर ब्रह्म मे विलीन होने वाली यह प्रेम की मधुरतम आध्यात्मिक कल्पना है ।

□

६ | सूर का मूल्यांकन

विचारक के नाते—'सूर' विचार-प्रधान कवि न होकर भावना प्रधान कवि हैं। आपका साहित्य एक विचारधारा का पोषक तो अवश्य है और उसका साकार रूप भी हम उसे कह सकते है, परन्तु उस विचारधारा का निर्माता नही। 'सूर' एक विचार की साधना को साकार रूप देने वाला वह चितेरा था जिसके बिना सम्भवत, वह विचारधारा इतनी व्यापक न बन पाती। महाप्रभु वल्लभाचार्य के सम्पर्क मे आने पर आपकी एक निश्चित् विचारधारा बनी।

वास्तव मे बात कुछ ऐसी थी कि उनका सम्बन्ध भक्ति और भावना से था, विचार से नही। पूर्ण आत्मसमर्पण के पश्चात् फिर विचार ही कैसा ? महाप्रभु का आदेश ही उनका विचार था, उनकी आज्ञा का पालन करना ही भगवान की आज्ञा का पालन करना था।

गुरू के विषय मे यही मान्यता महाकवि कबीर की भी थी, परन्तु वहाँ कबीर स्वय गुरु हैं और स्वय अपने पथ के मार्ग-दृष्टा है। 'सूर' किसी पथ के मार्ग दृष्टा नही, वह तो मार्ग पर चलने वाले एक भक्त है। हाँ वल्लभाचार्य द्वारा बनाये गये मार्ग पर अपने पश्चात् अन्य आने वालो के लिए मार्ग को झाड़ू लगाकर साफ कर देने का काम उन्होने अपनाया था। वास्तव मे वल्लभाचार्य ने जो दिशा दिखलाई वह कोरा मार्ग नही था, सौंदर्य और माधुर्य का प्रदेश था, जिसमे भगवान परब्रह्म अपनी विभिन्न लीलाओ द्वारा भक्तो को आनन्द प्रदान करते है। सूर ने आचार्य की इसी कल्पना को अपने साहित्य द्वारा रूप प्रदान किया। इस प्रकार हम 'सूर' को रूप-दृष्टा तो मान सकते है, परन्तु विचारक नही मान सकते।

सूर ने अपने समस्त साहित्य मे न कही किसी सामाजिक पहलू को छुआ है और न ही राजनैतिक पहलू को। उनका काम तो केवल चित्र आँकना रहा है। इस माने मे 'सूर' पूर्णरूपेण कलाकार हैं, जिन्होने प्रभु के बनाये मानव और उसके आस-पास की सृष्टि का चित्रण मात्र ही अपने जीवन का लक्ष समझा है

उनकी नजर आस-पास की दुनिया पर नही गई और यदि गई भी तो अमगल मे उन्हे जो मगल दीखा, वह उन्होंने चित्रित किया ।

'सूर' कल्पना का चितेरा—'सूर' कल्पना का सम्राट है। उसका साहित्य इसी कल्पना की सृष्टि है । इसीके आधार पर 'सूर' ने सौदर्य की कल्पना की है और सुख तथा वैभव का साम्राज्य रचा है । सूर की कल्पना मे सघर्ष के लिए स्थान नही । जीवन के मधुरता पहलुओ पर प्रकाश डालना ही कवि को प्रिय रहा है । इसीलिए कवि ने कृष्ण जीवन के मधुरतम पहलू पर ही अपनी काव्य-रचना की है ।

'सूर' ने अपनी कल्पना के आधार पर ब्रज को जो रूप प्रदान किया है वह आलौकिक है । सूर का चित्रण भावना प्रदान है और भावना का चितेरा कल्पना से सुसज्जित होकर जब चित्र बनाने चला है तो सचमुच ही वह चित्र बन गया है कि जिनकी समानता करने वाले चित्र आज तक कोई अन्य कलाकार नही गढ सका । 'सूर' की कल्पना अपने इष्ट-देव को जिस-जिस रूप मे भी देखती है उसी मे उसका भावनात्मक चित्र उपस्थित कर देती है । 'सूर' के कृष्ण ब्रजभूमि मे मानो उनकी आँखो के सामने उतर आते हैं और आज भी जब सरस काव्य के रसिक 'सूर' के उन पदो का तन्मय होकर पाठ करते है या कीर्तनिये उन्हें किन्ही विशेष अवसरो पर गाते है तो वातावरण मधुर सेमधुर हो उठता है । गत अध्याय मे हम कह चुके है कि जीवन के मधुर पहलुओ मे शायद ही कोई ऐसा पहलू हो जो 'सूर' की कल्पना का निशाना न बना हो । कहाँ-कहाँ 'सूर' की कल्पना नही पहुँची । 'सूर' ने ब्रज के सौभाग्य की सराहना करने में कोई कसर उठा नही रखी और वास्तव मे वह भूमि परम धन्य है जिसके सौदर्य पर मुग्ध होकर कवि ने अपनी कविता के आलम्बन को वहाँ लाकर स्थापित किया ।

सौदर्यानुभूति ही 'सूर' की भावना का वह रहस्य है जिसे कवि ने अपनी कविता के हर शब्द में भर दिया है, हर पक्ति में सजो दिया है और हर पद मे सन्निहित कर दिया है । कवि की सौंदर्य कल्पना काव्य के प्रांगण में मुक्त होकर बहती है और अपनी लहरियो मे जीवन की मधुरतम भावनाओ को लेकर चलती है । 'सूर' की भावना हर समय मधुर है, उससे रस प्रवाहित होता रहता है और भक्त लोग इसका रसास्वादन करते है ।

'सूर' की कविता मे न उपदेश है, न मर्यादा है । यह तो विशुद्ध प्रेम की वह स्थिति है जिसमे आत्मा मुक्त होकर परमात्मा मे मिलने के लिए उद्यत होती है । यह जीवन का सरल स्वरूप है, आनन्दमय स्थिति है और इसी का कवि ने चित्रण किया है ।

भक्त के नाते—'सूर' वास्तव मे एक भक्त है और भक्ति भावना ही उनका साहित्य अपना सुन्दर से सुन्दर मधुर से मधुर और आकर्षक से आकर्षक रूप

लेकर सीमित रहा है। हरिजू की आरती उतारते समय 'सूर' ने उनकी कल्पना जिस-जिस रूप मे भी की है उसे अपनी काव्य प्रतिभा से वही रूप प्रदान किया है। भक्ति के सभी रूपो का कवि ने सजीव चित्रण किया है। महाप्रभु वल्लभाचार्य के धार्मिक सिद्धान्तो का साकार रूप आपने जनता के सामने रखा और मुसलमानी शासन की जो एक निराशा समाज मे फैली हुई थी, वह आपके धार्मिक सिद्धान्तो की सजीवता और मगलकारी भावना मे विलीन हो गयी। भक्ति के इस स्वरूप का चित्रण जैसा 'सूर' ने किया है वैसा अन्य कोई कवि नही कर पाया।

साहित्यिक के नाते—महाकवि 'सूर' के साहित्यिक पहलू पर हम पीछे प्रकाश डाल चुके है। 'सूर' हिन्दी साहित्य का सूर्य माना गया है, -सूर-सूर तुलसी ससी उडगन केशवदास—वाली कहावत से हिन्दी प्रेमी भला कौन अपरिचित होगा। सूर साहित्य की सरलता, मधुरता और काल्पनिक भावनात्मक उद्रेक का जो वर्णन हम पीछे कर चुके है उनकी समानता मे हिन्दी ही क्या अन्य भाषाओ का भी साहित्य मुश्किल से आयेगा। सूर-साहित्य मे अनुभूति है, कल्पना की उडान है, भावना की गहराई है, भक्ति की मान्यता है, मधुरता है और सौन्दर्य की सृष्टि है। इन सभी गुणो से युक्त 'सूर' का साहित्य है, जिसकी तुलना किसी से करना सूर्य के सामने दीपक दिखाना है। 'सूर' ने कठिन भाषा या बनावटी भाषा को अपने काव्य की रचना के लिए नही अपनाया। आपने जिस भाषा को अपनाया है वह मलिक मुहम्मद जायसी की भाषा की भाँति ग्रामीणता को लिए हुई भी नही थी, परन्तु फिर भी वह ब्रज के पास रहने वालो की भाषा से कुछ ऊपर उठकर साहित्यिकता लिए हुए थी। इस साहित्यिकता ने सरल शब्दो को जरा माँज कर चमका दिया था, उन पर निखार ला दिया था और कुछ कर्णकटुता का लोप करके मधुरता का सञ्चार किया था। इस प्रकार सूर ने भाषा और शैली के आधार पर भी मधुर काव्य की ही तय्यारी की। सूर के जितने भी इस प्रकार साहित्यिक साधन रहे, वे सब मधुर रस मे डूबे हुए थे। एक साहित्यिक के नाते, बल्कि उससे भी कही अधिक साहित्य के सुन्दर, सरल तथा मधुर स्वरूप की 'सूर' ने सृष्टि की है और एक सफल कलाकार बनकर जो काव्य आपने रचा है वह स्वय बोलता है और स्वय खडा होकर सामने आता है। आपने कल्पना के वे चित्र अकित किये है कि जो आँखो के सामने एक बार आने पर पाठको को वशीभूत कर लेते हैं। पाठक सर्वदा के लिए उनमे उलझकर भक्ति की धारा मे बह निकलता है।

भक्ति और साहित्य का जैसा सरल, सरस और मधुर सामंजस्य हमे 'सूर' की कविता मे देखने को मिलता है वैसा अन्यत्र नही मिलता।

C

१० | कृष्ण-साहित्य की परम्परा

ईसा की लगभग चौथी शताब्दी पूर्व श्रीकृष्ण की भावना का आविर्भाव हुआ। 'हॉप किस' महाभारत काल मे कृष्ण मे देवत्व की स्थापना नही मानते परन्तु 'कीथ' महाभारत काल मे ही कृष्ण मे देवत्व की स्थापना मानते है।

दशम शताब्दी मे 'महाभारत' के पश्चात् 'भागवत पुराण' की रचना हुई। इसी के आधार पर 'शाडिल्य भक्ति-सूत्र' और 'नारद भक्ति-सूत्र' बने। 'भागवत पुराण' मे कृष्ण का बाल जीवन विस्तार के साथ वर्णित है। उत्तर जीवन के विषय मे वहाँ कुछ नही लिखा। इसके पश्चात् भागवत मे गोपियो का निर्देश है, परन्तु 'राधा' का नही। हॉ एक गोपी का वर्णन अवश्य है।

विशेष गोपी की अन्य गोपियाँ इसलिए प्रशसा करती हैं कि वह धन्य है और उसने पूर्व जन्म मे कुछ अच्छे कर्म किये होगे तभी तो उसे भगवान कृष्ण के इतने निकट स्थान प्राप्त हुआ। महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त ज्ञानेश्वर ने इसी विशेष सखी को 'राधा' के रूप मे मान्यता दी और उसका सुन्दर तथा मनोहर वर्णन किया है। भागवत पुराण के आधार पर प्रथम सम्प्रदाय 'माधव सम्प्रदाय बना। यह द्वैतवाद के सिद्धान्त के आधार पर कृष्णोपासना पर जोर देता है। इस सैद्धान्तिक परम्परा पर हम पुस्तक के प्रारम्भ मे भी प्रकाश डाल चुके है। यहाँ हमारा सम्बन्ध केवल कृष्ण भावना और साहित्य की परम्परा को देखना है

'गोपालतापनी उपनिषद' मे 'राधा' का चित्रण प्रेयसी के रूप मे किया गया है। माधव-सम्प्रदाय मे कृष्णोपासना तो है परन्तु 'राधा' का कही पर भी उल्लेख नही। इसके पश्चात् विष्णु स्वामी और निम्बार्क सम्प्रदाय मे 'राधा' का निर्देश बराबर मिलता है।

सस्कृत के विख्यात कवि जयदेव निम्बार्क सम्प्रदाय मे ही हुए है, जिन्होने 'गीत गोविन्द' की रचना की। 'भागवत पुराण' के आधार पर वृन्दावन मे राधा की उपासना ११०० ई० मे प्रारम्भ हुई। इसी केन्द्र से यह भारत के अन्य कोनो में पहुँची। निम्बार्क तथा विष्णु स्वामी के पश्चात् चैतन्य और वल्लभ

सम्प्रदायो ने भी 'राधा' की भावना को ज्यो का त्यो सुरक्षित रखा और देश मे प्रसारित किया ।

जयदेव—कवि शिरोमणि जयदेव का जीवन-वृत्त नाभादास के भक्तमाल से मिलता है । उसमे केवल परिचय भर है ।[1] प्रियदास की टीका के विषय मे कुछ अधिक परिचय भर है । कवि के जीवन की अधिकतर घटनाएँ अलौकिक है । उनका आधार जनश्रुति है । कवि के पिता का नाम भोजदेव और माता का नाम 'राधादेवी' था । इनका जन्म किंदुबिल्व (वीरभूमि, बगाल) मे हुआ था । सन् ११७० के लगभग राजा लक्ष्मण सेन के दरबार मे उन्होने विशेष ख्याति प्राप्त की । यही जयदेव का समय है ।

जयदेव का प्रधान ग्रन्थ 'गीतगोविन्द' है । इसमे कवि ने राधा-कृष्ण मिलन, कृष्ण की मधुर लीलाएँ और प्रेम का मीठे पदो मे वर्णन किया है । गीतगोविन्द की पदावली बहुत ही मधुर है । इस रचना मे जयदेव ने अपने भाषा और भाव के अधिकारी होने का परिचय दिया है और दोनो का बहुत ही कलात्मक ढग से गठबन्धन स्थापित किया है । 'राधा-कृष्ण' सम्बन्धी साहित्य की रचना मे यह प्रथम कदम है, और बहुत मजबूत, बहुत सुन्दर, बहुत मीठा ।

विद्यापति—जयदेव के पश्चात् हम साहित्य के क्षेत्र मे विद्यापति पर आते है, जिन्हे मैथिल कोकिल के नाम से भी पुकारा जाता है, अर्थात मधुरता तो उनमे पराकाष्ठा को पहुँची हुई होनी ही चाहिए ।

विद्यापति का निवास-स्थान मिथिला था । वही की भाषा मे आपने अपने साहित्य का सृजन किया है । प्रारम्भ मे बगाली विद्यापति को अपना कवि मानते थे, परन्तु बगालियो के इस विचार को डाक्टर ग्रियर्सन और राजकृष्ण मुखर्जी की खोजो ने डॉवाडोल कर दिया । विद्यापति के पिता गणपति ठाकुर भी एक महान् साहित्यिक थे । उनका परिवार ही पण्डितो का परिवार था ।

विद्यापति का जन्म-स्थान 'बिसपी' था यह दरभगा जिले के अन्दर है । विद्यापति मिथिला के राजकवि थे । सन् १६०० मे राजा शिवसिंह ने आपको 'अभिनव जयदेव' की उपाधि प्रदान की थी और साथ ही दान स्वरूप बिपीस ग्राम भी उन्हे मिला । यह ताम्र-पत्र पर लिखा है । कुछ विद्वान इस ताम्र-पत्र को जाली भी मानते है ।

विद्यापति सस्कृत के महान् पंडित थे । आपने अपनी रचनाएँ सस्कृत मे ही प्रधानतया की हैं । सस्कृत मे ११ ग्रथ मिलते है, अवहट्ठ मे दो और मैथिल मे केवल 'पदावली' मिलती है । 'कीर्तिलता' और 'कीर्ति पताका' की भाषा को

---

१ जयदेव कवि नृप चक्कवै खंड मंडलेश्वर आन कवि ।
प्रचुर भयो तिहुं लोक गीतगोविन्द उजागर ।
कोक काव्य नव सरस श्रृगार को सागर ।

डॉ० बाबूराम सक्सेनअवहट्ठ ही मानते है।

"पदावली" मे विद्यापति ने अपने विभिन्न अवसरो पर लिखे पदो को सग्रहीत कर दिया है जो कि तीन प्रकार के है

१ **शृंगार सम्बन्धी;** राधा कृष्ण मिलन सम्बन्धी।

२. **भक्ति-सम्बन्धी** —इनमे शिव-प्रार्थना है।

३. **तीन काल सम्बन्धी**

विद्यापति वैष्णव न होकर शैव थे। इसलिए आपके शिव-सम्बन्धी पदो को हम भक्ति की कोटि मे रख सकते है, राधा-कृष्ण सम्बन्धी पदो को नही। राधा-कृष्ण सम्बन्धी पद विशुद्ध साहित्यिक-सौदर्य की कल्पना के चित्रण के लिए लिखे गये है। डाक्टर रामकुमार वर्मा को उनमे 'वासना' भी जचती है। विद्यापति की शृगार भावना और कल्पना दोनो पर ही जयदेव का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई देता है।

कुछ विद्वानो ने विद्यापति की विशुद्ध शृंगार-प्रधान रचनाओ को लेकर भक्ति के साँचे मे ढालने का भी गलत प्रयास किया है, परन्तु हम उसे व्यर्थ समझते है। हमारा सम्बन्ध साहित्य तक सीमित है और उस परम्परा मे हिन्दी साहित्य की दृष्टि से विद्यापति का प्रथम पग विशुद्ध साहित्यिक भावना को लेकर रखा गया था। शृगार की मधुरतम कल्पना और अनुभूति विद्यापति के काव्य मे उपलब्ध है और उसके आलम्बन स्वरूप राधा और कृष्ण ही है। राधा-कृष्ण को लेकर कवि ने जिस मधुर साहित्य के शृगारिक चित्र अकित किये है वह अपने ढग का अनूठा ही साहित्य है। कृष्ण काव्य मे उनका विशेष स्थान है और उनका प्रभाव भी आगे चलकर साहित्य के क्षेत्र पर कम नही पडा।

विद्यापति का काव्य गेय पदो मे लिखा गया है। उनमे भावोन्माद, प्रेम, आशा-निराशा, मिलन-विछोह का कलात्मक चित्रण किया गया है। सगीत कर स्वर उनके प्रत्येक पद से गूँजता हुआ प्रतीत होता है। कवि का प्रधान विचार प्रेमी की ओर अग्रसर है उनका शृगार भी प्रम प्रधान है और 'राधा-कृष्ण' का प्रेम उनका प्रतीक है। शृगार के प्रस्फुटन मे कवि को आशातीत सफलता मिली है। भाव, विभाव, अनुभाव, सचारीभाव सभी का निर्वाह कवि ने खूब किया है। एक ओर चचल नायक है और दूसरी ओर यौवन के उन्माद से पूर्ण नायिका, दोनो का उभार कवि ने सुन्दर रूप से चित्रित किया है।

"विद्यापति के प्रचार का सबसे बडा कारण चैतन्य महाप्रभु हुए। बगाल मे वैष्णव सम्प्रदाय के ये सबस बडे नेता थे। इन पर लोगो की इतनी श्रद्धा थी कि ये विष्णु के अवतार समझे जाते थे। विद्यापति के प्रति आदर और पवित्र भावनाओ से पूर्ण पदो को गाकर ये इस प्रकार भाव मे निमग्न हो जाते थे कि इन्हे मूर्छा आ जाती थी। इनके हाथो मे विद्यापति के पदो की ऐसी प्रतिष्ठा

होने के कारण लोगो मे विद्यापति के प्रति आदर का भाव बहुत बढ गया। इसलिए बगाल मे विद्यापति का आश्चर्यजनक प्रचार हुआ।"[1]

सूर—इसके पश्चात् श्री वल्लभाचार्य द्वारा प्रेरित होकर सूर ने ब्रज-भाषा मे कृष्ण-साहित्य का सृजन किया। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने अष्ट-छाप की रचना करके कृष्ण-साहित्य के प्रसार मे योग दिया। सूर-साहित्य के विषय मे यहाँ विशेष रूप से लिखना व्यर्थ है क्योकि विस्तार के साथ पीछे प्रकाश डाला जा चुका है और गत अध्याय मे सूर का सक्षिप्त मूल्य भी हम प्रस्तुत कर चुके है।

नन्ददास—अष्ट छाप के आठ कवियो मे साहित्यक दृष्टि से 'सूर' के पश्चात् नन्ददास की ही मान्यता है। जिस प्रकार महाकवि 'सूर' प्रधानतया वल्लभाचार्य के शिष्य थे उसी प्रकार यह विट्ठलनाथ जी के शिष्य थे। नन्ददास का तिथि पूर्ण जीवन चरित उपलब्ध नही है। कुछ परिचयात्मक कवि-विवरण बाह्य साक्ष से मिलता है। नन्ददास ने स्वय अपने विषय मे कुछ नही लिखा है। 'रासपचाध्यायी के प्रारम्भ मे केवल इनकी ओर सकेत मिलता है

> **परम रसिक एक मित्र, मोहि तिन आज्ञा दीनी।**
> **ताही तै पद कथा, जथामति भाषा कीनी॥**

नन्ददास जी के यह मित्र कौन है, इसका स्पष्टीकरण नही मिलता। वियोगी हरि ने इस मित्र को गगाबाई, जो विट्ठलनाथ जी की एक शिष्या थी, माना है। अत साक्ष से केवल यही पता चलता है कि उन्होने अपने सभी ग्रथो की रचना अपने मित्रो के अनुरोध पर की है। दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता के अनुसार ·

१. नन्ददास जी गोस्वामी तुलसीदास के छोटे भाई थे।

२ यह श्री गुसाई विट्ठलनाथ जी के शिष्य थे।

३. नन्ददास जी ब्रज मे रहते थे और ब्रज छोडकर कही नही जाते थे।

नागरी प्रचारिणी सभा की ११२०-२१-२२ की खोज रिपोर्ट के आधार पर 'सूर' तुलसी तथा नन्ददास समकालीन थे। नन्ददास जी की जाति निश्चित नही है। वेणी माधवदास उन्हे 'कनौजिया' ब्राह्मण बतलाते है।

नन्ददास जी के ग्रन्थो मे प्रसिद्धी रासपचाध्यायी और 'भ्रमर-गीत' को मिली है। साहित्य के पारखियो ने नन्ददास को 'जडिया' कहकर पुकारा है। अर्थात् आपने अपने साहित्य की रचना मे शब्द, अलकार, भाव सभी को इस प्रकार जड़ा है जिस प्रकार जडियाँ आभूषणो मे नगीने जड़ता है।

'रासपचाध्यायी' मे पाँच अध्याय है। रोला छद का प्रयोग है। श्री शुकदेव जी के नख-शिख वर्णन से ग्रथ प्रारम्भ किया गया है। वृन्दावन की छवि, मुरली

---

१. विद्यापति (प्रोफेसर जनार्दन मिश्र) पृष्ठ ३२

की पुकार, गोपियो का स्वर सुनकर वन में पहुँच जाना, और वहाँ कृष्ण द्वारा उन्हे स्त्री-धर्म की शिक्षा देना। इस शिक्षा को कृष्ण के मुख से सुनकर गोपियाँ स्तब्ध रह जाती है। उलहाने, प्रेम और मरने के भय का वातावरण कवि ने चित्रित किया है।

नददास का दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'भ्रमर गीत' है। भ्रमर-गीत मे एक भ्रमर को सकेत करके गोपियाँ उद्वव को उसके योगोपदेश का व्यग्यात्मक उत्तर देती हैं। कल्पना बहुत ही मधुर है और भ्रमर काला होने के नाते कृष्ण का प्रतीक भी बन जाता है। जिस प्रकार भौरा पुष्पो के रस का लोभी, रस पीकर उड जाता है उसी प्रकार कृष्ण भी मथुरा चले गये। यह कल्पना भी व्यग्य-स्वरूप इसमे मुखरित होती है। 'सूर' ने भी भ्रमर गीत लिखा है और उसके द्वारा प्रेम-मार्ग का प्रतिपादन किया गया है। नददास के भ्रमरगीत मे कथा की अपनी विशेष प्रधानता है।

मीराबाई—मीरा राजस्थान की रहने वाली थी और उनकी कविता भी उसी भाषा मे लिखी गई है। कृष्ण-भक्ति मे बहकर ही आपने रचना की है और कृष्ण की लीलाओ का लोक-मर्यादा से मुक्त होकर बखान किया। मीरा के काव्य मे माधुर्य-भावना ही प्रधान रूप से मिलती है। मीरा स्वय विरहिणी है और अपने आराध्य देव कृष्ण के विरह मे दीवानी होकर गाती हुई प्रणय-भिक्षा माँगती है।

अन्य भक्त कवियो की भाँति मीरा के जीवन-वृत्त पर भी विश्वस्त रूप से प्रकाश नही डाला जा सकता। 'मीराबाई की शब्दावली' के आधार पर इनकी जन्म तिथि का पता नही चलता। इनके कुल के विषय मे मिलता हैं

राठौडाँ की धीयडी जी सीसोद्याँ के साथ।
ले जाती बैकुठ को म्हारी नेक न माणी बात।।

—मीराबाई की शब्दावली, पृ० ६५

मीरा के नाम के विषय मे मिलता है :

मेड़तियाँ घर जनम लियो है मीरा नाम कहायो।

—मीराबाई की शब्दावली, पृ० ६७

जन्मस्थान के विषय मे मिलता है :

पीहर मेढ़ता छोड़ा अपना, सुरत निरत दोउ चटकी।

—मीराबाई की शब्दावली, पृ० २६

इस सूचना के आधार पर मीरा राजस्थान के गौरवपूर्ण राठौर वश मे पैदा हुई। मेढता इनकी जन्म-भूमि थी। बाल्यावस्था मे ही माता-पिता से बिछोह हो गया था। इनका विवाह सीसोदिया वश मे हुआ था। इनके धर्मगुरु श्री रैदास